सद्धर्म मण्डनम्

आचार्यश्री जवाहर

सम्पादक

मुनि श्रीमल्ल

प्रकाशक

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

अनुक्रमणिका

अनुकम्पा-अधिकार

लेश्या-अधिकार

वैयावृत्य-अधिकार

तत्त्व-अधिकार

आगम-अध्ययन-अधिकार

प्रकाशकीय

साधुमार्गी परम्परा में महान क्रियोद्धारक आचार्य श्री हुक्मीचन्दजी म.सा. की पाट-परम्परा में षष्टम् युगप्रधान आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज विश्व-विभूतियों में एक उच्चकोटि की विभूति थे। अपने युग के क्रांतदर्शी, सत्यनिष्ठ तपोपूत संत थे। उनका स्वतन्त्र चिन्तन, वैराग्य से ओतप्रोत साधुत्व, प्रतिभा-सम्पन्न वक्तृत्वशक्ति एवं भक्तियोग से समन्वित व्यक्तित्व स्वपर-कल्याणकर था।

आचार्यश्री के विचारों में मौलिकता तो थी ही, साथ ही उन्हें जन-जन के समक्ष रखने का भी साहस था। इसका पता इसी बात से लगता है कि वे अपने राष्ट्रऋण और राष्ट्रधर्म को साधुमर्यादा में भी भूले नहीं थे, बल्कि खादी, अछूतोद्धार, देशभक्ति एवं राष्ट्रप्रेम के विचारों को अपने प्रवचनों में व्यक्त करते रहे। इतना ही नहीं, अल्पारम्भ-महारम्भ जैसे कूट प्रश्न को आपने तार्किक युक्तियों तथा आगम-प्रमाणों द्वारा यंत्रनिष्पन्न वस्तुओं को प्रयोग में लाने को महारम्भ एवं मानवीय श्रमनिष्पन्न वस्तु का उपयोग करने में अल्पारम्भ सिद्ध किया था।

आचार्यश्री मानवता के परम पुजारी थे। मानवता आपकी दृष्टि में सबसे बड़ा धर्म था। दया, प्रेम, करुणा, परस्पर सहानुभूति मानवता के स्वाभाविक गुण हैं और जो मत या संप्रदाय इनके विरुद्ध प्रचार करने के साथ-साथ आचारात्मक रूप में अपनाने का दुराग्रह करता है, वह आपकी दृष्टि में मानवता का रोग रहा। उसका प्रबलतम विरोध करना तथा उसे मिटा देना आप अपना कर्तव्य मानते थे।

आचार्यश्री की आगमों पर अटूट श्रद्धा थी। सर्वज्ञकथन में अविश्वास करना अथवा यथेच्छ परिवर्तन करके स्वार्थपूर्ति के लिए साधन बनाना सह्य नहीं था। उनकी वाणी में युगदर्शन की छाप थी, लेकिन प्रमाणभूत शास्त्रों से तिलमात्र भी इधर-उधर नहीं होते थे। जितनी श्रद्धा अडिग थी, उतने ही आचार के प्रति सजग थे। प्रस्तुत 'सद्धर्म मण्डनम्' इन्हीं भावनाओं की कृति है।

निवासी शासननिष्ठ, सुश्रावक एवं गुरुभक्त श्री डालचन्द भूरा (पुत्र स्व. भीखमचन्द भूरा) ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन व्यय की सम्पूर्ण राशि सहर्ष प्रदान की। श्री डालचन्द भूरा इस हेतु साधुवाद के पात्र हैं। श्री डालचन्द भूरा इस ग्रन्थ के रचयिता षष्टम् युगप्रधान आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.; सप्तम् आचार्य श्री गणेशीलालजी म. सा.; अष्टम् आचार्य समता-विभूति श्री नानालालजी म. सा. की सेवा-निष्ठा में सदा अग्रणी रहे हैं एवं वर्तमान आचार्यश्री के प्रति भी आपकी समर्पणा एवं सेवा अनुकरणीय है। संघ एवं समाज की सहज सेवा में ही आपकी आस्था रही है। आप शारीरिक वृद्धावस्था में होते हुए भी एक सजग श्रावक हैं तथा संघ-कार्यों में यथाशक्ति सचेष्ट एवं संलग्न हैं।

इस नव्यतम संस्करण के परिशोधन में वर्तमान आचार्यश्री १००८ श्री रामलालजी म. सा. एवं साध्वीश्री विपुलाश्रीजी म. सा. के श्रमपूर्ण योगदान के लिए हम विशेष आभारी हैं। संस्था इस ग्रन्थ के कुछ अंशों के पुनरावलोकन एवं संशोधन के लिए साध्वीश्री ज्ञानकँवरजी म. सा. का आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के स्वरूप एवं साज-सज्जा के लिए मुद्रण संस्थान 'सांखला प्रिण्टर्स' के श्री दीपचन्द सांखला, अनुलिपि संशोधक श्री माणक तिवाड़ी 'बन्धु' तथा प्रत्यक्ष-परोक्ष जिनका भी सहयोग मिला है, हमारी संस्था आभार स्वीकार करती है।

विज्ञेषु किम्धिकम्।

निवेदक

भंवरलाल कोठारी
अध्यक्ष

मेघराज बोथरा
मंत्री

महान् ऋषि-महर्षियों ने एवं प्रबुद्ध सन्तों ने मानव के हित एवं कल्याण के लिए धर्म का उपदेश दिया है और धर्म की विशद व्याख्या की है। आगम, धर्म-व्याख्या के कोष हैं। उनमें धर्म के विभिन्न प्रकार बताए हैं। परन्तु जीवरक्षा, अनुकम्पा या दया को धर्म का मूल कहा है। तीर्थंकरों के प्रवचन एवं जैन आगम के निर्माण का मूल प्राणी हित एवं रक्षा ही रहा है। भगवान् के प्रवचन देने के उद्देश्य को अभिव्यक्त करते हुए प्रश्नव्याकरणसूत्र के प्रथम संवरद्वार में लिखा है—

सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं

भगवान् ने प्राणी-जगत् के समस्त जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन दिया।

प्रस्तुत पाठ में जैन आगमों की रचना का उद्देश्य जीवरक्षा रूप दया को बताया है। अतः जीवरक्षा रूप धर्म जैन धर्म का प्रमुख अंग है। अतः जो व्यक्ति जीवरक्षा में धर्म मानता है और उसका विधिवत् पालन करता है, वह तीर्थंकर की आज्ञा का आराधक है। इसके विपरीत जो जीवरक्षा में धर्म नहीं मानता, उसमें पाप एवं अधर्म बताता है, वह वीतराग आज्ञा की अवहेलना करने वाला है।

जैन धर्म ही नहीं, अन्य धर्म भी जीव रक्षा को सर्वश्रेष्ठ एवं प्रधान धर्म मानते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है—

प्राणिनां रक्षणं युक्तं मृत्युभीता हि जन्तवः।
आत्मौपम्येन जानद्भिरिष्टं सर्वस्य जीवितम्॥

जैसे मनुष्य को अपना जीवन इष्ट है उसी तरह सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है। सब जीव मरने से डरते हैं, अतः सब को अपनी आत्मा के समान समझकर, उनकी प्राणरक्षा करनी चाहिए।

दीयते मार्यमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा।
धनकोटिं परित्यज्य, जीवो जीवितु मिच्छति॥

यदि मारे जाने वाले पुरुष को एक ओर करोड़ों रुपए का धन-वैभव दिया जाए और दूसरी ओर उसका जीवन, तो वह धन को त्याग कर जीवन ही चाहता है।

जीवानां रक्षणं श्रेष्ठं जीवाः जीवितकांक्षिणः।
तस्मात्समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते॥

जीवरक्षा सबसे श्रेष्ठ धर्म है। क्योंकि सभी जीव जीवित रहने की आकांक्षा रखते हैं। इसलिए सब दानों में अभयदान—जीवरक्षा उत्तम है।

७. तेरापंथ के साधु के अतिरिक्त सब प्राणी कुपात्र हैं।

८. तेरापंथ के साधु के सिवाय अन्य को दान देना, मांसभक्षण, मद्यपान, और वेश्यागमन के समान एकान्त पाप है।

९. पुत्र अपने माता-पिता की और पत्नी अपने पति की सेवा-शुश्रूषा करे, तो उसमें एकान्त पाप होता है।

१०. यदि किसी गृहस्थ के घर में आग लग जाए और द्वार बन्द होने के कारण उसका परिवार बाहर नहीं निकल सकता हो, और प्रज्वलित घर में मनुष्य, स्त्री और बच्चे आदि आर्तनाद कर रहे हों, तो उस समय उस घर के द्वार को खोलकर उनकी रक्षा करने में एकान्त पाप होता है और द्वार नहीं खोलने में धर्म।

कैसी विचित्र कल्पना है, इनके प्रथम आचार्य भीखणजी के शब्दों में ही पढ़िए। वे लिखते हैं—

गृहस्थ रे लागी लायो, घर बारे निकलियो न जायो।
बलतां जीव बिल-बिल बोले, साधु जाइ किवाड न खोले।।

—अनुकम्पाढाल २, कड़ी ५

इससे पूर्व के पद्य में वे इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि साधु और श्रावक दोनों की अनुकम्पा एक-सी है। जैसे आग में जलते हुए जीवों को बचाने के लिए साधु को द्वार नहीं खोलना चाहिए, वैसे ही श्रावक को भी नहीं खोलना चाहिए। क्योंकि श्रावक और साधु दोनों द्वारा की जाने वाली अनुकम्पा एक-सी है, उनमें किसी तरह का भेद नहीं है। अमृत सब के लिए समान है, अतः इसे मानने में किसी तरह की खेंचातान नहीं करनी चाहिए—

साधु-श्रावक दोनों तणी एक अनुकम्पा जाण
अमृत सहुने सारखो, तिणरी मत करो ताण।।

—अनुकम्पाढाल २, कड़ी ३

आचार्य भीखणजी तेरापंथ सम्प्रदाय के निर्माता हैं, प्रथम आचार्य हैं। इन के जीवन के सम्बन्ध में मुनिश्री दीपविजयजी की ढालों में जो वर्णन दिया है, वह यह है—

भीखणजी आचार्यश्री के पास गए, परन्तु आचार्यश्री ने उन्हें उत्सूत्र प्ररूपक जानकर आदर नहीं दिया और आहार-पानी भी साथ नहीं किया। यह देखकर उन्होंने आचार्यश्री से पूछा कि मैंने क्या अपराध किया है, जिससे आप नाराज हो गए?

आचार्यश्री ने कहा कि तुमने उत्सूत्र प्ररूपणा की है, यही अपराध है। फिर उन्हें सम्यक्तया समझाकर, पाण्मासिक प्रायश्चित्त देकर आहार-पानी शामिल किया। परन्तु भीखणजी के शिष्य भारमलजी ने अपनी मिथ्या श्रद्धा का त्याग नहीं किया। उसके अनन्तर आचार्यश्री ने भीखणजी से कहा कि तुमने आचार्यश्री जयमलजी म.सा. के तीन शिष्यों और राजनगर के श्रावकों को विपरीत श्रद्धा दी है, अतः उन्हें समझाकर उनकी मिथ्या श्रद्धा को ठीक करो। आचार्यश्री की आज्ञा से वे पुनः राजनगर आए। वहां आने पर बक्तोजी ने उन्हें बहुत उपालंभ दिया और कहा कि हम सब ने मिलकर एक नवीन पंथ चलाने का सोचा था, परन्तु आप आचार्यश्रीजी की सेवा में जाकर उनसे मिल गए। इस तरह बक्तोजी आदि ने उनके मन को पुनः बदल दिया। उनकी श्रद्धा पूर्ववत् ज्यों-की-त्यों बन गई। दो-तीन महीने के पश्चात् वे पुनः आचार्यश्री की सेवा में गए। तब आचार्यश्री ने पुनः उनका आहार-पानी अलग कर दिया। इसके बाद वे आचार्यश्री के गुरुभाई आचार्यश्री जयमलजी म.सा. के पास चले गए। इस कारण उभय गुरु-भाइयों में मतभेद हो गया और वह ६ महीने तक चलता रहा। परन्तु भीखणजी ने अपनी मिथ्या श्रद्धा का परित्याग नहीं किया। अतः आचार्यश्री रघुनाथजी म.सा. ने वि.सं. १८१५ चैत्र सुदी ९ शुक्रवार को बगड़ीगांव में गोशालक का दृष्टान्त देकर भीखणजी को अपने संघ से अलग कर दिया।

इसके अनन्तर भीखणजी, बखतोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी, गिरधरजी आदि तेरह व्यक्तियों ने मिलकर एक नये मत की स्थापना की। तेरह व्यक्तियों ने इसे चलाया था, इसलिए इसका 'तेरापंथ' नाम रखा। ये लोग गांव-गांव में घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करने लगे और आगम के ६५ पाठों के अर्थ को बदल दिया। आगम में यत्र-तत्र जीवरक्षा के पाठ को देखा, उसके अर्थ को दूसरा रूप दे दिया। इन सब ने यह प्ररूपणा की कि जीवरक्षा करने में धर्म नहीं है। यह सब सांसारिक कार्य है।

सर्वप्रथम आचार्य रघुनाथजी म.सा. ने उन्हें भगवती शतक १५ का उदाहरण देकर समझाया—जब वैश्यायन बाल तपस्वी तेजोलेश्या के द्वारा गोशालक को जला रहा था, उस समय भगवान् महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा करके शीतल लेश्या के द्वारा उसे बचाया था। इसलिए आगम में अनुकम्पा सम्यक्त्व का लक्षण माना है, तुम उसे क्यों उठा रहे हो?

पर अनुकम्पा के संबंध में पाठ आए हैं उन सब को बताकर, भीखणजी को समझाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने अपने हठ का त्याग नहीं किया।

आचार्य भीखणजी तेरापंथ के प्रथम प्रवर्तक हैं। इनके विचार आगम से सर्वथा विरुद्ध थे, परन्तु जनजीवन में अज्ञान का प्राबल्य होने के कारण इनका सम्प्रदाय चल पड़ा और इससे कुछ लोगों के मन में जीवरक्षा में एकान्त पाप का विश्वास जम गया।

इनके चतुर्थ पाट पर जीतमलजी आचार्य बने। इन्होंने जन-मन में से दयादान का पूर्णतः उन्मूलन करने के लिए भ्रमविध्वंसन ग्रंथ की रचना की। इनकी श्रद्धा जहां-जहां आगम से विरुद्ध सिद्ध होती थी, उन्होंने उन पाठों के अर्थ बदल दिए और जहां अर्थ बदलना संभव नहीं हो सका, वहां का पाठ ही नहीं दिया। कहीं अपूर्ण पाठ लिखकर या उसका अधूरा अर्थ करके भ्रमविध्वंसन के बहाने जन-जन के मन में अधिक भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया। आचार्य जीतमलजी ने इसमें दया-दान का उन्मूलन करने का भरसक प्रयत्न किया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से स्थली प्रान्त के ओसवाल समाज के मन में दया-दान के विरोधी विचारों ने जड जमाना शुरू कर दिया। इस मिथ्या विचारधारा का प्रचार फैलते देखकर परमश्रद्धेय ज्योतिर्धर आचार्यप्रवर श्री जवाहरलालजी म.सा. ने जनहितार्थ अथक परिश्रम करके सद्धर्म मण्डनम् की रचना की।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमों के मूल पाठ, उनसे मिलती हुई टीका, भाष्य एवं चूर्णि तथा मूलानुसारी टब्बा, अर्थ का आश्रय लेकरके तेरापंथ द्वारा प्रसारित भ्रांतियों को दूर करने का तथा सत्यधर्म को प्रकट करने का पूरा प्रयत्न किया है। इसका मननपूर्वक अध्ययन करने से तेरापंथ का दया-दान-विरोधी सिद्धान्त पूर्णतः मिथ्या एवं आगमविरुद्ध परिलक्षित होता है और जीवरक्षा तथा दान आदि धर्मशास्त्रीय प्रमाणित होते हैं। अतः सत्य-सिद्धांत की जानकारी करने के इच्छुक व्यक्तियों और मुख्य रूप से स्थानकवासी समाज के लिए इसका अध्ययन करना आवश्यक है। यद्यपि तेरापंथ के आगम-विरुद्ध सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए अनेक मुनियों एवं विचारकों ने कई ग्रन्थों की रचना की है। इसके लिए स्थानकवासी समाज ही नहीं बल्कि दया-दान में धर्म मानने वाला समग्र मानव-समाज उनका आभारी है। तथापि उन ग्रन्थों की भाषा एवं शैली पुरानी है, दृष्टिदोष से प्रूफ की काफी अशुद्धियां रह गई है और उनमें अनेक स्थलों पर अशुद्ध टब्बा अर्थ भी छप गया है। इसलिए राष्ट्रभाषा में इस ग्रन्थ का प्रकाशन करना आवश्यक समझा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लिखने का मुख्य कारण यह रहा है कि इसके पूर्व लिखे गए ग्रन्थ पुस्तकाकार के प्रकाशन के पहले लिखे गए थे, इसलिए उनमें इनमें

अर्थ—हे भगवन्! जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में आप का तीर्थ कितने समय तक निरन्तर चलता रहेगा?

हे गौतम! जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में मेरा तीर्थ २१००० वर्ष तक अनवरत चलता रहेगा।

प्रस्तुत पाठ में भगवान् ने २१००० हजार वर्ष तक चतुर्विध संघ का निरंतर चलते रहना बताया है। अतः तेरापंथियों का यह कथन नितान्त असत्य एवं आगमविरुद्ध है—बीच में भगवान् के शासन का विच्छेद हो गया था, संघ टूट गया था।

प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त तीर्थ शब्द का ये चतुर्विध संघ अर्थ नहीं करके, शास्त्र अर्थ करते हैं और कहते हैं कि भगवान् ने २१००० हजार वर्ष तक आगम के चलते रहने की बात कही है। परन्तु तेरापंथियों का यह कथन भी सत्य नहीं है। क्योंकि उक्त आगम में इसके कुछ आगे तीर्थ शब्द का अर्थ—चतुर्विध संघ किया है—

तित्थं भन्ते? तित्थं तित्थकरे तित्थ?

गोयमा! अरहा ताव णियमं तित्थंकरे तित्थंपुण चाउवण्णाइण्णे समणसंघो, तंजहा—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ'।

—भगवतीसूत्र, श. २, उ. ६, सूत्र ६८१

अर्थ—हे भगवन्! तीर्थ को तीर्थ कहते हैं, या तीर्थंकर को?

हे गौतम! अरिहन्त तो नियम से तीर्थंकर होते हैं, किन्तु चतुर्विध श्रमण संघ को तीर्थ कहते हैं—साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका।

इस पाठ में भगवान् ने तीर्थ शब्द का साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका अर्थ किया है और इसी तीर्थ को २१००० हजार वर्ष तक निरन्तर चलना बताया है। अतः तीर्थ शब्द का आगम अर्थ करके चतुर्विध संघ बीच में टूट गया, ऐसी प्ररूपणा करना सर्वथा असत्य है।

इस सम्बन्ध में तेरापंथी एक युक्ति यह भी देते हैं—कल्पसूत्र में भगवान् महावीर के जन्म-नक्षत्र पर भस्मग्रह लगना बताया है, इस कारण भगवान् द्वारा स्थापित संघ टूट गया, यह कथन भी केवल कपोलकल्पना है। कल्पसूत्र में संघ के टूटने की बात भी उल्लेख नहीं है। उसमें तो इतना ही लिखा है—

जप्पभिइं च णं खुड्डाए भासरासी महग्गहे दोवाससहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्म नक्खत्तं संकंते तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीण य नो उदिए-उदिए पूया सक्कारे पवत्तइ।

—कल्पसूत्र

मोक्ष की प्राप्ति होती है। तथापि दया-दान में पुण्य एवं धर्म का सर्वथा निषेध करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने मिथ्यात्व एवं अज्ञानपूर्वक की जाने वाली मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में स्वीकार किया।

जैन दर्शन एवं आगम में तो क्या, जैनेतर विचारकों ने भी अज्ञानी के द्वारा की जाने वाली क्रिया से मोक्षमार्ग की आराधना नहीं मानी है। इस विषय में उपनिषदों में लिखा है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति।

—बृहदारण्यक

अर्थ—हे गार्गी! जो अविनाशी-आत्मा को जाने बिना इस लोक में होम, यज्ञ एवं तप करता है, वह चाहे हजारों वर्षों तक इन क्रियाओं को करता रहे, पर ये सब संसार के लिए हैं।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो नच प्रमादात्तपसोवाऽप्यलिंगात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।।

—मुण्डकोपनिषद्

अर्थ—जिसमें आत्मबल नहीं है, वह पुरुष आत्म-स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, और वह आत्म-स्वरूप प्रमाद एवं लिंग-साधुत्वहीन तप से भी प्राप्त नहीं हो सकता। परन्तु जो सम्यक् ज्ञानी बनकर आत्मबल, अप्रमाद एवं लिंगयुक्त तप आदि उपायों को आचरण में उतारता है, वह ब्रह्मधाम—मोक्ष में प्रविष्ट होता है, मुक्ति को प्राप्त करता है।

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदऽऽत्मविदोविदुः।

अर्थ—सुनहरी परम कोष में निर्मल एवं निरवय ब्रह्म—आत्मा है। वह शुभ्र है, ज्योतियों की ज्योति। जो स्व आत्मा को जानता है, वही उसे जान सकता है।

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।

—कठोपनिषद्

अर्थ—जो ज्ञानवान् नहीं है, मन से विचार नहीं कर सकता, वह सदा अपवित्र है। इसलिए वह मोक्ष नहीं पा सकता, अपितु संसार में ही परिभ्रमण

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति का साधन ज्ञान है, अज्ञान नहीं। बौद्ध दर्शन ने भी मुक्ति के आठ अंग माने हैं—

१. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक् संकल्प, ३. सम्यक् वचन, ४. सम्यक् कर्म, ५. सम्यक् आजीविका, ६. सम्यक् व्यवसाय, ७. सम्यक् स्मृति और ८. सम्यक् समाधि। यहां सम्यक् दृष्टि का अर्थ दुःख, दुःख के हेतु और उसे दूर करने के मार्ग को सम्यक्तया जानना बताया है।

सम्यग्दृष्टिः, सम्यक् संकल्पः, सम्यक् वाकः, सम्यक् कर्मान्तिः, सम्यगा जीवः, सम्यक् व्यवसायः, सम्यक् स्मृतिः, सम्यक् समाधिश्च। तत्र सम्यग्दृष्टि दुःख, तद्धेतु तन्निषेध मार्गाणां यथातथ्येन दर्शनम्।

—तत्त्वसंग्रह प्रकरण, पृष्ठ ५

यहां सम्यग्दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया है और सम्यक् चारित्र को चौथा, क्योंकि सम्यक् दर्शन के बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। चारित्र तो क्या, सम्यक् संकल्प भी नहीं हो सकता। अस्तु सम्यग्दर्शन के बाद ही सम्यक् संकल्प एवं मोक्षप्राप्ति की प्रबल इच्छा होती है।

न्यायदर्शन में मोक्ष-प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान को आवश्यक माना है। क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना अज्ञान का नाश नहीं होता और अज्ञान का नाश हुए बिना सांसारिक सुखों का अनुराग नष्ट नहीं होता और इसके बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए गौतम मुनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा—'सर्वप्रथम मिथ्याज्ञान का नाश होना आवश्यक है। क्योंकि उसका नाश होने पर रागादि दोषों का नाश होगा। दोषों का नाश होने पर प्रवृत्ति का नाश होगा। प्रवृत्ति के नष्ट होने से जन्म का नाश होगा और जन्म के नष्ट होने पर दुःखों का विनाश होगा। दुःखों का विनाश होने पर मुक्ति की प्राप्ति होगी।'

दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनंतरापायादपवर्गः

—न्यायसूत्र, [illegible]

वैशेषिक दर्शन में भी सम्यग्ज्ञान के महत्त्व को स्वीकार करते हुए बताया है—'आत्मसाक्षात्कार होने को तत्त्वज्ञान कहते हैं'। क्योंकि इससे ही मिथ्याज्ञान का नाश होता है। अतः तत्त्वज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। आत्मज्ञान के बिना मुक्ति का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्

—वैशेषिक सूत्र

उपाय है। विवेक के द्वारा अविवेक का नाश होने पर दुःख मात्र का नाश होता है, अन्यथा नहीं।'

इस प्रकार विवेक-सम्यग्ज्ञान के अभाव में मोक्ष होना असम्भव है, इस विषय में सूत्रकार ने स्पष्ट लिखा है—

ज्ञानान्मुक्तिः

बन्धो विपर्य्ययात्

—सांख्यदर्शन, अ. ३, सूत्र २४, २५

अर्थ— ज्ञान होने पर मुक्ति होती है।

अज्ञान से बन्ध होता है।

अस्तु सांख्यदर्शन के कथनानुसार भी यह सिद्ध होता है कि साधक भले ही यज्ञ, जप-तप आदि क्रियाएं करता रहे, परन्तु जब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी उक्त क्रियाएं मोक्ष का कारण नहीं हो सकतीं।

महर्षि पतंजलि ने इस विषय में इस सत्य को स्वीकार किया है—

तस्य हेतुरविद्या

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्

—योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र २४-२५

अर्थ—संसार का मूल कारण अविद्या है। अविद्या का अर्थ है—मिथ्याज्ञान।

मिथ्याज्ञान का नाश होने से आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है। यही मोक्ष आत्मा का कैवल्य है। उसमें अन्य वस्तु का संयोग न होने से, वह आत्मा की शुद्ध-विशुद्ध निर्लिप्त अवस्था है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः

—योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र २६

भाष्य—मिथ्याज्ञान [illegible] [illegible] विवेकः [illegible] मोक्षोपायः [illegible]।

अर्थ—मिथ्याज्ञान के संस्कारों से आत्मा में एक प्रकार का [illegible] होता रहता है। सम्यग्ज्ञान होने पर वह [illegible] नष्ट हो जाता है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] है।

है कि ये भगवान् की आज्ञा के बाहर की क्रिया से पुण्य-बन्ध नहीं मानते और मिथ्यादृष्टि आज्ञा बाहर है, तथापि वह मिथ्यात्वयुक्त भावों से बालतप आदि क्रियाएं करके स्वर्ग में जाता है। यदि आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्य नहीं होता, तब फिर वह स्वर्ग में कैसे जाता है?

इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देते? यहां आचार्य भीखणजी को अपनी भूल महसूस भी हुई होगी। किन्तु अब अपनी मान्यता को कैसे छोड़ा जाए? एक ओर सत्य-सिद्धांत सामने था तो दूसरी ओर अपना पकड़ा हुआ मिथ्या आग्रह? अब किसे निभाया जाए। उनके मन में सत्य की अपेक्षा अपनी बात का अधिक आग्रह था। इसलिए उन्होंने सत्य का त्याग कर आगमविरुद्ध मिथ्यात्वी की क्रिया को आज्ञा में मान लिया। क्योंकि वे आज्ञा बाहर की क्रिया से पुण्य होने का तो निषेध कर चुके थे। यदि वे यह मान लेते कि आज्ञा बाहर की क्रिया में धर्म नहीं, पुण्य होता है तो दया-दान का सर्वथा निषेध कैसे कर पाते और उन्हें तो उनका पूर्णतः उन्मूलन करना था, इसलिए जैन धर्म एवं आगम के नहीं, प्रत्युत सभी धर्मों की मान्यता के विरुद्ध मिथ्यात्वी एवं अज्ञानी की मिथ्यात्व एवं अज्ञानपूर्वक की जाने वाली अकाम निर्जरा की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में मान लिया और उसे मोक्षमार्ग का देश-आराधक भी मान लिया। इस आगमविरुद्ध कपोल-कल्पना को भोले-भाले लोगों के मन-मस्तिष्क में सही कैसे जचाया जाए, इसके लिए भ्रमविध्वंसनकार को इस विषय की इतनी विस्तृत चर्चा करके इस नगण्य-सी बात को इतना महत्त्व देना पड़ा।

इस तरह भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वंसन के प्रथम प्रकरण में आगम के पाठों को एवं उनके अर्थों को तोड़-मरोड़ कर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को आज्ञा में प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। द्वितीय प्रकरण में दान अधिकार में हीन-दीन जीवों को दिए जाने वाले दान को एकान्त पापमय सिद्ध करने तथा तीसरे अनुकम्पा प्रकरण में अनुकम्पा के दो भेद—सावद्य और निरवद्य, बताकर अनुकम्पापूर्वक दान देने एवं जीवरक्षा करने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करने का प्रयत्न किया। भगवान् महावीर ने गोशालक पर अनुकम्पा करके जगत् में जीव-रक्षा का एक अनुपम आदर्श रखा था, इससे अनुकम्पा का समर्थन होते देख उन्होंने उसे दोषित करने में भी संकोच एवं शर्म महसूस नहीं की—गोशालक पर अनुकम्पा करने से महावीर चूक गए—छद्मस्थ हो गए। और इस छद्मस्थ होने की मान्यता को सत्य सिद्ध करने के लिए लब्धिलेश्या आदि प्रकरण लिखे।

इस प्रकार आगमविरुद्ध विचारों से जन-मन में फैली हुई भ्रान्ति को दूर करने के लिए [illegible] आचार्यश्री जवाहरलालजी म. सा. ने सद्धर्म मण्डन की रचना की और उसमें उनकी सभी [illegible] का आगम प्रमाण के साथ निराकरण

मिथ्यात्व-अधिकार

धर्म के भेद

सिद्धाणं नमो किच्चा संजयाणं च भावओ।
अत्थ धम्म गइं तच्चं अणुसिट्ठिं सुणेह मे।।
भव बीजाङ्कुर जनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

श्री सिद्ध और संयतियों को भावपूर्वक नमस्कार करके, हिताहित का ज्ञान देने वाला सदुपदेश दिया जाता है, उसे सुनें।

भव-बीज के अंकुर उत्पन्न करने वाले राग-द्वेष आदि दोष जिसके क्षीण हो गए हैं, वह भले ही ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो, उसे मेरा नमस्कार हो।

आगम में दो प्रकार के धर्मों का वर्णन किया गया है—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म अथवा विद्या और चारित्र। श्रुत या विद्या धर्म में सम्यग् ज्ञान और दर्शन का समावेश हो जाता है। अतः श्रुत और चारित्र को अथवा सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सद्धर्म कहते हैं। इस ग्रंथ में स्व-आत्म लाभार्थ तथा भव्य जीवों के हितार्थ उस सद्धर्म का मण्डन किया जाता है। इसलिए इस ग्रंथ का नाम 'सद्धर्म-मण्डनम्' रखा है।

जो धर्म, श्री वीतराग देव की आज्ञा में है, उसके शास्त्रकारों ने दो भेद बतलाये हैं।

दुविहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा-सुय—धम्मे चेव चरित्त-धम्मे चेव।

—स्थानांग, २, १, ७२

धर्म दो प्रकार का है—१ श्रुत धर्म और २. चारित्र धर्म।

सम्यग् ज्ञान-दर्शन—आठ ज्ञानाचार और आठ दर्शनाचार के आधार श्रुतधर्म में माने जाते हैं। श्रमणधर्म एवं श्रावकधर्म के मूल गुण तथा उत्तर गुण और [illegible] चारित्र के आधार, चारित्रधर्म में कहे गए हैं। इस प्रकार श्रुत और चारित्र—दो धर्म श्री वीतराग की आज्ञा में हैं। इनसे भिन्न दीखता कोई धर्म [illegible]

उक्कोसिए णं भन्ते! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति?

गोयमा! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणे णं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति। अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणे णं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति। अत्थे गइए कप्पोवएसु वा कप्पातीएसु वा उववज्जंति।

उक्कोसिए णं भंते! दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं?

एवं चेव।

उक्कोसिए णं भन्ते! चरित्ताराहणं आराहेत्ता?

एवं चेव, णवरं अत्थेगइए कप्पातीए सु उववज्जंति।

मज्झिमिय णं भंते! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति?

गोयमा! अत्थेगइए दोच्चेणं भवगहणेहिं सिज्झइ जाव अन्तं करेंति, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ।

मज्झिमियं णं भन्ते! दंसणाराहणं आराहेत्ता?

एवं चेव, एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणं वि।

जहन्निय णं भन्ते! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिज्झंति जाव अन्तं करेंति?

गोयमा! अत्थेगइए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव अन्तं करेंति, सत्तट्ठ भवग्गहणाइं, पुण नाइक्कमइ। एवं दंसणाराहणं वि, एवं चरित्ताराहणं वि।

—भगवतीसूत्र, ८, १०, ३५५

हे भगवन्! उत्कृष्ट ज्ञान आराधना करने वाला व्यक्ति कितने भव करके सिद्ध-बुद्ध होता है, यावत् कर्मों का अन्त करता है?

हे गौतम! कुछ जीव उसी भव में सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं। कुछ साधक दो भव करके सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं। कुछ साधक सौधर्म आदि एवं ग्रैवेयक, अनुत्तर विमान आदि देवलोकों में उत्पन्न होते हैं।

हे भगवन्! उत्कृष्ट दर्शन-आराधना करने वाले साधक कितने भव करके सिद्ध होते हैं, यावत् कर्मों का अन्त करते हैं?

हे गौतम! दर्शन-आराधना के प्रश्न का उत्तर ज्ञान-आराधना की तरह समझना। चारित्र-आराधना का उत्तर भी इसी तरह समझना। इसमें विशेष बात

जघन्य तीन और उत्कृष्ट असंख्य भव में मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिए जो पुरुष वीतराग की आज्ञा के किसी भी भेद का आराधक है, वह उसी भव में या दो-तीन भवों में या असंख्य भवों में अवश्य ही मोक्ष जाता है। परन्तु जो पूर्वोक्त आराधनाओं के किसी भी भेद का आराधक नहीं है, वह कभी भी मोक्ष नहीं जा सकता। वह अनन्त काल तक संसार में ही परिभ्रमण करता रहता है। अतः मिथ्यादृष्टि पुरुष वीतराग की आज्ञा का किंचित् भी आराधक नहीं है। क्योंकि पूर्वोक्त पाठ एवं टीका के अनुसार आज्ञा-आराधक पुरुष दो-तीन भव में अथवा उत्कृष्ट असंख्य भव में अवश्य ही मोक्ष जाता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि नहीं जाता। इसलिए वह वीतराग की आज्ञा के किसी भी अंश का आराधक नहीं है। जो लोग मिथ्यादृष्टि को देश से मोक्षमार्ग का आराधक मानते हैं, उन्हें आगम का कोई प्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए, जिसमें मिथ्यादृष्टि को उत्कृष्ट असंख्य भव में भी मोक्ष जाने की बात कही हो। यदि वे कोई प्रमाण नहीं दे सकते, तो फिर मिथ्यादृष्टि को वीतराग की आज्ञा का देश-आराधक भी नहीं मान सकते। क्योंकि, जो व्यक्ति वीतराग-आज्ञा की देश से भी आराधना करता हो, वह असंख्य भव में मोक्ष में न जाए, यह बात उक्त आगम एवं उसकी टीका से विरुद्ध है।

उक्त त्रिविध आराधनाएँ श्रुत और चारित्रधर्म के ही अन्तर्गत हैं। ज्ञान के अभाव में दर्शन और दर्शन के अभाव में ज्ञान नहीं होता। इसलिए ज्ञान और दर्शन—ये दोनों श्रुतधर्म में माने जाते हैं और चारित्र-आराधना चारित्र-स्वरूप है। इसलिए धर्म के मूल भेद दो ही हैं—श्रुत और चारित्र। दशवैकालिकसूत्र में 'अहिंसा, संजमो, तवो' यह कहकर अहिंसा, संयम और तप को जो धर्म कहा है, वह श्रुत और चारित्र को ही अहिंसा, संयम और तप कहकर बतलाया है। परन्तु श्रुत और चारित्र के अतिरिक्त अहिंसा, संयम और तप को धर्म नहीं कहा है। अतः उक्त गाथा की निर्युक्ति में धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है—

दुविहो लोगुत्तरिओ सुय-धम्मो खलु चरित्त-धम्मो य

लोकोत्तर धर्म दो प्रकार का है—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र रूप लोकोत्तर धर्म को ही उक्त गाथा में अहिंसा, संयम और तप कहकर बतलाया है, किसी लौकिक धर्म को नहीं।

इसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के २८वें अध्ययन में मोक्षमार्ग बताते हुए लिखा है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८, २

दो स्थानों से सम्पन्न अणगार चार गतिरूप अनादि अनन्त दीर्घ संसार अटवी का अतिक्रमण करता है। वे दो स्थान हैं—विद्या-ज्ञान और चारित्र।

प्रस्तुत पाठ में विद्या और चारित्र के द्वारा ही संसार-सागर से पार होना कहा है। मूल पाठ में विद्या और चरण शब्द के साथ 'एवकार' लगाकर भव-सागर को पार करने के लिए; इसके अतिरिक्त अन्य उपाय का निषेध किया है। अतः मोक्षप्राप्ति के लिए विद्या और चरण—ये दो ही कारण सिद्ध होते हैं, इनसे भिन्न कोई तीसरा कारण नहीं। यहाँ विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन का और चरण शब्द से चारित्र का ग्रहण है। इसलिए इस पाठ में विद्या और चरण कह कर श्रुत और चारित्र को ही बतलाया है। इस पाठ से यही सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्रधर्म ही मोक्षप्राप्ति के कारण हैं, इनसे भिन्न कोई अन्य कारण नहीं है।

कोई यह शंका करे कि विद्या शब्द तो केवल ज्ञान-अर्थ में ही प्रसिद्ध है, उससे ज्ञान और दर्शन—इन दोनों का ग्रहण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि इस पाठ की टीका में विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन—दोनों का ग्रहण होना लिखा है।

ननु सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग इति श्रूयते इह तु ज्ञानक्रियाभ्यामसावुक्त इति कथं न तद्विरोधः अथ द्विस्थानकानुरोधादेवं निर्देशेऽपि न विरोधो नैवमवधारणगर्भत्वान्निर्देशस्येति। अत्रोच्यते विद्याग्रहणेन दर्शनमप्यविरुद्धं द्रष्टव्यं ज्ञान भेदत्वात् सम्यग्-दर्शनस्य। तथाहि अवबोधात्मकत्वे सति मतेरनाकारत्वादवग्रहे दर्शनं साकारत्वाच्चापायधारणे ज्ञानमुक्तमेवं व्यवसायात्मकत्वे सत्यवायस्य रुचि रूपांऽशः सम्यग् दर्शनमवगम रूपांऽशोऽवाय एवेति न विरोधः। अवधारणं तु ज्ञानादि व्यतिरेकेण नान्योपायो भवत्वच्छेदस्येति दर्शनार्थमिति।

सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग सुने जाते हैं। परन्तु यहाँ ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा गया है। इस कारण यहाँ उक्त कथन से विरोध क्यों नहीं है? यदि यह कहो कि यह स्थानांगसूत्र का दूसरा स्थान है, इसमें तीन का समावेश नहीं किया है, इसलिए यहाँ ज्ञान और क्रिया से मोक्ष कहा है, दर्शन से नहीं किन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि इस मूल पाठ में 'विज्जाए चेव चरणेण चेव' इन पदों में विद्या और चरण के साथ एवकार लगाकर इनसे ही मोक्ष का निरूपण कर के, दूसरे साधनों से मोक्ष जाने का निषेध किया। इसका तात्पर्य है कि विद्या शब्द से यहाँ दर्शन का भी ग्रहण समझना चाहिए। क्योंकि सम्यक् दर्शन ज्ञान का ही भेद है। जैसे—अवबोध स्वरूपात्मक और

अज्ञानयुक्त क्रिया

जो जीव अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि है, वह परलोक के लिए जो तप–दान आदि रूप क्रिया करता है, वह वीतराग की आज्ञा में नहीं है और वह पुरुष मोक्षमार्ग का किंचित् भी आराधक नहीं है, यह बात आगम–प्रमाण से सिद्ध है। भगवतीसूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो पुरुष अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि है, उसकी परलोक सम्बन्धी क्रिया मोहकर्म के उदय से होती है।

जीवेणं भन्ते! मोहणिज्जेणं कडेणं कम्मेणं उदिन्नेणं उवट्ठाएज्जा?

हन्ता गोयमा! उवट्ठाएज्जा।

से भन्ते! किं वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा?

गोयमा! वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो अवीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा। जइ वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, किं बाल वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, पण्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, बाल–पण्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा?

गोयमा! बाल वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो पण्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा, णो बाल–पण्डिय वीरियत्ताए उवट्ठाएज्जा।

—भगवती, श. १, ४, ३६

हे भगवन्! मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से जीव परलोक की तप, दान आदि क्रिया स्वीकार करता है या नहीं?

हे गौतम! करता है।

हे भगवन्! वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है या अवीर्य के द्वारा?

हे गौतम! वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है, अवीर्य के द्वारा नहीं। क्योंकि परलोक की क्रिया करने में वीर्य की आवश्यकता होती है।

यदि वह वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है, तो क्या बाल–वीर्य के द्वारा या पण्डित–वीर्य अथवा बाल–पण्डित–वीर्य के द्वारा?

बाल–वीर्य के द्वारा स्वीकार करता है, पण्डित एवं बाल–पण्डित–वीर्य के द्वारा नहीं।

स्थानांगसूत्र में भी मिथ्यादृष्टि की क्रिया को अज्ञानक्रिया कहा है। अज्ञान वीतराग की आज्ञा से बाहर है। अतः मिथ्यादृष्टि की क्रिया भी आज्ञा बाहर सिद्ध होती है। स्थानांग में लिखा है—

अण्णाण किरिया तिविहा पण्णत्ता तं जहा—मति अण्णाणकिरिया, सुय अण्णाण–किरिया, विभंगण्णाण किरिया।

—स्थानांग, ३, ३, १८७

टीका—'मई अण्णाण किरिए' त्ति 'अविसेसि या मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स सा मइण्णाणं। मइ अण्णाणं मिच्छादिट्ठिस्स सुयं वि एवमेव' त्ति मत्यज्ञानात् क्रियाऽनुष्ठानं मत्यज्ञान क्रिया एवमितरेऽपि नवरं विभंगो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभंग ज्ञानमिति।'

जो क्रिया अज्ञान से की जाती है, उसे 'अज्ञानक्रिया' कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—१. मति–अज्ञानक्रिया, २. श्रुत–अज्ञानक्रिया, ३. विभंग ज्ञानक्रिया।

यह मूल पाठ का अर्थ है। इसमें अज्ञानक्रिया के मति अज्ञानक्रिया आदि तीन भेद किए हैं और टीका में इसका जो वर्णन किया है, उसका भाव यह है—

'सम्यग्दृष्टि पुरुष की मति को 'मतिज्ञान' कहते हैं और मिथ्यादृष्टि की मति को मति–अज्ञान। इसी तरह श्रुत के विषय में भी जानना चाहिए। जो क्रिया मति–अज्ञानपूर्वक की जाती है, उसे मति–अज्ञानक्रिया कहते हैं। इसी तरह श्रुत–अज्ञानक्रिया और विभंग–ज्ञानक्रिया समझनी चाहिए। 'विभंग' नाम मिथ्यादृष्टि के अवधिज्ञान का है, वह ज्ञान भी अज्ञान है, इसलिए उसे विभंग–ज्ञान कहते हैं।'

आवश्यकसूत्र में अज्ञान को त्यागने योग्य और ज्ञान को आदरने योग्य बताया है :

अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि।

—[illegible]

श्रमण यह प्रतिज्ञा करता है—मैं अज्ञान का परित्याग करता हूँ और ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ और सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान एवं मिथ्यात्व [illegible] के [illegible] हैं। [illegible] की जाती है, वह भी [illegible] है।

संवर और निर्जरा

आपने स्थानांग आदि आगमों का प्रमाण देकर धर्म के दो भेद बतलाए हैं—श्रुत और चारित्रधर्म और मिथ्यादृष्टि में इन धर्मों के नहीं होने से उसे मोक्षमार्ग का किंचित् भी आराधक नहीं कहा है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार आपकी तरह धर्म के भेद नहीं करते। जैसा कि भ्रमविध्वंसन के पहले पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है—'ते धर्म रा दो भेद—संवर, निर्जरा। ए बीहूं भेदों में जिन आज्ञा छै। ए संवर, निर्जरा बे शुद्ध धर्म छै। ए संवर, निर्जरा टाल अनेरो धर्म नहीं छै। केइ एक पाषण्डी संवर ने धर्म श्रद्धे, पिण निर्जरा ने धर्म श्रद्धे नहीं। त्यांरे संवर, निर्जरा री ओलखणा नहीं।'

आगम में कहीं भी धर्म के दो भेद संवर और निर्जरा नहीं कहे हैं। स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थान में धर्म के श्रुत और चारित्र—ये दो भेद बताए हैं। अतः संवर और निर्जरा को स्वतंत्र रूप से धर्म का भेद बतलाना अप्रामाणिक है।[1]

यदि आगमकार को यह इष्ट होता, तो स्थानांगसूत्र में 'दुविहे धम्मे पन्नत्ते तं जहा—सुय धम्मे चेव चरित्त धम्मे चेव' के स्थान में 'दुविहे धम्मे पन्नत्ते तं जहा—संवर धम्मे चेव निज्जरा धम्मे चेव' पाठ होता। परन्तु वहाँ ऐसा पाठ नहीं आया। अतः संवर और निर्जरा को धर्म का भेद मानना मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकार ने मिथ्यादृष्टि की अप्रशस्त निर्जरा को वीतराग की आज्ञा में कायम करने के लिए अपने मन से धर्म के दो भेद—संवर और निर्जरा सिद्ध किये

---

1. संवर और सकाम निर्जरा श्रुत और चारित्रधर्म के अन्तर्गत हैं। अतः वे धर्म हैं, परन्तु अकाम निर्जरा धर्म नहीं है। परन्तु धर्म के दो भेद—'संवर और निर्जरा' कहने से अकाम निर्जरा भी धर्म में समाविष्ट हो जाएगी और वह मिथ्यादृष्टि के होती है। इसलिए वह भी मोक्षमार्ग का आराधक हो जाएगा। परन्तु यह मान्यता आगमसम्मत नहीं है। इसलिए आगम के अनुसार धर्म के दो भेद—श्रुत और चारित्रधर्म ही करने चाहिए। इससे संवर और सकाम निर्जरा धर्म के अन्तर्गत आ जाएगी और अकाम निर्जरा धर्म में समाविष्ट नहीं होगी। क्योंकि वह श्रुत और चारित्रधर्म से बाहर है और निर्जरा के धर्म से पृथक् होने पर मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होगा। इस प्रकार आगम से कोई विरोध नहीं रहेगा।

अकाम निर्जरा : धर्म नहीं है

संवर और निर्जरा, ये धर्म के दो भेद हैं, ऐसा कोई मूलपाठ आगम में नहीं आया है, तथापि भ्रमविध्वंसनकार ने दशवैकालिकसूत्र के पहले अध्ययन की पहली गाथा लिखकर संवर-रहित निर्जरा को वीतराग की आज्ञा में सिद्ध करने के लिए उक्त गाथा की समालोचना में लिखा है—

'इहां धर्म मंगलीक उत्कृष्ट कह्यो। ते अहिंसा ने, संयम ने, अने तप ने धर्म कह्यो छै। संयम ते संवर धर्म, अने तप ते निर्जरा धर्म छै। अने त्याग विना जीवरी दया पाले ते अहिंसा धर्म छै। अने जीव हणवारा त्याग ते संयम पिण कही जै, अने अहिंसा पिण कही जै। अहिंसा तिहां तो संयम नी भजना छै। अने संयम तिहां अहिंसा नी नियमा छै। ए अहिंसा धर्म अने तप धर्म तो पहिला चार गुणठाणा (गुणस्थान) मां पिण पावै छै।'

दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में श्रुत और चारित्र धर्म को ही अहिंसा, संयम और तप कहकर बतलाया है। सम्यक्त्व-रहित द्रव्य अहिंसा एवं संवर-रहित द्रव्य तप को धर्म नहीं कहा है। सम्यक्त्व के बिना की जाने वाली अहिंसा एवं संवर के अभाव में किए जाने वाले तप का कोई महत्त्व नहीं है। ऐसी द्रव्य अहिंसा और संवर-रहित द्रव्य तप जीवन में अनंत बार किए हैं; परन्तु उनसे स्वल्प भी मोक्षमार्ग की आराधना नहीं हुई। अतः उक्त गाथा में उनका ग्रहण न होकर, श्रुत और चारित्रधर्म के अन्तर्गत सम्यक्त्व के साथ होने वाली अहिंसा और संवर के साथ होने वाले तप का उल्लेख है। अतः इस गाथा में उल्लिखित अहिंसा और तप धर्म को मिथ्यादृष्टि में बतलाना आगम के भावों को नहीं समझना है। प्रस्तुत गाथा में वर्णित धर्म पद की व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है—

दुविहो धम्मो लोगुत्तरिओ, सुय-धम्मो खलु चरित-धम्मो य।
सुय-धम्मो सज्झाओ, चरित-धम्मो समण धम्मो॥

—दशवैकालिक निर्युक्ति, अ. १, निर्युक्ति गाथा ४३

दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा में कहा हुआ धर्म लोकोत्तर धर्म है। वह दो तरह का होता है—एक श्रुतधर्म और दूसरा चारित्रधर्म। स्वाध्याय—आगम के

ही वीतराग की आज्ञा में कहना चाहिए। अतः दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा का नाम लेकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को वीतराग की आज्ञा में बताना और धर्म को दो भेद—संवर और निर्जरा बतलाना मिथ्या समझना चाहिए। पाठकों के ज्ञानार्थ यहाँ दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा एवं उसका अर्थ देना उपयुक्त समझते हैं, जिससे पाठक आगम के सही अर्थ को समझ सकें।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।।

—दशवैकालिकसूत्र, १, १

धर्म, मंगल-कल्याण करने वाला है और उत्कृष्ट—सब वस्तुओं में श्रेष्ठ एवं प्रधान है। वह धर्म अहिंसा, संयम एवं तप रूप है। इस धर्म में जिसका सदा मन लगा रहता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

प्रस्तुत गाथा में मंगल देने वाले सर्वश्रेष्ठ देव-वन्दनीय धर्म का कथन है। ऐसा धर्म, श्रुत और चारित्रधर्म ही हो सकता है, लौकिक धर्म नहीं। क्योंकि लौकिक धर्म न तो देव-वन्दनीय है, न मोक्षरूप मंगल देने वाला और न सबसे प्रधान। अतः यहाँ देव-वन्दनीय श्रुत और चारित्रधर्म का ही कथन है और उस श्रुत एवं चारित्रधर्म को ही प्रस्तुत गाथा में अहिंसा, संयम एवं तप कहकर बतलाया है। इसलिए गाथोक्त अहिंसा, संयम एवं तप मिथ्यादृष्टि में नहीं होते, क्योंकि वह श्रुत और चारित्रधर्म से रहित होता है। अतः इस गाथा का उद्धरण देकर मिथ्यादृष्टि में अहिंसा और तप का सद्भाव बतलाना और उसे मोक्षमार्ग का देश-आराधक कहना, आगम-विरुद्ध समझना चाहिए।

तत्थणं जे से पढमे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविन्नाय-धम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से दोच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं सुयवं अणुवरए विन्नाय धम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं सुयवं उवरए विन्नाय धम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते। तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए से णं पुरिसे असीलवं असुयवं अणुवरए अविन्नाय धम्मे, एस णं गोयमा! मए पुरिसे सव्व विराहए पण्णत्ते।

—भगवतीसूत्र, ८, १०, ३५४

हे भगवन्! कोई अन्ययूथिक श्रुत को, कोई शील को और कोई श्रुत अथवा शील—इन दोनों में से किसी एक को ही कल्याणकारी कहते हैं, यावत् प्ररुपणा करते हैं। भगवन्! यह कैसे?

हे गौतम! जो अन्ययूथिक उक्त प्रकार से कहते हैं एवं प्ररूपणा करते हैं, उनका यह कथन मिथ्या है। हे गौतम! मैं इस प्रकार कहता एवं प्ररूपणा करता हूं। मैंने चार प्रकार के पुरुष कहे हैं—

१. एक वे, जो शीलसम्पन्न होते हैं, किन्तु श्रुतसम्पन्न नहीं होते।

२. दूसरे वे, जो श्रुतसम्पन्न होते हैं, किन्तु शीलसम्पन्न नहीं होते।

३. तीसरे वे, जो शीलसम्पन्न भी होते हैं और श्रुतसम्पन्न भी।

४. चौथे वे, जो न शीलसम्पन्न होते हैं और न श्रुतसम्पन्न ही।

हे गौतम! इनमें जो प्रथम पुरुष बतलाया है, वह शीलवान है, किन्तु श्रुतवान नहीं है। पाप से विरत हुआ है, हटा है, किन्तु विशेष ज्ञानवान नहीं है, विशेष रूप से धर्म को नहीं जानता है। मैंने उस पुरुष को देश-आराधक कहा है।

हे गौतम! इनमें से जो दूसरा पुरुष बतलाया है, वह शीलसम्पन्न नहीं, किन्तु श्रुतसम्पन्न है। वह पाप से विरत नहीं हुआ है, परन्तु धर्म को जानता है, ज्ञानवान है। मैंने उस पुरुष को देश-विराधक कहा है।

हे गौतम! इनमें से जो तीसरा पुरुष बताया है, वह शीलवान भी है और श्रुतवान भी है। पाप से विरत भी हुआ है और धर्म के स्वरूप को जानता भी है। ज्ञान-सम्पन्न भी है। उस पुरुष को मैंने सर्व-आराधक कहा है।

हे गौतम! इनमें से जो चौथा पुरुष बतलाया है, वह न शीलवान है और न श्रुतवान है। वह न पाप से विरत हुआ है और न धर्म के स्वरूप को जानता है। मैंने उस पुरुष को सर्व-विराधक कहा है।

दूसरे भंगवाला व्यक्ति सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप मोक्षमार्ग-त्रय के तीसरे अंश चारित्र की विराधना करता है।

टीका के उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र, ये रत्न-त्रय ही मोक्ष के मार्ग हैं। इनके तीसरे अंश चारित्र की विराधना करने के कारण टीकाकार ने द्वितीय भंग के स्वामी को देश-विराधक कहा है। इससे यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि इन तीनों अंशों में से किसी एक अंश की आराधना करने के कारण प्रथम भंग का स्वामी देशाराधक कहा गया है। ऐसी स्थिति में स्वयं टीकाकार, ज्ञान, दर्शन, चारित्र से शून्य बाल-तपस्वी को प्रथम भंग में मोक्षमार्ग का देशाराधक कैसे लिख सकते हैं? क्योंकि अज्ञानी बालतपस्वी में ज्ञान, दर्शन, चारित्र का अंश भी नहीं होता। अतः प्रथम भंग वाले व्यक्ति को, विशिष्ट श्रुतज्ञान से रहित चारित्र रूप मोक्षमार्ग का देशाराधक समझना चाहिए। सामान्य रीति से वह धर्म को जानता ही है, परन्तु स्वच्छंद विचरता है इसलिए उसे मोक्षमार्ग का देशाराधक कहा है। टीकाकार ने भी इसी स्थान पर लिखा है—

गीतार्थानिश्रित तपश्चरण निरतोऽगीतार्थः।

विशिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्रसम्पन्न साधु की नेश्राय में नहीं रहने वाला, तप तथा चारित्र में संलग्न रहने वाला अगीतार्थ साधु।

इससे स्पष्ट होता है कि बाल-तपस्वी प्रथम भंग का स्वामी नहीं है। संवर-रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग के आराधन में कायम करके मिथ्यादृष्टि को देशाराधक मानने से भ्रमविध्वंसनकार की प्ररूपणा भी पूर्वापर विरुद्ध हो गई है। जैसे—भगवती के इस पाठ का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—

'यहाँ ते पुरुष देश आराधक कह्यो ते बाल तपस्वी। यहाँ ते पुरुष सर्व विराधक कह्यो असंति बाल तपस्वी।'

—भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३

यह लिखकर भ्रमविध्वंसनकार ने प्रथम एवं चतुर्थ भंग—इन दोनों के बाल-तपस्वी का होना बतलाया है, परन्तु यह परस्पर विरुद्ध है। जो बाल-तपस्वी देश से मोक्षमार्ग का आराधक होकर प्रथम भंग का स्वामी है, वह चतुर्थ भंग का स्वामी नहीं हो सकता। क्योंकि चतुर्थ भंगवाला मोक्षमार्ग का किंचित् भी आराधक नहीं है। यदि भ्रमविध्वंसनकार यह कहें कि चतुर्थ भंगवाला स्वामी बाल-तपस्वी है और प्रथम भंगवाला बाल-तपस्वी है, इसलिए यहाँ [illegible] [illegible] नहीं [illegible] है, तो [illegible] [illegible]

मिथ्यादृष्टि [illegible]

मानना इस गाथा के विरुद्ध है। अतः उसे अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि सिद्ध करना आगम-विरुद्ध है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना से भिन्न कोई मोक्ष-मार्ग की आराधना नहीं कही है। जिस पुरुष में उक्त आराधना नहीं है, उसको आराधक भी नहीं कहा है। अतः संवर-रहित निर्जरा की करनी से कोई व्यक्ति मोक्षमार्ग का आराधक कैसे हो सकता है? यह पाठकों को स्वयं सोचना-समझना चाहिए। इस चतुर्भंगी में आराधक-विराधकों के चार भंग बतलाते हुए, उसके आगे के पाठ में तीन प्रकार की आराधना का वर्णन किया है। वहाँ निर्जरा आदि की चौथी आराधना का उल्लेख नहीं किया है।

कतिविहा णं भन्ते! आराहणा पण्णत्ता?

गोयमा! तिविहा आराहणा पण्णत्ता, तं जहा णाणाराहणा, दंसणाराहणा, चरित्ताराहणा।

—भगवती, ८, १०, ३५५

हे भगवन्! आराधना कितने प्रकार की होती है?

हे गौतम! आराधना तीन प्रकार की होती है—१. ज्ञान-आराधना, २. दर्शन-आराधना और ३. चारित्र-आराधना।

यहाँ मूल पाठ में ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन की ही आराधना कही है, परन्तु इनके अतिरिक्त संवर-रहित निर्जरा आदि की आराधना को वीतराग की आज्ञा में नहीं कहा है। अतः संवर-रहित निर्जरा की करनी करने वाला पुरुष मोक्षमार्ग का आराधक नहीं हो सकता। अस्तु, संवर-रहित निर्जरा की करनी को वीतराग की आज्ञा में मानकर उसके कर्ता मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का देशाराधक मानना आगम-विरुद्ध प्ररूपणा करना है।

मोक्ष का आराधक नहीं है

संवर-रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग के आराधन में नहीं है, इसलिए उसकी करनी से कोई मोक्षमार्ग का आराधक नहीं हो सकता, यह मुझे ज्ञात हुआ। परन्तु किसी मूल पाठ में संवर-रहित निर्जरा की करनी करनेवाले पुरुष को मोक्षमार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा हो, तो उसे भी बतलाइये?

उत्तराध्ययनसूत्र के मूल पाठों में संवर-रहित निर्जरा की करनी करने वाले जीव [illegible] मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होना स्पष्ट लिखा है—

[illegible]

होकर वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहीं उनकी गति, स्थिति और देव भव की प्राप्ति होती है।

ये जीव देवता होकर देवलोक में कितने काल तक रहते हैं?

वे दस हजार वर्ष तक देवलोक में रहते हैं।

क्या उन देवताओं के वहाँ पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर तथा आभूषणों की दीप्ति, यश, वीर्य, पुरुषाभिमान और पराक्रम होते हैं?

हाँ, होते हैं।

क्या वे देवता मोक्षमार्ग के आराधक हैं?

नहीं। वे परलोक—मोक्षमार्ग के आराधक नहीं हैं।

प्रस्तुत मूल पाठ में अकाम क्षुधा-तृष्णा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन करने, अकाम से सर्दी, गरमी, दंश-मसक आदि का कष्ट सहन करके दस हजार वर्ष की आयु के देवता होने वाले जीव को तीर्थंकर देव ने मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होना बतलाया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि संवर-रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग के आराधन में नहीं है। अन्यथा इस मूल पाठ में कहे हुए पुरुष को भगवान मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होना कैसे बतलाते? अतः संवर-रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष का मार्ग कहकर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी को मोक्षमार्ग का देशाराधक बतलाना इस पाठ से पूर्णतः विरुद्ध समझना चाहिए।

ते णं भन्ते! देवा परलोगस्स आराहगा?

णो तिणट्ठे समट्ठे।

—उववाईसूत्र, ३८, ६

ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड़, कव्वड, मंडव, द्रोणमुख, पट्टण, आश्रम, संवाह और सन्निवेशों में रहने वाले मनुष्य, जिनके हाथ-पैर काष्ठ या लोहे के बन्धन से बांधे गए हैं, पैर बेड़ियों द्वारा बांधे गए हैं, जो हाडी-बन्धन में पड़े हैं, जो बन्दीगृह में बन्द हैं, जिनके हाथ-पैर, कान, नाक, ओष्ठ, जीभ, मस्तक, मुख और पेट काट लिए गए हैं, जो चादर की तरह चीर दिए गए हैं, जिनके हृदय, नेत्र, दाँत और अण्डकोष उखाड़ लिए गए हैं, जिनका शरीर चावल की तरह खण्ड-खण्ड कर दिया गया है, जिनके शरीर का चिकना-चिकना मांस खा लिया गया है, जिन्हें रस्सी से बांधकर गड्ढे में लटका दिया गया है, जिनकी भुजा वृक्ष की शाखा से बांध दी गई है, जिनके शरीर को चन्दन की तरह पत्थर पर घिस दिया गया है, जो दही की तरह घोल दिए गए हैं, जो कुठार से काष्ठ के समान काट दिए गए हैं, जो गन्ने की तरह यन्त्र में पील दिए गए हैं, जो शूली पर चढ़ा दिए गए हैं, जिनका मस्तक फाड़कर शूल बाहर निकल आया है, जो क्षार में डाल दिए गए हैं, या जिन पर क्षार रखा गया है, या जिन्हें क्षार खिलाया गया है, जो रस्सी से बांध दिए गए हैं, जिनका लिंग काट लिया गया है, जो दावाग्नि में जल गए हैं, जो कीचड़ में फंसकर उससे पार होने में असमर्थ हैं, जो क्षुधा आदि की पीड़ा से मर गए हैं, जो विषय में परतंत्र होकर मर गए हैं, जो बाल-तपस्या कर के मर गए हैं, जो मिथ्यात्व आदि शल्य को या पेट में चुभे हुए भाले आदि को बिना निकाले ही मर गए हैं, जो पर्वत से गिरकर मर गए हैं, जो विशाल पाषाण के शरीर पर गिरने से मर गए हैं, जो वृक्ष से गिर कर मर गए हैं, जो निर्जल देश में या निर्जल देश के स्थल-विशेष से गिराए हुए मर गए हैं, जो तृण, कपास आदि के भार से दबकर मर गए हैं, जो मरने के लिए वृक्ष या पर्वत के एक देश में कंपायमान होकर वहाँ से गिरकर मर गए हैं, जो शस्त्र के द्वारा अपने शरीर को चीर कर मर गए हैं, जो वृक्ष की शाखा में लटककर मर गए हैं, जो मरने के लिए हाथी, ऊँट, गाय आदि के शरीर के भीतर गिर जाते हैं, गीध आदि पक्षियों से नोचकर खा लिये जाते हैं, और जो घोर जंगल में दुर्भिक्ष से मर जाते हैं—वे सब मनुष्य यदि असंक्लिष्ट परिणामी होते हैं, तो वे काल के समय में काल करके वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में देव होते हैं। वहाँ पर उनकी गति, स्थिति एवं देवभव की प्राप्ति होती है।

देवलोक में उनकी स्थिति कितने काल की होती है?

वहाँ उनकी बारह हजार वर्ष की स्थिति होती है।

माता-पिता की सेवा का फल

जो जीव मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा करके चौदह हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं, उववाईसूत्र में उन्हें भी मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होना कहा है—

से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति। तं जहा-पगइ-भद्दगा पगई-उवसंता, पगइ-पतणु-कोहमाणमायालोहा, मिउमद्दव संपन्ना, अल्लीणा, विणीया, अम्मापिउसुस्सूसगा, अम्मापिईणं अणतिक्कमणीज्जवयणा, अप्पिच्छा, अप्पारंभा, अप्पपरिग्गहा, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरम्भ-समारम्भेणं वित्तिं कप्पेमाणा बहूइं वासाइं आउयं पालंति पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु वाणमंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति। तहिं तेसिं गती, तहिं तेसिं ठिती, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

तेसि णं भन्ते! देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता?

गोयमा! चउद्दसवास-सहस्सा।

—उववाईसूत्र, ३८, ७

ग्राम से लेकर यावत् सन्निवेशों में रहने वाले मनुष्य, जो स्वभाव से परोपकारी, स्वभाव से उपशान्त, स्वभाव से क्रोध, मान, माया और लोभ को कम किए हुए, अहंकार रहित, गुरु के आश्रय में रहने वाले, विनीत, माता-पिता के वचनों का उल्लंघन नहीं करने वाले, माता-पिता की सेवा करने वाले, अल्प इच्छा, अल्प आरंभ-समारम्भ से अपनी आजीविका चलाने वाले हैं, वे बहुत वर्षों तक अपनी आयु को व्यतीत करके आयुकर्म के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त करके वाणव्यन्तर संज्ञक देवलोक में देवता होते हैं। वहाँ पर उनकी गति, स्थिति एवं देवभव की प्राप्ति होती है।

हे भगवन्! वहाँ वे कितने काल तक रहते हैं?

वहाँ वे चौदह हजार वर्ष तक रहते हैं।

अकाम ब्रह्मचर्य का फल

जो स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य का परिपालन कर के चौसठ हजार वर्ष की आयु की देवता होती है, उसे भी इस पाठ में मोक्षमार्ग का आराधक नहीं होना कहा है—

से जाओ इमाओ गामागर–णयर–णिगम–रायहाणि–खेड–कब्बड–मडंब–दोणमुह–पट्टणासम–संबाह–सन्निवेसेसु इत्थियाओ भवन्ति। तं जहा अंतो–अंतेउरिआओ, गयपइआओ, मयपइआओ, बाल–विहवाओ, छड्डितल्लिताओ, माइरक्खिआओ, पिअरक्खिआओ, भायरक्खिआओ, कुलघररक्खिआओ, ससुरकुलरक्खिआओ, पारूढणहकेस–कक्खरोमाओ, ववगय–पुप्फ–गंध–मल्लालंकाराओ, अण्हाणगसेय–जल्ल–मल्ल–पंक–परिताविआओ, ववगय खीर–दहि, णवणीत – सप्पि – तेल्ल – गुल – लोण – महु – मज्ज – मंस – परिचत्त–कया–हाराओ, अप्पिच्छाओ, अप्पारंभाओ, अप्पपरिग्गहाओ, अप्पेणं आरंभेणं, अप्पेणं समारंभेणं, अप्पेणं आरंभ–समारंभेणं, वित्तिं कप्पेमाणीओ, अकामबंभचेरवासेणं तमेव पइसेज्जं णाइक्कमइ, ताओ णं इत्थिआओ एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणीओ बहूइं वासाइं सेसं तं चेव जाव चउसट्ठिए वाससहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

—उववाईसूत्र, ३८, ९

ग्राम से लेकर यावत् सन्निवेशों में स्थित स्त्री जिसका पति कहीं चला गया है या मर गया है। जो बाल्यकाल में विधवा हो गई है। जो परित्यक्त कर दी गई है। जो अपने माता-पिता या भाई के द्वारा पाली जाती है। जो पिता या श्वसुर के घर में पाली जाती है। जो अपने शरीर का संस्कार नहीं करती है। जिसके नख, केश एवं कांख के बाल बढ़ गए हैं। जो फूल की माला, गन्ध एवं फूलों को धारण नहीं करती है। जो स्नान नहीं करती है तथा पसीना, धूल एवं कीचड़ आदि के कष्ट को सहन करती है। जो दूध, दही, मक्खन, घी, गुड़, नमक, मधु, मद्य, मांस को छोड़कर भोजन करती है। जो अल्प इच्छा, अल्प आरम्भ एवं अल्प परिग्रह

आहार की मर्यादा

जो मनुष्य अन्न-जल आदि की मर्यादा करके चौरासी हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं, भगवान ने उन्हें भी मोक्षमार्ग का आराधक होना नहीं कहा है—

से जे इमे गामागर-णयर-णिगम-रायहाणि-खेड-कब्बड-मंडब-दोणमुह-पट्टणासम-संवाह-सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति। तं जहा-दग-बिइया, दगतइया, दगसत्तमा, दगएक्कारसमा, गोअमा, गोव्वइया, गिहिधम्मा धम्मचिंतका, अविरुद्ध-विरुद्ध वुड्ढसावकप्पभिओ तेसिं मणुआणं णो कप्पइ इमाओ नवरस विगईओ आहारित्तए, तं जहा—खीरं, दहिं, णवणीयं, सप्पिं, तेल्लं, फणियं, महुं, मज्जं, मंसं, णण्णत्थ एक्काए सरसव विगइए। ते णं मणुआ अप्पिच्छा तं चेव सव्वं णवरं चउरासीइवास-सहस्साइं ठिई पण्णत्ता।

—उववाईसूत्र ३८, ६

ग्राम से लेकर यावत् सन्निवेशों में रहने वाला मनुष्य, जो भात और पानी—इन दो का ही आहार करता है। जो भात और पानी के साथ एक और पदार्थ का आहार करता है। जो भात आदि छः और सातवाँ पानी ग्रहण करता है। जो भात आदि दस और ग्यारहवें पानी का आहार करता है। जो छोटे बैल को मनुष्यों के पैरों पर गिरने की शिक्षा देकर उससे मनुष्यों को प्रसन्न करके भिक्षावृत्ति करता है। जो गाय के चलने पर चलता है, बैठने पर बैठता है, भोजन करने पर भोजन करता है और सोने पर सोता है। जो गृहस्थ धर्म को श्रेष्ठ जान कर देवता, अतिथि आदि का सत्कार-सम्मान करके उन्हें दान देता हुआ गृहस्थ धर्म का आचरण करता है। जो धर्म-शास्त्र को पढ़ता है। जो देवता आदि में परम भक्ति रखता हुआ विनीत है। जो आत्मा आदि तत्त्वों को नहीं मानने वाला अक्रियावादी नास्तिक है। जो वृद्ध तापस है। जो धर्म-शास्त्र का श्रवण करने वाला सद्गृहस्थ है—वे मनुष्य दूध, दही, नवनीत, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य, मांस आदि नवरसों का उपभोग नहीं करते। परन्तु इनमें एक सरसों का तेल ग्राह्य होता है। वे सब मनुष्य अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह के कारण चौरासी हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं। और सब पूर्ववत् समझना चाहिए।

अनाराधक कह देने से, यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि सकाम निर्जरा की क्रिया एवं ज्ञानसम्पन्न सम्यग्दृष्टि पुरुष ही मोक्षमार्ग के आराधक हैं। अस्तु, संवर-रहित निर्जरा को आज्ञा में मानकर अज्ञानी एवं मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का आराधक कहना आगम के विरुद्ध समझना चाहिए।

उक्त चार प्रकार के पुरुषों में जो प्रथम पुरुष है, वह शीलवान और अश्रुतवान है। वह पुरुष पाप से विरत है, परन्तु विशिष्ट ज्ञानवान नहीं है। उस पुरुष को मैं देशाराधक कहता हूँ।

प्रस्तुत पाठ में कहा है—'जो पाप से निवृत्त हो गया है, हट गया है, वह मोक्षमार्ग का देशाराधक है।' परन्तु यहाँ पाप से अविरत व्यक्ति को देशाराधक नहीं कहा है। इस पाठ की टीका में टीकाकार ने भी 'उवरए' शब्द का अर्थ पाप से हटा हुआ ही किया है। टीका में लिखा है निवृत्तः स्वबुद्धया पापात्—जो अपनी बुद्धि से पाप से हट गया है, निवृत्त हो गया है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी इस अर्थ को स्वीकार करते हुए भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३ पर लिखा है—'पोतानी बुद्धि स पापथी निवर्त्यों छै।' अतः भगवती सूत्रोक्त चतुर्भंगी के प्रथम भंग का स्वामी देशाराधक पुरुष पाप से हटा हुआ है। परन्तु उववाईसूत्र में वर्णित संवर-रहित निर्जरा की क्रिया करने वाला पुरुष पाप से हटा हुआ नहीं है। अतः ये दोनों पुरुष एक नहीं, भिन्न-भिन्न है। देखिए उववाई-सूत्र के मूल पाठ में अकाम निर्जरा की करनी से स्वर्ग जाने वाले पुरुष का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

जीवे णं भन्ते! असंजए, अविरए, अपडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे।

जो पुरुष संयम-रहित, विरतिहीन और भूतकाल के पापों का नाश एवं भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान नहीं करने वाला है, उस पुरुष का उववाईसूत्र में वर्णन है। इसलिए उववाईसूत्र में कहे हुए अनाराधक पुरुष को भगवतीसूत्र की चतुर्भंगी के प्रथम भंग का नाम लेकर देशाराधक बताना मिथ्या है।

उववाईसूत्रोक्त पुरुष पाप से निवृत्त नहीं हुआ है और भगवतीसूत्र में वर्णित पुरुष पाप से सर्वथा निवृत्त हो चुका है। अतः ये दोनों पुरुष कदापि एक नहीं हो सकते। तथापि संवर-रहित निर्जरा की करनी को मोक्षमार्ग के आराधन में सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने पापयुक्त एवं पाप से निवृत्त दो भिन्न पुरुषों को एक मान लिया है। अतः बुद्धिमान पुरुषों को इनकी प्ररूपणा आगम-विरुद्ध समझनी चाहिए।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकार ने जो उववाईसूत्रोक्त अकाम निर्जरा की क्रिया करने वाले पुरुष को संवर नहीं होने के कारण अनाराधक होना बतलाया है, यह भी मिथ्या है। क्योंकि गौतम स्वामी ने वहाँ पर यह पूछा है—'जो पुरुष संवर-रहित है, परन्तु अकाम निर्जरा की करनी द्वारा स्वर्ग में जाता है, वह मोक्षमार्ग का आराधक है या नहीं?' इसका तात्पर्य यह है कि उक्त पुरुष की अकाम निर्जरा मोक्षमार्ग की आराधना से है या नहीं? [illegible] है, तब तो वह आराधक है और नहीं [illegible] आराधक नहीं है। क्योंकि [illegible] [illegible]-सूत्रोक्त पुरुष के [illegible] अनाराधक [illegible]

शील शब्द से मिथ्यादृष्टि की क्रिया ग्रहण की जाए और श्रुत शब्द से उनके ज्ञान-दर्शन को ग्रहण नहीं किया जाए, यह युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। भ्रमविध्वंसनकार के विचार से जैसे मिथ्यादृष्टि की कई क्रियाएँ अच्छी हैं, वैसे ही उनकी कुछ श्रद्धा और ज्ञान भी यथार्थ है। उन्होंने लिखा है—'मिथ्यात्व छै, तेहने तिणने मिथ्यात्वी कह्यो तेहने कतियक श्रद्धा संवली छै, अने केयक बोल ऊंधा छै, तिणं जे जे बोल ऊंधा ते ते मिथ्यात्व, अने जे केतला एक बोल संवली श्रद्धा रूप शुद्ध छै, ते प्रथम गुणठाणो छै।' आगे चलकर लिखते हैं—'तिवारे कोई कहे—प्रथम गुणठाणे किसा बोल संवला छै। तेहनो उत्तर—जे मिथ्यात्वी गाय ने गाय श्रद्धे, मनुष्य ने मनुष्य श्रद्धे, दिन ने दिन श्रद्धे, सोना ने सोनो श्रद्धे इत्यादि जे संवली श्रद्धा छै, ते क्षयोपशम भाव छै।'

—भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७-२८

यहाँ भ्रमविध्वंसनकार मिथ्यादृष्टियों की कुछ श्रद्धा और ज्ञान को भी उनकी कतिपय क्रियाओं के समान ही यथार्थ मानते हैं। इस दृष्टि से उन्हें श्रुत शब्द से उनके दर्शन का ग्रहण करके उन्हें उक्त चतुर्भंगी के दूसरे और तीसरे भंग में भी स्वीकार कर लेना चाहिए। भ्रमविध्वंसनकार मिथ्यादृष्टियों के श्रुत को स्वीकार नहीं करते, परन्तु शील शब्द से मिथ्यादृष्टियों की संवर-रहित निर्जरा की क्रियाओं को ग्रहण करते है, यह उनका दुराग्रह ही है।

जैसा साधु का आचार पाला जाए, उससे किंचित भी मोक्षमार्ग की आराधना नहीं होती है। आचार्य श्री भीखणजी ने 'श्रावक धर्म विचार' नामक पुस्तक में लिखा है—

समकित विन सुध पालियो, अज्ञान पणे आचार।
नवग्रैवेक ऊंचो गयो, नहीं सरी गरज लिगार।।

तेरापंथी श्रावक श्री गुलाबचंदजी ने इस पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है—

'सम्यक्त्व के बिना संयम की शुद्ध क्रिया पालन कर जीव नवग्रैवेक स्वर्ग तक गया, परन्तु कुछ गरज नहीं सरी, मिथ्यात्वी ही रहा।'

इसके आगे आचार्य श्री भीखणजी ने लिखा है—

नव तत्त्व ओलख्यां विना, पहरे साधुरो भेष।
समझ पड़ै नहीं तेहने, भारी हुवे विशेष।।

उन्हीं श्रावक गुलाबचंदजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

'नवतत्त्व के जाने बिना कई मनुष्य साधु-वेष पहनकर साधु बन जाते हैं, लेकिन उनको साधु के आचार की क्रिया, शास्त्र-वचनों की समझ नहीं पड़ती, सिर्फ वेषधारी द्रव्य-साधु हैं। रजोहरण, चद्दर, पात्रादि साधु-वेष अनन्त बार ग्रहण किया और गौतम स्वामी जैसी क्रिया मिथ्यात्वपने में करके नवग्रैवेक कल्पातीत तक जीव जा पहुँचा, परन्तु कुछ भी मोक्षमार्ग फलितार्थ नहीं हुआ।'

इन पद्यों में आचार्य श्री भीखणजी ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना अज्ञान दशा में चाहे गौतम स्वामी जैसी साधुपने की क्रिया की जाए, परन्तु उससे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

यदि मिथ्यात्व दशा की करणी मोक्षमार्ग में होती, तो उक्त पद्य में उस करणी से किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कैसे कहते? अतः आचार्य श्री भीखणजी ने इन पद्यों में संवर-रहित निर्जरा की करणी को मोक्षमार्ग में नहीं होना स्पष्ट स्वीकार किया है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी आराधना की अपेक्षा से संवर-रहित निर्जरा की करणी को मोक्षमार्ग में नहीं माना है।

जो समकित बिन म्हैं, चारित्र नी किरिया रे।
बार अनन्ती कीधी पिण काज न सरिया रे।।

'मैंने सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना अनन्त बार चारित्र की क्रिया की, परन्तु उससे मेरा कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ।'

भिन्न जीवों को उसी भव में मोक्ष नहीं मिलता। यदि मुक्ति नहीं होने मात्र से मिथ्यात्वी की क्रिया से किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, तो फिर चतुर्थ गुणस्थान से लेकर एकादश गुणस्थान तक की क्रिया से भी किंचित् प्रयोजन सिद्ध नहीं होना मानना पड़ेगा। क्योंकि उक्त गुणस्थानवर्ती जीव भी द्वादश, त्रयोदश एवं चतुर्दश गुणस्थान को स्पर्श किए बिना मोक्षगामी नहीं होते। यदि यह कहो कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर एकादश गुणस्थान तक के जीवों की क्रिया परंपरा से मोक्ष का कारण होती है, अतः उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, ऐसा नहीं कहना चाहिए। यदि ऐसा है, तो भ्रमविध्वंसनकार की श्रद्धा के अनुसार मिथ्यात्व-दशा की क्रिया भी परंपरा से मोक्ष का कारण होती है, अतः उससे प्रयोजन सिद्ध नहीं होता—ऐसा नहीं कहना चाहिए। परन्तु उन्होंने उक्त पद्यों में मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होना कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से ये लोग भी मोक्षमार्ग की आराधना नहीं मानते। परन्तु अपने आगम-विरुद्ध पक्ष के आग्रह में पड़कर भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वंसन में मिथ्यात्वी की क्रिया को मोक्षमार्ग में कह दिया। अतः भ्रमविध्वंसनकार की यह प्ररूपणा आगम-सम्मत एवं युक्तिसंगत नहीं है।

उत्तरासंगं करेइ सुदत्तं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ-अणुगच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ वंदइ नमंसइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ-उवागच्छइत्ता सयहत्थेन विउलेणं असण, पाण, खाइम, साइम परिलाभेस्सामीति तुट्ठे ३ ततेणं तस्स सुमुहस्स तेणं दव्व-सुद्धेणं तिविहेणं तिकरण-सुद्धेणं २ सुदत्ते अणगारे परिलाभएसमाणे परीत्त संसारकए मणुस्साउए निबद्धे।

—सुखविपाक, अध्ययन १

उस काल और उस समय में धर्मघोष नामक स्थविर के अन्तेवासी शिष्य सुदत्त अणगार उदार यावत् तेजोलेश्या को गुप्त रखने वाले मास-मास क्षमण का तप करते हुए जीवन व्यतीत करते थे। वे मास क्षमण की तपस्या के पारणे के दिन प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय करते थे, शेष क्रियाएँ गौतम स्वामी की तरह समझनी चाहिए। वे सुदत्त अणगार अपने गुरु धर्मघोष स्थविर से पूछकर यावत् गोचरी के निमित्त जाते हुए सुमुख नामक गृहस्थ के घर पर गए। अनन्तर सुमुख गाथापति ने सुदत्त अणगार को आते हुए देखकर हर्ष के साथ आसन छोड दिया और पादपीठ से नीचे उतरकर, पादुका को छोडकर, एक शाटिक वस्त्र का उत्तरासंग करके सात-आठ पैर तक मुनि के सम्मुख गया। उसने मुनि की दाहिनी ओर से मुनि को तीन बार प्रदक्षिणा दी और उन्हें वन्दन-नमस्कार करके वह अपने भोजन-गृह में आया। वहाँ उसको इस बात का अपार हर्ष हो रहा था कि आज मैं अपने हाथ से मुनि को विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ दूंगा। देते समय भी उसे हर्ष हो रहा था और देने के अनन्तर भी उसे हर्ष हुआ। इस प्रकार शुद्ध भाव और शुद्ध मन, वचन और काय से सुमुख गाथापति ने सुपात्र को जो शुद्ध द्रव्य का दान दिया, उससे उसने अपना संसार परिमित करके मनुष्य आयु बांधा।

इसमें बताया गया है कि 'सुमुख गाथापति ने सुदत्त अणगार को अपने घर में प्रविष्ट होते देखकर अपना आसन छोड़ दिया और पादपीठ से उतर कर एक शाटिक वस्त्र का उत्तरासन करके मुनि के सम्मुख सात-आठ पैर तक गया और दाहिनी ओर से मुनि को तीन बार प्रदक्षिणा दी।' इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यादृष्टि नहीं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि साधु को साधु नहीं, असाधु समझता है। अतः वह मुनि का ऐसा आदर-सत्कार नहीं कर सकता। [illegible]

मेघकुमार का पूर्वभव

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८ पर मिथ्यात्व-दशा की क्रिया से संसार परिमित होना सिद्ध करने के लिए लिखते हैं—'वली मेघकुमार रो जीव पाछिले भवे हाथी, सुसलारी दया पाली परीत्त-संसार मिथ्यात्वी थके कियो।'

हाथी के भव में शशक आदि प्राणियों की प्राण-रक्षा करते समय मेघकुमार का जीव सम्यग्दृष्टि था, मिथ्यात्वी नहीं। यह बात ज्ञातासूत्र के मूल पाठ से स्पष्ट सिद्ध होती है—

तं जइ ताव तुमं मेहा तिरिक्खजोणिय भावमुवगए णं अपडिलद्ध-समत्तरयण लंभेणं से पाए पाणाणुकम्पयाए जाव अन्तरा चेव सन्धारिए णो चेवणं णिक्खित्ते।

ज्ञातासूत्र, १, २८

तं. ते माटे तिहां तुम्हे तीजे भवे, मे. मेघा! तिर्य्यंचरी योनि भावइ मु. उपनाहता अ. अनुपाम्यो अछतो सम्यक्त्व लीधो, रत्न पाम्यो से. तेरि करी ते प्राणिनी अनुकम्पाइ, जा. दयाइ करी, जा. यावत् तिहां पग ऊंचो राख्यो तेणे मनुष्य भव पाम्यो।

यह टब्बा आचार्य भीखणजी के जन्म के पहले का लिखा हुआ प्राचीन है। हस्तलिखित प्रतियों में इसको लिखने का समय संवत् १७६८ है।

'संवत् १७६८ वर्षे शा १६६३ प्रवर्त्तमान कार्तिक मासे शुक्ल पक्षे ११ तिथौ [illegible] लिपि कृतेः मुनि [illegible]।'

इसमें अपडिलद्ध-समत्तरयण लंभेणं का यह अर्थ किया है—'अप्राप्त्यो अछतो सम्यक्त्व लीधो, रत्न पाम्यो'—हाथी ने पहले नहीं प्राप्त हुए सम्यक्त्व रूपी रत्न को उस समय प्राप्त किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शशक आदि प्राणियों के प्राणों की रक्षा करते समय हाथी मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि था। इस पाठ में अपडिलद्ध-समत्तरयण लंभेणं का सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त करना [illegible] है, [illegible] से भी यही अर्थ होता है। इस पाठ की संस्कृत छाया— अप्रतिलब्ध-सम्यक्त्वरत्न लंभेन [illegible] है और इसकी [illegible]

इस प्रश्नोत्तर में मिथ्यादृष्टि में मोक्षमार्ग का न होना स्पष्ट कहा है, तथापि उसका उदाहरण देकर भ्रमविध्वंसनकार ने मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का आराधक बतलाया है, यह इनका प्रत्यक्षतः असत्य कथन समझना चाहिए।

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि शास्त्राधार के बिना किसी भी आधुनिक छद्मस्थ—अल्पज्ञ की बात नहीं मानी जाती। यह आग्रह तो भ्रमविध्वंसनकार के अनुयायियों का ही है कि बाबा-वाक्य को प्रमाण मानकर लकीर के फकीर बने हैं। यदि उनके अपने पूर्वाचार्य श्री भीखणजी आदि की बात आगम के मूल पाठ से विरुद्ध हो तब भी वे उसे नहीं छोड़ते। अभिनिवेशक मिथ्यात्व का यही लक्षण है। परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष आगम-प्रमाण को समझ कर हठ नहीं रखते। भले ही किसी का कथन क्यों न हो, यदि वह आगम-विरुद्ध है, तो उसे स्वीकार नहीं करते।

नूणं सद्दालपुत्ता! कल्लं तुमं पुव्वावरण्हकाल समयंसि जेणेव असोगवणिया जाव विहरसि। तए णं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था तए णं से देवे अंतलिक्खपडिवन्ने एवं वयासी—हे भो सद्दालपुत्ता! तं चेव सव्वं जाव पज्जुवासिस्सामि। से नूणं सद्दालपुत्ता! अट्ठे–समट्ठे?

हंता अत्थि।

नो खलु सद्दालपुत्ता! ते णं देवे णं गोसालं मंखलिपुत्तं पणिहाय एवं वुत्ते। तए णं तस्स सद्दालपुत्तस्स आजीविओवासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्तस्ससमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिये ४ एस णं समणे भगवं महावीरे महामाहणे उप्पन्ननाणदंसणधरे जाव तच्च कम्मसंपया संपउत्ते।

—उपासकदशांग, अ. ६

श्रमण भगवान् महावीर ने गोशालक शिष्य शकडालपुत्र से कहा—'हे शकडालपुत्र! कल संध्या समय तू अशोक वाटिका में गया था। वहाँ तुम्हारे निकट आकाश में स्थित होकर एक देव ने तुम्हें कहा था कि 'कल यहाँ महा-माहन ज्ञान–दर्शन का धारक यावत् सफल क्रियाओं से युक्त पुरुष आएगा, तुम उसको वन्दन–नमस्कार करना यावत् शय्या–संथारे से उपनिमंत्रित करना।' यह सुनकर तुमने निश्चय किया कि कल मेरे गुरु गोशालक मंखलिपुत्र आएंगे। उनको वंदन–नमस्कार यावत् उपासना करूंगा, क्या यह बात सत्य है?'

यह सुनकर शकडालपुत्र ने कहा—'हाँ, सत्य है।'

तब पुनः भगवान् ने कहा कि 'हे शकडालपुत्र! उस देव ने गोशालक मंखलिपुत्र के लिए ऐसा नहीं कहा था।

भगवान् महावीर के ऐसा कहने पर शकडालपुत्र को यह निश्चय हुआ कि ये भगवान् महावीर हैं, ये महा–माहन हैं, ज्ञान–दर्शन के धारक हैं यावत् सफल क्रियाओं से युक्त हैं।

प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भगवान् महावीर ने स्वयं शकडालपुत्र को यह कहा—'अशोक वाटिका में देवता ने जो बात कही थी, वह गोशालक मंखलिपुत्र के लिए नहीं कही थी।' तब उसे यह ज्ञात हुआ कि वे मेरे गुरु गोशालक नहीं, अपितु भगवान् महावीर हैं। इससे यह निश्चित होता है कि [illegible]

लिया हो। अतः वह क्रियावादीपने में आयु बांध कर नरक में जाता है या उसने नरक-आयु पहले बांध रखा है, इस सम्बन्ध में आपका क्या समाधान है?

यदि क्रियावादी मनुष्य, क्रियावादीपने में नरक-आयु का बन्ध नहीं करता, तो आगमकार उसके लिए उत्तर दिशा के नरक में जाने का ही विधान कैसे करते? क्योंकि अक्रियावादी मनुष्य उत्तर एवं दक्षिण उभय दिशाओं के नरक की आयु बांधता है, केवल एक दिशा-विशेष की नहीं। परन्तु दशाश्रुतस्कंध के अनुसार क्रियावादी मनुष्य सिर्फ उत्तरपथगामी नरक में ही जा सकता है और नरक में जाने पर भी वह शुक्लपक्षी ही रहेगा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि क्रियावादी मनुष्य नरक-आयु का बंध कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि क्रियावादीपने में नरकआयु का बंध नहीं करता, तो यहाँ महारम्भी, महापरिग्रही एवं महाइच्छावाला आदि विशेषण देने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि जब उसने क्रियावादीपने में नरक-आयु का बंध नहीं किया और क्रियावादी होने से पूर्व के आयुबंध से वह नरक में जाता है, तब भले ही वह अल्पारंभी हो या महारंभी हो, उसे नरक में जाना ही होगा। परन्तु इन विशेषणों से यह स्पष्ट होता है कि महारंभादि कारणों से ही उसने इस भव में नरक की आयु बांधी है। अतः भगवतीसूत्र श. ३, उ. १ में विशिष्ट क्रियावादी के लिए ही वैमानिक के आयु-बंध का विधान किया है।

भगवतीसूत्र श. १, उ. २ में यह बताया है कि क्रियावादी वैमानिक के अतिरिक्त अन्य स्थानों के आयु का बंध भी करते हैं।

अविराहिय संजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे-कप्पे उक्कोसेणं सव्वट्ठसिद्धे विमाणे। विराहिय संजमाणं जहण्णेणं भुवणवासीसु उक्कोसेणं सोहम्मेकप्पे।

अविराहिय संजमासंजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे-कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए-कप्पे। विराहिय संजमासंजमाणं जहण्णेणं भुवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु।

—भगवतीसूत्र, १, २,

संयम की विराधना नहीं करने वाला आराधक साधु यदि देवलोक में उत्पन्न हो, तो जघन्य प्रथम स्वर्ग—सौधर्म कल्प में और उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है। और संयम की विराधना करने वाला विराधक साधु यदि देवलोक में उत्पन्न हो, तो जघन्य भुवनपति और उत्कृष्ट प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

आराधक को उत्कृष्ट असंख्य भव करके मोक्ष जाना है, वह अपने असंख्य भवों की पूर्ति सिर्फ मनुष्य और वैमानिक के भवों में नहीं कर सकता। क्योंकि भगवतीसूत्र शतक २४ में मनुष्य भव से वैमानिक और वैमानिक के भव से मनुष्य का भव लगातार सात-आठ बार से अधिक होने का निषेध किया है। अतः उत्कृष्ट असंख्य भव करने वाले जघन्य ज्ञान, दर्शन एवं देशव्रत के आराधक को वैमानिक के अतिरिक्त अन्य भव भी करने होंगे। इस प्रकार जब उत्कृष्ट असंख्य भव करके मोक्ष जाने वाले जघन्य ज्ञान, दर्शन और देशव्रती पुरुष का वैमानिक के अतिरिक्त दूसरे भवों के आयुबंध का होना भ्रमविध्वंसनकार को स्वीकार है, तब क्रियावादी मनुष्य एवं तिर्यंच वैमानिक के अतिरिक्त दूसरे भव का आयु बांधते हैं, यह स्वतःसिद्ध हो जाता है। क्योंकि जघन्य ज्ञान, दर्शन एवं देशव्रत का आराधक पुरुष अक्रियावादी नहीं, क्रियावादी है। अतः भगवतीसूत्र श. ३०, उ. १ का नाम लेकर सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्यंच एक वैमानिक का ही आयुबंध करते हैं, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है।

वरुण–नागनत्तूया

सामान्य व्रतधारी श्रावक का वैमानिक देव के अतिरिक्त दूसरा भव प्राप्त करना आगम के विधिवाद से आपने सिद्ध कर दिया, परन्तु कहीं चरितानुवाद में इसका उदाहरण मिलता हो तो उसे भी बताएँ।

भगवती श. ७, उ. ९ के मूलपाठ में सामान्य व्रतधारी पुरुष का मनुष्य भव छोड़कर पुनः मनुष्य भव में जन्म ग्रहण करने का उदाहरण मिलता है। वह पाठ यह है—

तए णं तस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स एगे पियबालवयंसए रहमुसलं संगामं संगामेमाणे एगेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीकए समाणे अत्थामे अबले जाव अधारणिज्जमिति कट्टु वरुणं नागनत्तुयं रहमुसलाओ संगामाओ पडिनिक्खममाणं पासइ–पासइत्ता तुरगे निगिण्हइ–निगिण्हित्ता जहा वरुणे जाव तुरए विसज्जेइ, पडिसंथारगं दुरुहइ–दुरुहइत्ता पुरत्थाभिमुहे जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी—जइ णं भन्ते! मम पियबाल–वयंसस्स वरुणस्स नागनत्तुयस्स सीलाइं, वयाइं, गुणाइं, वेरमणाइं, पच्चक्खाण–पोसहोववासाइं ताइं णं ममं पि भवन्तु त्ति कट्टु सण्णाह–पट्टं मुयइ–मुयइत्ता सल्लुद्धरणं करेइ–करेइत्ता आणुपुव्वीए कालगए।

—भगवतीसूत्र, ७, ९, ३०३

उस समय वरुण–नागनत्तुआ का प्रिय बाल–मित्र रथमुसल नामक संग्राम में युद्ध करता हुआ किसी के द्वारा प्रगाढ़ प्रहार को प्राप्त होकर बहुत शक्तिहीन हो गया। उसी समय उसने अपने बाल–मित्र वरुण–नागनत्तुआ को भी घायल होकर संग्राम भूमि से बाहर जाते हुए देखा। उसी तरह उसने भी युद्ध भूमि से बाहर आकर घोड़े को जंगल में छोड़ दिया और अपने प्रिय बाल–मित्र वरुण–नागनत्तुआ के समान घास के संथारे पर बैठ गया। संथारे पर बैठकर, पूर्वाभिमुख हो, हाथ जोड़कर कहने लगा—'प्रिय बाल–मित्र वरुण–नागनत्तुआ के समान मेरे भी शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सफल हों।' यह कहकर उसने अपने

प्रस्तुत पाठ में सामान्य रूप से बारह व्रतधारी वरुण-नागनतुआ के प्रिय बाल-मित्र के लिए मनुष्यभव छोड़कर पुनः मनुष्यभव में जन्म लेना कहा है। यह सामान्य व्रतधारी श्रावक का मनुष्यभव छोड़कर पुनः मनुष्यभव में जन्म लेने का ज्वलन्त उदाहरण है। अतः उत्तराध्ययनसूत्र के अ. ७, गाथा २० में कथित सुव्रत शब्द का अर्थ सामान्य व्रतधारी है, मिथ्यादृष्टि नहीं।

कहा जा सकता है—'यह जिनोक्त क्रिया करने वाले व्यक्ति का सोलहवां अंश भी नहीं है।' परन्तु जो जिनोक्त धर्म का ही आचरण करता है, उसके लिए ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि वह स्वयं जिनोक्त धर्म का परिपालक है। प्रस्तुत गाथा में वर्णित मिथ्यात्वी का तप वीतराग की आज्ञा में नहीं है और उनकी आज्ञा में नहीं होने के कारण उसका परिपालक बाल-तपस्वी भी जिनोक्त धर्म का आचरण करने वाला नहीं है। अतः उसे जिनोक्त धर्म का परिपालन करने वाले पुरुष का सोलहवां अंश भी नहीं होना कहा है। इससे मिथ्यादृष्टि की तपस्या स्पष्टतः जिन-आज्ञा से बाहर सिद्ध होती है। प्रस्तुत गाथा की टीका में टीकाकार ने भी उक्त बाल तपस्वी की तपस्या को जिन-आज्ञा से बाहर बताया है।

घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव धर्मार्थिनाऽनुष्ठेयत्वादन्यस्य-त्वात्मविघातादि-वदन्यथात्वात्।

जो धर्म जिन-भाषित है, वह यदि घोर कठिन है, तब भी धर्मार्थी पुरुष के आचरण करने योग्य है। परन्तु जो घोर धर्म जिन-भाषित नहीं है, वह आत्म-घात आदि की तरह आचरण करने योग्य नहीं है।

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि उक्त बाल-तपस्वी की मास-मास क्षमण की तपस्या घोर है, कठिन है, तथापि जिन-भाषित न होने के कारण धर्मार्थी पुरुष के आचरण करने योग्य नहीं है। यदि उक्त बाल-तपस्वी की तपस्या जिन-भाषित धर्म में होती, तो उसे टीकाकार जिन-भाषित धर्म में नहीं होना कैसे कहते? इससे यह प्रमाणित होता है कि उक्त बाल-तपस्वी का मास-मास क्षमण का तप जिन-आज्ञा में नहीं है। इसीलिए टीकाकार ने इसे आत्म-हत्या की तरह अनाचरणीय कहा है और मूल पाठ में इसे जिन-भाषित धर्म का सोलहवां अंश भी नहीं कहा है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार ने मिथ्यात्वी बाल-तपस्वी की मिथ्यात्वयुक्त मास-मास क्षमण की तपस्या को [illegible] की आज्ञा में कहा है, यह [illegible] [illegible]

जो पुरुष माया आदि अर्थात् कषायों से युक्त कहकर बतलाया जाता है, वह पुरुष मिथ्यादृष्टि है। उसका निर्देश करने के लिए ही इस गाथा में 'जे इह मायाइ मिज्जइ' वाक्य का प्रयोग किया है। अतः इसका आश्रय लेकर माया के कारण संसार का अंत नहीं होना बतलाकर मिथ्यादृष्टि के तप को मोक्ष-मार्ग में बताना यथार्थता से दूर है।

यदि माया के कारण अनन्त काल तक गर्भवास भोगना पड़े तो दशम गुणस्थान तक के जीवों को भी अनंतकाल तक गर्भवास भोगना चाहिए। क्योंकि आगम में दशम गुणस्थानपर्यन्त कषाय का होना बतलाया है। परन्तु दशम गुणस्थानवर्ती जीव कदापि अनन्त संसारी नहीं होते। अतः उनका कथन आगम-विरुद्ध है। इसलिए इस गाथा का नाम लेकर माया के कारण अनन्त काल तक गर्भवास भोगने की कल्पना करके मिथ्यात्वी के तप को मोक्ष-मार्ग में कहना उचित नहीं है।

चतुर्थ गुणस्थान वाले अव्रती सम्यग्दृष्टि की तरह अकाम निर्जरा की क्रिया करने वाले पुरुष को मोक्ष-मार्ग का आराधक कहना मिथ्या है। अव्रती सम्यग्दृष्टि में ज्ञान-दर्शन रूप मोक्ष-मार्ग है। और वह उत्कृष्ट असंख्य भव करके मोक्ष जाता है। परन्तु अकाम निर्जरा की क्रिया करने वाले मिथ्यात्वी में ज्ञान-दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग का कोई भी अंश नहीं है और वह अनन्त काल तक संसार में ही परिभ्रमण करता है। इसलिए अव्रती सम्यग्दृष्टि की तरह अकाम-निर्जरा की क्रिया करने वाले को मोक्ष-मार्ग का आराधक बताना आगम से सर्वथा विपरीत है।

हे भगवन्! जो पुरुष यह कहता है कि मैंने सब प्राणियों से लेकर यावत् सब सत्वों के हनन का त्याग कर दिया है, उसका यह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है या दुष्प्रत्याख्यान ?

हे गौतम! किसी जीव का सुप्रत्याख्यान होता है और किसी का दुष्प्रत्याख्यान भी होता है।

इसका क्या कारण है ?

हे गौतम! जो व्यक्ति यह कहता है कि मैंने सब प्राणियों से लेकर सब सत्वों को मारने का त्याग कर दिया है, वह यदि यह नहीं जानता है कि यह जीव है, यह अजीव है, यह त्रस है, यह स्थावर है, तो उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। इस प्रकार वह दुष्प्रत्याख्यानी पुरुष यह कहता हुआ—'मुझे सब जीवों के हनने का त्याग है'—सत्य नहीं बोलता है, वह झूठ बोलता है। वह तीन करण और तीन योग से संयमी, विरतियुक्त, पापों का हनन एवं प्रत्याख्यान किए हुए नहीं है। वह कायिकी आदि क्रियाओं से युक्त है, संवररहित है, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला है और एकान्त बाल है।

प्रस्तुत पाठ में जिस व्यक्ति को जीव, अजीव, त्रस और स्थावर का ज्ञान नहीं है, उसको कायिकी आदि क्रियाओं से युक्त, संवर से रहित, प्राणियों को एकान्त दण्ड देने वाला और एकान्त बाल कहकर उसके प्रत्याख्यान को दुष्प्रत्याख्यान एवं उसे मिथ्यावादी कहा है। इससे मिथ्यादृष्टि की प्रत्याख्यान आदि क्रिया वीतराग की आज्ञा से बाहर और मोक्ष का अमार्ग सिद्ध होती है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार भोले जीवों को भ्रम में डालने के लिए कहते हैं—'मिथ्यादृष्टि भी त्रस को त्रस जानकर उसके हनन का त्याग करता है, परन्तु उसमें संवर नहीं होता, इसलिए उसके प्रत्याख्यान को इस पाठ में दुष्प्रत्याख्यान कहा है।' परन्तु उनका यह कथन सर्वथा आगम-विरुद्ध है। जो पुरुष त्रस को त्रस जानकर उसके हनन का त्याग करता है, वह एकान्त संवर-रहित, एकान्त बाल और एकान्त प्राणियों को दण्ड देने वाला नहीं है, किन्तु देश से (त्रस के विषय में) प्राणियों को दण्ड न देने वाला, देश से पण्डित और देश से संवरयुक्त है। इसलिए वह मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि है। [illegible]

अज्ञान : संसार है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१ पर सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १, अ. ८, गाथा २२ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे तो इम कह्यो—जे तत्त्व ना अजाण मिथ्यात्वी नो जेतलो अशुद्ध पराक्रम छै, ते सर्व संसार नो कारण छै। अशुद्ध करणी को कथन इहां चाल्यो नथी।'

सूत्रकृतांगसूत्र की वह गाथा लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जे याऽबुद्धा महाभागा, वीरा असम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं सफलं होइ सव्वसो॥

—सूत्रकृतांग सूत्र, १, ८, २२

जो पुरुष तत्त्व के अर्थ से अनभिज्ञ महाभाग—संसार में पूजनीय, वीर, असम्यग्दर्शी—सम्यग्ज्ञान आदि से रहित हैं, उनके द्वारा किए हुए तप, अध्ययन और नियम आदि रूप पुरुषार्थ सभी अशुद्ध और कर्म-बन्ध के ही कारण होते हैं।

प्रस्तुत गाथा में मिथ्यादृष्टि के द्वारा आचरित तप–आराधना आदि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य अशुद्ध एवं कर्म–बन्ध के कारण कहे हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि की क्रिया मोक्ष–मार्ग में नहीं है और [illegible] का अनुपालन करने के कारण वह मोक्ष–मार्ग का आराधक भी नहीं है।

[illegible] में भी अज्ञानी के कार्य को मुक्ति का कारण नहीं माना है, [illegible] में लिखा है—

[illegible]

—[illegible]

हे गार्गी! जो अविनाशी अक्षर को बिना जाने इस लोक में हवन करता है, यज्ञ करता है, तपस्या करता है, वह चाहे हजारों वर्षों तक इन क्रियाओं को करता रहे, पर वह संसार के लिए है।

उक्त गाथा में मिथ्यादृष्टि की पारलौकिक क्रियाओं का कथन न मानकर कुशीलादि अशुद्ध क्रियाओं का कथन बतलाना मिथ्या है।

इस गाथा में मिथ्यादृष्टि की जिन क्रियाओं को अशुद्ध और कर्म-बन्ध का कारण कहा है, इसके आगे की गाथा में सम्यग्दृष्टि की उन्हीं क्रियाओं को शुद्ध और कर्म-क्षय का हेतु कहा है।

जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्त-दंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं अफलं होइ सव्वसो।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, १, ८, २३

जो पुरुष तत्त्व का ज्ञाता, महापूज्य, कर्म का विदारण—क्षय करने में समर्थ, सम्यग्दृष्टि है, उसके तप, दान, अध्ययन, नियम आदि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य शुद्ध और कर्म-क्षय के कारण होते हैं।

यहाँ सम्यग्दर्शी पुरुष के परलोक सम्बन्धी तप, दान, अध्ययन, नियम आदि रूपकार्य को शुद्ध एवं कर्म-क्षय का हेतु कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शी के परलोक सम्बन्धी कार्य मोक्षमार्ग में हैं, मिथ्यादर्शी के नहीं। क्योंकि इसके पूर्व की गाथा में मिथ्यादृष्टि के इन्हीं कार्यों को अशुद्ध और कर्मबन्ध का कारण कहा है। परन्तु कुछ व्यक्ति यह कहते हैं कि 'इस गाथा में सम्यग्दृष्टि की शुद्ध परलोक सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन है और इसके पूर्व की गाथा में मिथ्यादृष्टि की अशुद्ध कुशीलादि क्रियाओं को अशुद्ध कहा है। अतः मिथ्यादृष्टि की बाल-तपस्या आदि पारलौकिक क्रियाएँ मोक्षमार्ग में ही हैं।' ऐसा कहने वाले उक्त गाथाओं के यथार्थ अर्थ को नहीं समझते हैं। यदि उक्त दोनों गाथाओं का यही तात्पर्य हो कि 'मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों की तप-अध्ययन आदि क्रियाएँ शुद्ध हैं' तो आगमकार को दो गाथाएँ लिखने की क्या आवश्यकता थी। एक ही गाथा में लिख देते कि कुशीलादि क्रियाएँ अशुद्ध एवं कर्मबन्ध का कारण होती हैं और तप आदि क्रियाएँ शुद्ध तथा मोक्ष के लिए होती हैं। परन्तु यहाँ एक गाथा न बनाकर दो गाथाएँ दी हैं, उसका अभिप्राय सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की पारलौकिक क्रियाओं में भेद बताना है, इससे स्पष्ट मालूम [illegible] है कि मिथ्यादृष्टि की [illegible] आदि पारलौकिक क्रियाएँ अशुद्ध [illegible] कर्मबन्ध की कारण हैं। क्योंकि वे अज्ञानपूर्वक की जाती हैं, और सम्यग्दृष्टि की [illegible] क्रियाएँ शुद्ध और कर्मक्षय का कारण हैं। क्योंकि वे ज्ञानपूर्वक [illegible] [illegible] हैं। अतः [illegible] उक्त गाथाओं का [illegible] [illegible] मिथ्यादृष्टि की [illegible] को मोक्षमार्ग में [illegible] [illegible] नहीं है।

'जिस वस्तु का जैसा स्वरूप नहीं है, उसका वैसा स्वरूप मानना, 'स्वरूप विपर्यय' कहलाता है। जैसे घट-पट आदि पदार्थ नित्यानित्य हैं। तथापि कुछ विचारक उन्हें एकान्त नित्य कहते हैं और कुछ विचारक उन्हें एकान्त रूप से अनित्य। अतः उनका घट-पट आदि का ज्ञान स्वरूप विपर्यय के कारण अज्ञान है।'

'कारण-कार्य का जो परस्पर सम्बन्ध है, उसे न मानकर उसके विपरीत मानना 'सम्बन्ध विपर्यय' कहलाता है। जैसे—घट और उसके कारण का कथंचित् भेदाभेद सम्बन्ध है, उसे न मानकर कुछ विचारक उनमें एकान्त भेद और कुछ विचारक एकान्त अभेद सम्बन्ध मानते हैं, इसलिए उनका वह घट आदि का ज्ञान 'सम्बन्ध विपर्यय' के कारण अज्ञान है।'

इस प्रकार मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान कारण विपर्यय, स्वरूप विपर्यय और सम्बन्ध विपर्यय रूप मिथ्यात्व से युक्त होने के कारण अज्ञान है, सम्यग्ज्ञान नहीं। अतः मिथ्यादृष्टि के घट-पट आदि ज्ञान को सम्यक् श्रद्धा रूप बतलाना एकान्त मिथ्या है।

यदि मिथ्यादृष्टि में थोड़ी-सी भी सम्यक् श्रद्धा नहीं है, तब उसे गुणस्थान में कैसे गिना जाय? इसका उत्तर यह है कि सम्यक् श्रद्धा को लेकर चतुर्दश गुणस्थान नहीं कहे हैं। उनका कथन कर्म विशुद्धि के उत्कर्ष और अपकर्ष को लेकर किया गया है। इसलिए सम्यक् श्रद्धा नहीं होने पर भी मिथ्यादृष्टि जीव गुणस्थान में गिना गया है। जिस जीव में कर्म की विशुद्धि सबसे निकृष्ट है, वह प्रथम गुणस्थान का स्वामी है और ज्यों-ज्यों कर्मों की विशुद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों वह उन्नति करता हुआ ऊपर के गुणस्थानों का स्वामी होता जाता है। मिथ्यादृष्टि में जो मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है, वह कर्मों की विशुद्धि से है। उसी को लेकर वह प्रथम गुणस्थान में गिना गया है, सम्यक् श्रद्धा को लेकर नहीं। षट्खण्डागम में कर्म-विशुद्धि के उत्कर्ष-अपकर्ष को लेकर चौदह गुणस्थानों का वर्णन किया है, सम्यक् श्रद्धा को लेकर नहीं।

[illegible]

क्षयोपशम से उत्पन्न होने मात्र से कोई लब्धि वीतराग आज्ञा में नहीं
आती। क्योंकि मति-अज्ञान लब्धि, श्रुत-अज्ञान लब्धि और विभंग-अ
लब्धि भी क्षयोपशम से उत्पन्न होती है तथापि वह त्यागने योग्य होने के का
वीतराग की आज्ञा में नहीं है। उसी तरह मिथ्यादर्शन लब्धि भी त्यागने यो
होने से वीतराग-आज्ञा में नहीं है। आवश्यकसूत्र में मिथ्याज्ञान-दर्शन
त्यागने योग्य कहा है।

*मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि। अन्नाणं परियाणा
नाणं उवसंपज्जामि।*

साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं मिथ्यात्व और अज्ञान का परित्याग क
सम्यक्त्व और ज्ञान को स्वीकार करता हूँ।

इस पाठ में मिथ्यात्व और अज्ञान को त्यागने योग्य कहा है। अतः
अज्ञान क्षायोपशमिक भाव में होने पर भी आज्ञा में नहीं है, उसी त
मिथ्यादर्शन भी त्यागने योग्य होने के कारण आज्ञा में नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशम से उत्पन्न होती
तो उससे कर्मबन्ध क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि क्षयोपशम
उत्पन्न होने वाली लब्धि भी कर्मबन्ध का कारण होती है। जैसे बाल
लब्धि क्षयोपशम से ही उत्पन्न होती है, परन्तु वह आरंभ आदि सावद्य
कार्यों में प्रयुक्त होने से कर्मबन्ध का हेतु होती है, उसी तरह अज्ञान
मिथ्यादर्शन क्षयोपशम से उत्पन्न होने पर भी विपरीत कार्यों में लगे हुए होने
कर्मबन्ध के कारण होते हैं। अतः जो व्यक्ति यह कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि
मिथ्यादर्शन क्षयोपशम भाव में है और क्षयोपशम भाव कर्मबन्ध का कारण
होता, इसलिए मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वीतराग की आज्ञा में है, उनका
यह कथन आगम-विरुद्ध है।

हाँ, गौतम! उत्पन्न होते हैं।

ऐसा क्यों होता है?

लेश्या-स्थान के संक्लिश्यमान और विशुद्ध होने से जीव में नील-लेश्या का परिणाम होता है और वे नीललेशी होकर नील-लेश्या वाले नरक में उत्पन्न होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में कृष्ण-लेश्या की अपेक्षा नील-लेश्या को विशुद्ध कहा है, तब भी वह वीतराग की आज्ञा में नहीं है। उसी तरह भगवतीसूत्र श. ९, उ. ३१ के मूल पाठ में उल्लिखित बाल-तपस्वी की विशुद्ध लेश्या भी वीतराग की आज्ञा में नहीं है। अतः बाल-तपस्वी की विशुद्ध लेश्या और उसके मिथ्यात्व-युक्त प्रकृति से भद्रिकता आदि गुणों को वीतराग की आज्ञा में बतलाना अप्रामाणिक है।

ईहा आदि का अर्थ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३३ पर लिखते हैं—'वली 'ईहापोह-मग्गण-गवेसणं करेमाणस्स' ए पाठ कह्यो, 'ईहा' कहितां भला अर्थ जाणवा सन्मुख थयो, 'अपोहन' कहितां धर्म-ध्यान धीजा पक्षपात-रहित, 'मग्गण' कहितां समुच्चे धर्म नी आलोचना, 'गवेसणं' कहितां अधिक धर्मनी आलोचना ए चार्‍यां निर्मल ज्ञान थकी। इहां तो धर्म-ध्यान धर्म नी आलोचना, अधिक धर्म नी आलोचना प्रथम गुणठाणे कही, तो धर्म नी आलोचना ने, अने धर्म-ध्यान ने आज्ञा बाहिरे किम कहीजे। ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा मांही छै।'

भगवती, श. ९, उद्देश ३१ के मूल पाठ में प्रयुक्त 'ईहा, अपोह, मार्गण और गवेषण' शब्दों का भ्रमविध्वंसनकार ने यथार्थ अर्थ नहीं किया है। इनकी टीका यह है—

ईहा सदर्थाभिमुखा चेष्टा, अपोहस्तु विपक्ष निरासः, मार्गणमन्वय धर्मालोचनम्, गवेषणं व्यतिरेक धर्मालोचनम्।

सद्भूत-पदार्थ को जानने की चेष्टा का नाम 'ईहा' है। और उस चेष्टा के बाद सत्-पदार्थ का [illegible] लेना 'अपोह' है। अन्वय—सजातीय धर्म की आलोचना करने का नाम 'मार्गण' है तथा व्यतिरेक—विजातीय धर्म की आलोचना करना 'गवेषण' कहलाता है।

[illegible]

यदि यह कहें कि उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३४, गाथा ३१ में धर्म-ध्यान होना शुक्ल-लेश्या का लक्षण कहा है और शुक्ल-लेश्या मिथ्यादृष्टि में पाई जाती है, फिर उसमें धर्म-ध्यान क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि उत्तराध्ययन की उक्त गाथा में विशिष्ट शुक्ल-लेश्या का लक्षण कहा है, जो संयमी पुरुषों में पाई जाती है, सामान्य शुक्ल-लेश्या का नहीं। यह बात उक्त गाथा एवं उसकी टीका को देखने से स्पष्ट समझ में आ जाएगी।

अट्ट-रुद्दाणि वज्जित्ता धम्म-सुक्काणि झायए।
पसंत चित्ते दंतप्पा समिए गुत्ते य गुत्तिसु।।
सरागे-वीयरागे वा, उवसंते जिइन्दिए।
एयजोग समाउत्तो सुक्कलेसं तु परिणमे।।

—उत्तराध्ययन, ३४, ३१-३२

जो पुरुष आर्त और रौद्र ध्यान को त्यागकर धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान को ध्याता है। अपने चित्त और इन्द्रियों को वश में रखते हुए समिति-गुप्ति से युक्त है।

जिसने मनोगुप्ति आदि के द्वारा अपने समस्त व्यापार को रोक लिया है, वह चाहे सरागी हो, वीतरागी हो या उपशान्त और जितेन्द्रिय हो, वह शुक्ल-लेश्या को प्राप्त होता है।

इन गाथाओं में अंकित शुक्ल-लेश्या का लक्षण विशिष्ट शुक्ल-लेश्या का है, सामान्य शुक्ल-लेश्या का नहीं। टीकाकार ने भी इसे विशिष्ट शुक्ल-लेश्या का लक्षण स्वीकार किया है।

विशिष्ट शुक्ल लेश्यापेक्षयेदं लक्षणाभिधानमिति न देवादिभिर्व्यभिचारः।

इन गाथाओं में विशिष्ट शुक्ल-लेश्या के लक्षण कहे हैं, अतः शुक्ललेशी देवों में गाथोक्त लक्षणों के न मिलने पर भी कोई व्यभिचार—दोष नहीं है।

यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट किया है कि गाथोक्त लक्षण विशिष्ट शुक्ल-लेश्या के हैं, सामान्य शुक्ल-लेश्या के नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये [illegible] शुक्ल-लेश्या के हैं, [illegible] शुक्ल-लेश्या [illegible] शुक्ल- [illegible] शुक्ल- [illegible] शुक्ल-

श्री नंदीसूत्र की टीका में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के लिए भंगी और ब्राह्मण के घट की नाईं, सुगन्धित और दुर्गन्धित घट की उपमा दी है।

भाविताः द्विविधाः प्रशस्त-द्रव्य भावित, अप्रशस्त-द्रव्य भाविताश्च। तत्र ये कर्पूरागुरु-चन्दनादिभिः प्रशस्तैर्द्रव्यैर्भावितास्ते प्रशस्त-द्रव्य भाविताः। ये पुनः पलाण्डु-लशुन-सुरा-तैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्त-द्रव्य भाविताः।

वारित घट दो प्रकार के होते हैं—१. प्रशस्त द्रव्यों से वारित और २. अप्रशस्त द्रव्यों से वारित। जो कपूर, अगर और चन्दन आदि उत्तम द्रव्यों से वारित हैं, वे घट 'प्रशस्त-द्रव्य-वारित' कहलाते हैं। और जो प्याज, लहसुन, मद्य और तेल आदि अप्रशस्त द्रव्यों से वारित घट हैं, वे अप्रशस्त-द्रव्य-वारित कहलाते हैं।

जिस पुरुष का अन्तःकरण जिनाज्ञाराधक मुनियों के उपदेश से वैराग्य-युक्त और निर्मल होता है, वह पुरुष प्रशस्त-द्रव्य-वारित घट के समान है, और जिसका अन्तःकरण जिनाज्ञा-विरोधियों के उपदेश से कलुषित है, वह अप्रशस्त-द्रव्य-वारित घट के समान है।

साधु की आज्ञा और क्रिया

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३५ पर लिखते हैं—'जे मिथ्यादृष्टि साधु ने पूछे हूं सुपात्र दान देवूं, शील पालूं, बेला-तेलादिक तप करूं। तब साधु तेहने आज्ञा देवे के नहीं? जो आज्ञा देवे तो ते करणी आज्ञा माहिली छई।'

तप, शील, सुपात्र-दान को अच्छा जानकर, उनका आचरण करने के लिए साधु से आज्ञा मांगने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जा सकता है? साधु के पास भक्ति-भावों के साथ जाकर शील, तप, सुपात्र-दान आदि की आज्ञा मांगना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। [illegible]

[illegible]

[illegible]

वाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि को एक तालाब से पानी भरने वाला बताना अनुचित है।

भंगी और ब्राह्मण के घड़े का उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के क्षमा, दया आदि गुणों में तुल्यता बताना भी अयुक्त है। ब्राह्मण का घट जैसे मधुर मिट्टी का बना होता है, वैसे भंगी का घट भी होता है। इसलिए उक्त उभय घड़ों में रखा हुआ जल मधुर ही रहता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टि के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इनके गुण परस्पर विपरीत होते हैं। मिथ्यादृष्टि का गुण मिथ्यात्व होता है और सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व एक-दूसरे के सर्वथा विपरीत होते हैं। अतः सम्यग्दृष्टि के लिए मधुर घडे का और मिथ्यादृष्टि के लिए खारे घड़े का उदाहरण ठीक घटित होता है, ब्राह्मण और भंगी के घड़े का नहीं। निष्कर्ष यह है कि खारे घड़े में भरा हुआ जल खारा होता है और मधुर घड़े में भरित जल मधुर होता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि के शील, दया और तपस्या आदि गुण सम्यक् रूप और मिथ्यादृष्टि के ये सब गुण असम्यक् रूप हो जाते हैं। अतः इन दोनों को एक समान कहकर मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वयुक्त शील, दया और तपस्या आदि को वीतराग की आज्ञा में बताना आगम-विरुद्ध है।

यदि भ्रमविध्वंसनकार ब्राह्मण और भंगी के घड़ों का उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि—इन दोनों की क्रियाओं को समान बतलाते हैं, तो उन्हें इन दोनों के ज्ञानों को भी समान मानना चाहिए। परन्तु इन दोनों के ज्ञानों को समान नहीं मानते, ऐसा क्यों? यदि यह कहें कि मिथ्यात्वपूर्वक ग्रहण किये जाने वाले आचारांग आदि अर्हद्-भाषित द्वादशांग भी नन्दीसूत्र में मिथ्या सूत्र कहे हैं।

एयाइं मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्त-परिग्गहियाइं मिच्छासुय, एयाइं चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्त-परिग्गहियाइं सम्मसुयं।

—नंदीसूत्र, ४१

मिथ्यादृष्टि द्वारा गृहीत ये सूत्र मिथ्यात्व रूप में परिणत होते हैं और सम्यग्दृष्टि द्वारा गृहीत सम्यक् रूप में परिणत होते हैं।

इसलिए हम मिथ्यादृष्टि द्वारा गृहीत सम्यक् शास्त्र को भी मिथ्या सूत्र मानते हैं। जब मिथ्यादृष्टि के द्वारा गृहीत आगम को मिथ्या श्रुत मानते हैं, तब उसके द्वारा आचरित क्रिया को मिथ्या क्यों नहीं मानते? जैसे मिथ्यादृष्टि के द्वारा ग्रहण किया गया आगम विपरीत है, उसी तरह उसके द्वारा आचरित क्रिया भी विपरीत है, मोक्षमार्ग में नहीं है।

श्री नंदीसूत्र की टीका में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के लिए भंगी और ब्राह्मण के घट की नहीं, सुगन्धित और दुर्गन्धित घट की उपमा दी है।

भाविताः द्विविधाः प्रशस्त–द्रव्य भावित, अप्रशस्त–द्रव्य भाविताश्च। तत्र ये कर्पूरागुरु–चन्दनादिभिः प्रशस्तैर्द्रव्यैर्भावितास्ते प्रशस्त–द्रव्य भाविताः। ये पुनः पलाण्डु–लशुन–सुरा–तैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्त–द्रव्य भाविताः।

वासित घट दो प्रकार के होते हैं—१. प्रशस्त द्रव्यों से वासित और २. अप्रशस्त द्रव्यों से वासित। जो कपूर, अगर और चन्दन आदि उत्तम द्रव्यों से वासित हैं, वे घट 'प्रशस्त–द्रव्य–वासित' कहलाते हैं। और जो प्याज, लहसुन, मद्य और तेल आदि अप्रशस्त द्रव्यों से वासित घट हैं, वे अप्रशस्त–द्रव्य–वासित कहलाते हैं।

जिस पुरुष का अन्तःकरण जिनाज्ञाराधक मुनियों के उपदेश से वैराग्य–युक्त और निर्मल होता है, वह पुरुष प्रशस्त–द्रव्य–वासित घट के समान है, और जिसका अन्तःकरण जिनाज्ञा–विरोधियों के उपदेश से कलुषित है, वह अप्रशस्त–द्रव्य–वासित घट के समान है।

साधु की आज्ञा और क्रिया

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३५ पर लिखते हैं—'कोई मिथ्यादृष्टि साधु ने पूछे हूं सुपात्र दान देवूं, शील पालूं, बेला–तेलादिक तप करूं। तब साधु तेहने आज्ञा देवे के नहीं? जो आज्ञा देवे तो ते करणी आज्ञा मांहि थई।'

तप, शील, सुपात्र–दान को अच्छा जानकर, उनका आचरण करने के लिए साधु की आज्ञा मांगने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जा सकता है? [illegible]

[illegible]

उपशम-सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है, इसलिए उस समय उस पुरुष को भाव-सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यह प्रश्न होता है कि जो मिथ्यादृष्टि शील, तप आदि की साधु से आज्ञा मांगकर उनका अनुष्ठान करता है, उसकी वह क्रिया सम्यक् है या असम्यक्? यदि सम्यक् है, तो सम्यक् क्रिया का अनुष्ठानकर्ता मिथ्यादृष्टि कैसे होगा? क्योंकि वह सम्यक् क्रिया का आचरण कर रहा है, इसलिए मिथ्यादृष्टि नहीं है। यदि उसकी क्रिया असम्यक् है, तो साधु ने उसे असम्यक् क्रिया करने की आज्ञा नहीं दी है। इसलिए उसकी वह क्रिया साधु की आज्ञा में नहीं हो सकती। अतः मिथ्यादृष्टि की असम्यक् क्रिया को आज्ञा में बताना अयुक्त है।

साधु प्रत्येक प्राणी को सम्यक् क्रिया करने की आज्ञा देते हैं। उनकी आज्ञा के अनुरूप जो सम्यक् क्रिया का अनुष्ठान करता है, वह मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि है। और जो साधु की आज्ञा लेकर भी सम्यक् क्रिया का अनुष्ठान नहीं करता है, मिथ्या क्रिया का अनुष्ठान करता है तो उसकी वह मिथ्या क्रिया आज्ञा में नहीं है। उसका आचरण करने से वह आज्ञा का आराधक नहीं हो सकता। अतः मिथ्यादृष्टि को साधु की आज्ञा का आराधक कहना मिथ्या है।

जैसे साधु मोक्ष मार्ग की आराधन करने के लिए दीक्षा देते हैं और दीक्षा देकर उसे सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रिया करने की आज्ञा देते हैं। परन्तु यदि दीक्षित पुरुष अभव्य हो और सम्यग्ज्ञान के अभाव में वह अज्ञानपूर्वक द्रव्य-क्रिया करने लग जाए, तो उसकी वह क्रिया साधु की आज्ञा में नहीं कही जा सकती। क्योंकि साधु ने सम्यग्ज्ञानपूर्वक भाव-क्रिया करने की आज्ञा दी है, न कि अज्ञानपूर्वक मिथ्या क्रिया करने की। उसी तरह जो पुरुष साधु से सम्यक् क्रिया की आज्ञा लेकर अज्ञानपूर्वक द्रव्य-क्रिया करता है, तो उसकी वह क्रिया आज्ञा में नहीं है।

भावयुक्त वन्दन आज्ञा में है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६ पर लिखते हैं—'इहां घणां सूर्याभ ना अभियोगिया देवता भगवान ने वंदन-नमस्कार कियो, तिवारे भगवान बोल्या—ए वन्दना रूप तुम्हारो पुराणो आचार छै, ए तुम्हारो जीत आचार छै, ए तुम्हारो कार्य छै, ए वंदना करवा योग्य छै, ए तुम्हारो आचरण छै, ए वंदना म्हारी आज्ञा छै। तो तिण करणी ने आज्ञा बाहिर किम कहिए?'

सूर्याभ देवता के अभियोगिया देवता का उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को वीतराग की आज्ञा में कायम करना अज्ञान है। सूर्याभदेव का अभियोगिया देवता मिथ्यादृष्टि था, इसका कोई प्रमाण नहीं है। नरक योनि के जीव भी जब सम्यग्दृष्टि होते हैं, तब सूर्याभ के अभियोगिया देवताओं के सम्यग्दृष्टि होने में क्या बाधा है? इसके अतिरिक्त, यह भी प्रश्न हो सकता है कि आन्तरिक श्रद्धा-भक्ति से रहित द्रव्य-वंदन-नमस्कार भगवान् की आज्ञा में है या आन्तरिक भाव-भक्ति से किया जाने वाला भाव-वन्दन-नमस्कार आज्ञा में है? यदि भावशून्य द्रव्य-वंदन भी भगवान की आज्ञा में होगा, तो ऐसी वंदना अभव्य जीव भी करते हैं। अतः वे भी आज्ञा के आराधक होकर मोक्ष के अधिकारी हो सकते हैं, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। अभव्यजीव त्रिकाल में भी मोक्षमार्ग का आराधक नहीं हो सकता। अतः भाव-वन्दन को ही आज्ञा में मानना चाहिए। यह वन्दन मिथ्यादृष्टि का नहीं होता। क्योंकि वह मिथ्यात्व के कारण द्रव्य-क्रिया ही करता है, भाव-क्रिया नहीं। सूर्याभ के अभियोगिया देवों का वन्दन-नमस्कार सम्यग्दृष्टिपूर्वक भाव रूप था, अतः भगवान् ने उसे आज्ञा में [illegible] है। यदि वह द्रव्य रूप होता, तो भगवान् उसे कदापि आज्ञा में नहीं [illegible] [illegible] क्रिया का अनुमोदन करने वाले सूर्याभ के अभियोगिया देव सम्यग्दृष्टि थे, मिथ्यादृष्टि नहीं। [illegible] मिथ्यादृष्टि के [illegible] वंदन-नमस्कार को आज्ञा में बतलाना भूल है।

[illegible]

[illegible]

'अथ अठे स्कंधके कह्यो है गौतम! तांहरा धर्माचार्य भगवान् महावीर स्वामी ने वांदां यावत् सेवा करां। तिवारे गौतम बोल्या जिम सुख होवे तिम करो हे देवानुप्रिय! पिण प्रतिवन्ध, विलम्ब (जेज) मत करो। इसी शीघ्र आज्ञा वंदना री दीधी तो ते वंदना रूप करणी प्रथम गुणठामा रो धणी करे, तेहने आज्ञा बाहिरे किम कहिये।'

भ्रमविध्वंसनकार के मतानुयायियों से पूछना चाहिए कि गौतम स्वामी ने स्कन्दक संन्यासी को भाव-भक्ति से सम्यग्ज्ञानपूर्वक वंदन करने की आज्ञा दी थी या भावरहित द्रव्य-वंदन करने की? यदि भक्ति-भाव के साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन करने का आदेश दिया था, तो मिथ्यादृष्टि का वन्दन-नमस्कार उनकी आज्ञा में कैसे हो सकता है? क्योंकि मिथ्यादृष्टि का वन्दन-नमस्कार भक्ति-भाव से रहित और मिथ्यात्व के साथ होता है, भक्ति-भाव के साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक नहीं। यदि यह कहो कि भक्ति-भाव से रहित द्रव्य-वंदन की आज्ञा दी थी, तो यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि साधु किसी को भाव-भक्ति से रहित द्रव्य-वंदन की आज्ञा कभी भी नहीं देता। अतः गौतम स्वामी ने सम्यग्ज्ञानपूर्वक भाव-वंदन करने का आदेश दिया था। यदि इसके अनुसार स्कंदक संन्यासी ने भगवान् को सम्यग्ज्ञानपूर्वक भाव-वंदन किया था, तो वह उस समय मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि ही था। यदि ऐसा न करके स्कंदक संन्यासी ने मिथ्यात्वपूर्वक द्रव्य-वंदन-नमस्कार किया था, तो उसका वह द्रव्य-वंदन गौतम स्वामी की आज्ञा में नहीं हुआ। क्योंकि गौतम स्वामी ने भक्ति-भाव के साथ भाव-वंदन करने की आज्ञा दी थी, भक्ति-रहित द्रव्य-वंदन करने की नहीं। अतः स्कंदक संन्यासी का उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वयुक्त द्रव्य-वन्दन-नमस्कार को जिन-आज्ञा में सिद्ध करना आगमसम्मत नहीं है।

तामली तापस की अनित्य जागरणा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६ पर लिखते हैं—'अथ इहां तामली बाल तपस्वी री अनित्य चिन्तावना कही छै। ए संसार अनित्य छै, एहवी चिन्तावना तो शुद्ध छै, निरवद्य छै, तेहने सावद्य किम कहिए?' इसके आगे पृष्ठ ४० पर लिखते हैं—

'अथ इहां सोमल ऋषि नी अनित्य चिन्तावना कही ए अनित्य चिन्तावना शुद्ध करणी छै, निरवद्य छै, तेहने आज्ञा बाहिरे किम कहिए?' इसके आगे पृष्ठ ४१ पर लिखते हैं—

'वली अनित्य चितवना धर्म-ध्यान रो भेद चाल्यो, तेहिज अनित्य चितवना तामली, सोमल ऋषि प्रथम गुणठाणे थकी कीधी। तेहने अधर्म किम कहिए? ए धर्म-ध्यान नो भेद आज्ञा बाहिरे किम कहिए?'

तामली बाल-तापस और सोमल ऋषि की अनित्य जागरणा को धर्म-ध्यान की अनुप्रेक्षा में कायम करके प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि की क्रिया को जिन-आज्ञा में सिद्ध करना उपयुक्त नहीं है। प्रथम गुणस्थानवर्ती पुरुष में धर्म-ध्यान होता ही नहीं। यह हम पहले बता चुके हैं कि धर्म-ध्यान सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के साथ ही होता है। मिथ्यादृष्टि में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिए उसमें धर्म-ध्यान भी नहीं हो सकता। जब प्रथम गुणस्थानवर्ती जीव में धर्म-ध्यान नहीं होता, तब उसमें धर्म-ध्यान के [illegible]

[illegible]

करना 'संसरणानुप्रेक्षा' है। उक्त चारों अनुप्रेक्षाएँ धर्म-ध्यान होने के बाद ही होती हैं और धर्म-ध्यान श्रुत और चारित्रधर्म के साथ होता है। मिथ्यादृष्टि में श्रुत और चारित्रधर्म नहीं है, इसलिए उसमें धर्म-ध्यान भी नहीं होता और धर्म-ध्यान नहीं होने से उसमें चारों अनुप्रेक्षाएँ भी नहीं होतीं।

यदि कोई कहे कि सोमल ऋषि और तामली बाल तपस्वी की अनित्य-जागरणा शास्त्र में कही है, इसलिए मिथ्यादृष्टि में अनित्य-जागरणा होती है। इसका समाधान यह है कि सोमल ऋषि और तामली बाल-तपस्वी में जो अनित्य-जागरणा शास्त्र में कही है, वह धर्म-ध्यान के पश्चात् होने वाली सम्यग्दृष्टि की अनित्य-जागरणा नहीं, किन्तु मिथ्यात्व के साथ होने वाली दूसरी अनित्य-जागरणा है। जैसे शास्त्र में मिथ्यादृष्टि की प्रव्रज्या कही है और सम्यग्दृष्टि की भी प्रव्रज्या कही है। परन्तु ये उभय प्रव्रज्याएँ एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टि की प्रव्रज्या सम्यक् रूप है और मिथ्यादृष्टि की मिथ्या रूप। उसी तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की अनित्य-जागरणाएँ भी एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टि की अनित्य-जागरणा धर्म-ध्यान के अन्तर्गत होने से वीतराग की आज्ञा में है और मिथ्यादृष्टि की धर्म-ध्यान से बहिर्भूत और अज्ञानपूर्वक होने से आज्ञा में नहीं है। अतः सोमल ऋषि एवं तामली बाल-तपस्वी की अनित्य-जागरणा को धर्म-ध्यान में बताकर वीतराग की आज्ञा में बताना आगमसम्मत नहीं है।

आगम में मिथ्यादृष्टि की प्रव्रज्या भी कही है। भगवतीसूत्र, शतक ३, उद्देशक १ में तामली तापस की प्रव्रज्या के लिए यह पाठ आया है— 'पव्वज्जाए पव्वइत्तए।' इस पाठ में तामली तापस का प्रव्रज्या धारण करना कहा है। परन्तु यह प्रव्रज्या मिथ्यात्व के साथ होने से वीतराग की आज्ञा में नहीं मानी जा सकती है। उसी तरह मिथ्यात्व के साथ होने से तामली तापस की अनित्य-जागरणा भी आज्ञा में नहीं मानी जा सकती। तथापि शब्दों की एकता देखकर यदि कोई तामली तापस की अनित्य-जागरणा को जिन-आज्ञा में रखने का आग्रह करे, तो उसे तामली तापस की प्रव्रज्या को भी जिन-आज्ञा में मानना चाहिए। यदि उसकी प्रव्रज्या को जिन-आज्ञा में नहीं मानता है, तो उसकी अनित्य-जागरणा को भी जिन-आज्ञा में नहीं मानना चाहिए।

[illegible] के लिए यह पाठ आया है—

[illegible]

[illegible]

[illegible]

वानप्रस्थ तापस बहुत काल तक अपनी प्रव्रज्या पालन करते हैं।

यहाँ जिस प्रकार वानप्रस्थ तापसों की प्रवज्या का पाठ आया है, उसी तरह जिन-आज्ञा-आराधक मुनियों की प्रव्रज्या के लिए भी पाठ पाया है—

बहुइं वासाइं केवलि-परियागं पाउणंति
बहुइं वासाइं छउमत्थ-परियागं पाउणंति।

—उववाईसूत्र, ३८

उक्त पाठों में मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्दृष्टियों की प्रव्रज्या के लिए समान पाठ आने पर भी जैसे इन दोनों की प्रव्रज्याएँ एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं, उसी तरह सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि की अनित्य-जागरणाएँ भी एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं।

अतः तामली तापस और सोमल ऋषि की अनित्य-जागरणा को भगवान् महावीर की अनित्य-जागरणा के तुल्य बताना मिथ्या है।

स्वर्ग प्राप्ति के कारण

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४२ पर भगवती, श. ८, उ. ६ का मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ इहां चार प्रकारे मनुष्य नो आऊखो बंध कह्यो। जे प्रकृति भद्रीक, विनीत, दयावान, अमत्सर भाव, ए चार करणी शुद्ध छै, आज्ञा मांही छै। ए तो दयादिक परिणाम साम्प्रत आज्ञा में छै।' इसके आगे लिखते हैं—

'वली १ सराग-संयम, २. संयमासंयम ते श्रावकपणो, ३. बाल-तप, ४. अकाम निर्जरा, ए चार कारणे करी देव आऊखो बांधे, इम कह्यो। तो ए चार कारण शुद्ध के अशुद्ध, सावद्य छै के निरवद्य, आज्ञा में छै के आज्ञा बाहिरे छै? ए तो चार करणी शुद्ध आज्ञा मांहिली सूं देव आऊखो बंधे छै। अने जे बाल तप, अकाम निर्जरा ने आज्ञा बाहिरे कहे, तेहने लेखे सराग-संयम, संयमासंयम पिण आज्ञा बाहिरे कहिणा। अने जो सराग-संयम, संयमासंयम ने आज्ञा में कहे तो बाल तप, अकाम निर्जरा ने पिण आज्ञा में कहिणा। ए बाल तप, अकाम निर्जरा शुद्ध आज्ञा मांहि छै, तो माटे सराग संयम, संयमासंयम रे भेला कह्या। जो अशुद्ध होवे तो भेला न कहिता।'

भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देशा ६ के पाठ के आधार से मिथ्यादृष्टि की करनी को आज्ञा में बताया गया है। उक्त पाठ में केवल देव-भव और मनुष्य-भव की प्राप्ति के चार कारण कहे हैं। वे कारण वीतराग की आज्ञा में हैं या आज्ञा के बाहर, यह नहीं बतलाया है। अतः उक्त पाठ से बाल-तप एवं अकाम-निर्जरा को आज्ञा में बताना [illegible] है; क्योंकि उववाई सूत्र के मूलपाठ में अकाम-निर्जरा एवं बाल-तप को आज्ञा-बाहर कहा है, इसलिए इन्हें आज्ञा में बताना आगम-विरुद्ध है।[1]

[illegible]

---

[1] [illegible] पृष्ठ २८ पर [illegible]।

परलोक का अनाराधक कैसे कहते? उववाईसूत्र में बाल-तप करके स्वर्ग में उत्पन्न होने वालों को मोक्ष-मार्ग का अनाराधक कहा है। वह पाठ अर्थसहित प्रस्तुत अधिकार में पृष्ठ २८ से ३६ तक दिया गया है। यदि स्वर्ग प्राप्त कराने वाली बाल-तपस्या जिन-आज्ञा में होती, तो उक्त पाठों में गंगातट निवासी आदि अज्ञान-तप करने वाले बाल-तापसों को परलोक का अनाराधक क्यों कहते? इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि बाल-तप जिन-आज्ञा में नहीं है।

उववाईसूत्र में प्रकृति से भद्रिक, विनीत, अमत्सरी पुरुष जो सम्यक् श्रद्धा से रहित हैं, उन्हें परलोक का अनाराधक कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यदि प्रकृति से भद्रिकता आदि गुण मिथ्यात्व और अज्ञान के साथ हों, तो वे जिन-आज्ञा में नहीं होते। अतः अकाम-निर्जरा, बाल-तपस्या और अज्ञानयुक्त प्रकृति से भद्रिकता आदि गुणों को वीतराग-आज्ञा में कहना उववाईसूत्र के विरुद्ध है।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकार ने जो यह तर्क दिया है कि यदि बाल-तपस्या और अकाम-निर्जरा आज्ञा में नहीं होती, तो सराग-संयम और संयमासंयम के साथ क्यों कही जाती? परन्तु उनका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि जो क्रिया वीतराग की आज्ञा में नहीं है, वह आज्ञा में होने वाली क्रिया के साथ नहीं कही जाए, ऐसा कोई आगमिक नियम नहीं है। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान में धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के साथ आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान भी कहा है। यदि आज्ञा में होने वाली क्रियाओं के साथ आज्ञा में न होने वाली साधना या क्रिया का उल्लेख नहीं करने का नियम होता, तो धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के साथ आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान का उल्लेख नहीं करते, परन्तु इसका उल्लेख किया है। अतः भगवती के पाठ में सराग-संयम और संयमासंयम के साथ अकाम-निर्जरा और बाल-तपस्या का उल्लेख होने मात्र से उसे आज्ञा में कहना उचित नहीं है। उक्त पाठ में अकाम-निर्जरा एवं बाल-तपस्या स्वर्ग प्राप्ति का कारण है, इसलिए उसका सराग-संयम एवं संयमासंयम के साथ उल्लेख किया है, आज्ञा में होने के कारण नहीं। अतः अकाम-निर्जरा एवं बाल-तपस्या को जिन-आज्ञा में बताना आगमविरुद्ध है।

गोशालक के साधुओं का तप

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४३ पर स्थानांगसूत्र के स्थान ४, उ. २ का मूलपाठ देकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ गोशाला रे स्थविर एहवा तपना करणहार कह्या छै। १. उग्रतप, २. घोरतप, ३. रसना-त्याग, ४. जिह्वेन्द्रिय वश किधी। तेहनी खोटी श्रद्धा अशुद्ध छै, पिण ए तप अशुद्ध नहीं, ए तप तो शुद्ध छै, आज्ञा मांहि छै। ए जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता तो 'भगवन्ते बारह भेद निर्जरा ना कह्या' तेहमें कही छै। उववाई में प्रतिसंलीनता ना ४ भेद किया—'१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, २. कषाय-प्रतिसंलीनता, ३. योग-प्रतिसंलीनता, ४. विवित्त-सयणासण-सेवणया।' अने इन्द्रिय प्रतिसंलीनता रा ५ भेदा में रस-इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता 'निर्जरा रा बारह भेद चाल्या' ते मध्ये कही छै। तो निर्जरा ने आज्ञा बाहिरे किम कहिए?'

गोशालक मतानुसारिणी जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता और वीतराग-प्ररूपित जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि उववाई सूत्र में गोशालक मत के तपस्वियों को परलोक का अनाराधक कहा है। यदि उनकी जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता जिनोक्त प्रतिसंलीनता से भिन्न नहीं होती, तो उन्हें परलोक का अनाराधक कैसे कहते? इससे यह स्पष्ट होता है कि गोशालक-मत की जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता जिनोक्त जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता से भिन्न है। [illegible] दोनों जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनताओं को एक बताकर [illegible] को भिन्न-आज्ञा में बतलाया [illegible] है। उववाई का [illegible] है, जिसमें गोशालक-मत के तपस्वियों को परलोक का अनाराधक कहा है—

[illegible]

अच्चुए-कप्पे देवत्ताए उववतारो भवन्ति। तहिं तेसिं गति बावीसं सागरोवमाइं ठिती, अणाराहगा सेसं तं चेव।

—उववाईसूत्र, ४९

ग्राम से लेकर सन्निवेशों में गोशालक-मत के श्रमण रहते हैं। उनमें कुछ श्रमण दो घर छोड़कर तीसरे घर में, कुछ तीन घर छोड़कर चौथे घर में, कुछ सात घर छोड़कर आठवें घर में भिक्षा लेते हैं। कुछ सिर्फ कमलवृन्त को खाकर रहते हैं। कुछ प्रत्येक घरों में से सामुदायिक भिक्षा लेते हैं, एक ही घर से नहीं। कुछ विद्युत के चमकने पर भिक्षा लेते हैं। कुछ ऊंट की तरह बने हुए मिट्टी के पात्र में बैठकर तपस्या करते हैं। ये सब अपने व्रतों को बहुत वर्षों तक पालकर मृत्यु के समय मरकर उत्कृष्ट बारहवें अच्युत स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्कृष्ट गति वहीं तक है। उनकी स्थिति बाईस सागर की है। ये श्रमण परलोक के आराधक नहीं हैं।

प्रस्तुत पाठ में गोशालक-मत के श्रमणों की कष्टप्रद तपस्या का वर्णन करके उन्हें परलोक का अनाराधक होना कहा है। यदि उनकी तपस्या जिन-आज्ञा में होती, तो उस तपस्या के आराधकों को परलोक का अनाराधक नहीं कहते। अतः यदि इनकी जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता जिन-आज्ञा में होती तो उन्हें आज्ञा का अनाराधक नहीं, आराधक कहते। परन्तु उन्हें अनाराधक कहा है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि गोशालक-मत की जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता और जिनोक्त जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। यदि शाब्दिक तुल्यता के कारण गोशालक की जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता को जिन-आज्ञा में बतायें, तो उनकी भिक्षाचरी एवं प्रव्रज्या को भी शब्दसाम्य के कारण जिन-आज्ञा में मानना चाहिए? परन्तु शब्दतः तुल्य होने पर भी उनकी भिक्षाचरी एवं प्रव्रज्या को जिन-आज्ञा में नहीं मानते हैं, तब उनकी जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता को सिर्फ शब्दसाम्य के आधार पर जिन-आज्ञा में कैसे मान सकते हैं? अतः गोशालक मतानुयायियों की जिह्वेन्द्रिय-प्रतिसंलीनता को वीतराग की आज्ञा में बताकर मिथ्यादृष्टि की क्रिया को जिन-आज्ञा में बताना यथार्थता से दूर है।

पाषण्डी का अर्थ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४४ पर प्रश्नव्याकरणसूत्र के दूसरे संवर-द्वार का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते है—'इहां कह्यो—सत्य वचन साधु ने आदरवा योग्य छै। ते साथ अनेक पाषंडी अन्य-दर्शनी पिण आदर्यो कह्यो, ते सत्य-लोक में सारभूत कह्यो। सत्य महासमुद्र थकी पिण गंभीर कह्यो, मेरु थकी स्थिर कह्यो, एहवा श्री भगवन्त सत्य ने वखाण्यो। ते सत्य ने अन्य दर्शनी पिण धार्यो। तो ते सत्य ने खोटो, अशुद्ध किम कहिये? आज्ञा बाहिर किम कहिये? आज्ञा बाहिरे कहे तो तेनी ऊंधी श्रद्धा छै। पिण निरवद्य सत्य तो श्री वीतरागे सराह्यो ते आज्ञा बाहिरे नहीं?'

प्रश्नव्याकरणसूत्र का यह पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

अणेग पासण्डि परिग्गहियं ज तं लोकम्मिसारभूयं गंभीरतरं महासमुद्दाओ थिरतरं मेरुपव्वआओ।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, संवरद्वार, २४

सत्य रूप महाव्रत को विविध व्रतधारियों ने स्वीकार किया है। यह त्रिलोक में सारभूत है। महासमुद्र से भी गंभीर और मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है।

प्रस्तुत पाठ में 'अणेगपासण्डि परिग्गहियं' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

अनेक पाषण्डि परिगृहीतं नानाविध व्रतिभिरंगीकृतम्।

अनेक प्रकार के व्रतधारियों द्वारा स्वीकृत व्रत का नाम 'पाषण्ड' है और जिसमें यह व्रत हो, उसे पाषण्डी कहते हैं।

[illegible] पाषण्डियों—[illegible] द्वारा गृहीत होने से सत्य-व्रत 'अणेगपासण्डि परिग्गहियं' कहा गया है। यद्यपि आजकल लोकभाषा में 'पाखण्डि' शब्द [illegible] अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, परन्तु यहाँ यह शब्द [illegible] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, [illegible] के अर्थ में नहीं। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'पाषण्ड' शब्द की [illegible] [illegible] की है।

पाषण्डं व्रतमित्याहु स्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि,
स पाषण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाशात् विनिर्गतः।

पाषण्ड नाम व्रत का है। वह व्रत जिसका निर्मल है, उस कर्म-बन्धन से विनिर्मुक्त पुरुष को 'पाषण्डी' कहते हैं।

यहाँ टीकाकार ने 'पाषण्ड' शब्द का व्रत अर्थ किया है और दशवैकालिक-सूत्र की निर्युक्ति में श्रमण निर्ग्रन्थों के 'पाषण्ड' नाम का उल्लेख मिलता है।

पव्वईए, अणगारे, पासण्डे, चरग, तावसे, भिक्खू।
परिवाइए य समणे-निग्गंथे संजए, मुत्ते।।

—दशवैकालिकसूत्र, अ. २, निर्युक्ति गाथा १५८

प्रव्रजित, अणगार, पाषण्ड, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, संयत और मुक्त—ये सब श्रमण निर्ग्रन्थों के नाम हैं।

प्रस्तुत निर्युक्ति में श्रमण निर्ग्रन्थ का 'पाषण्ड' नाम भी कहा है। उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्ययन में और आवश्यकसूत्र में सम्यक्त्व का अतिचार बताने के लिए यह पाठ आया है—पर-पासण्डि पसंसा, पर-पासण्डि संत्थव। टीकाकार ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—

सर्वज्ञ प्रणीत पाषण्ड व्यतिरिक्तानां प्रशंसा प्रशंसनं स्तुतिरित्यर्थः।

सर्वज्ञ-प्रणीत पाषण्ड से भिन्न पाषण्ड की प्रशंसा करना सम्यक्त्व का अतिचार है।

यहाँ पाषण्ड को सर्वज्ञ प्रणीत कहा है, जो लोग पाषण्ड का अर्थ केवल दम्भ ही करते हैं, उन्हें बताना चाहिए कि सर्वज्ञ ने कौन-से दम्भ की प्ररूपणा की है? यदि वे यह नहीं मानते कि सर्वज्ञ ने दम्भ की प्ररूपणा की है, तो उन्हें 'पाषण्ड' शब्द का टीकाकार द्वारा किया हुआ व्रत अर्थ मानना होगा। यदि पाषण्ड शब्द का सिर्फ दम्भ ही अर्थ होता है, तो मूल पाठ में 'पाषण्ड' शब्द के पूर्व 'पर' लगाने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि जैसे दूसरे का दम्भ बुरा है, वैसे अपना दम्भ भी तो बुरा होता है। अतः उसके पहले 'पर' न लगाकर इतना ही कहते कि पाषण्डी की प्रशंसा करना सम्यक्त्व का अतिचार है। परन्तु ऐसा न कहकर मूल पाठ में 'पर-पासण्डि' कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'पाषण्ड' व्रत का नाम है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में विभिन्न व्रतधारियों द्वारा स्वीकृत मार्ग का उल्लेख किया गया है। अतः प्रश्नव्याकरणसूत्र का नाम लेकर मिथ्यादृष्टि एवं धार्मिक पुरुषों में सत्य की स्थापना करना आगम-सम्मत नहीं है।

समस्त शुभ कार्य आज्ञा में नहीं हैं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४५ पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति का मूल पाठ देकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे इम कह्यो। ते वनखण्ड ने विषे वाणव्यन्तर देवता देवी बैसे, सूवे, क्रीड़ा करे। पूर्व भवे भला पराक्रम फोडव्या तेहना फल भोगवे एहवो श्री तीर्थंकर देव कह्यो। तो जे वाणव्यन्तरदेव में तो सम्यग्दृष्टि उपजे नहीं, व्यन्तर में तो मिथ्यात्वी ज उपजे छै। अने जो मिथ्यात्वी रो पराक्रम सर्व अशुद्ध होवे तो श्री तीर्थंकर देव इम क्यूं कह्यो? जे वाणव्यन्तरे पूर्व भवे भला पराक्रम किया, तेहना फल भोगवे छै। ए तो मिथ्यात्वी रा शील तपादिक ने विषे भलो पराक्रम कह्यो छै। जो तिण रो पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवन्त भलो पराक्रम न कहिता। एतो भली करणी करे, ते आज्ञा मांहि छै।'

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में व्यन्तर-संज्ञक देवताओं के पूर्वभव के कार्य को भगवान् ने अच्छा कहा है, इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि उन देवताओं के पूर्वभव का कार्य वीतराग की आज्ञा में था। क्योंकि उनके पूर्वभव के कार्य की तरह भगवान् ने पद्मवर वेदिका, वनखंड और उन देवों के द्वारा भोगे जाने वाले पुद्गल-विशेष को भी शुभ कहा है।

पासाइया, दंसणीया, अभिरूवा, पडिरूवा

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

यह पद्मवर वेदिका चित्त को प्रसन्न करने वाली है, देखनेयोग्य है, अभिरूप है और प्रतिरूप है।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

व्यन्तर-संज्ञक देव पूर्वभव में किए हुए [illegible] कर्मों के [illegible] का अनुभव करते हैं।

को बुराइयों की भी शिक्षा देते हों, पर वे थोड़े होते हैं। यदि उन अपवादस्वरूप माता-पिता की आज्ञा में पाप होता है, तो उनका उदाहरण देकर सब माता-पिताओं की आज्ञा में पाप ही होता है, यह कौन-सा न्याय है? किसी अपवाद का आश्रय लेकर उत्सर्ग को बुरा कहना कहाँ की विद्वत्ता है?

कभी-कभी सूर्यग्रहण के समय दिन में ही अंधकार हो जाता है। उसे देखकर यदि कोई सूर्य को अंधकार फैलाने वाला कहे, तो यह उसकी मूर्खता ही होगी। उसी तरह जो अपवादस्वरूप माता-पिता का उदाहरण देकर सभी माता-पिता की आज्ञा मानने में पाप बताते हैं, वे भी भूल करते हैं। ऐसी दुष्ट माता सुनने में आई है कि जिसने अपने पुत्र की हत्या कर दी? क्या उसका उदाहरण सामने रखकर सभी माताओं को पुत्रघातिनी कहेंगे? कदापि नहीं। जब पुत्रघातिनी माता के उदाहरण से सभी माताएँ पुत्रघातिनी नहीं कही जा सकतीं, तब कुकृत्य की शिक्षा देने वाले कुछ माता-पिता के उदाहरण से सभी माता-पिता बुरे कैसे कहे जा सकते हैं? अतः माता-पिता का विनय और सेवा-शुश्रूषा करने में एकान्त पाप कहना आगम के विरुद्ध है।

उववाईसूत्र में माता-पिता की सेवा-भक्ति करने और उनकी आज्ञा-पालन करने से पुत्र को स्वर्ग मिलता है—ऐसा स्पष्ट पाठ है। उववाईसूत्र का वह पाठ अर्थ सहित प्रस्तुत अधिकार के 'माता-पिता की सेवा का फल' शीर्षक में लिख चुके हैं।

उस पाठ में कहा है कि परोपकार करने वाले, विनीत और माता-पिता की आज्ञा का पालन करने वाले पुरुष देवलोक में जाते हैं। यदि माता-पिता की आज्ञा-पालन, उनकी सेवा-भक्ति करना एकांत पापमय होता, तो उन्हें उक्त पाठ में स्वर्ग में जाना कैसे कहते? स्वर्ग प्राप्ति पुण्य से होती है, पाप से नहीं। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार भोले जीवों को भ्रम में डालने के लिए भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४८ पर लिखते हैं—

'अहो महानुभावो! ए गुण नहीं ए तो प्रतिपक्ष वचन छै। जे इहां गुण [illegible] पातला क्रोध, मान, माया, लोभ। ए क्रोध, मान, माया, लोभ पातला [illegible] अवगुण इज छै। थोड़ा अवगुण छै, पिण क्रोधादिक तो गुण नहीं, पिण प्रतिपक्ष वचने करी ओलखायो छै। पातलो क्रोधादिक कह्या तिणरो [illegible] क्रोधादिक नहीं, ए गुण कह्या छै।'

यह [illegible] भ्रमविध्वंसनकार मूल पाठ में उल्लिखित माता-पिता के विनय करने एवं उनके वचन का उल्लंघन नहीं करने को गुण नहीं मानते। [illegible] माता-पिता के विनय करना भी बुरा है और अविनय करना भी बुरा है। [illegible] भगवान के आगम और अनुभव के सर्वथा विपरीत है। यदि विनय

करना बुरा है, तो अविनय करना अच्छा होना चाहिए। और यदि अविनय करना बुरा है, तो विनय करना अच्छा होना चाहिए। परन्तु विनय और अविनय दोनों ही बुरे हों, यह हो नहीं सकता। प्रस्तुत पाठ में विनय करना स्पष्टतः गुण बतलाया है, उसे बुरा बताना आगम-विरुद्ध है।

इसी तरह प्रतिपक्ष वचन का नाम लेकर इस पाठ में कथित विनय आदि गुणों को दोष कहना भी अनुचित है। जैसे विनय का प्रतिपक्ष वचन अविनय और लघु क्रोध, मान, माया और लोभ के प्रतिपक्ष वचन महान् क्रोध, मान, माया और लोभ होते हैं। उसी तरह माता-पिता के वचन का उल्लंघन नहीं करने का प्रतिपक्षी वचन माता-पिता के वचन का उल्लंघन करना होता है। यदि भ्रमविध्वंसनकार के मत में इस पाठ में प्रतिपक्षी वचन से गुण बतलाए हैं, तो माता-पिता के वचन का उल्लंघन करने में गुण कहना चाहिए। यदि माता-पिता के वचन का उल्लंघन करने को गुण नहीं मानते हैं, तो उनके वचन का उल्लंघन नहीं करने को गुण मानना होगा। जब माता-पिता के वचन का उल्लंघन नहीं करना गुण है, तो उसी तरह इस पाठ में कथित विनय आदि करना भी गुण है, दोष नहीं। अतः प्रतिपक्षी वचन का नाम लेकर माता-पिता की सेवा-शुश्रूषा, आज्ञा-पालन और विनय आदि करने में एकान्त-पाप की प्ररूपणा करना आगम के सर्वथा विरुद्ध है।
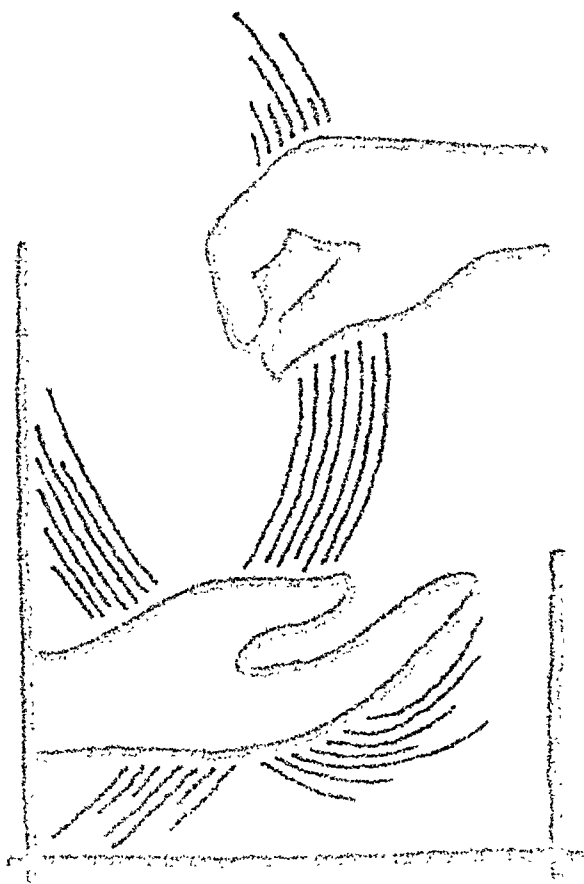
दान-अधिकार

अनुकम्पादान, अधर्म नहीं है
आनन्द श्रावक का अभिग्रह
प्रदेशी राजा की प्रतिज्ञा
असंयति-दान
धर्म और अधर्मदान
दान और साधु-भाषा
नन्दन मनिहार
दान के भेद
धर्म और धर्म-स्थविर
नौ प्रकार का पुण्य
पुण्य-प्रकृति
साधु से भिन्न, सब कुपात्र नहीं हैं
क्षेत्र-अक्षेत्र
अनुकम्पादान : कुकर्म नहीं
पापकारी क्षेत्र

असंयति नहीं, असती-पोषणता कर्म
अतिचार की व्याख्या
श्रावक की उदारता
श्रावक में अव्रत नहीं है
पञ्चम गुणस्थान में तीन क्रियाएँ
साता पहुँचाना शुभ कार्य है
बन्ध राग-द्वेष से होता है
दान का अनुमोदन पाप नहीं
साधु-मर्यादा
सेवा करना धर्म है
प्रतिमाधारी को दान देना पाप नहीं
प्रतिमाधारी का स्वरूप
श्रावक के धर्मोपकरण पाप में नहीं हैं
धर्मोपकरण सुप्रणिधान है

अनुकम्पादान, अधर्म नहीं है

कुछ व्यक्ति अनुकम्पादान में एकान्त पाप की प्ररूपणा करके, श्रावकों को उसका त्याग कराते हैं। परन्तु जिस समय कोई दयावान व्यक्ति दीन-हीन, दुःखी, अनाथ प्राणियों को कुछ दे रहा हो और वे उससे ले रहे हों, उस समय उस दान में एकान्त पाप कहकर उसका निषेध नहीं करते। क्योंकि उस समय अनुकम्पादान का त्याग कराने से अन्तराय का पाप लगता है, इसे वे भी स्वीकार करते हैं। भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ५० पर लिखा है—

'देतो लेतां इसो वर्तमान देखी पाप न कहे। जण देतां पाप कह्या जे लेवे छै, तेहनें अन्तराय पड़े, ते माटे साधु वर्तमाने मौन राखे।' आगे चलकर पृष्ठ ७२ पर लिखते हैं—

'राजादिक अनेरा पुरुष कूआ, तालाब, पौ, दानशाला, दिपे उद्यत थयो थको साधु प्रति पुण्य सद्भाव पूछै, तिवारे साधु नै मौन अवलम्बन करवी कही। पिण तिण काल नो निषेध करयो नथी।'

वस्तुतः उक्त कथन जैन आगम के सर्वथा विरुद्ध है। जैन आगम किसी भी काल में अनुकम्पादान का निषेध नहीं करता। जैन आगम उपदेश के समय या भूतकाल या वर्तमानकाल में अनुकम्पादान को एकान्त पापमय कहकर उसका त्याग कराने की शिक्षा नहीं देता। क्योंकि आगम में अनुकम्पादान को पुण्य-बन्ध का कारण भी कहा है। इसलिए जो व्यक्ति उपदेश में अनुकम्पादान को एकान्त पाप बतलाकर श्रावकों को उसका त्याग कराते हैं, वे सन्मार्ग से भटके हुए हैं।

आगम में स्पष्ट कहा है कि अनुकम्पादान का निषेध करने वाले को दोनों ही समय में अन्तराय लगती है। ऐसा नहीं कहा है कि जिस समय दाता दे रहा हो और याचक ले रहा हो, उस समय उसका निषेध करने वाले को अन्तराय लगती है, उसके पहले या पीछे उसका निषेध करने पर नहीं। [illegible]

आगम में अधर्मदान को एकान्त पाप कहा है और उसका त्याग-प्रत्याख्यान कराना तीनों काल में धर्म माना है। यदि कोई अधर्मदान दे रहा हो और चोर, जार, हिंसक प्राणी उसे चोरी, जारी एवं हिंसा आदि अधर्म कार्यों के लिए ले रहा हो, उस समय कोई साधु दाता को समझा-बुझा कर अधर्मदान का त्याग कराता है, तो उसमें अन्तराय कर्म का बन्ध नहीं, धर्म होता है। यदि कोई दुराग्रही व्यक्ति न समझे, तो साधु विवश होकर मौन धारण करले यह बात अलग है, परन्तु योग्य एवं समझदार व्यक्ति को किसी भी समय समझाकर उसे अधर्मदान का त्याग कराना अन्तराय नहीं, धर्म-कार्य है। इस प्रकार तीनों ही काल में अधर्मदान का निषेध करना आगम सम्मत है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जो व्यक्ति अनुकम्पादान को अधर्मदान में गिनते हैं, वे वर्तमानकाल में भी अनुकम्पादान का निषेध क्यों नहीं करते? क्योंकि अधर्मदान का निषेध करने में किसी भी काल में अन्तराय नहीं कहा है। यदि कोई अधर्मदान के त्याग कराने में भी अन्तराय मानते हों, तो उन्हें चोरी, जारी, हिंसा आदि दुष्कर्मों के लिए दान देने वाले व्यक्ति को उस दान का फल एकान्त पाप होता है, ऐसा कहकर उसका त्याग नहीं कराना चाहिए। क्योंकि इससे चोर, जार एवं हिंसक आदि के लाभ में अन्तराय पड़ेगी, यदि चोरी, जारी, हिंसा आदि महारंभ का कार्य करने के लिए चोर, जार, हिंसक को दान देना एकान्त पाप है। इसलिए वर्तमान काल में भी उसका निषेध करने से अन्तराय नहीं लगता। इसी तरह आपके विचारानुसार अनुकम्पादान भी एकान्त पाप है, अतः वर्तमान में उसका निषेध करने से भी अन्तराय कर्म का बन्ध नहीं होना चाहिए। यदि यह कहें कि हम इन सब विषयों में मौन रख लेते हैं, 'कोई दयालु व्यक्ति दीन-दुखी को कुछ दे रहा हो या कोई व्यभिचारी व्यभिचार-सेवन के लिए वेश्या को कुछ दे रहा हो या कोई चोर, जार, हिंसक को चोरी, जारी, हिंसा आदि के लिए दे रहा हो।' इन सब प्रसंगों पर हम एक समान मौन रहते हैं, अन्तराय न लग जाए इस भय से पुण्य-पाप कुछ नहीं कहते। यदि ऐसा है तो फिर अधर्म कार्यों के समय भी आप को मौन रहना चाहिए। क्योंकि जैसे अधर्मदान अधर्म है, उसी तरह चौर्यकर्म, हिंसा आदि दुष्कर्म भी अधर्म-कार्य हैं। फिर इनका वर्तमानकाल में निषेध क्यों करते हैं?

आपके सिद्धान्तानुसार कसाई को बकरा मारने के लिए तैयार देखकर, उपदेश द्वारा उससे हिंसा छुडाने में अन्तराय कर्म लगना चाहिए। यदि हिंसा छुडाने में अन्तराय कर्म नहीं लगता तो अनुकम्पादान छुडाने में भी आपके विचारानुसार अन्तराय कर्म नहीं लगना चाहिए। क्योंकि आपके मत में दोनों

हिंसा करना अधर्म है, अधर्मदान देना अधर्म है, उसी तरह अनुकम्पादान भी अधर्म है। देने वाला अधर्म में ही देता है और लेने वाला अधर्म में लेता है। अतः उसका त्याग करा देने से दोनों अधर्म से मुक्त हो सकते हैं। जैसे वर्तमान में उपदेश द्वारा हिंसा का त्याग कराने में अन्तराय नहीं होती, उसी तरह जिस समय कोई अनुकम्पादान दे रहा हो और याचक ले रहा हो, उस समय अनुकम्पादान का त्याग कराने में पाप नहीं होना चाहिए। क्योंकि भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १५० पर लिखा है **हिंसादिक अकार्य करता देखी धर्म उपदेश देई समझावणो**। इसी तरह किसी को अधर्मदान देते हुए देखकर क्यों नहीं समझाना चाहिए? जैसे आप वर्तमान में हिंसा छुड़ाने में धर्म मानते हैं, उसी तरह अनुकम्पादान छुड़ाने में धर्म क्यों नहीं मानते?

यदि इस विषय में आप यह तर्क दें कि वर्तमान में अनुकम्पादान का त्याग कराने से वहाँ उपस्थित दीन-हीन जीवों की जीविका में बाधा पड़ती है, परन्तु कसाई से हिंसा छुड़ाने में किसी की जीविका का नाश नहीं होता, इसलिए हम वर्तमानकाल में हिंसा का निषेध करते हैं, परन्तु अनुकम्पादान का निषेध नहीं करते। परन्तु आपका यह तर्क सही नहीं है, क्योंकि कसाई मांसाहारी को मांस देने के लिए हिंसा करता है। अतः उसके हिंसा छोड़ने से मांसाहारी के लाभ का अन्तराय हो सकता है। ऐसी स्थिति में आपके मत में कसाई को उपदेश देकर उसको भी हिंसा का त्याग नहीं कराना चाहिए। परन्तु जैसे हिंसा करना अधर्म है और उसका त्याग कराने में कोई अन्तराय नहीं होता, उसी तरह अनुकम्पादान भी आप के मत में अधर्म है, अतः उसका त्याग कराने पर भी आप को अन्तराय नहीं मानी चाहिए। परन्तु वर्तमान में आप भी अनुकम्पादान का निषेध करने में अन्तराय का पाप होना मानते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पादान वेश्या, चोर, जार, हिंसक प्राणियों को व्यभिचार, चोरी, जारी आदि कुकर्म करने के लिये दिए जाने वाले अधर्मदान के समान एकान्त पाप का कारण नहीं है। अतः अनुकम्पादान का निषेध करने से अन्तराय का लगना कहा है, अधर्मदान का निषेध करने से नहीं।

दशवैकालिकसूत्र में अनुकम्पादान के अधिकारी भिखारी को गृहस्थ के द्वार पर भिक्षार्थ खड़े देखकर, उन्हें अन्तराय न देने के लिए साधु को वहाँ से हट जाना कहा है। परन्तु वेश्या आदि को कुकर्म सेवनार्थ धन देने के लिए [illegible] [illegible]। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि [illegible] [illegible] है, अधर्मदानों में अन्तराय [illegible] नहीं।

समणं-माहणं वावि, किविणं वा वणीमगं।
उवसंक्कमत्तं भत्तट्ठा पाणट्ठा एव संजए।।
तमइक्कमित्तु न पविसे न चिट्ठे चक्खुगोयरे।
एगन्तमवक्कमित्ता तत्थ चिट्ठेज्ज संजए।।

—दशवैकालिक, ५, २, १०-११

श्रमण, माहण, दरिद्र और वनीपक को गृहस्थ के द्वार पर भिक्षार्थ गए हुए या जाते हुए देखकर, उनको उल्लंघकर साधु गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रवेश न करे और जहाँ गृहस्वामी की दृष्टि पड़ती हो, वहाँ भी खड़ा न रहे, परन्तु जहाँ गृहस्वामी की दृष्टि न पड़े, ऐसे एकान्त स्थान में जाकर खड़ा रहे।

प्रस्तुत गाथाओं में अनुकम्पादान लेने वाले श्रमण-माहण, दरिद्र एवं भिखारी आदि को गृहस्थ के द्वार पर भिक्षार्थ गए हुए देखकर, साधु को उन्हें अन्तराय न देने के लिए गृहस्थ के द्वार से हट जाने को कहा है। परन्तु चोर, जार, हिंसक और वेश्या आदि को दुष्कर्म के निमित्त गृहस्थ के द्वार पर दान लेने के लिए खड़े देखकर साधु को वहाँ से हट जाने के लिए नहीं कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि एकान्त पाप के कार्य में बाधा पहुँचाने से अन्तराय का पाप नहीं होता, परन्तु पुण्यकार्य में बाधक बनने से अन्तराय कर्म बंधता है। इसलिए साधु को अनुकम्पादान का किसी भी समय निषेध नहीं करना चाहिए। क्योंकि इस में पुण्य का सद्भाव है। अतः उक्त गाथाओं में अनुकम्पादान में बाधक बनने से अन्तराय कर्म का बन्ध होना माना है, परन्तु एकान्त पाप के कार्यों—चोरी-जारी आदि में बाधक बनने से अन्तराय कर्म का बन्ध नहीं कहा है। इसलिए अनुकम्पादान को एकान्त पाप का कार्य बताना आगम-सम्मत नहीं है।

यदि अनुकम्पादान अधर्मदान है, तो जैसे चोरी, जारी, हिंसा आदि अधर्म-कार्यों के लिए उद्यत पुरुष को वर्तमान में निषेध करने से अन्तराय नहीं लगता, उसी तरह वर्तमान में अनुकम्पादान का निषेध करने से अन्तराय का बन्ध नहीं होना चाहिए। यदि यह कहें कि चोरी, जारी, हिंसा आदि का निषेध करने से किसी के स्वार्थ में विघ्न नहीं पडता, इसलिए इन दुष्कर्मों का निषेध करने से अन्तराय का पाप नहीं लगता। परन्तु वर्तमान में अनुकम्पादान का निषेध करने से उसके लेने वाले याचकों के स्वार्थ की हानि होती है, इसलिए वर्तमान में इसका निषेध नहीं करते। परन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि चोर को चोरी का त्याग कराने से उसके परिवार के पालन-पोषण में बाधा पहुँचती है। जार को व्यभिचार का त्याग कराने से उसकी प्रेयसी को काम सुख की हानि होती है और हिंसक को हिंसा का त्याग कराने से आमिष-आहारियों को मांस

की प्राप्ति नहीं होती, फिर भी उक्त व्यक्तियों को वर्तमान में कुकर्म का त्याग कराना अन्तराय का कारण नहीं है, तो आपके मतानुसार दीन-दुःखी जीवों के स्वार्थ में बाधा पहुंचाने पर भी वर्तमान में अनुकम्पादान का निषेध करने में बाध नहीं होना चाहिए? परन्तु आपने वर्तमान में अनुकम्पादान का निषेध करना अन्तराय का कारण माना है और आगम में सभी काल में अनुकम्पादान का निषेध करना अन्तराय का कारण माना है और आगम में सभी काल में अनुकम्पादान का निषेध करना पाप का हेतु कहा है। अतः अनुकम्पादान को एकान्त पाप का कार्य कहकर उपदेश में उसका त्याग कराने की प्रेरणा करना आगम के साथ मान्यता के भी सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वंसनकार से पूछना चाहिए कि एक पुरुष अपने हाथ में रोटी लेकर भिक्षुओं को देने के लिए जा रहा है, दूसरा व्यक्ति दुष्कर्म सेवन के लिए वेश्या को कुछ रुपये देने जा रहा है, तीसरा व्यक्ति स्वयं खाने एवं अन्य मांसाहारियों को मांस खिलाने के लिए छुरी लेकर बकरा मारने जा रहा है और चौथा व्यक्ति अपने परिवार का पोषण करने के लिए चोरी करने जा रहा है। यदि ये सब व्यक्ति साधु को मार्ग में मिलें तो साधु किन व्यक्तियों को एकान्त पाप न करने का उपदेश देकर त्याग कराएगा और किनके विषय में मौन रखेगा? यदि यह कहो कि प्रथम व्यक्ति के सम्बन्ध में मौन रखकर शेष सब को एकान्त पाप से बचने का उपदेश देकर चोरी आदि दुष्कर्मों का त्याग कराएगा, तो यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि अनुकम्पादान भी चोरी आदि की तरह एकान्त पाप का कार्य है, तो अनुकम्पादान देने जाने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में साधु मौन क्यों रहता है? आप के मत से उसे भी त्याग कराना चाहिए, परन्तु वर्तमान में आप भी अनुकम्पादान का त्याग नहीं कराते। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुकम्पादान चोरी आदि दुष्कर्मों की तरह एकान्त पापकार्य नहीं, पुण्यबन्ध का भी कारण है।

कुछ व्यक्ति तर्क करते हैं कि यदि अनुकम्पादान में पुण्य होता है, तो भगवान् ने [illegible] नहीं [illegible] चाहिए; क्योंकि सांवत्सरिक आदि [illegible] में [illegible] अनुकम्पादान नहीं दिया, इसलिए दीन-हीन जीवों को [illegible] में [illegible] है। भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ [illegible] पर [illegible] हैं।

अपने को अनुकम्पादान से बचाने के लिए। अनुकम्पादान देना सामान्य गुण है और सामायिक-पौपध करना विशिष्ट गुण है। अतः उस विशिष्ट गुण की प्राप्ति के समय सामान्य गुण का त्याग होना स्वाभाविक है। जैसे दिशा की मर्यादा करने वाले जिस श्रावक ने घर से बाहर जाने का त्याग कर दिया है, वह साधु के स्वागतार्थ भी उनके सम्मुख नहीं जाता। इससे यह नहीं कह सकते हैं कि उसने साधु के सम्मुख जाना छोड़ने के लिए दिशा की मर्यादा की है और साधु के स्वागतार्थ उनके सम्मुख जाना एकान्त पापकार्य भी नहीं कह सकते। उस श्रावक ने साधु के सामने जाने के कार्य को एकान्त पाप जानकर उसे छोड़ने के अभिप्राय से नहीं, प्रत्युत् विशिष्ट गुण की प्राप्ति के लिए दिशा की मर्यादा की है। ठीक उसी तरह सामायिक एवं पौषध स्वीकार करने वाला श्रावक एकान्त पाप समझकर अनुकम्पादान देना नहीं छोड़ता, परन्तु विशिष्ट गुण उपार्जन करते समय सामान्य गुण उससे छूट जाता है। अतः अनुकम्पादान को एकान्त पाप-जानकर श्रावक सामायिक-पौषध में उसका त्याग करता है, यह प्ररूपणा करने वाला सत्य से कोसों दूर है।

जो श्रावक विशिष्ट निर्जरा के लिए वैराग्य भाव से स्वयं उपवास करता है और उपदेश देकर अपने परिवार को भी उपवास कराता है, इसलिए उस दिन घर में भोजन नहीं बनने से घर में आए हुए साधु को आहार-पानी नहीं दे सकता, तब भी उसे साधु को दान नहीं देने का अन्तराय नहीं लगता, किन्तु विशिष्ट निर्जरा का लाभ होता है। क्योंकि उसने साधु-दान में अन्तराय देने के लिए उपवास नहीं किया है, प्रत्युत विशिष्ट निर्जरा के लिए किया है। इसी तरह जो श्रावक विशिष्ट गुण की प्राप्ति के लिए सामायिक-पौषध करता है, उसे अनुकम्पादान का अन्तराय नहीं लगता। क्योंकि वह अनुकम्पादान का त्याग करने के लिए सामायिक-पौषध नहीं करता। अतः अनुकम्पादान को एकान्त पाप जानकर सामायिक-पौषध में उसका त्याग बतलाना साधना के सही अर्थ एवं उद्देश्य को नहीं समझना है।

आगम में भूत, भविष्य एवं वर्तमान—तीनों काल में अनुकम्पादान का निषेध नहीं करने का कहा है।

जे य णं पडिसेहंति वित्तिछेयं करंति ते

—सूत्रकृतांग, १, ११, २०

जो अनुकम्पादान का निषेध करते हैं, वे दीन-हीन जीवों की जीविका का उच्छेद करते हैं।

प्रस्तुत गाथा में वर्तमानकाल का उल्लेख न करके सभी काल में अनुकम्पादान का निषेध नहीं करने को कहा है। इसलिए जो किसी भी काल

में अनुकम्पादान का निषेध करते हैं, वे दीन-हीन जीवों की जीविका का उच्छेद करने वाले हैं।

भ्रमविध्वंसनकार ने उक्त गाथा लिखकर उसके नीचे टब्बा अर्थ लिखा है—

'जे गीतार्थ दान ने निषेधे, ते वि. वृत्तिच्छेद वर्तमानकाले पामवाने उपाय तेहनो विघ्न करें।' इसकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ७१ पर लिखते हैं—'दान लेवे ते देवे छै, ते देतां निषेध्यां वृत्तिच्छेद हुवे अने जो लेवे ते देवे नथी तो वृत्तिच्छेद किम हुवे। ते माटे वृत्तिच्छेद वर्तमानकाल में इज छै। वली सूयगडांग नी वृत्ति शीलांकाचार्य किधी, ते टीका में पिण वर्तमान काल रो इज अर्थ छै।'

परन्तु उक्त कथन आगम से सर्वथा विपरीत है। सूत्रकृतांगसूत्र की उक्त गाथा में वर्तमानकाल का नाम तक नहीं है और शीलांकाचार्य ने भी उक्त गाथा की टीका में वर्तमानकाल का उल्लेख नहीं किया है। उक्त गाथा एवं उसकी टीका में सामान्य रूप से सब काल के लिए अनुकम्पादान का निषेध करना वर्जित किया है। शीलांकाचार्य ने उक्त गाथा की टीका में लिखा है—

येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमिति मन्यमाना आगम-सद्भावानभिज्ञाः प्रतिषेधन्ति तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां वृत्तिच्छेदं वर्तमानकाले विघ्नं कुर्वन्ति।

जो अपने को सूक्ष्मदर्शी मानने वाले, आगम के तत्त्व को न जानने के कारण अनुकम्पादान का निषेध करते हैं, वे गीतार्थ नहीं हैं। क्योंकि वे प्राणियों की जीविका
[illegible]

वृत्तिच्छेदं वर्तनोपाय विघ्नं कुर्वन्ति।

वृत्ति. आजीविका तेहनो छे. छेद व. वर्तमान काले, उ. पामवानो उपाय तेहनो, वि. विघ्न क. करे ते अविवेकी।

इसमें भ्रमविध्वंसनकार ने 'वर्तन' शब्द का वर्तमान अर्थ किया है। परन्तु 'वर्तन' शब्द का वर्तमान नहीं, आजीविका अर्थ होता है। टीकाकार ने मूलगाथा में प्रयुक्त 'वृत्ति' शब्द का 'वर्तन' अर्थ किया है। अतः 'वर्तन' शब्द 'वृत्ति' शब्द का पर्यायवाची है। न कि वर्तमान अर्थ का सूचक। तथापि भोली जनता को भ्रम में डालने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने 'वर्तन' शब्द का वर्तमान अर्थ लिखा है। ऐसे व्यक्तियों से न्याय की आशा रखना दुराशा मात्र है।

वर्तमानकाल मात्र में नहीं, प्रत्युत् भविष्यकाल में होने वाले लाभ में विघ्न डालने से 'पिहितागामिपथ' नामक अन्तराय लगता है।

अन्तराइए कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—पडुपन्नविणासिए, चेव पिहितागामिपहं।

—स्थानांग, २, ४, १०५

अन्तराय कर्म दो प्रकार का कहा है—प्रत्युत्पन्न विनाशी और पिहितागामिपथ। वर्तमानकाल में मिलने वाली वस्तु को न मिलने देना 'प्रत्युत्पन्न विनाशी' अन्तराय कर्म है और भावी लाभ के मार्ग को रोक देना 'पिहितागामिपथ' अन्तराय कर्म कहलाता है।

प्रस्तुत पाठ में भावी लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय लगना कहा है। इसलिए भ्रमविध्वंसनकार ने जो यह लिखा है—'अन्तराय तो वर्तमान काल इजमें कही छै, पिण ओर वेलां अन्तराय कह्यो नहीं', यह सर्वथा-आगम विरुद्ध है। स्थानांगसूत्र में भविष्यकाल में होने वाले लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय कर्म का बन्ध होना कहा है। अतः जो व्यक्ति उपदेश के समय अनुकम्पादान में एकान्त पाप कहकर उसका त्याग कराते हैं, वे पिहितागामिपथ अन्तराय कर्म को बांधते हैं।

भविष्य में होने वाले लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय कर्म का बन्ध होना, केवल शास्त्र में ही नहीं, प्रत्यक्ष से भी प्रमाणित होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी महाजन से दस हजार रुपयों का ऋण लेता है। यदि कोई उस महाजन को ऋण देने का त्याग कराता है, तो वह प्रत्यक्ष रूप से महाजन के लाभ में अन्तराय देता है। अतः भावी लाभ के मार्ग को रोकने से अन्तराय नहीं मानना, आगम और प्रत्यक्ष दोनों के विरुद्ध समझना चाहिए।

आनन्द श्रावक का अभिग्रह

भ्रमविध्वंसनकार आनंद श्रावक का उदाहरण देकर अनुकम्पादान में एकान्त पाप बताते हैं। उन्होंने भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ५१ पर लिखा है—'तथा उपासकदशा अ. १ आनंद श्रावक अभिग्रह धार्यो, जे हूं अन्य तीर्थियों ने दान देवूं नहीं देवावूं नहीं।' इन के कहने का अभिप्राय यह है कि दीन-हीन, दुःखी जीवों पर दया लाकर दान देने से यदि पुण्य होता, तो आनन्द श्रावक अन्य-तीर्थियों को दान नहीं देने का अभिग्रह क्यों धारण करता? अतः दीन-हीन जीवों पर दया लाकर दान देना, एकान्त पाप है।

आनन्द श्रावक का उदाहरण देकर अनुकम्पादान में एकान्त पाप बताना अनुचित है। आनन्द श्रावक ने दीन-हीन जीवों पर दया लाकर दान नहीं देने का अभिग्रह नहीं लिया था। क्योंकि दीन-हीन प्राणियों पर दया लाकर उन्हें दान देना श्रावकों के धर्म के विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत श्रावक धर्म को परिपुष्ट करने वाला है। इसलिए आनन्द श्रावक ने अनुकम्पादान का त्याग नहीं किया था।

सर्वज्ञ-भाषित धर्म से भिन्न धर्म की स्थापना करने वाले शाक्य-परिव्राजक आदि को वन्दन-नमस्कार करना तथा भाव-भक्ति से आहार देकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करना एवं उन के वन्दनीय-पूजनीय सरागी देवताओं को वन्दन-नमस्कार करना, ये सब कार्य श्रावकधर्म के विरुद्ध और मिथ्यात्व के परिपोषक हैं, अतः आनन्द श्रावक ने इन कार्यों को नहीं करने का अभिग्रह लिया था, परन्तु दीन-हीन जीवों को अनुकम्पा भाव से दान नहीं देने का अभिग्रह नहीं लिया था। अतः आनन्द श्रावक का नाम लेकर अनुकम्पादान में एकान्त पाप कहना अनुचित है।

आनन्द श्रावक के अभिग्रह के सम्बन्ध में उपासकदशांगसूत्र में लिखा है—

[illegible]

यहाँ टीकाकार ने मूल पाठ का अभिप्राय बताते हुए अन्य-यूथिक को गुरु बुद्धि से ही दान देने का निषेध बताया है, अनुकम्पा-बुद्धि से नहीं। अतः आनन्द श्रावक का नाम लेकर अनुकम्पादान का निषेध करना आगम-विरुद्ध है।

कुछ व्यक्तियों का यह तर्क है कि यदि अन्ययूथिक को दान देना पुण्य का कारण है, तो उन्हें वन्दन-नमस्कार करना पुण्य का कारण क्यों नहीं है? इसका समाधान यह है कि अन्ययूथिक को अनुकम्पा-बुद्धि से दिया जाने वाला दान अनुकम्पा लाकर दिया जाता है, इसलिए उसमें पुण्य है। क्योंकि अन्यतीर्थी पर अनुकम्पा करना भी पुण्य का कारण है, परन्तु उन्हें वन्दन-नमस्कार करना नहीं। वस्तुतः वन्दन-नमस्कार पूज्य बुद्धि से किया जाता है और अन्ययूथिक में पूज्य बुद्धि रखना सम्यक्त्व का अतिचार है। इसलिए उन्हें वन्दन-नमस्कार करना पुण्य नहीं है। आनन्द श्रावक ने जैसे अन्ययूथिक अज्ञानी गुरुओं को पूज्य बुद्धि से वन्दन-नमस्कार करने का त्याग किया था, उसी तरह उन्हें पूज्य बुद्धि से दान देने का त्याग किया था, अनुकम्पादान का नहीं।

उपासकदशांगसूत्र के प्रस्तुत पाठ में **दाउंवा** और **अणुप्पदाउं वा** ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। भ्रमविध्वंसनकार ने इन का देना और दूसरे से दिलाना अर्थ किया है। परन्तु **अणुप्पदाउं वा** का अर्थ दिलाना नहीं, बार-बार देना होता है। इसी तरह इस पाठ में प्रयुक्त **वित्तिकन्तारेणं** शब्द का भी इन्होंने गलत अर्थ किया है—'कि, अटवी कांतार में गिरे अगार।' टीकाकार ने इसका इस प्रकार अर्थ किया है—

वृत्तिः जीविका तस्याः कान्तारम् अरण्यं तदिव कान्तारं क्षेत्रं कालो वा वृत्ति-कान्तारम् निर्वाह भाव इत्यर्थः।

घोर जंगल की तरह जीविका के लिए कठिन क्षेत्र या काल का आना

प्रदेशी राजा की प्रतिज्ञा

आगम में अन्यतीर्थी को गुरु–बुद्धि से दान देने का निषेध किया है, अनुकम्पा लाकर दान देने का नहीं। इसलिए दीन–हीन, दुःखी जीवों को अनुकम्पादान देना एकान्त पाप नहीं है, यह ज्ञात हुआ। परन्तु यदि आगम के मूल पाठ में ऐसा उल्लेख आया हो तो बताएँ कि किसी अभिग्रहधारी एवं बारह व्रतधारी श्रावक ने बारह व्रत धारण करने के पश्चात् दीन–हीन, दुःखी जीवों को अनुकम्पादान दिया?

राजप्रश्नीय सूत्र में आनन्द श्रावक की तरह सम्यक्त्वयुक्त द्वादश व्रतधारी प्रदेशी राजा के द्वारा द्वादश व्रत स्वीकार करने के पश्चात् दीन–हीन, दुःखी जीवों के लिए दानशाला खोलकर उन्हें अनुकम्पादान देने का लिखा है। यदि अभिग्रहधारी द्वादशव्रती श्रावक के अनुकम्पादान का ज्वलन्त उदाहरण है। प्रदेशी राजा आनन्द श्रावक के समान ही बारह व्रतधारी श्रावक होने के कारण, वह अन्यतीर्थी को दान देने एवं पूजा–प्रतिष्ठा, सम्मान आदि नहीं करने का अभिग्रह धारण किए हुए था, तब भी उसने दीन–हीन, दुःखी जीवों को अनुकम्पादान दिया। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को अन्य–तीर्थी को अनुकम्पा–बुद्धि से दान नहीं देने का अभिग्रह नहीं होता, प्रत्युत उन्हें पूज्य–बुद्धि से दान नहीं देने का अभिग्रह होता है। अतः अन्यतीर्थी पर अनुकम्पा करके उसे अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम के विपरीत है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि प्रदेशी राजा आनन्द श्रावक की तरह अभिग्रहधारी था, इसका क्या प्रमाण है? आवश्यकसूत्र में प्रत्येक श्रावक के लिए यह लिखा है—

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ। नो से कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थि वा।

—आवश्यकसूत्र

प्रस्तुत पाठ प्रत्येक सम्यक्त्वनिष्ठ साधक के लिए कहा है। इसलिए सभी सम्यक्त्वधारी श्रावक अन्यतीर्थी को दान, सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा नहीं

...ा का अभिग्रह धारण करते हैं। प्रदेशी राजा भी सम्यक्त्वनिष्ठ द्वादशव्रती
श्रावक था। अतः वह भी आनन्द श्रावक के समान अभिग्रहधारी था। तथापि
उसने दानशाला खोलकर दीन-हीन, दुःखी जीवों को अनुकम्पादान दिया था।
इससे यह प्रमाणित होता है कि अनुकम्पादान देना श्रावक का कर्तव्य है। आगम
में स्पष्ट लिखा है कि प्रदेशी राजा ने अनुकम्पादान देने के लिए दानशाला
खोली थी।

तए णं से पएसीराया केसीकुमार-समणं एवं वयासी नो खलु भन्ते! अहं पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविस्सामि। जहा वणसंडे इवा जाव खलवाडे इवा। अहं णं सेयंविया नयरीप्पमुक्खाइं सत्तग्गाम सहस्साइं चत्तारि भागे करिस्सामि। एगं भागं बल वाहणस्स दलइस्सामि, एगं भागं कोट्ठागारे दलइस्सामि, एगं भागं अन्तेउरस्स दलइस्सामि, एगेणं भागेणं महइ महालिय कूडागारसालं करिस्सामि। तत्थ णं बहुहिं पुरिसेहिं दिण्णभत्ति भत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता बहू णं समण-माहण-भिक्खुयाणं पंथिय-पहियाणं परिभोयमाणे बहुहिं सीलगुणव्वय वेरमण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामि ति कट्टु जामेव दिसं पाउब्भुए तामेव दिसं पडिगए। तए णं पएसीराया कल्लं जाव तेयसा जलंते सेयंवियापामोक्खाइं सत्तग्गाम सहस्साइं चत्तारि भाए करेति। एगं भागं बल-वाहणस्स दलयति जाव कूडागारसालं करेति, तत्थ बहुहिं पुरिसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता, बहू णं समण-माहणाणं जाव परिभोएमाणे विहरति।

—रायप्रश्नीय सूत्र, [illegible]

इसके अनन्तर प्रदेशी राजा ने केशीकुमार श्रमण से कहा—हे प्रभो! मैं प्रथम
रमणीय होकर वनखंड एवं खलिहान की तरह पीछे अरमणीय नहीं बनूंगा। मैं
सेयंविया प्रभृति सात हजार गांवों को चार भागों में बाँट कर उनमें से एक भाग
बल-वाहन के लिए, दूसरा कोष्ठागार के लिए, तीसरा अन्तःपुर के लिए दे दूँगा। शेष
चौथे भाग से अति-विशाल दानशाला बनाकर उसमें बहुत वेतनभोगी पुरुषों को
रखकर, उनके द्वारा चतुर्विध आहार तैयार करवाकर श्रमण-माहन, भिक्षुक और
पथिकों को भोजन कराता हुआ और शील, प्रत्याख्यान, पौषध तथा उपवास करता
हुआ धर्म-ध्यान में विचरूँगा। यह कहकर प्रदेशी राजा जिस दिशा से आया था, उसी
दिशा में चला गया। उसके पश्चात् दूसरे दिन तेजस्वी सूर्य के उदित होने पर राजा ने
सेयंविया आदि सात हजार गांवों को चार भागों में विभक्त करके उनमें से एक
भाग बल-वाहन को, दूसरा भाग कोष्ठागार को, तीसरा अन्तःपुर को दे दिया और

चतुर्थ भाग से अति-विशाल दानशाला बनाकर, उसमें अनेक रसोइए रखकर उनके द्वारा अशनादि चतुर्विध आहार तैयार कराकर बहुत श्रमण-माहण, भिक्षुक एवं पथिकों को भोजन देता हुआ विचरने लगा।

प्रस्तुत पाठ में, प्रदेशी राजा ने दानशाला बनाकर श्रमण-माहण आदि को अनुकम्पादान दिया, इसका स्पष्ट उल्लेख है। अतः सम्यक्त्वपूर्वक बारह व्रत स्वीकार करने वाले श्रावकों का गुरु-बुद्धि से अन्यतीर्थी को दान नहीं देने का अभिग्रह होता है, अनुकम्पादान देने का नहीं। अन्यथा, आनन्द श्रावक के समान अभिग्रहधारी श्रावक होकर प्रदेशी राजा श्रमण-माहण आदि को अनुकम्पादान क्यों देता और केशीकुमार श्रमण ने अनुकम्पादान के लिए राजा द्वारा की गई प्रतिज्ञा को सुनकर, उसे इस कार्य से क्यों नहीं रोका? जिस समय प्रदेशी राजा ने मुनि के समक्ष रमणीय बने रहने की प्रतिज्ञा करते हुए दानशाला बनाने की इच्छा अभिव्यक्त की थी, उस समय न तो कोई याचक वहाँ दान लेने आया था और न राजा किसी को दान दे ही रहा था। ऐसी स्थिति में केशी श्रमण राजा को अनुकम्पादान में एकान्त पाप बताकर उसे रोक देते, तो भ्रमविध्वंसनकार के मत से उन्हें अन्तराय कर्म भी नहीं बंधता। क्योंकि भ्रमविध्वंसनकार ने वर्तमान में ही अनुकम्पादान के निषेध में अन्तराय माना है, अन्य काल में नहीं। अतः आप की मान्यता के अनुसार केशी श्रमण अनुकम्पादान का निषेध कर देते तो मुनि को अन्तराय का पाप भी नहीं लगता और प्रदेशी राजा एक नये पाप से बच जाता। परन्तु मुनि ने राजा को अनुकम्पादान देने से रोका नहीं और यह भी नहीं कहा—'हे राजन्! अनुकम्पादान देना एकान्त पाप है, इसका आचरण करने से तुम्हारा अभिग्रह टूट जाएगा और तुम पुनः अरमणीय बन जाओगे।' प्रदेशी राजा ने मुनि के समक्ष ही अनुकम्पादान देने की घोषणा की थी और मुनि ने उसका निषेध नहीं किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पादान देना एकान्त पाप नहीं है। अतः जो व्यक्ति अनुकम्पादान में एकान्त पाप होने का उपदेश देकर श्रावकों को उसका त्याग कराते हैं, वे दीन-हीन, दुःखी जीवों की जीविका के उच्छेदक बनते हैं।

केशी श्रमण और दानशाला

आपने प्रदेशी राजा का उदाहरण देकर राजप्रश्नीयसूत्र के प्रमाण से दीन-हीन जीवों को अनुकम्पादान देने में पुण्य का सद्भाव बताया, परन्तु भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ७५ पर लिखते हैं—

'अठै राजप्रश्नी में प्रदेशी दानशाला मंडाई कही छै। राज रा च्यार भाग करने आप न्यारो रहि धर्म-ध्यान करवा लाग्यो। केशी स्वामी विहार कर्यां पछै

साखी छै। फिर इम न कह्यो हे प्रदेशी! तीन भाग में तो पाप छै। पर चौथे भाग दानशाला रो काम तो पुण्य रो हेतु छै। थारो भलो मन उठ्यो। थें तो आछो काम करिवो विचार्यो। इम चौथा भाग ने सरायो नहीं। केशी स्वामी तो किहूं सावद्य जाणी ने मौन साधी छै। ते माटे तीन भाग रो फल चौथे भाग रो फल छै।'

दानशाला बनवाकर दीन-हीन जीवों को दान देने की प्रतिज्ञा सुनकर केशी श्रमण ने उसकी सराहना नहीं की, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अनुकम्पादान एकान्त पाप का कार्य था। क्योंकि साधु एकान्त पापकार्य की प्रतिज्ञा को सुनकर मौन नहीं रहते, प्रत्युत् उसका निषेध करते हैं। साधु के समक्ष यदि कोई हिंसा आदि दुष्कर्म करने का विचार अभिव्यक्त करे, तो वे उस समय मौन न रहकर उस दुष्कर्म का निषेध करते हैं। यदि अनुकम्पादान देना भी हिंसा आदि की तरह एकान्त पापकर्म होता है, तो प्रदेशी राजा को प्रतिज्ञा करते देखकर मुनि कदापि मौन नहीं रहते, बल्कि धर्मोपदेश देकर उसके पापकर्म को रोकते। परन्तु प्रदेशी राजा को अनुकम्पादान देने के लिए दानशाला बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए देखकर मुनि ने उसका निषेध नहीं किया, इससे यह स्पष्ट होता है कि अनुकम्पादान देना हिंसा आदि की तरह एकान्त पाप का कार्य नहीं है, इससे पुण्य भी होता है।

तेरापंथ के प्रथम आचार्य भीखणजी ने अनुकम्पादान का इतना प्रबल विरोध किया है कि अनुकम्पादान देने का त्याग करने वाले को अतिशय पुण्यवान कहा है। वे लिखते हैं—

> अव्रत में दान दे, तेहनों, टालण रो करे उपाय जी।
> त्यांने कर्म बन्धे छै म्हावरे, नें भोगवतां दुःखदाय जी॥
> अव्रत में दान देवा तणूं कोई, त्याग करे मन शुद्ध जी।
> तिणरे पाप निवार टालियो तिण री वीर बखाणी बुद्ध जी॥

राजप्रश्नीय–सूत्र में प्रदेशी राजा को अनुकम्पादान देते हुए धर्म–ध्यान करना लिखा है, न कि दान देने से अलग होकर धर्म–ध्यान करने का।

तत्थ वहुहिं पुरिसेहिं जाव उवक्खडावेत्ता, वहू णं समण–माहणाणं परिभोयमाणे विहरति।

—राजप्रश्नीयसूत्र, ८१

प्रदेशी राजा दानशाला में वहुत पुरुषों के द्वारा चतुर्विध आहार तैयार कराकर वहुत–से श्रमण–माहण एवं राहगीरों को भोजन कराता हुआ विचरने लगा।

प्रस्तुत पाठ में प्रदेशी राजा के लिए दान देने से अलग होकर विचरना नहीं, दान देते हुए विचरना लिखा है। अतः प्रदेशी राजा के लिए दान देने से अलग होकर विचरने की कल्पना करना नितान्त असत्य है।

असंयति-दान

यदि असंयति को अनुकम्पा-बुद्धि से दान देना एकान्त पाप नहीं है, तो भगवती श. ८, उ. ६ पर असंयति को दान देने में एकान्त पाप होना क्यों कहा? इस विषय में भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ५५ पर लिखते हैं—'अथ अठे तथारूप असंयति ने फासु-अफासु, सूझतो-असूझतो अशनादिक देवै तो श्रावक ने एकान्त पाप कह्यो छै।'

भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६ के मूलपाठ में तथारूप के असंयति को गुरु-बुद्धि से दान देने में एकान्त पाप होना कहा है, अनुकम्पादान देने से नहीं। टीकाकार ने इसकी टीका में इस विषय को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है।

सूत्र त्रयेणाऽपि चानेन मोक्षार्थमेव यद्दानं तच्चिन्तितम्, यत्पुनरनुकम्पादानमौचित्य-दानं वा तन्न चिन्तितम्। निर्जराया-स्तत्रानपेक्षत्वात् अनुकम्पौचित्ययोरेव चापेक्षणीयत्वात्। उक्तञ्च—

मोक्खत्थं जं दाणं तं पइ एसो विही समक्खाओ।
अणुकम्पा-दाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं॥

—भगवतीसूत्र, ८, ६, [illegible] टीका

भगवतीसूत्र के उक्त तीनों सूत्रों में मोक्ष के लिए जो दान दिया जाता है, उसी का विचार किया है, अनुकम्पादान और औचित्यदान का नहीं। अनुकम्पादान और औचित्यदान में अनुकम्पा और औचित्य ही अपेक्षित होते हैं, निर्जरा अपेक्षित नहीं होती। अतः इन सूत्रों में निर्जरा की अपेक्षा से किए जाने वाले मोक्षार्थ दान के फल का कथन समझना चाहिए। कहा भी है—जो दान मोक्ष के निमित्त किया जाता है, भगवती श. ८, उ. ६ के तीनों सूत्रों में उसी का विधान किया है, दूसरे दान का नहीं। क्योंकि जिनेश्वर भगवान् ने अनुकम्पादान का कहीं भी निषेध नहीं किया है।

इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी यही बात कही है—

[illegible]

[illegible]

प्रस्तुत पाठ में सभी असंयतियों का नाम न लेकर, तथारूप के असंयति को दान देने से श्रावक को एकान्त पाप होना कहा है। तथारूप का असंयति वह है, जिस को लोक में गुरुबुद्धि से दान दिया जाता है और जो अन्यतीर्थी के शास्त्रानुसार लिंग रखता है और अन्यतीर्थियों के धर्म की स्थापना करता है, उसको दान देने से एकान्त पाप कहा है। इसलिए भगवती के मूलपाठ से यह ध्वनित होता है कि तथारूप के असंयति को गुरुबुद्धि से दान देना एकान्त पाप का कारण है। अतः टीकाकार एवं आचार्य हरिभद्र सूरि का कथन स्व-कपोलकल्पित नहीं, मूल पाठ के अनुरूप है। उसे अप्रामाणिक कहना एवं समझना भारी भूल है।

टीकाकारों ने 'तथारूप' शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

तथा तत्प्रकारं रूपं स्वभावो नेपथ्यादिर्वा यस्य स तथारूपं।

स्थानांग टीका, स्थान ३, १

तथाविध स्वभावं भक्ति दानोचित पात्रमित्यर्थः।

भगवती, ५, ६, २०४ टीका

जिसका स्वभाव या वेशभूषा आदि उसी तरह का है, वह तथारूप कहलाता है।

जो भक्तिपूर्वक दान देने के योग्य समझा जाता है, वह तथारूप कहलाता है।

भगवती, श. ८, उ. ६ के पाठ में ऐसे तथारूप के असंयति को दान देने वाले श्रमणोपासक को एकांत पाप होना कहा है। दूसरी बात यह है कि आगम में जहाँ सब असंयतियों का कथन किया जाता है, वहाँ '[illegible]' शब्द से [illegible] पाठ आता है। जैसे भगवती आदि आगमों में सब असंयतियों के वर्णन में [illegible] पाठ आया है—

प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त **पडिलभमाणे** शब्द से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। **पडिलभमाणे** शब्द का प्रयोग स्व-तीर्थी या पर-तीर्थी साधु को दान देने के अर्थ में ही होता है, गृहस्थ को दान देने के अर्थ में नहीं। क्योंकि आगम में कहीं भी गृहस्थ को दान देने के अर्थ में **पडिलभमाणे** शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। इसलिए इस पाठ में अन्यतीर्थियों द्वारा मान्य पूज्य असंयती को दान देने का फल एकान्त पाप कहा है, सभी असंयतियों को दान देने का नहीं।

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि भगवती, श. ८, उ. ६ का मूल पाठ श्रावक के लिए आया है और श्रावक अन्यतीर्थी को गुरु-बुद्धि से दान नहीं देता। अतः इस पाठ में उसका फल बताने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि जैसे साधु मैथुन-सेवन, रात्रि-भोजन आदि पापकर्म नहीं करता, फिर भी आगम में साधु को रात्रि-भोजन और मैथुन-सेवन का प्रायश्चित्त कहा है। इसका कारण यह है कि साधु उक्त कार्यों को प्रायश्चित्त का कारण जानकर सेवन न करे। उसी तरह भगवती, श. ८, उ. ६ में श्रमणोपासक के लिए अन्यतीर्थियों के धर्माचार्य या धर्मगुरु को गुरु-बुद्धि से दान देने का फल एकान्त पाप कहकर श्रावक को उक्त प्रवृत्ति से निवृत्त रहने का संकेत किया है। साधु या श्रावक जिस कार्य को नहीं करते, आगम में उसके फल को न बताएँ, ऐसा कोई आगमिक नियम नहीं है। वस्तुतः देखा जाए तो आगमकार के लिए यह आवश्यक है कि निषिद्ध कर्मों के फल का उल्लेख कर दे। अन्यथा किसी को दुष्कर्मों के फल का ज्ञान कैसे होगा? अतः प्रस्तुत पाठ में तथारूप के असंयति को गुरु-बुद्धि से दान देने में एकान्त पाप कहा है, परन्तु अनुकम्पादान में नहीं।

भ्रमविध्वंसनकार को यह मान्य नहीं है कि **पडिलभमाणे** शब्द का प्रयोग स्व-तीर्थी या अन्यतीर्थी साधु को ही देने अर्थ में हुआ है, गृहस्थ को देने अर्थ में नहीं। उन्होंने स्थानांग, भगवती और ज्ञातासूत्र का मूल पाठ लिखकर गृहस्थ को दान देने के अर्थ में भी **पडिलभमाणे** शब्द का प्रयोग होना बताया है और आचारांगसूत्र के मूल पाठ का उल्लेख करके यह कहा है कि **दलएज्जा** और **पडिलभमाणे** ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। इनमें गृहस्थ को दान देने के अर्थ में **दलएज्जा** शब्द आया है। इसलिए उसका समानार्थक **पडिलभमाणे** शब्द प्रत्येक असंयति को दान देने के अर्थ में आ सकता है, केवल साधु को देने के अर्थ में ही नहीं। इसका क्या समाधान है?

स्थानांग, भगवती और ज्ञाता आदि आगमों में कहीं पर स्व-तीर्थी और कहीं पर पर-तीर्थी साधु को दान देने के अर्थ में ही **पडिलभमाणे** शब्द का प्रयोग हुआ है, गृहस्थ को दान देने के अर्थ में उक्त आगमों में **पडिलभमाणे**

शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। अतः उक्त आगमों में स्व-तीर्थी या पर-तीर्थी साधु से इतर को दान देने के अर्थ में **पडिलभमाणे** शब्द का प्रयोग बताना मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकार ने आचारांग का पाठ लिखकर—**दलएज्जा** शब्द के समानार्थक होने से **पडिलभमाणे** शब्द का प्रयोग गृहस्थ को दान देने के अर्थ में बताया, वह अयुक्त है। साधु को दान देने के अर्थ में **दलएज्जा** और **पडिलभमाणे** ये उभय शब्द प्रयुक्त होते हैं, परन्तु गृहस्थ को दान देने के अर्थ में **पडिलभमाणे** शब्द का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। **दलएज्जा** शब्द साधु और गृहस्थ—दोनों को देने के लिए प्रयुक्त होता है, परन्तु **पडिलभमाणे** केवल स्व-तीर्थी या पर-तीर्थी साधु के लिए ही प्रयुक्त होता है। अतः भ्रमविध्वंसनकार का आचारांग की साक्षी देना भी अनुचित है। इसी प्रकार भ्रमविध्वंसनकार ने सूत्रकृतांगसूत्र २, उ. ५ गाथा ३२ में गृहस्थ को दान देने के अर्थ में **पडिलभमाणे** शब्द का जो प्रयोग बताया है, वह भी गलत है। हम आगे चलकर बताएंगे कि सूत्रकृतांगसूत्र में **पडिलभमाणे** शब्द गृहस्थ को दान देने के अर्थ में नहीं आया है। अतः भगवती, शतक ८, उद्देशा ६, के पाठ का नाम लेकर अनुकम्पादान का निषेध करना आगमसम्मत नहीं है।

धर्म और अधर्मदान

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६६ पर सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. २, अ. ६, गाथा ४३ से ४५ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे आर्द्र मुनि ने ब्राह्मणां कह्यो जे पुरुष बे हजार ब्राह्मण नित्य जिमाड़े ते महापुण्य स्कन्ध उपार्जी देवता हुइ, एहवो हमारे वेदनो वचन छै। तिवारे आर्द्र मुनि बोल्या अहो ब्राह्मणो! जे मांस ना गृद्धी घर-घर ने छींके मार्जारनी परे भ्रमण करणार एहवा बे हजार कुपात्र ब्राह्मणां ने जीमाड़े ते जीमाड़नहार पुरुष ते ब्राह्मणां सहित बहु वेदना छै जेहने एहवी महा असह्य वेदनायुक्त नरक नें विषे जाइ।'

आर्द्रकुमार मुनि ने हिंसक, मांसाहारी और वैडालव्रतिक ब्राह्मणों को पूज्यबुद्धि से भोजन कराने से नरक जाना कहा, परन्तु दीन-दुःखी प्राणियों पर अनुकम्पा करके दान देने से एकान्त पाप या नरक जाना नहीं कहा है। अतः आर्द्र मुनि का नाम लेकर अनुकम्पादान का खण्डन करना उक्त गाथाओं के यथार्थ अर्थ को नहीं समझने का परिणाम है।

सिणायगा णं तु दुवे सहस्से जे भोयए णियए माहणाणं।
ते पुण्ण-खन्धे सुमहज्जणित्ता भवन्ति देवा इति वेयवाओ।।
सिणायगा णं तु दुवे सहस्सं जे भोयए णियए कुलालयाणं।
से गच्छइ लोलुव संप्पगाढे, तीव्वाभितावी नरगाभिसेवी।।
दयावरं धम्म दुगंच्छमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा।
एगं वि जे भोययइ असीलं णिवोणिसंजाति कुओ सुरेहिं।।

—सूत्रकृतांग सूत्र, २, ६, ४३-४५

पशु-याग के समर्थक क्रियाकाण्डी ब्राह्मण आर्द्रकुमार मुनि के निकट आकर कहने लगे—'हे आर्द्रकुमार! तुमने गोशालक और बौद्ध मत को स्वीकार नहीं किया, यह अच्छा किया। क्योंकि दोनों मत वेद-बाह्य होने से अमान्य हैं। और यह आर्हत् मत भी वेद-बाह्य होने से निन्दित ही है। इसलिए आप जैसे क्षत्रिय शिरोमणि के लिए इसका आश्रय लेना उपयुक्त नहीं है। आप वर्णों में श्रेष्ठ

ब्राह्मण वर्ण की सेवा करें, शूद्रों की नहीं। वेद में कहा है कि यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मों में तत्पर रहने वाले दो हजार ब्राह्मणों को जो प्रतिदिन भोजन कराता है, वह पुण्य-समूह का उपार्जन करके स्वर्गलोक में देवता होता है।

इसका उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार मुनि ने कहा—'हे ब्राह्मणो! जो मांस की तलाश में बिडाल की तरह घर-घर फिरते हैं, जो अपनी उदरपूर्ति के लिए क्षत्रिय आदि के घरों में नीचवृत्ति करते हैं, ऐसे दो हजार ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराने वाला पुरुष उन मांसाहारी ब्राह्मणों के साथ तीव्र वेदनायुक्त नरक में जाता है।'

'जो दयाप्रधान धर्म की निंदा करता हुआ हिंसामय धर्म की प्रशंसा करता है, ऐसे एक ब्राह्मण को भोजन कराने से भी घोर अन्धकार से पूर्ण नरक की प्राप्ति होती है, फिर ऐसे दो हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने से तो कहना ही क्या? पूर्वोक्त कुशील ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला व्यक्ति जब अधम देवता भी नहीं बनता, तब उत्तम देव बनने का तो प्रश्न ही कहाँ उठता है?' यह उक्त गाथाओं का टीकानुसार अर्थ है।

प्रस्तुत गाथाओं में दया-धर्म के निन्दक और हिंसायुक्त धर्म के प्रशंसक मांसलोलुप निम्नवृत्ति वाले ब्राह्मणों को पुण्य-बुद्धि से भोजन कराने से नरक में जाना कहा है। दीन-दुःखी जीवों पर दया भाव से अनुकम्पादान देने से नहीं। इन गाथाओं में अनुकम्पादान का कोई प्रसंग नहीं है। यहाँ तो ब्राह्मणों ने जैन धर्म की निन्दा करके ब्राह्मणों को भोजन कराने से स्वर्ग जाना कहा था, उसका उत्तर देते हुए आर्द्र मुनि ने हिंसक ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक जाना कहा है। इससे न तो अनुकम्पादान का खण्डन होता है और न दया-[illegible], [illegible], ब्रह्मचारी ब्राह्मण को भोजन कराने से पाप होना सिद्ध होता है। अतः आर्द्र मुनि का नाम लेकर अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप कहना [illegible]
[illegible]

ये बकव्रतिनो विप्राः ये च मार्जार लिङ्गिनः।
ते पतंत्यन्धतामिस्त्रे तेन पापेन कर्मणा।।
न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे ना वेद विदि धर्मवित्।।
त्रिष्वप्येतेषुदत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च।।
यथा प्लवे नौपलेन निमज्जात्युदके तरन्।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञो दातृ प्रतीच्छकौ।।

—मनुस्मृति, अ. ४, श्लोक ९५ से १००

जो धर्मात्माओं का चिह्न धारण करके अपने को धार्मिक प्रसिद्ध करता है और छिपकर पापाचरण करता है, वह धर्मध्वजी कहलाता है। जो ब्राह्मण धर्मध्वजी है, जो सदा दूसरे के धन को हरण करने की ताक में लगा रहता है, जो छली, कपटी, लोकवंचक और हिंसक है, जो सब की निंदा करता है, उसे 'वैडालव्रतिक' कहते हैं।

जो अपनी बनावटी नम्रता को प्रकट करने के लिए नीची दृष्टि रखता है, परन्तु निष्ठुरतापूर्वक दूसरे के स्वार्थ को बिगाड़कर अपना स्वार्थ साधता है, जो शठ है और कपटयुक्त नम्रता धारण करता है, वह बकव्रतिक कहलाता है।

बकव्रतिक और वैडालव्रतिक ब्राह्मण अपने पापकर्म का फल भोगने के लिए अन्धतामिस्त्र संज्ञक नरक में जाते हैं।

बकव्रतिक और वैडालव्रतिक ब्राह्मणों को जल देना भी धार्मिक व्यक्तियों का कर्तव्य नहीं है। जो वेद नहीं जानता, उसे दान देना भी धार्मिक मनुष्यों के लिए योग्य नहीं है।

बकव्रतिक और वैडालव्रतिक ब्राह्मण को दिया हुआ न्यायवृत्ति से उपार्जित धन भी परलोक में दाता और गृहीता दोनों के लिए अनर्थकारी होता है।

जैसे पत्थर की नाव पर आरूढ़ मनुष्य नाव के साथ ही डूब जाता है, उसी तरह दान और प्रतिग्रह की विधि को नहीं जानने वाला दाता और गृहीता दोनों ही नरक में जाते हैं।

मनु ने मनुस्मृति में भी दयारहित, हिंसक, वैडालव्रतिक और बकव्रतिक ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक में जाना कहा है और इन्हीं ब्राह्मणों के भोजन कराने से आर्द्र मुनि ने भी नरक योनि बताई है। इसलिए आर्द्रकुमार मुनि का नाम लेकर अनुकम्पादान देने और ब्राह्मण मात्र को भोजन कराने से नरक प्राप्ति बतलाना सर्वथा आगम-विरुद्ध है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६८ पर लिखते हैं—'अथ इहां भृगु ने पुत्रां कह्यो—वेद भण्या त्राण न होवे। ब्राह्मण जिमायां तमतमा जाय। तमतमा ते अंधारा में अंधारा ते छठी नरक में जाय। इम कह्यो, जो विप्र जिमायां पुण्य हुवे तो नरक क्यूं कही?'

भृगु पुरोहित के पुत्रों का नाम लेकर अनुकम्पादान में पाप बताना भ्रमपूर्ण कथन है। भृगु के पुत्रों ने अनुकम्पादान देने में पाप नहीं कहा, किन्तु यज्ञ-याग आदि करके पूज्य-बुद्धि से भोजन कराने और पुत्रोत्पादन करने से जो लोग दुर्गति मार्ग का निरोध होना मानते हैं, उनके मन्तव्यों को मिथ्या बतलाया है। यदि कोई यह कहे कि अनुकम्पा भाव से असंयति को दान देने से पुण्य होता, तो उत्तराध्ययन, अ. १४, गाथा १२ में भृगु के पुत्रों ने ब्राह्मण को भोजन कराने से तमतमा नरक में जाना क्यों कहा? इसका उत्तर स्पष्ट है कि आगम में असंयति को अनुकम्पा-बुद्धि से दान देने से तमतमा नरक में जाना नहीं कहा है। उत्तराध्ययन की उक्त गाथा का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

ते हि भोजिताः कुमार्ग प्ररूपण पशुवधादावेव कर्मोपचय निबन्धनेऽसद् व्यापारे प्रवर्तन्ते इत्यसत् प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरक गति हेतुत्वमेव।

—उत्तराध्ययन, १४, १२ टीका

हिंसामय धर्म की प्रशंसा और दयामय धर्म की निन्दा करने वाले ब्राह्मण कुमार्ग-प्ररूपणा और कर्म को बढ़ाने वाले पशुवध आदि असद् व्यापार में ही प्रवृत्त होते हैं। अतः असद् व्यापार में प्रवृत्ति होने के कारण, उनको भोजन कराना नरक प्राप्ति का हेतु कहा है।

यहाँ टीकाकार ने उन ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक जाना कहा है, जो असद् व्यापार में प्रवृत्त हैं। परन्तु पशुवध आदि असद् कार्यों का समर्थन नहीं करने वाले दयालु ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक जाना नहीं कहा। अतः भृगु-पुत्र गाथा में ब्राह्मण को भोजन कराने से तमतमा में जाना कहा है, वह अनुकम्पा भाव से भोजन कराने से नहीं, प्रत्युत धर्मबुद्धि से हिंसक ब्राह्मणों को भोजन कराने से नरक जाना कहा है। अतः भृगु के पुत्रों का नाम लेकर अनुकम्पादान का निषेध करना मिथ्या है।

दान और साधु-भाषा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ७३ पर सूत्रकृतांगसूत्र २, अ ५, गाथा ३३ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां पिण इम कह्यो—दान लेवे-देवे इसो वर्तमान देखी गुण-दोष न कहे। ए तो प्रत्यक्ष पाठ कह्यो जे देवे-लेवे, ते वेलां पाप-पुण्य नहीं 'दक्खिणाए' कहितां दान नां 'पडिलंभ' कहतां आगला ने देवो ते प्राप्ति एतले दान देवे ते दान नी आगला ने प्राप्ति हुवे ते वेलां पुण्य-पाप कहिणो वर्ज्यो। पिण और वेलां वर्ज्यो नहीं।' इनके कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय दाता अनुकम्पा लाकर किसी दीन-हीन को दान दे रहा है और वह दीन-हीन ले रहा है, उस समय साधु को उस दान में एकान्त पाप नहीं कहना चाहिए। परन्तु दूसरे समय में अनुकम्पादान का फल एकान्त पाप कहकर उसका निषेध कर देना चाहिए।

सूत्रकृतांगसूत्र की वह गाथा और उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

दक्खिणाए पडिलंभो अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी सन्तिमग्गं च बूहए।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, ५, ३३

दानं दक्षिणा तस्याः प्रतिलम्भः प्राप्तिः स दान लाभोऽस्माद् गृहस्थादेः सकाशादस्ति-नास्ति वा इत्येवं न व्यागृणीयात्, मेधावी मर्य्यादाव्यवस्थितः। यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं ग्रहणं वा प्रति यो लाभः स एकान्ते नास्ति संभवति नास्तीत्येवं न ब्रूयादेकान्तेन, तद्दानग्रहणनिषेधे दोषोत्पत्ति संभवात्। तथाहि तद्दाननिषेधेऽन्तराय संभवस्तद्वैचित्यं च तद्दानुमत्तावप्याधिकरणोद्भवः इत्यतोऽस्ति दानं नास्तित्येवमेकान्तेन न ब्रूयात् कथं तर्हि ब्रूयादिति दर्शयति-शान्तिः मोक्षः तस्य मार्गः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मकस्तमुपबृंहयेद्। यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति पृष्टः

केनचिद्देव विधि-प्रतिषेधमन्तरेण प्रतिग्राहक विषयं निरवद्यमेव द्रव्यादिलोकमादिक मन्यदपि विविध धर्म देशनावसरे वाच्यम्। तथाचोक्तम्—

सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो ण जाणइ विसेसं

साधु-मर्यादा में स्थित मुनि को यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक गृहस्थ से दान की प्राप्ति होगी या नहीं होगी। दान-लाभ के विषय में स्व-यूथिक या पर-यूथिक साधु के पूछने पर मुनि को यह नहीं कहना चाहिए कि आज तुम को भिक्षा मिलेगी या नहीं मिलेगी। यदि ऐसा कहे कि 'तुम को आज भिक्षा नहीं मिलेगी', तो अन्तराय होना संभव है और भिक्षार्थी के मन में भी दु:ख उत्पन्न होगा। और 'आज तुमको भिक्षा मिलेगी' ऐसा कहने पर पूछने वाले साधु को हर्ष की उत्पत्ति होने से अधिकरणादि दोष उत्पन्न होंगे। इसलिए स्व-यूथिक और पर-यूथिक के पूछने पर भिक्षा-लाभ के सम्बन्ध में साधु को एकान्त रूप से कुछ भी नहीं कहना चाहिए। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग की उन्नति हो, वैसी बात भाषा-समिति के द्वारा कहनी चाहिए। इसी प्रकार धर्मोपदेश करते समय भी साधु को निरवद्य भाषा बोलनी चाहिए।' जैसे कहा भी है कि 'जिस साधु को सावद्य और निरवद्य भाषा का ज्ञान नहीं है, वह धर्मोपदेश क्या देगा?

अतः इस गाथा की साक्षी देकर भ्रमविध्वंसनकार ने गृहस्थ के दान-लाभ के अर्थ में 'पडिलंभ' शब्द का जो प्रयुक्त होना बताया था, वह भी गलत है। उन्होंने इस गाथा का जो टब्बा अर्थ दिया है, वह भी मूल पाठ एवं टीका से विरुद्ध होने के कारण अशुद्ध एवं अप्रामाणिक है। अतः उसका आश्रय लेकर अनुकम्पादान का खण्डन करना आगमसम्मत नहीं है।

नन्दन मनिहार

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ७४ पर ज्ञातासूत्र, अध्ययन १३ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—जे नन्दन मणिहारो दानशालादिक नो घणो आरंभ करी मरने डेडको थयो। जो सावद्य दान थी पुण्य हुवे तो दानशालादिक थी घणा असंयति जीवां रे साता उपजाई ते साता रो फल किहां गयो।' इनके कहने का भाव यह है कि नन्दन मनिहार ने अनुकम्पादान देकर अनेक दीन-दुःखी जीवों को सुख दिया था, जिससे वह मरकर मेंढक योनि में उत्पन्न हुआ। यदि अनुकम्पादान देने में पुण्य होता, तो वह मरकर मेंढक क्यों बनता? अतः अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप है।

नन्दन मनिहार का उदाहरण देकर अनुकम्पादान में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम के अर्थ को यथार्थ रूप से नहीं जानने का परिणाम है। ज्ञातासूत्र में स्पष्ट लिखा है कि नन्दन मनिहार नन्दा नामक पुष्करणी में अति आसक्त होने के कारण मरकर उसी पुष्करणी में मेंढक योनि में उत्पन्न हुआ, न कि दीन-हीन जीवों को अनुकम्पादान देने से।

तएणं से णंदे तेहिं सोलसेहिं रोगायंकेहिं अभिभूए समाणे णंदा पोक्खरिणीए मुच्छिए, तिरिक्ख जोणिएहिं निबद्धाउए बद्धपएसिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे कालं किच्चा णंदाए पोक्खरिणीए दद्दुरीए कुच्छिंसि दद्दुरत्ताए उववन्ने।

—ज्ञातासूत्र, अध्ययन १३

इसके अनन्तर वह नन्दन मणिहार सोलह रोगों से पीड़ित होकर नन्दा नामक पुष्करणी में आसक्त होने के कारण तिर्यञ्च योनि की आयु बाँधकर अति आर्त-ध्यान के वशीभूत होकर काल के अवसर में मृत्यु को प्राप्त कर के नन्दा पुष्करणी में मेंढक योनि में उत्पन्न हुआ।

दया लाकर उनको अनुकम्पादान देने से नहीं। अतः नन्दन मनिहार का नाम लेकर अनुकम्पादान में एकान्त पाप बताना नितान्त मिथ्या है।

कुछ लोग यह तर्क करते हैं कि यदि अनुकम्पादान देने में पुण्य होता है, तो नन्दन मनिहार मरकर मेढक क्यों हुआ। क्योंकि उसने अनुकम्पादान भी दिया था। उसको अनुकम्पा-दान का क्या फल मिला? ऐसा तर्क देने वालों से पूछना चाहिए कि 'नन्दन मनिहार ने श्रावक के द्वादश व्रत भी धारण किये थे', उसे उनका क्या फल मिला? यदि वे ऐसा कहें कि नन्दन मनिहार को द्वादश व्रत स्वीकार करने का अच्छा ही फल मिला होगा, परन्तु मूल पाठ में उसका कथन नहीं है। यही उत्तर अनुकम्पादान के प्रश्न का है। नन्दन मनिहार को अनुकम्पादान का अच्छा फल मिला होगा, परन्तु मूल पाठ में उसका उल्लेख नहीं किया। प्रस्तुत पाठ में तो नन्दन मनिहार के जीवन का वर्णन करके यह उपदेश दिया है कि भव्य जीवों को सांसारिक पदार्थों में आसक्त नहीं होना चाहिए और भूलकर भी कुसंगति में नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि नन्दन मनिहार कुसंगत के कारण ही बारह व्रत से भ्रष्ट होकर मिथ्यात्वी बन गया और नन्दा पुष्करणी में आसक्त होकर उसी में मेढक बना। यह उसके जीवनवर्णन का सार है। अतः उसका उदाहरण देकर अनुकम्पादान में एकान्त पाप कहना भूल है।

कई व्यक्ति यह कहते हैं कि नन्दन मनिहार जब तक सम्यग्दृष्टि था, तब तक उसने दानशालादि परोपकार का कार्य नहीं किया किन्तु मिथ्यात्वी होने के बाद उसने दानशालादि परोपकार का कार्य किया। अतः अनुकम्पादानादि परोपकारजन्य कार्य सम्यक्त्वी नहीं, मिथ्यात्वी करते हैं। परन्तु यह कथन नितान्त असत्य है। क्योंकि प्रदेशी राजा जब तक मिथ्यात्वी था, तब तक दानशालादि परोपकारजन्य कार्य नहीं करता था, किन्तु दीन-हीन जीवों की जीविका का उच्छेद करता था। परन्तु केशी श्रमण के प्रतिबोध से जब वह बारहव्रती श्रावक बना, तब से वह दानशाला बनाकर दीन-हीन जीवों को दान देने लगा। अतः अनुकम्पादान देना मिथ्यात्वी का ही कार्य नहीं, सम्यक्त्वी का भी कार्य है। अनुकम्पादानादि परोपकार के कार्य से जनता को विमुख करने का प्रयत्न करना साम्प्रदायिक अभिनिवेश मात्र है।

दान के भेद

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ७६ पर स्थानांगसूत्र, स्थान १० का मूल पाठ लिखकर, उसमें कथित दस दानों में से एक धर्मदान को छोड़कर शेष नौ दानों को अधर्मदान में सिद्ध करते हुए लिखते हैं—

'असंयति ने असूझता अशनादिक दीधां एकान्त पाप भगवती श. ८, उ. ६ कह्यो। ते माटे ए नव दानों में धर्म-पुण्य मिश्र नहीं छै। कोई कहे एक धर्मदान, एक अधर्मदान, बीजा आठों में मिश्र छै। केई एकलो पुण्य छै इम कहे, एहनो उत्तर—जो वेश्यादिक नो दान अधर्म में थापे विषय रो दोष बताय ने। तो बीजा आठ किण विषय में इल छै।'

धर्मदान के अतिरिक्त शेष नौ दानों की अधर्मदान में गणना करना आगम-विरुद्ध है। आगमकार ने दस ही दानों को परस्पर विलक्षण और एक दूसरे में समाविष्ट होना नहीं बताया है। यदि धर्मदान को छोड़कर शेष नौ ही दान अधर्मदान के भेद होते, तो आगमकार—**दुविहे दाणे पण्णत्ते तं जहा—धम्मदाणे चेव अहम्मदाणे चेव** यह लिखकर, अनुकम्पा आदि दानों को अधर्मदान में समाविष्ट कर देते। परन्तु ऐसा न करके आगम में दान के दस भेद बतलाए हैं, इससे अनुकम्पा आदि दानों का अधर्मदान से भिन्न होना स्पष्ट सिद्ध होता है। दूसरी बात यह है कि उक्त दस दानों के गुणानुसार नाम रखे गए हैं। जिस दान का फल 'अनुकम्पा' है उसका 'अनुकम्पा' और जिसका फल सहायता—दीन-दुःखी को सहायता देना है, उसका 'संग्रह' नाम रखा है। इसी तरह शेष आठ दानों के नाम भी गुण के अनुसार रखे हैं। [illegible] भी इस बात को स्वीकार करते हुए अपने एक पद्य में लिखा है—

विरुद्ध कथन है। जब उक्त दानों के गुण-निष्पन्न नाम हैं, तब अनुकम्पादान का गुण अनुकम्पा कहना होगा, अधर्म नहीं। क्योंकि अनुकम्पा अधर्म में नहीं है, अतः अनुकम्पादान भी अधर्मदान में नहीं हो सकता। इसी तरह संग्रह-दान का फल संग्रह—दीन-दुःखी को सहायता देना, करुणादान का फल करुणा, लज्जादान का फल लज्जा आदि है। दीन-दुःखी को सहायता देना आदि अधर्म में नहीं है, अतः संग्रह आदि दान भी अधर्म में नहीं हो सकते।

जो व्यक्ति एक धर्मदान को छोड़कर शेष नौ दानों को अधर्म गिनते हैं, उनसे पूछना चाहिए, 'जो दान भाव-भक्तिपूर्वक प्रत्युपकार की आशा के बिना पंचमहाव्रतधारी साधु को दिया जाता है, वही मुख्य रूप से एकान्त धर्मदान है। परन्तु जो व्यक्ति लज्जावश या अनुकम्पा करके साधु को दान देता है, वह दानदाता के परिणामानुसार मुख्य रूप से लज्जा और अनुकम्पा-दान है। यह दान धर्मदान से कथंचित् भिन्न भी है, क्योंकि उक्त दानों में दाता के परिणामों में लज्जा और अनुकम्पा भी है। अतः आपके मत से उक्त दानों का फल अधर्म ही होना चाहिए?' यदि यह कहें कि 'साधु को किसी भी परिणाम से दान दें, वह धर्मदान ही है', तो नागश्री ब्राह्मण ने मुनि को मारने के परिणाम से कड़ुए तुम्बे का शाक दिया और साहूकार की पत्नी ने अरणकमुनि के साथ विषय-भोग भोगने की इच्छा से मुनि को मोदक-दान दिया, अतः इसका फल अधर्म नहीं होना चाहिए? यदि यहाँ यह कहें कि नागश्री ने मुनि को मारने के परिणाम से और साहूकार की पत्नी ने मुनि को पथ-भ्रष्ट करने की भावना से दान दिया था, अतः वे दान उनके अधार्मिक परिणामों के अनुसार अधर्मदान में हैं, धर्मदान में नहीं। इसी तरह यह समझना चाहिए कि जो दान लज्जा एवं अनुकम्पा करके मुनि को दिया जाता है, वह दाता के परिणामों के अनुसार लज्जा एवं अनुकम्पादान ही है। आपकी मान्यता के अनुसार इनमें एकान्त पाप होना चाहिए, परन्तु यह आगमसम्मत नहीं है। उक्त दानों में दाता के परिणामानुसार धर्म ही होता है। अतः धर्मदान के अतिरिक्त शेष नौ-दानों को अधर्मदान कहना भारी भूल है। स्थानांगसूत्र में बताया है कि साधु भी अनुकम्पादान देते हैं।

अणुकंपं पडुच्च तओ पडिणीया पण्णत्ता तं जहा—तवस्सि-पडिणीए, गिलाण-पडिणीए, सेह-पडिणीए।

—स्थानांगसूत्र [illegible]

तीन मनुष्य अनुकम्पा करने योग्य होते हैं—तपस्वी साधु, रोग आदि से ग्लान और नव-दीक्षित शिष्य। इनकी अनुकम्पा न करे और न करावे, तो वह वैरी-शत्रु समझा जाता है।

प्रस्तुत पाठ के अनुसार यदि कोई व्यक्ति रोग आदि से ग्लान, तपस्वी साधु और नव-दीक्षित शिष्य पर अनुकम्पा करके दान दे, तो वह दानदाता के परिणाम के अनुसार मुख्य रूप से अनुकम्पादान है। अतः जो व्यक्ति धर्मदान के अतिरिक्त शेष नौ दानों को अधर्मदान मानते हैं, उनके विचार से इस दान में भी अधर्म होना चाहिए।

उववाईसूत्र में लोकोपचार विनय के दो भेद बताए हैं—१. कार्य हेतु और २. कृत प्रतिक्रिया। यदि—'मैं गुरुजी को आहार-पानी देकर उन्हें प्रसन्न रखूंगा, तो वे मुझे शास्त्र की वाचना देने की कृपा करेंगे'—इस भाव से गुरु की सेवा-भक्ति एवं दान-सम्मान करना 'कार्य हेतु' विनय कहलाता है। यह विनय 'करिष्यतीति दान' के अन्तर्गत है। क्योंकि जो दान प्रत्युपकार की आशा से दिया जाता है, उसे 'करिष्यतीति दान' कहते हैं। साधु भी अपने गुरु को इस प्रकार का दान देकर लोकोपचार विनय करता है।

जो दान उपकारी पुरुष को उपकार के बदले में दिया जाता है, उसे 'कृतदान' कहते हैं। साधु भी गुरु के द्वारा किए गए उपकार के बदले में अपने गुरु को इस भाव से दान देकर 'कृत-प्रतिक्रिया' नामक विनय करता है। यह दान प्रत्युपकार के रूप में दिया जाता है, इसलिए धर्मदान से कथंचित् भिन्न है। अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से उक्त दोनों दानों में पाप होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त कई व्यक्ति मुनि को गर्वपूर्वक दान देते हैं। वह दान भी दाता के गर्वयुक्त परिणामों के अनुसार गर्वदान कहलाता है। भ्रमविध्वंसनकार की एकान्तिक मान्यता के अनुसार यह भी अधर्मदान होना चाहिए। परन्तु आगम की दृष्टि से उक्त प्ररूपणा सही नहीं है। क्योंकि लोकोपचार विनय करने के लिए अपने गुरु को 'करिष्यतीति और कृतदान' देने वाले मुनि और गर्व से मुनि को दान देने वाले गृहस्थ को पाप नहीं, पुण्य होता है। अतः धर्मदान के अतिरिक्त शेष नौ दानों को अधर्मदान कहना मिथ्या है।

धर्म और धर्म-स्थविर

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—'अथ ए दश धर्म दश स्थविर कह्या। पिण सावद्य-निरवद्य ओलखणा। अनें दान दश कह्या, ते पिण सावद्य-निरवद्य पिछाणणा। धर्म अने स्थविर कह्या छै, पिण लौकिक-लोकोत्तर दोनू छै। जिम जम्बूद्वीप-पन्नति में तीर्थ तीन कह्या—मागध, वरदाम, प्रभास पिण आदरवा जोग नहीं। तिम सावद्य धर्म, स्थविर, दान पिण आदरवा योग्य नहीं। सावद्य छांडवा योग छै।'

स्थानांगसूत्र का मूल पाठ एवं उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

दस-विहे धम्मे पण्णत्ते तं जहा—गाम धम्मे, नगर धम्मे, रट्ठ धम्मे, पासंड धम्मे, कुल धम्मे, संघ धम्मे, सुय धम्मे, चरित्त धम्मे, अत्थिकाय धम्मे।

—स्थानांगसूत्र, १०, १, ७६०

ग्रामाः जनपदाश्रयास्तेषां तेषु वा धर्मः सदाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्मः। स च प्रतिग्रामं भिन्न इति। अथवा ग्राम इन्द्रियग्राम रुढेस्तद्धर्मो विषयाभिलापः। नगरधर्मो नगराचारः सोऽपि प्रतिनगरं प्रायः भिन्न एव। राष्ट्रधर्मो देशाचारः। पाषण्ड धर्मः पाखण्डिनामाचारः। कुल धर्मः उग्रादिकुलाचारः। अथवा कुलं चान्द्रादिकं आर्हतानां गच्छ समूहात्मकं तस्य धर्मः समाचारी। गणधर्मो-मल्लादिगण व्यवस्था। जैनानां वा कुल समुदायो गणः कोटिकादिः तद्धर्मस्तत्समाचारी। संघधर्मो गोष्ठी समाचारी आर्हतानां वा गुण समुदायरूपश्चतुर्वर्णो वा संघस्तद्धर्मः तत् समाचारी। श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गति प्रपतज्जीव धारणाद्धर्मः श्रुतधर्मः। चयरिक्तकरणाच्चारित्रं तदेव धर्मश्चारित्र धर्मः। अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशिरस्तिकायः। स एव धर्मो गति-पर्याये जीव-पुद्गलयोर्धारणादस्तिकायधर्मः।

ग्रामस्थ जनता के सदाचार एवं सद्व्यवहार आदि की व्यवस्था का नाम ग्राम-धर्म है। यह भिन्न-भिन्न गाँवों में भिन्न-भिन्न होता है। ग्राम शब्द का इन्द्रिय अर्थ भी होता है। उसके धर्म-विषयाभिलाषा को भी ग्रामधर्म कहते हैं।[1] नगर में स्थित जनता के आचार-व्यवहार का नाम नगरधर्म है। देश-विदेश के आचार-व्यवहार की व्यवस्था को राष्ट्रधर्म कहते हैं। पाषण्डी प्रतिष्ठित व्यक्तियों के आचार-व्यवहार की व्यवस्था का नाम पाषण्डधर्म है। उग्र आदि कुलों के आचार-व्यवहार की व्यवस्था को कुलधर्म कहते हैं। अथवा जैनों के चन्द्रादि गच्छ का नाम भी कुल है, अतः उसकी समाचारी को भी कुलधर्म कहते हैं। मल्ल युद्ध आदि से अपनी जीविका चलाने वाले व्यक्तियों के आचार-व्यवहार की व्यवस्था का नाम गणधर्म है, अथवा जैनों का कुल, समुदाय, कोटिकादि का नाम गण है, अतः उसकी समाचारी को गणधर्म कहते हैं। सभा आदि के नियमोपनियमों को संघधर्म कहते हैं। जैन साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओं के समूह का नाम संघ है, अतः उसके धर्म को भी संघधर्म कहते हैं। दुर्गति में गिरते हुए जीवों को बचाने वाले आचारांग आदि द्वादश अंगों का नाम श्रुतधर्म है। कर्म समूह का विनाश करने वाले धर्म को चारित्रधर्म कहते हैं। अस्ति नाम प्रदेशों का है, उनकी राशि को अस्तिकायधर्म कहते हैं, यह जीवों को गति और पर्याय में धारण करता है, इसलिए इसे धर्म कहते हैं। इसी तरह पंचास्तिकाय का धर्म समझना चाहिए।

[illegible]

[illegible]

---

1. [illegible]

[illegible]

हटाकर सुमार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं। इन के अभाव में नगर एवं राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं रह सकता। अतः जिन धर्मों के द्वारा चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि एकान्त पाप के कार्य रोक दिए जाते हैं, वह धर्म एकान्त पाप का कार्य कैसे हो सकता है? इस सम्बन्ध में प्रबुद्ध-पुरुषों को स्वयं सोचना चाहिए।

यदि कोई यह कहे—'ये ग्रामधर्म आदि जनता के लिए हितकारक अवश्य हैं, परन्तु मोक्ष के सहायक नहीं हैं, इसलिए लोकोत्तर नहीं, लौकिक धर्म हैं। और लोकोत्तर धर्म से भिन्न सभी धर्म एकान्त पाप रूप हैं।' यह कथन नितान्त असत्य है। ग्राम आदि धर्म मोक्ष-मार्ग में भी सहायक हैं। क्योंकि श्रुत और चारित्रधर्म का परिपालन करने से मोक्ष होता है और उक्त धर्म का आराधक पुरुष ग्राम, नगर एवं राष्ट्र में ही रहता है। यदि ग्राम, नगर और राष्ट्र में ग्रामधर्म, नगरधर्म एवं राष्ट्रधर्म का सम्यक्तया पालन होता है, तभी वे अपने श्रुत और चारित्रधर्म का सम्यक्तया आराधन एवं परिपालन कर सकते हैं। परन्तु जहाँ उक्त धर्मों का पालन न होकर, चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि दुष्कर्मों का साम्राज्य फैला हुआ हो, वहाँ चारित्रनिष्ठ पुरुष श्रुत और चारित्रधर्म का आचरण नहीं कर सकता। अतः श्रुत और चारित्रधर्म के परिपालन के लिए स्थानांगसूत्र में पाँच सहायक बताए हैं।

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—छः काए, गणे, राया, गिहपती, सरीरं।

—स्थानांगसूत्र, ५. २, ४४७

श्रुत और चारित्रधर्म के परिपालक पुरुष के पाँच सहायक होते हैं—१. छः काया, २. गण, ३. राजा, ४. गृहपति और ५. शरीर।

यहाँ छःकाय आदि के समान राजा को भी श्रुत और चारित्रधर्म के पालन में सहायक माना है। यदि योग्य राजा—शास्ता न हो तो राष्ट्र में शान्ति एवं सुव्यवस्था नहीं रह सकती और शान्ति एवं सुव्यवस्था के अभाव में श्रुत और चारित्रधर्म का आराधन नहीं हो सकता। इसलिए आगम में श्रुत और चारित्रधर्म की साधना में राजा—शास्ता को भी सहायक माना है। राजा की तरह ही ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी ग्राम आदि की सुव्यवस्था बनाए रखते हैं, इसलिए ये धर्म भी श्रुत और चारित्रधर्म के पालन में सहायक होते हैं। अतः ये लौकिक धर्म होने पर भी परंपरा से मोक्ष-मार्ग में सहायक होते हैं। इन्हें एकान्त पाप में कहना अनुचित है।

पाषण्डधर्म भी एकान्त पाप में नहीं है, क्योंकि पाषण्ड का अर्थ व्रत होता है और व्रतधारियों के धर्म को पाषण्डधर्म कहते हैं। इसलिए यह धर्म एकान्त पापरूप नहीं है। पर-पाषण्डी के धर्म में भी अनेक अच्छे गुण होते हैं, जिन्हें

प्रस्तुत पाठ और उसकी टीका में ग्रामधर्म आदि दस प्रकार के धर्म की व्यवस्था करने वाले दस स्थविरों का वर्णन किया गया है। ये दसों स्थविर जनता को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं, इसलिए ये सब अपने-अपने कार्यक्षेत्र में अच्छे हैं। कोई भी एकान्त पापी नहीं है। जिस ग्राम, नगर या राष्ट्र में स्थविर नहीं होते, तो वहाँ की व्यवस्था सुव्यवस्थित नहीं रह पाती और सुव्यवस्था के अभाव में वहाँ की जनता भी सन्मार्ग में गतिशील नहीं हो सकती। परन्तु ये स्थविर ग्रामधर्म, नगरधर्म एवं राष्ट्रधर्म आदि का निर्माण करके ग्राम, नगर एवं राष्ट्र में चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि दुष्प्रवृत्तियों को रोककर, लोगों को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं। अतः दुष्कर्मों को रोकने वाले इन स्थविरों को एकान्त पाप करने वाला कहना सर्वथा अनुचित है।

यदि यह कहें कि 'ये स्थविर मोक्षमार्ग में सहायक नहीं हैं, क्योंकि लोकोत्तर स्थविर को छोड़कर शेष सब स्थविर सांसारिक कार्यों की व्यवस्था करते हैं और सभी सांसारिक कार्य बुरे होते हैं, इसलिए उनके स्थविर भी एकान्त पाप करने वाले हैं।' परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि लौकिक स्थविर जनता की दुष्प्रवृत्ति को रोककर, उसे सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करते हैं और ग्राम, नगर एवं राष्ट्र में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित कर के श्रुत और चारित्रधर्म के पालन में सहायक बनते हैं।

पूर्वोक्त दस धर्म एवं दस स्थविर अपने-अपने कार्यक्षेत्र में सब अच्छे हैं, कोई भी बुरा नहीं है। इसी तरह दस प्रकार के दानों में भी अधर्मदान को छोड़कर शेष अनुकम्पा आदि नौ दान एकान्त पापमय नहीं हैं। किन्तु अनुकम्पादान का फल अनुकम्पा, संग्रहदान का फल दीन-दुःखी को सहायता देना एवं भयदान आदि दानों का उन के नामों के अनुरूप फल है। अतः अधर्मदान के अतिरिक्त शेष नौ दान एकान्त पाप में नहीं हैं।

परन्तु वह वन्दनीय एवं प्रशंसनीय पुरुष गुणसम्पन्न होना चाहिए। टीकाकार ने भी इस विषय में यही लिखा है—

मनसा गुणिषु तोषाद्वाचा प्रशंसनात्कायेन पर्य्युपासनान्नमस्काराच्च यत् पुण्यन्तन्मनः पुण्यादीनि।

गुणवान पुरुषों को देखकर मन में प्रसन्नता लाने, वचन से उनकी प्रशंसा करने और शरीर से उनकी सेवा-शुश्रूषा करने तथा उनको नमस्कार करने से जो पुण्य होता है, उसे क्रमशः मनपुण्य, वचनपुण्य, कायपुण्य और नमस्कारपुण्य कहते हैं।

यहाँ टीकाकार ने गुणवान को देखकर मन में प्रसन्नता लाने, उसकी प्रशंसा आदि करने से पुण्य होना कहा है, केवल साधु को ही नमस्कार आदि करने से नहीं। अतः साधु से भिन्न सब व्यक्तियों को वन्दन-नमस्कार आदि करने से एकान्त पाप कहना सर्वथा मिथ्या है। जैसे साधु से भिन्न गुणवान पुरुष को वन्दन-नमस्कार करने एवं उसकी सेवा-शुश्रूषा आदि करने से पुण्य-बन्ध होता है, उसी तरह साधु से भिन्न दीन-हीन जीवों पर अनुकम्पा करके दान देने से भी पुण्य होता है।

यदि यह कहें कि 'उक्त टीका में जो 'गुणिषु' शब्द आया है, उसका अर्थ साधु है, क्योंकि साधु ही गुणवान होते हैं। इसलिए उक्त टीका में साधु को ही वन्दन-नमस्कार एवं सेवा-शुश्रूषा आदि करने से पुण्यबन्ध होना कहा है, अन्य को वन्दन-नमस्कार आदि करने से नहीं।' परन्तु ऐसा कहने वालों को यह सोचना चाहिए कि यदि टीकाकार को यही इष्ट होता तो वह 'गुणिषु' के स्थान पर 'साधुषु' का उल्लेख करते। परन्तु टीकाकार ने 'साधुषु' शब्द का प्रयोग न करके 'गुणिषु' शब्द का प्रयोग किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि सभी गुणनिष्ठ पुरुषों को ग्रहण करने का उनका अभिप्राय है, केवल साधु को ही नहीं। अतः यह कथन भी सत्य नहीं है कि केवल साधु ही गुणवान होते हैं। साधु के अतिरिक्त अन्य पुरुषों को भी गुणवान कहा है। स्थानांगसूत्र में संघ शब्द की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

संघः गुणरत्न-पात्रभूत-सत्त्व समूहः।

गुण रूपी रत्नों के पात्र भूत जीवों के समूह का नाम संघ है।

उक्त संघ में केवल साधु ही नहीं, श्रावक-श्राविका भी होते हैं। इसलिए साधु से भिन्न भी गुणवान होते हैं। उन सभी गुणवान पुरुषों का ग्रहण करने के लिए उक्त टीका में 'गुणिषु' शब्द का प्रयोग किया है। अतः उक्त टीका में प्रयुक्त 'गुणिषु' शब्द का साधु अर्थ बताना मिथ्या है।

पिता एवं श्रेष्ठ श्रावक आदि को वन्दन–नमस्कार करने में एकान्त पाप कहना भारी भूल है।

अनुकम्पादान के विरोधी व्यक्ति कहते हैं—'यदि साधु से इतर को दान देने से पुण्य होता है, तो कसाई को बकरा मारने के लिए, चोर को चोरी करने के लिए, वेश्या को वेश्यावृत्ति करने के लिए दान देने से भी पुण्य होना चाहिए।' परन्तु उनका यह कथन तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि चोर, जार, हिंसक एवं वेश्या को उक्त दुष्कर्म सेवन करने के लिए दिया जाने वाला दान अधर्मदान है। दाता इस दान को एकान्त पाप भाव से देता है। अतः इससे पुण्य नहीं, एकान्त पाप ही होता है। परन्तु जो दान दीन–हीन जीवों पर दया करके पुण्यार्थ दिया जाता है, उसी से पुण्य होता है। स्थानांगसूत्र के नवमें स्थान में उसी दान का उल्लेख किया है। अतः चोरी, हिंसा एवं व्यभिचार-सेवन के हेतु चोर, हिंसक और वेश्या को दिए जाने वाले दान के समान अनुकम्पादान को एकान्त पापमय बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु कहिवे १४ हजार ही आया। प्राणातिपातादिक पाप कहिवे १८ पाप आय मिथ्यात्व आदिक आश्रव कहिवे ५ आश्रव आया। तिम तीर्थंकर आदि पु प्रकृति कहिवे सब पुण्य नी प्रकृति आई। वली कोई पुण्य नी प्रकृति बाकी र नहीं।'

प्रस्तुत कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। भगवान ऋषभदेव सब तीर्थंकरों प्रथम हैं, गौतम स्वामी भगवान महावीर के १४ हजार शिष्यों में सर्वप्रथम ए प्रमुख शिष्य हैं, अठारह पापों में सर्वप्रथम प्राणातिपात है और पाँच आश्रवों सबसे पहला मिथ्यात्व आश्रव ही है। अतः ऋषभादि तीर्थंकर कहने से चौबी ही तीर्थंकरों का, गौतमादि साधु कहने से भगवान महावीर के १४ हज शिष्यों का, प्राणातिपातादि पाप कहने से अठारह ही पापों का औ मिथ्यात्वादि आश्रव कहने से पाँचों आश्रवों का ग्रहण होता है। परन्तु तीर्थंक आदि पुण्य प्रकृति कहने से सभी पुण्य प्रकृतियों का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थंकरनाम प्रकृति ४२ पुण्य प्रकृतियों में सबसे अन्त में है। जैसे स तीर्थंकरों के अन्त में होने के कारण महावीरादि तीर्थंकर कहने से चौबीस ह तीर्थंकर का ग्रहण नहीं हो सकता। उसी तरह सब पुण्य प्रकृतियों के अन्त में होने के कारण तीर्थंकरनामादि पुण्य प्रकृति कहने से ४२ पुण्य प्रकृतियों क ग्रहण नहीं हो सकता। स्थानांग टीका में दिए हुए क्रम से तीर्थंकर नाम की पुण्य प्रकृति सबसे अन्त में है।

सायं, उच्चागोयं, नर–तिरि–देवाउ नाम एयाउ।
मणुयदुगं देवदुगं पञ्चेन्दिय जाइ तणुपणगं।।
अंगोवंग तियंपिय संघयणं वज्जरिसह नारायं।
पढमं चिय संठाणं वन्नाइ चउक्क सुपसत्थं।।
अगुरुलहु पराघायं उस्सासं आयवं च उज्जोये।
सुपसत्था विहयगइ तसाइदसगं च णिम्माणं।।
तित्थयरेणं सहिया वायाला पुण्ण पगइओ।।

—स्थानांग टीका, स्थान १, पृष्ठ १५

प्रस्तुत गाथा में ४२ पुण्य प्रकृतियों का क्रमशः वर्णन करते हुए सब से पहले सातावेदनीय पुण्य प्रकृति का और सब से अन्त में तीर्थंकरनाम पुण्य प्रकृति का नाम आया है। अतः सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियाँ कहने से ४२ ही पुण्य प्रकृतियों का ग्रहण हो सकता है। परन्तु तीर्थंकरादि पुण्य प्रकृति कहने से ४२ ही प्रकृतियों का ग्रहण नहीं हो सकता। उक्त गाथाओं में पुण्य प्रकृतियों का जो क्रम दिया है, आचार्य भीखणजी ने भी अपनी 'नव सद्भाव

'अने भगवन्तां तो साधु ने कल्पे ते हिज द्रव्य कह्या छै। अनेरा ने दिया पुण्य हुवे तो गाय-भैंस पुण्णे, रूपौ पुण्णे, खेती पुण्णे, डोली पुण्णे, इत्यादि बोल आणता तेतो आण्या नहीं।'

भ्रमविध्वंसनकार की यह कल्पना अनुचित है। यदि स्थानांग के इस पाठ में साधु के कल्पने योग्य वस्तुओं का ही कथन है, तो फिर सुई पुण्णे, कतरनी पुण्णे, भस्म पुण्णे आदि पाठ भी होने चाहिए। क्योंकि साधु को सुई, कैंची, अचित्त मिट्टी के ढेले, भस्म आदि भी लेना कल्पता है और इनका दान करने से भी दाता को पुण्य ही होता है, पाप नहीं। तथापि इन सब वस्तुओं का इस पाठ में उल्लेख क्यों नहीं किया? इससे यह स्पष्ट होता है कि यह पाठ केवल साधु के लिए ही नहीं, सभी प्राणियों के लिए आया है। पुण्य के निमित्त दूसरे प्राणी को दान देने से भी पुण्य होता है, एकान्त पाप नहीं। अतः केवल साधु को देने से पुण्य मानकर साधु से इतर को दान देने में एकान्त पाप कहना भारी भूल है।

इस पाठ में जो नौ प्रकार से पुण्य होना कहा है, उसका यह अर्थ नहीं है कि इससे भिन्न वस्तु देने पर पुण्य नहीं होता। क्योंकि साधु को पडिहारी सूई, कैंची आदि देने से आपकी श्रद्धा के अनुसार भी पुण्य ही है। परन्तु उक्त पाठ में उनके देने से पुण्य नहीं कहा, फिर भी उनके दान से पुण्य ही होता है। उक्त पाठ में पुण्य के मुख्य कारणों का ही कथन है, गौण रूप पुण्य का नहीं। अतः अन्नादि से भिन्न वस्तुओं का दान धर्मानुकूल हो, तो एकान्त पाप में नहीं है। जैसे उक्त पाठ में नहीं लिखी हुई सूई, कैंची, भस्मी, अचित्त मिट्टी के ढेले, औषध आदि वस्तुएँ साधु को देने से पाप नहीं होता, उसी तरह साधु से इतर व्यक्ति को यदि धर्मानुकूल वस्तुएँ पुण्यार्थ दी जाएं, तो उससे भी एकान्त पाप नहीं होता। अतः 'अनेरा ने दिया पुण्य हुवे तो गाय पुण्णे' आदि भ्रमविध्वंसनकार का तर्क अनुपयुक्त एवं अनुचित समझना चाहिए।

इससे श्रावक पात्र सिद्ध होता है, अपात्र नहीं। स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान में उल्लिखित संघ का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

संघः गुण–रत्नपात्रभूत–सत्व समूहः।

गुणरूप रत्न के पात्र–भूत प्राणियों के समूह का नाम संघ है।

संघ में साधु–साध्वी के समान श्रावक–श्राविका भी लिए गए हैं। इसलिए वे भी गुणरूप रत्न के पात्र होने के कारण सुपात्र ही ठहरते हैं, कुपात्र नहीं। अतः साधु से भिन्न सब को कुपात्र कहना नितान्त असत्य है।

जब साधु से भिन्न सभी कुपात्र नहीं हैं, तब उन्हें दान देने से एकान्त पाप कैसे होगा? वस्तुतः साधु विशिष्ट पात्र हैं, अतः उनको दान देने से विशिष्ट पुण्य का बन्ध होता है और दूसरे लोग साधु की अपेक्षा सामान्य पात्र हैं, अतः उन्हें दान देने से सामान्य पुण्यबन्ध होता है। परन्तु साधु से भिन्न व्यक्ति को धर्मानुकूल वस्तु का दान देने से एकान्त पाप हो, यह आगम-विरुद्ध है।

एक कामी व्यक्ति वासना की पूर्ति के लिए वेश्या को दान देता है और दूसरा विनीत पुत्र माता–पिता की सेवा के लिए दान देता है। भ्रमविध्वंसनकार के मत से दोनों कुपात्र को दान देते हैं, अतः दोनों एक समान एकान्त पाप का कार्य करते हैं। यह भ्रमविध्वंसनकार की स्व–कपोलकल्पना मात्र है, परन्तु आगम में ऐसा नहीं कहा है। उववाईसूत्र में माता–पिता की सेवा करने वाले पुत्र को स्वर्ग में जाना कहा है। यदि माता–पिता को दान देना, उनकी सेवा–भक्ति करना कुपात्रदान एवं व्यसन–कुशीलादि की तरह एकान्त पापमय होता, तो आगमकार माता–पिता की सेवा करने वाले पुत्र का स्वर्ग में जाना कैसे कहते? क्योंकि स्वर्ग की प्राप्ति पुण्य से होती है, पाप से नहीं। अतः साधु से भिन्न सब को कुपात्र कहना अनुचित है।

प्रदेशी राजा ने बारह व्रत स्वीकार करने के पश्चात् दानशाला खोलकर बहुत–से दीन–दुःखी प्राणियों को अनुकम्पादान दिया था, परन्तु आगमकार ने उनके दान की निन्दा नहीं की है। यदि साधु से इतर को दान देना मांसाहार और व्यसन–कुशीलादि की तरह एकान्त पाप का कार्य होता, तो आगमकार प्रदेशी राजा के दान की अवश्य ही निन्दा करते और राजा भी बारह व्रत धारण करके एकान्त पाप का एक नवीन कार्य क्यों आरम्भ करता? उसने पहले दानशाला नहीं बनाई थी, अब वह ऐसा निन्दनीय कार्य क्यों करता? परन्तु उसने केशी श्रमण के सामने ही दानशाला का कार्य चालू करने की घोषणा की थी। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न सभी जीव न तो कुपात्र

क्षेत्र-अक्षेत्र

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ८० पर स्थानांगसूत्र स्थान चार के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां पिण कुपात्र दान कुक्षेत्र कह्या कुपात्र रूप कुक्षेत्र में पुण्य रूप बीज किम उगे।' इनके कहने का अभिप्राय यह है कि साधु से भिन्न सभी कुपात्र हैं और कुपात्र को इस पाठ में कुक्षेत्र कहा है। अतः जैसे कुक्षेत्र में गेहूँ, चने आदि के बीज नहीं उगते, उसी तरह साधु से भिन्न पुरुष को दिया हुआ दान भी पुण्यरूप अंकुर को उत्पन्न नहीं करता।

स्थानांगसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

चत्तारि मेहा पण्णत्ता, तं जहा—खेत्तवासी णाममेगे णो अखेत्तवासी, एवमेव चत्तारि पुरुसजाया पण्णत्ता, तं जहा—खेत्तवासी णाममेगे णो अखेत्तवासी।

—स्थानांगसूत्र, ४, ४, ३४६

मेघ चार प्रकार के होते हैं—१. वह मेघ, जो क्षेत्र में बरसता है, अक्षेत्र में नहीं, २. वह मेघ, जो अक्षेत्र में बरसता है, क्षेत्र में नहीं, ३. वह मेघ, जो क्षेत्र-अक्षेत्र दोनों में बरसता है और ४. वह मेघ, जो क्षेत्र-अक्षेत्र किसी में नहीं बरसता। इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के होते हैं—१. वह पुरुष, जो पात्र को दान देता है, अपात्र को नहीं, २. वह पुरुष, जो अपात्र को दान देता है, पात्र को नहीं, ३. वह पुरुष, जो पात्र-अपात्र दोनों को दान देता है और ४. वह पुरुष, जो पात्र-अपात्र किसी को भी दान नहीं देता।

प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त क्षेत्र शब्द का टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

क्षेत्रं धान्याद्युत्पत्ति स्थानम्।

जिस पृथ्वी में बोये हुए गेहूँ, चने आदि के बीज अंकुरित-फलित होते हैं, उसे क्षेत्र और उससे भिन्न को अक्षेत्र समझना चाहिए।

मेघ-पक्ष में क्षेत्र-अक्षेत्र से पृथ्वी-विशेष का ग्रहण होता है और पुरुष-पक्ष में दान देने योग्य जीव क्षेत्र हैं और दान नहीं देने योग्य जीव अक्षेत्र।

अरिहंत सिद्ध पवयण गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सिसु।
वच्छल्लया य तेसिं अभीक्ख णाणोवओगे य।
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारं।
खणलव-तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य।।
अप्पुव्वणाण-गहणे सुयभत्ती पवयण-पभावणया।
एए हिं कारणेहिं तित्थयर तं लहइ जीवो।।

—ज्ञातासूत्र, ८, ६४

प्रस्तुत पाठ में प्रवचन प्रभावना से तीर्थकरनाम कर्म का बन्ध होना कहा है। इसलिए जो प्रवचन प्रभावना के लिए सब को दान देता है, वह उत्तम पुण्य का उपार्जन करता है, एकान्त पाप का नहीं। अतः साधु से भिन्न सबको दान देने से एकान्त पाप कहना उचित नहीं है। प्रवचन प्रभावना के लिए साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने वाला पुरुष आगमानुसार पुण्य का कार्य करता है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार उसे एकान्त पापी कहते हैं। अतः उनकी यह आगम-विरुद्ध प्ररूपणा सर्वथा त्यागने योग्य है।

यदि कोई यह कहे, 'प्रवचन की प्रभावना के लिए सब को दान देने से पुण्य होता है, तो सब जीव दान देने योग्य क्षेत्र सिद्ध होते हैं, कोई भी अक्षेत्र या कुक्षेत्र नहीं रहता। ऐसी स्थिति में स्थानांगसूत्र के चतुर्थ स्थान में क्षेत्र-अक्षेत्र को लेकर चतुर्भंगी क्यों लिखी?' इसका समाधान यह है कि यहाँ प्रवचन प्रभावनारूप पुण्य की अपेक्षा से क्षेत्र-अक्षेत्र का विचार नहीं रखा है। क्योंकि प्रवचन प्रभावना के निमित्त दिए जाने वाले दान के सभी क्षेत्र हैं, कोई भी अक्षेत्र नहीं है। वेश्या, चोर, जार आदि को उनका दुष्कर्म छुड़ाकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए दान देना भी प्रवचन प्रभावना है। अतः जो व्यक्ति जिस दान के योग्य नहीं है, वह यहाँ उस दान का अक्षेत्र समझा जाता है। जैसे साधु से भिन्न जीव मुख्य रूप से मोक्षार्थ दान के अक्षेत्र हैं और दीन-दुःखी से भिन्न प्राणी अनुकम्पादान के अक्षेत्र हैं। इस प्रकार क्षेत्र-अक्षेत्र का विचार समझना चाहिए। यह नहीं कि साधु से भिन्न सब जीव अक्षेत्र या कुक्षेत्र हैं। अतः साधु से भिन्न सबको अक्षेत्र बता कर उनको दान देने में एकान्त पाप बताना भारी भूल है।

शकडाल-पुत्र

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ८१ पर लिखते हैं—'अठ अठे गि गोशाला ने पीठ-फलग, शय्या-संथारा शकडाल-पुत्र दिया। तिहां धर्म-तप नहीं कह्यो। तो गोशाला तो तीर्थंकर बाजतो थो, तिण ने दियां ही धर्म-तप

प्रस्तुत पाठ में शकडाल-पुत्र श्रावक गोशालक को शय्या-संथारा देने से धर्म और तप होने का निषेध करता है, पुण्य होने का नहीं। वह इस दान से एकान्त पाप होना भी नहीं बतलाता। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से 'एकान्त पाप' होता, तो इस पाठ में गोशालक को दान देने से शकडाल-पुत्र को एकान्त पाप होना बतलाते, सिर्फ धर्म और तप का ही निषेध नहीं करते।

शकडाल-पुत्र के इस उदाहरण से प्रवचन प्रभावना के लिए साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देना भी श्रावक का कर्तव्य सिद्ध होता है। शकडाल-पुत्र ने भगवान महावीर के गुणानुवाद करने के कारण गोशालक को शय्या-संथारा देकर प्रवचन की प्रभावना की थी। प्रवचन प्रभावना को तीर्थंकर गोत्रबन्ध का कारण कहा है। इसलिए शकडाल-पुत्र ने गोशालक को दान देने से पुण्य का निषेध नहीं किया।

कुछ लोग यह कहते हैं, 'पुण्य का बन्ध निर्जरा के साथ ही होता है, इसलिए गोशालक को दान देने से शकडाल-पुत्र को पुण्य भी नहीं हुआ।' उनका यह कथन नितान्त असत्य है। आगम में ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है कि निर्जरा के साथ ही पुण्यबन्ध होता है। अतः प्रवचन की प्रभावना के लिए दान देने से पुण्य का होना नहीं मानना आगम-विरुद्ध है। शकडाल-पुत्र का नाम लेकर साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने में मांसाहार, व्यसन-कुशील आदि की तरह एकान्त पाप बताना नितान्त असत्य है।

करके और प्रायश्चित्त से नहीं हटाए हुए किस निन्दित पुराने अशुभ कर्म के फल-स्वरूप फल-विशेष को यह भोग रहा है?

इस पाठ में जैसे किं वा भोच्चा, किं वा समायरित्ता—ये दो शब्द मांस आदि भक्षण और हिंसादि आचरण के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, दाल-रोटी आदि का सात्त्विक भोजन करने एवं न्याय वृत्ति से कुटुम्ब का पालन-पोषण करने के अर्थ में नहीं। उसी तरह किं वा दच्चा का प्रयोग भी चोर, जार, हिंसक आदि को चोरी, जारी एवं हिंसा आदि दुष्कर्म का सेवन करने के लिए दान देने के अर्थ में हुआ है, न कि दीन-हीन जीवों को अनुकम्पादान देने के अर्थ में। अतः इस पाठ के आधार पर अनुकम्पादान का खण्डन करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि कोई 'क्या दिया' का अनुकम्पादान अर्थ ग्रहण करके, उसमें एकान्त पाप कहता है, तो वह इससे साधु-दान का ग्रहण करके उसे भी एकान्त पाप क्यों नहीं कहता? यदि यह कहते हैं कि साधु को दान देने से एकान्त पाप नहीं होता, इसलिए इस शब्द से उसे ग्रहण नहीं किया है, इसी प्रकार दीन-हीन जीवों पर दया करके दान देने से भी एकान्त पाप नहीं होता। जैसे पंचमहाव्रतधारी को मोक्षार्थ दान देना प्रशस्त है, उसी तरह दीन-हीन जीवों पर दया करके दान देना भी अनुकम्पा रूप गुण का हेतु है। अतः अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप कहना युक्तिसंगत नहीं है।

टब्बाकार ने 'किं वा दच्चा' का अर्थ कुपात्रदान किया है। यहाँ कुपात्रदान का अर्थ—चोर, जार आदि को चोरी-जारी आदि दुष्कर्मों का सेवन करने के लिए दान देना है, न कि अनुकम्पा करके दीन-हीन जीवों को दान देना। क्योंकि चोर, जार एवं हिंसक आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त जीव ही कुपात्र हैं। भ्रमविध्वंसनकार की स्व-कल्पित कपोलकल्पना के अनुसार साधु के अतिरिक्त सभी जीव कुपात्र नहीं हैं। इसलिए टब्बा अर्थ के अनुसार भी दीन-हीन जीवों को अनुकम्पादान देने से एकान्त पाप सिद्ध नहीं होता। अतः उक्त टब्बा अर्थ का आश्रय लेकर भी अनुकम्पादान में पाप बताना नितान्त असत्य है।

विपाकसूत्र का यह पाठ जो ऊपर लिखा है, भ्रमविध्वंसन की पुरानी प्रति—प्रथम आवृत्ति में अपूर्ण छपा है। इसमें किं वा भोच्चा, किं वा समायरित्ता यह पाठ नहीं है। और ईश्वरचन्द्र चोपड़ा द्वारा प्रकाशित नई आवृत्ति में यह पाठ व्युत्क्रम से छपा है। विपाकसूत्र की शुद्ध प्रतियों में सर्वत्र किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा, किं वा समायरित्ता यह पाठ इसी क्रम से मिलता है और ऐसा ही होना चाहिए। परन्तु भ्रमविध्वंसन की नई आवृत्ति में किं वा भोच्चा किं वा

पापकारी क्षेत्र

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ८३ पर उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १२, गाथा २४ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ अठे ब्राह्मणां ने पापकारी क्षेत्र कह्या। तो वीजा ने स्यूं कहिवो।' इनके कहने का अभिप्राय यह है कि इस गाथा में ब्राह्मणों को पापकारी क्षेत्र कहा है। जब ब्राह्मण ही पापकारी क्षेत्र हैं, तब अन्य लोगों की तो बात ही क्या है? अतः साधु से इतर सब और कुपात्र हैं, उनको दान देने से धर्म-पुण्य कैसे हो सकता है?

उत्तराध्ययनसूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे हैं—

कोहो य माणो य वहो य जसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जा विहूणा, ताइं तु खेताइं सु पावगाइं।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १२, १४

जो ब्राह्मण क्रोध, मान, माया और लोभ से युक्त हैं तथा हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह का आसेवन करते हैं, वे जाति और विद्या से विहीन पापकारी क्षेत्र हैं।

वस्तुतः चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के अनुसार हुई है। अन्य ग्रन्थों में भी लिखा है—

एक-वर्णमिदं सर्व पूर्वमासीद्युधिष्ठिर।
क्रिया-कर्म विभागेन चातुर्वर्ण्य व्यवस्थितम्।।

हे युधिष्ठिर! पहले सब लोग एक वर्ण के थे, पीछे से कर्म के अनुसार चार वर्ण बने हैं।

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण यथा शिल्पेन शिल्पिकः।
अन्यथा नाम मात्रं स्यादिन्द्रगोपक कीटवत्।

जैसे शिल्प कर्म करने वाला शिल्पी हुआ, उसी तरह ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्राह्मण। जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता वह 'इन्द्रगोप' कीट की तरह नाम मात्र का ब्राह्मण है।

ऐसे नाम मात्र के ब्राह्मणों से सत्शास्त्र रूप विद्या का सम्मान नहीं होता। सभी शास्त्रों में अहिंसा, सत्य आदि का विधान मिलता है—

अहिंसा-सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुन वर्जनम् ।
पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां धर्मचारिणाम् ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और मैथुन-त्याग, ये पाँच सभी धर्मचारियों के लिए पवित्र हैं। इनका आचरण करना ही शिक्षा पढ़ने का फल है।

परन्तु जो व्यक्ति शास्त्र पढ़कर भी इनको आचरण में नहीं लाता और, काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह और मैथुन आदि दुर्गुणों का सेवन करता है, प्रबुद्ध पुरुषों ने उसे शिक्षा-विहीन कहा है—

तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति राग गणः ।
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ॥

— [illegible]

जिस ज्ञान के उदित होने पर भी राग गण प्रकाशमान है, वह ज्ञान ही नहीं है। क्योंकि सहस्ररश्मि-सूर्य की एक किरण के निकलने पर उसकी ज्योति के सामने ठहरने के लिए अंधकार में शक्ति कहाँ है?

जिस वस्तु के होने पर भी उससे कुछ प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, निश्चयनय के अनुसार वह वस्तु वास्तव में वस्तु ही नहीं है। इसी प्रकार जो व्यक्ति शिक्षा पढ़कर भी चोरी, जारी, हिंसा आदि दुर्गुणों का आचरण करता है, उस अवस्था में वास्तव में [illegible] शिक्षा की सार्थकता [illegible] है। अतः ऐसे [illegible] शिक्षा-दोषों से [illegible] होना चाहिए।

असंयति नहीं, असती–पोषणता कर्म

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ८५ पर उपासकदशांगसूत्र का पाठ लिखकर साधु से इतर को दान देने वाले श्रावक को पन्द्रहवें कर्मादान का सेवन रूप पाप होना लिखा है—

'तिवारे कोई इम कहे इहां असंयति पोष व्यापार कह्यो छै। तो तुम्हें अनुकम्पा रे अर्थे असंयति ने पोष्याँ पाप किम कहो छो? तेहनो उत्तर—जे असंयति पोषी पोषी ने आजीविका करे ते असंयती पोष व्यापार छै। अने दाम लियां विना असंयति ने पोषे ते व्यापार नथी कहिये। परं पाप किम न कहिये? जिम कोयला करी बेचे ते 'अंगालकर्म' व्यापार, अने दाम विना आगला ने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी। परं पाप किम न कहिये?'

उपासकदशांग में पन्द्रहवें कर्मादान का नाम 'असई जण पोषणया' लिखा है। इसका अर्थ है—'असती–व्यभिचारिणी स्त्रियों का पोषण करके उन से भाड़े पर व्यभिचार—वेश्यावृत्ति कराने रूप व्यापार करना, न कि साधु से भिन्न सभी जीवों का पोषण करना।'

भ्रमविध्वंसनकार ने उपासकदशांगसूत्र का जो पाठ उद्धृत किया है, उसमें पन्द्रहवें कर्मादान का नाम 'असई जण–पोसणया' लिखा है और उसके टब्बा अर्थ में साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से उक्त कर्मादान का सेवन करना नहीं, प्रत्युत वेश्या आदि के पोषण करने रूप व्यापार को ही कर्मादान का सेवन कहा है। भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ८४ पर लिखा है कि 'अ. वेश्या आदि ने पोषण आदिक व्यापार कर्म', इसमें साधु से भिन्न को पोषण रूप व्यापार न कहकर वेश्यादि के पोषण रूप व्यापार को कर्मदान का सेवन बतलाया है। तथापि सत्य पर परदा डालने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने अपने मन से पन्द्रहवें कर्मादान का 'असंयति पोषणता' नाम रखा है। इसे पहले प्रश्न रूप में दूसरे से स्वीकार करवाकर फिर स्वयं ने स्वीकार किया है। भ्रमविध्वंसन में पृष्ठ ८५ पर पूर्वपक्ष की स्थापना करते हुए लिखा है—

'तिवारे कोई इम कहे इहाँ असंयति पोष व्यापार कह्यो छै। तो तुम्हें अनुकम्पा रे अर्थे असंयति ने पोष्यां पाप किम कहो छो?'

उसे कर्मादान का पाप एवं उसके व्रतों में अतिचार नहीं लगता। क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादान का नाम 'असंयति-पोषणता' है ही नहीं, 'असती जन-पोषणता' है। अतः जो व्यक्ति असती—वेश्यादि का पोषण करके उन से भाड़े पर वेश्यावृत्ति कराने रूप व्यापार करता है, वह पन्द्रहवें कर्मादान के पाप का सेवन करता है, साधु से भिन्न सब प्राणियों का पोषण करने से नहीं।

यदि श्रावक अपने आश्रित व्यक्ति को आहार-पानी नहीं देता है, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है। अतः प्रथम व्रत का निरतिचार पालन करने के लिए श्रावक अपने आश्रित प्राणियों का पोषण करता है। इससे भ्रमविध्वंसन के कथनानुसार उसके सातवें व्रत में अतिचार लगता है। क्योंकि साधु से भिन्न व्यक्ति को व्यापारार्थ आहार देना, वे कर्मादान का सेवन करना बताते हैं। ऐसी स्थिति में बारह व्रतधारी श्रावक अपने आश्रित व्यक्ति को आहार-पानी देकर प्रथम व्रत का अतिचार टाले या उसे आहार नहीं देकर सातवें व्रत के अतिचार से बचे? उसकी सांप-छछूंदर जैसी स्थिति है—यदि वह अपने आश्रित को भोजन देता है, तो सप्तम व्रत में अतिचार लगता है और नहीं देता है तो प्रथम व्रत में अतिचार लगता है। परन्तु आगम में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से कर्मादान का पाप लगता है। यदि श्रावक अपने आश्रित को भोजन नहीं देता है, तो उसको प्रथम व्रत का अतिचार लगता है। अतः साधु से भिन्न व्यक्ति का पालन-पोषण करने से कर्मादान का पाप बताना एकान्त मिथ्या है।

आचार्य भीखणजी ने साधु से भिन्न व्यक्ति का पोषण करने से पन्द्रहवें कर्मादान का पाप लगना बतलाकर उसकी मर्यादा करके परिहार करने का उपदेश दिया है—

> साधु बिना सघला पोषीजे पन्नरमूं असंयति पोष कहीजे।
> रोजगार ले त्यां ऊपर रहवै खाणूं पिणूं असंयति ने देवे।।
> ए पन्द्रह कर्मादान विस्तार मर्यादा बांधी करे परिहार।

परन्तु आचार्यश्री भीखणजी की उक्त प्ररूपणा सर्वथा आगम-विरुद्ध है। भगवतीसूत्र में कर्मादानों को सर्वथा छोड़ने योग्य कहा है, आगार रखकर परिहार करने का नहीं।

जे इमे समणोवासगा भवन्ति तेसिं नो कप्पन्ति इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा कारवेत्तए वा करं तं वा अण्णं समणुजाणेत्तए वा।

—भगवतीसूत्र, [illegible]

अतिचार की व्याख्या

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ८६ पर उपासकदशांग के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'इहां मारवाने अर्थे गाढ़े बन्धन वान्धे तो अतिचार कह्यो, अने [illegible] बन्धन वान्धे तो अतिचार नहीं, पिण धर्म किम कहिए', आगे चलकर लिखते हैं—'तिम मारवाना अर्थे भात-पाणी रो विच्छेद पायां तो अतिचार, अनें [illegible] जीव ने भात-पाणी थी पोषे ते अतिचार नहीं, पिण धर्म किम कहिए?'

त्रस प्राणी का वध करने के अभिप्राय से वध, बन्धन, छविच्छेद, अतिभार एवं भात-पानी का विच्छेद करना, भाव से अपने व्रत का त्याग करना है। इसे आगमकार ने अतिचार नहीं, अनाचार कहा है। अतिचार वहीं तक होता है, जब तक व्रत की अपेक्षा रखकर कार्य किया जाए। परन्तु व्रत की अपेक्षा छोड़कर अनुचित कार्य करने से वह अनाचार हो जाता है और उसका व्रत मूलतः नष्ट हो जाता है। अतः जो पुरुष किसी प्राणी के प्राणों का नाश करने के लिए उसे मारता-पीटता है, उसका खाना-पीना बन्द करता है, वह अपने व्रत को समूल नष्ट कर देता है। वह अतिचारी नहीं, अनाचारी है। इसलिए उपासकदशांगसूत्र में ऐसे कार्य का कथन नहीं है। वहाँ यह बताया है कि जो क्रोधादि के वश वध-बन्धनादि किए जाते हैं, वे प्रथम व्रत के अतिचार हैं, न कि प्राणनाश करने की भावना से किए जाने वाले वध-बन्धनादि। अतः भ्रमविध्वंसनकार जो प्राण-वियोग करने की भावना से त्रस जीव के वध, बन्धन, छविच्छेद, अतिभार और भात-पानी विच्छेद करने से अतिचार [illegible] कहते हैं, वह एकान्त मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकार ने उक्त पाठ का जो टब्बा अर्थ दिया है, उसमें मारने की इच्छा से उक्त कार्यों के करने से अतिचार होना कहा है। परन्तु यह टब्बा अर्थ उपासकदशांग के मूलपाठ से विरुद्ध है, अतः अप्रामाणिक है। उपासकदशांग में मारने की इच्छा से वध, बन्धन आदि करने से अतिचार नहीं बताया है।

यदि कोई यह कहे कि अपने आश्रित प्राणी को आहार-पानी देने से जो जीवों की विराधना होती है, उससे पुण्य कैसे हो सकता है? क्योंकि हिंसा से पुण्य नहीं होता। पुण्य तो अहिंसा से होता है। इसका उत्तर यह है कि श्रावक लोग विभिन्न प्रकार के वाहनों में बैठकर दूर-दूर तक साधु के दर्शनार्थ जाते हैं। उससे मार्ग में अनेक जीवों की विराधना होती ही है, परन्तु उन्हें जो साधु-दर्शन का लाभ होता है, वह बहुत ही उत्तम एवं पुण्य कार्य है। उसी तरह अपने आश्रित प्राणी को आहार-पानी देने से उस प्राणी की जो रक्षा होती है वह बहुत प्रशस्त है। यदि श्रावक उसे आहार-पानी न दे तो उसका प्रथम व्रत ही सुरक्षित नहीं होगा। आहार-पानी देते समय जो आरम्भजा हिंसा होती है, उसका त्याग श्रावक को नहीं है। परन्तु अपने आश्रित को आहार-पानी नहीं देने से अतिचार लगना कहा है। अतः इस कार्य में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना मिथ्या है।

इस वृद्ध व्याख्या से भिक्षुओं के प्रवेशार्थ द्वार खुले रहने का खण्डन नहीं होता है। क्योंकि व्याख्या में भिक्षुओं के प्रवेशार्थ द्वार खुले रहने का निषेध नहीं किया है, किन्तु द्वार खुले रहने का इसके अतिरिक्त दूसरा कारण भी बताया है। इसी तरह सूत्रकृतांगसूत्र, श्रुतस्कंध २, अध्ययन २ की दीपिका में द्वार खुला रहने का कारण सम्यक्त्व में दृढ़ता एवं पर-पाषण्डी से नहीं डरना बताया है। इससे भी भिक्षुओं के प्रवेश की बात का खण्डन नहीं होता। यहाँ इसके अतिरिक्त दो और कारण बताए हैं। इस प्रकार तुंगिया नगरी के श्रावकों के द्वार खुले रहने के तीन कारण टीकाकारों ने बताये हैं—१. भिक्षुओं का प्रवेश, २. सम्यक्त्व में दृढ़ता और ३. पर-पाषण्डियों से नहीं डरना। वस्तुतः ये तीनों कारण यथार्थ हैं। जो मनुष्य कृपण होता है, वह अपने घर के द्वार बन्द रखता है। दूसरों से डरने वाला व्यक्ति भी घर के द्वार नहीं खोलता। परन्तु जो उदार है, निर्भय है, अपनी श्रद्धा में स्थिर है, दृढ़ है, वह घर के द्वार बन्द नहीं करता। तुंगिया नगरी के श्रावक सम्यक्त्व में दृढ़, निर्भय, उदार एवं दानशील थे, इसलिए वे अपने घरों के द्वार सदा खुले रखते थे। इस प्रकार तुंगिया नगरी के श्रावकों के वर्णन से अनुकम्पादान का पूर्ण रूप से समर्थन होने पर भी उसे नहीं मानना, हठाग्रह का ही परिणाम है। किसी भी टीकाकार ने साधुओं की भावना से द्वार खुला रखने का नहीं कहा है, तथापि अनुकम्पादान का उन्मूलन करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने जो साधुओं की भावना से द्वार खुला रखने का कहा है, वह आगम एवं समस्त टीकाओं से विरुद्ध है।

वस्तुतः भगवती की टीका में गृह-द्वार खुले रहने का जो कारण बताया है, वह मूल पाठ से भी प्रमाणित है। इसलिए उसे नहीं मानना आगम के मूल पाठ का तिरस्कार करना है। जैसे भगवतीसूत्र में तुंगिया के श्रावकों का वर्णन आया है, उसी तरह उववाईसूत्र में अम्बड संन्यासी के विषय में लिखा है—

नवरं उस्सिह-फलिहे अवंगुयदुवारे—चियत्त अन्तेउर पवेसी उच्चरइ।

तुंगिया नगरी के श्रावकों के सम्बन्ध में जो पाठ आया है, वह अम्बड संन्यासी के सम्बन्ध में कहना चाहिए। परन्तु 'उस्सिय फलिहे अवंगुय दुवारे चियत्त अन्तेउर पवेसी' ये तीन पाठ नहीं कहने चाहिए।

इसमें अम्बड संन्यासी के विषय में तीन पाठ वर्जित किए हैं, इसका कारण बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

औदार्यातिशयादतिशयदानदायित्वेन भिक्षुप्रवेशार्थमनर्गलित गृहद्वार इत्यर्थः। इदं च किल अम्बडस्य न सम्भवति स्वयमेव तस्य भिक्षु

श्रावक में अव्रत नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६३ पर लिखते हैं—‘जे श्राव
तपस्या करे ते तो व्रत छैं, अनें पारणो करे ते अव्रत मांही छै। आगार सेवे छै,
ते सेवन वाला ने धर्म नहीं तो सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे? ए अव्रत एका
खोटी छै। अव्रत तो रेणादेवी सरीखी छै।’ इनके कहने का भाव यह है कि
श्रावक का खाना, पीना, वस्त्र, मकान आदि सब अव्रत में हैं, अतः श्रावक को
अन्न-पानी आदि की सहायता देना उनसे अव्रत-सेवन कराना है। और
अव्रत-सेवन कराना एकान्त पाप है। इसलिए श्रावक को अन्न-पानी देना
एकान्त पाप है। जब श्रावक को आहार-पानी देना एकान्त पाप है, तब दीन-
दुःखी को दान देने से तो कहना ही क्या?

श्रावक का खाना-पीना, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत में बताक
उसको आहार-पानी आदि की सहायता देने से एकान्त पाप और अव्रत का
सेवन कराना कहना आगम-विरुद्ध है। आगम में उस व्यक्ति को अव्रत की
क्रिया लगना कहा है, जिसमें स्वल्प—थोड़ा-सा भी व्रत नहीं होता। श्राव
तो देशव्रती है, अतः उसे अव्रत की क्रिया कैसे लग सकती है? जब श्राव
को अव्रत की क्रिया ही नहीं लगती, तब उसे अन्न-पानी आदि की सहाय
देने से अव्रत का सेवन कराना कैसे हो सकता है? प्रज्ञापना सूत्र में स्प
लिखा है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

कति णं भन्ते! किरिआओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! पंच किरिआओ पण्णत्ताओ तं जहा—आरंभि
परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

आरंभिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अन्नयरस्स वि पमत्त संजयस्स।
परिग्गहिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अन्नयरस्स वि संजयासंजयस्स।

मायावत्तिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अपमत्त संजयस्स।
अपच्चक्खाण किरिया णं भन्ते? कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्स।
मिच्छादंसणवत्तिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि मिच्छादंसणिस्स।

—प्रज्ञापनासूत्र, पद २२, २८४

हे भगवन्! क्रिया कितने प्रकार की है? हे गौतम! क्रिया पाँच प्रकार की है—१. आरम्भिया, २. परिग्रहिया, ३. माया-प्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यान और ५. मिथ्यादर्शन-प्रत्यया।

पृथ्वी आदि प्राणियों का नाश करने का नाम 'आरम्भ' है। कहा भी है—प्राणियों को संताप देने के लिए संकल्प करने का नाम 'संरम्भ' है और उनको संताप देना 'समारम्भ' कहलाता है और प्राणियों का नाश करना 'आरम्भ'। उस आरम्भ के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'आरम्भिकी क्रिया' कहलाती है।

धर्मोपकरण से भिन्न वस्तु को ग्रहण करना, धर्मोपकरण पर मूर्च्छा रखना परिग्रह है। परिग्रह से उत्पन्न होने वाली क्रिया को 'पारिग्रहिकी क्रिया' कहते हैं।

माया कुटिलता का नाम है। यहाँ माया शब्द को उपलक्षण मानकर उससे क्रोध आदि कषाय भी लिए जाते हैं। अतः जो क्रिया माया आदि से की जाती है, उसे 'मायाप्रत्यया क्रिया' कहते हैं।

किसी का थोड़ा भी परित्याग नहीं होना 'अप्रत्याख्यान' कहलाता है। उसी को 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के कारण जो क्रिया की जाती है उसे 'मिथ्यादर्शन क्रिया' कहते हैं।

श्रावक में अव्रत नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६३ पर लिखते हैं—'जे श्रावक तपस्या करे ते तो व्रत छै, अनें पारणो करे ते अव्रत मांही छै। आगार सेवे छै, ते सेवन वाला ने धर्म नहीं तो सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे? ए अव्रत एकांत खोटी छै। अव्रत तो रेणादेवी सरीखी छै।' इनके कहने का भाव यह है कि श्रावक का खाना, पीना, वस्त्र, मकान आदि सब अव्रत में हैं, अतः श्रावक को अन्न-पानी आदि की सहायता देना उनसे अव्रत-सेवन कराना है। और अव्रत-सेवन कराना एकान्त पाप है। इसलिए श्रावक को अन्न-पानी देना एकान्त पाप है। जब श्रावक को आहार-पानी देना एकान्त पाप है, तब दीन-दुःखी को दान देने से तो कहना ही क्या?

श्रावक का खाना-पीना, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत में बताकर उसको आहार-पानी आदि की सहायता देने से एकान्त पाप और अव्रत का सेवन कराना कहना आगम-विरुद्ध है। आगम में उस व्यक्ति को अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जिसमें स्वल्प—थोड़ा-सा भी व्रत नहीं होता। श्रावक तो देशव्रती है, अतः उसे अव्रत की क्रिया कैसे लग सकती है? जब श्रावक को अव्रत की क्रिया ही नहीं लगती, तब उसे अन्न-पानी आदि की सहायता देने से अव्रत का सेवन कराना कैसे हो सकता है? प्रज्ञापना सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

कति णं भन्ते! किरिआओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! पंच किरिआओ पण्णत्ताओ तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

आरंभिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि पमत्त संजयस्स।
परिग्गहिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि संजयासंजयस्स।

श्रावक में अव्रत नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६३ पर लिखते हैं—'जे श्रावक तपस्या करे ते तो व्रत छै, अनें पारणो करे ते अव्रत मांही छै। आगार सेवे छै, ते सेवन वाला ने धर्म नहीं तो सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे? ए अव्रत एकांत खोटी छै। अव्रत तो रेणादेवी सरीखी छै।' इनके कहने का भाव यह है कि श्रावक का खाना, पीना, वस्त्र, मकान आदि सब अव्रत में हैं, अतः श्रावक को अन्न-पानी आदि की सहायता देना उनसे अव्रत-सेवन कराना है। और अव्रत-सेवन कराना एकान्त पाप है। इसलिए श्रावक को अन्न-पानी देना एकान्त पाप है। जब श्रावक को आहार-पानी देना एकान्त पाप है, तब दीन-दुःखी को दान देने से तो कहना ही क्या?

श्रावक का खाना-पीना, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत में बताकर उसको आहार-पानी आदि की सहायता देने से एकान्त पाप और अव्रत का सेवन कराना कहना आगम-विरुद्ध है। आगम में उस व्यक्ति को अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जिसमें स्वल्प—थोड़ा-सा भी व्रत नहीं होता। श्रावक तो देशव्रती है, अतः उसे अव्रत की क्रिया कैसे लग सकती है? जब श्रावक को अव्रत की क्रिया ही नहीं लगती, तब उसे अन्न-पानी आदि की सहायता देने से अव्रत का सेवन कराना कैसे हो सकता है? प्रज्ञापना सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

कति णं भन्ते! किरिआओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! पंच किरिआओ पण्णत्ताओ तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

आरंभिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि पमत्त संजयस्स।
परिग्गहिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि संजयासंजयस्स।

मायावत्तिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अपमत्त संजयस्स।
अपचक्खाण किरिया णं भन्ते? कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्स।
मिच्छादंसणवत्तिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि मिच्छादंसणिस्स।

—प्रज्ञापनासूत्र, पद २२, २८४

हे भगवन्! क्रिया कितने प्रकार की है? हे गौतम! क्रिया पाँच प्रकार की ।. आरम्भिया, २. परिग्रहिया, ३. माया-प्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यान और ' !द.ं -प्रत्यया।

पृथ्वी आदि प्राणियों का नाश करने का नाम 'आरम्भ' है। कहा भी ाियों को संताप देने के लिए संकल्प करने का नाम 'संरम्भ' है और उनको . । 'समारम्भ' कहलाता है और प्राणियों का नाश करना 'आरम्भ'। उस के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'आरम्भिकी क्रिया' कहलाती है।

ाम .करण से भिन्न वस्तु को ग्रहण करना, धर्मोपकरण पर मूर्च्छा रखना । परिग्रह से उत्पन्न होने वाली क्रिया को 'पारिग्रहिकी क्रिया' कहते हैं।

।। कुटिलता का नाम है। यहाँ माया शब्द को उपलक्षण मानकर उससे कषाय भी लिए जाते हैं। अतः जो क्रिया माया आदि से की जाती है, उसे क्रिया' कहते हैं।

. का थोड़ा भी परिणाम नहीं होना 'अप्रत्याख्यान' कहलाता है। उसी ाख्यान क्रिया' कहते हैं।

्शन के कारण जो क्रिया की जाती है उसे 'मिथ्यादर्शन क्रिया' कहते

ावन्! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है?

ाम! किसी-किसी प्रमत्त संयत पुरुष को भी आरम्भिकी क्रिया लगती कभी प्रमादवश अपने शरीर आदि का दुष्प्रयोग करता है, तब उससे जीवों की विराधना होने से उसे आरम्भिकी क्रिया लगती है। यहाँ जो ।या है, उससे यह बताया है कि आरम्भिकी क्रिया जब किसी-किसी । को भी लगती है, तब उसके नीचे के गुणस्थानों में तो वह अवश्य ही ा प्रकार इस पाठ में प्रयुक्त अन्य अपि शब्द का भी यथायोग्य अर्थ ग्रहण ।

श्रावक में अव्रत नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ९३ पर लिखते हैं—'जे श्रावक तपस्या करे ते तो व्रत छै, अनें पारणो करे ते अव्रत मांही छै। आगार सेवे छै, ते सेवन वाला ने धर्म नहीं तो सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे? ए अव्रत एकांत खोटी छै। अव्रत तो रेणादेवी सरीखी छै।' इनके कहने का भाव यह है कि श्रावक का खाना, पीना, वस्त्र, मकान आदि सब अव्रत में हैं, अतः श्रावक को अन्न–पानी आदि की सहायता देना उनसे अव्रत–सेवन कराना है। और अव्रत–सेवन कराना एकान्त पाप है। इसलिए श्रावक को अन्न–पानी देना एकान्त पाप है। जब श्रावक को आहार–पानी देना एकान्त पाप है, तब दीन–दुःखी को दान देने से तो कहना ही क्या?

श्रावक का खाना–पीना, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत में बताकर उसको आहार–पानी आदि की सहायता देने से एकान्त पाप और अव्रत का सेवन कराना कहना आगम–विरुद्ध है। आगम में उस व्यक्ति को अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जिसमें स्वल्प—थोड़ा–सा भी व्रत नहीं होता। श्रावक तो देशव्रती है, अतः उसे अव्रत की क्रिया कैसे लग सकती है? जब श्रावक को अव्रत की क्रिया ही नहीं लगती, तब उसे अन्न–पानी आदि की सहायता देने से अव्रत का सेवन कराना कैसे हो सकता है? प्रज्ञापना सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती।

कति णं भन्ते! किरिआओ पण्णत्ताओ?

गोयमा! पंच किरिआओ पण्णत्ताओ तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अपच्चक्खाणकिरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

आरंभिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि पमत्त संजयस्स।
परिग्गहिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि संजयासंजयस्स।

मायावत्तिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अपमत्त संजयस्स।
अपचक्खाण किरिया णं भन्ते? कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्स।
मिच्छादंसणवत्तिया णं भन्ते! किरिया कस्स कज्जइ?
गोयमा! अण्णयरस्स वि मिच्छादंसणिस्स।

—प्रज्ञापनासूत्र, पद २२, २८४

हे भगवन्! क्रिया कितने प्रकार की है? हे गौतम! क्रिया पाँच प्रकार की है—१. आरम्भिया, २. परिग्रहिया, ३. माया-प्रत्यया, ४. अप्रत्याख्यान और ५. मिथ्यादर्शन-प्रत्यया।

पृथ्वी आदि प्राणियों का नाश करने का नाम 'आरम्भ' है। कहा भी है—प्राणियों को संताप देने के लिए संकल्प करने का नाम 'संरम्भ' है और उनको संताप देना 'समारम्भ' कहलाता है और प्राणियों का नाश करना 'आरम्भ'। उस आरम्भ के लिए जो क्रिया की जाती है, वह 'आरम्भिकी क्रिया' कहलाती है।

धर्मोपकरण से भिन्न वस्तु को ग्रहण करना, धर्मोपकरण पर मूर्च्छा रखना परिग्रह है। परिग्रह से उत्पन्न होने वाली क्रिया को 'पारिग्रहिकी क्रिया' कहते हैं।

माया कुटिलता का नाम है। यहाँ माया शब्द को उपलक्षण मानकर उससे क्रोध आदि कषाय भी लिए जाते हैं। अतः जो क्रिया माया आदि से की जाती है, उसे 'मायाप्रत्यया क्रिया' कहते हैं।

विरति का थोड़ा भी परिणाम नहीं होना 'अप्रत्याख्यान' कहलाता है। उसी को 'अप्रत्याख्यान क्रिया' कहते हैं।

मिथ्यादर्शन के कारण जो क्रिया की जाती है उसे 'मिथ्यादर्शन क्रिया' कहते हैं।

हे भगवन्! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है?

हे गौतम! किसी-किसी प्रमत्त संयत पुरुष को भी आरम्भिकी क्रिया लगती है। वह जब कभी प्रमादवश अपने शरीर आदि का दुष्प्रयोग करता है, तब उससे पृथ्वी आदि जीवों की विराधना होने से उसे आरम्भिकी क्रिया लगती है। यहाँ जो अपि शब्द आया है, उससे यह बताया है कि आरम्भिकी क्रिया जब किसी-किसी प्रमत्त-संयत को भी लगती है, तब उसके नीचे के गुणस्थानों में तो वह अवश्य ही लगती है। इस प्रकार इस पाठ में प्रयुक्त अन्य अपि शब्द का भी यथायोग्य अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

हे भगवन्! पारिग्रहिकी क्रिया किसको लगती है?

हे गौतम! देशविरत-श्रावक को भी पारिग्रहिकी क्रिया लगती है। यहाँ भी अपि शब्द से यह बताया है कि जब पंचम गुणस्थान में पारिग्रहिकी क्रिया लगती है, तब उसके नीचे के गुणस्थानों में तो वह अवश्य ही लगती है।

हे भगवन्! मायाप्रत्यया क्रिया किसको लगती है?

हे गौतम! मायाप्रत्यया क्रिया किसी-किसी अप्रमत-संयत को भी लगती है। क्योंकि अपने प्रवचन की बदनामी को दूर करने के लिए वे भी वल्लीकरण और समुद्देश आदि में माया की क्रिया करते हैं। यहाँ भी अपि शब्द से यह बताया गया है कि जब सप्तम गुणस्थान में भी यह क्रिया लगती है, तब उसके नीचे के गुणस्थान वालों को तो यह क्रिया अवश्य ही लगती है।

हे भगवन्! अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है?

हे गौतम! जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।

हे भगवन्! मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया किसको लगती है?

हे गौतम! जो पुरुष आगम में कथित वीतराग-वाणी के एक अक्षर पर भी अरुचि रखता है, उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया लगती है।

प्रस्तुत पाठ में कहा है कि 'जो पुरुष थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता, उसे अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है।' टीकाकार ने भी इसकी व्याख्या करते हुए यही लिखा है—

अपच्चक्खाण किरिया इति अप्रत्याख्यानं मनागपि विरति परिणामाभावः तदेव क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया।

—प्रज्ञापना, २२, २८४ टीका

श्रावक प्रत्याख्यान करता है, अतः उसे अव्रत की क्रिया नहीं लगती। इसलिए श्रावक के खान-पान, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत में बताकर उसको दान देने से एकान्त पाप कहना आगम-विरुद्ध है। यदि कोई यह कहे, 'यदि श्रावक का आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि अव्रत में नहीं तो क्या व्रत में है?' नहीं। श्रावक के अन्न-वस्त्रादि न व्रत में है और न अव्रत में, किन्तु उसकी ममता परिग्रह में है। भगवान् ने व्रत और अव्रत को आत्मा का परिणाम बताया है और तेरापंथ के निर्माता आचार्य भीखणजी ने भी व्रत और अव्रत को जीव और अरूपी कहा है। उन्होंने तेरह द्वार में छट्ठे रूपी-अरूपी द्वार में लिखा है—'अव्रत आश्रव ने अरूपी किण न्याय कहीजे? जे अत्याग भाव परिणाम जीवरा अरूपी कह्या छै', अतः श्रावक के अन्न-वस्त्र आदि जो कि प्रत्यक्षरूप

से रूपी और अजीव हैं, वे व्रत और अव्रत में नहीं हो सकते। श्रावक के अन्न-वस्त्रादि को अव्रत में बताकर उसे अव्रत की क्रिया लगने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य है। प्रज्ञापनासूत्र में श्रावक को अव्रत की क्रिया लगने का निषेध किया है।

जस्स णं भन्ते! आरंभिया किरिया कज्जइ, तस्स अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा?

गोयमा! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा। एवं मिच्छादंसण वत्तियाए वि समं एवं परिग्गहिया वि तीहिं उवरिल्लाहिं समं संचारेत्तव्वा। जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दोवि सिय कज्जन्ति, सिय णो कज्जन्ति। जस्स उवरिल्लाओ दो कज्जन्ति तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जन्ति। जस्स अपच्चक्खाण किरिया कज्जइ तस्स मिच्छादंसण वत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय णो कज्जइ। जस्स पुण मिच्छादंसण-वत्तिया करिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाण किरिया नियमा कज्जइ।

—प्रज्ञापना, पद २२, २८४

हे भगवन्! जिसको आरंभिकी क्रिया होती है, क्या उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

हे गौतम! जिसे आरंभिकी क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे आरंभिकी क्रिया अवश्य होती है।

आरंभिकी क्रिया छट्ठे गुणस्थानपर्यन्त होती है, परन्तु पंचम और षष्ठ गुणस्थान में प्रत्याख्यान होने से अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती। इसलिए यहाँ आरंभिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है। परन्तु चतुर्थ गुणस्थान तक के जीवों में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें आरंभिकी क्रिया भी होती है। अतः अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ आरंभिकी क्रिया की नियमा है।

आरंभिकी क्रिया के साथ शेष चार क्रियाओं की नियमा-भजना का विचार किया गया है। अब पारिग्रहिकी क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओं की नियमा-भजना का विचार कर रहे हैं—

हे भगवन्! जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है, क्या उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

हे गौतम! जिसे पारिग्रहिकी क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी होती भी है और नहीं भी। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी होती है, उसे पारिग्रहिकी क्रिया अवश्य होती है। पारिग्रहिकी क्रिया पंचम गुणस्थान तक होती है, क्योंकि श्रावक परिग्रह धारी होता है। परन्तु पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती, क्योंकि श्रावक प्रत्याख्यानी होता है। अतः पारिग्रहिकी के साथ अप्रत्याख्यानिकी भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, वहाँ पारिग्रहिकी भी विद्यमान है। इसलिए अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ पारिग्रहिकी क्रिया की नियमा है।

पारिग्रहिकी क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओं की नियमा-भजना कही गई है, अब मायाप्रत्यया क्रिया के साथ उसके आगे की क्रियाओं की नियमा-भजना कह रहे हैं—

हे भगवन्! जिसे मायाप्रत्यया क्रिया होती है, क्या उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है?

हे गौतम! जिसे माया प्रत्यया क्रिया होती है, उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु जिसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है, उसे मायाप्रत्यया अवश्य होती है। मायाप्रत्यया क्रिया पंचम आदि गुणस्थानों में भी पाई जाती है, परन्तु वहाँ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं होती, क्योंकि वे प्रत्याख्यानी होते हैं, इसलिए मायाप्रत्यया क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है। चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त के जीवों में अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है और उनमें मायाप्रत्यया क्रिया भी होती है। अतः अप्रत्याख्यानिकी क्रिया के साथ मायाप्रत्यया क्रिया की नियमा कही गई है।

प्रस्तुत पाठ में पारिग्रहिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना कही है। यह तब ही घट सकती है जब कि किसी गुणस्थान में परिग्रह तो हो, परन्तु अप्रत्याख्यान—अव्रत न हो। ऐसा स्थान पंचम गुणस्थान के अतिरिक्त कोई नहीं है। क्योंकि षष्ठम आदि गुणस्थानों में परिग्रह नहीं होता और पंचम से पूर्व के गुणस्थानों में परिग्रह के साथ अप्रत्याख्यान भी विद्यमान है। अतः केवल श्रावक में ही परिग्रह तो है, परन्तु अप्रत्याख्यान नहीं है। इसलिए प्रस्तुत पाठ में जो परिग्रह के साथ अप्रत्याख्यान की भजना कही है, उसका पंचम गुणस्थान ही उदाहरण समझना चाहिए। यदि भ्रमविध्वंसनकार के सिद्धान्तानुसार श्रावक को भी अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा मान लें, तो उक्त पाठ में जो पारिग्रहिकी क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रिया की भजना

कही है, उसका उदाहरण कौन-सा गुणस्थान होगा? भ्रमविध्वंसनकार इसका कोई उदाहरण नहीं दे सकते। टीकाकार ने भी उसी को अव्रत की क्रिया लगना कहा है, जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता।

अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः। अन्यतरदपि न किंचिदपीत्यर्थ यो न प्रत्याख्याति तस्येत्यर्थः।

जो थोड़ा-सा भी प्रत्याख्यान नहीं करता, उसी को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है।

श्रावक देश से प्रत्याख्यान करता है, अतः उसे अव्रत की क्रिया नहीं लगती। क्योंकि अप्रत्याख्यानिकी क्रिया अप्रत्याख्यानी चोकड़ी के होने पर लगती है। पंचम गुणस्थान में अप्रत्याख्यानी चोकड़ी का उदय नहीं रहता। इसलिए श्रावक को अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती। तथापि भ्रमविध्वंसनकार ने श्रावक के खान-पान, वस्त्र, मकान आदि को अव्रत में बताकर उसको दान देने से एकान्त पाप एवं अव्रत का सेवन कराना बताया, यह नितान्त असत्य एवं आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

पञ्चम गुणस्थान में तीन क्रियाएँ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६१ पर सूत्रकृतांग और उववाईसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे श्रावक रा व्रत–अव्रत जुदा–जुदा कह्या। मोटा जीव हणवारा, मोटा झूठरा, मोटी चारी, मिथुन, परिग्रह री मर्यादा उपरान्त त्याग कीधो ते तो व्रत कहीजे। अने पाँच स्थावर हणवारो आगार, छोटो झूंठ, छोटी चोरी, मिथुन, परिग्रह री मर्यादा कीधी, ते मांहिला सेवन, सेवावन, अनुमोदन रो आगार ते अव्रत कहीजे।'

सूत्रकृतांगसूत्र और उववाईसूत्र का नाम लेकर श्रावक को अव्रत की क्रिया लगती है—ऐसा कहना मिथ्या है। उक्त पाठ में कहा है—'श्रावक अठारह पाप से अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है।' परन्तु जिस अंश से वह पाप से नहीं हटा है, वह उसका अव्रत है, ऐसा आगम में लिखा है। यदि कोई यह कहे कि श्रावक जिस अंश से पाप से हटा है, जब वह उसके व्रत में है, तब जिससे वह नहीं हटा है, वह अव्रत में क्यों नहीं है? इसका उत्तर यह है कि उक्त पाठ में श्रावक को अठारह पाप से अंशतः हटना और अंशतः नहीं हटना कहा है। इसलिए श्रावक मिथ्यादर्शन–शल्य से भी अंशतः हटा है और अंशतः नहीं हटा है। श्रावक मिथ्यादर्शन के जिस अंश से नहीं हटा है, उस अंश की अपेक्षा से श्रावक को मिथ्यादर्शन की क्रिया नहीं लगती? यदि यह कहें कि श्रावक मिथ्यादर्शन–शल्य पाप से सर्वथा नहीं हटा है, फिर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होने के कारण उसे मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया नहीं लगती। उसी प्रकार अठारह पापों के जिस अंश से श्रावक नहीं हटा है, उसका सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होने के कारण उसे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया नहीं लगती। भगवतीसूत्र में स्पष्ट लिखा है कि श्रावक को प्रथम की तीन क्रियाएँ लगती हैं। अप्रत्याख्यानिकी और मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया नहीं लगती।

तत्थ णं जे ते संजयासंजया तेसि णं आदिओ तिण्णि किरिआओ कज्जंति।

—भगवती, १, २, २२

संयतासंयत श्रावक को आदि की तीन क्रियाएँ लगती हैं—१. आरम्भिकी, २. पारिग्रहिकी और ३. मायाप्रत्यया। शेष अप्रत्याख्यानिकी और मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रियाएँ नहीं लगतीं।

अतः श्रावक को अव्रत की क्रिया लगने की प्ररूपणा करना आगम-विरुद्ध है। फिर भी यदि कहें कि अठारह पापों का अंश शेष रहने के कारण उसे अव्रत की क्रिया लगनी चाहिए, तो श्रावक में जो मिथ्यादर्शन शल्य का अंश शेष रहा है, उससे उसे मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया भी लगनी चाहिए। यदि यह कहें कि श्रावक में मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया वर्जित की गई है, तो उसी तरह उसमें अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगने का भी आगम में निषेध किया है। अतः श्रावक को अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा मानना नितान्त असत्य है।

उववाई एवं सूत्रकृतांगसूत्र में श्रावक को अठारह पाप से अंशतः हटने और अंशतः नहीं हटने का उल्लेख है।

एगच्चाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जाव-जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया एवं जाव परिग्गहाओ पडिविरया एगच्चाओ अपडिविरया। एगच्चाओ कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अब्भक्खाणा ओ, पेसुणाओ, परपरिवायाओ, अरति-रतिओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ। पडिविरया जाव-जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया जाव-जीवाए।

—उववाई, प्रश्न १२

श्रावक यावज्जीवन प्राणातिपात से लेकर परिग्रहपर्यन्त एक-एक अंश से निवृत्त और एक अंश से निवृत्त नहीं है। इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, माया-मृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य के एक-एक अंश से हटा है और एक-एक अंश से नहीं हटा है।

प्रस्तुत पाठ में श्रावक को अठारह पाप से अंशतः निवृत्त होना नहीं कहा है। अतः वह अठारहवें पाप मिथ्यादर्शन शल्य से भी अंशतः नहीं हटा है। उससे अंशतः नहीं हटने पर भी जब श्रावक को मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया नहीं लगती है, तब अठारह पाप से अंशतः नहीं हटने पर भी उसे अव्रत की क्रिया कैसे लगेगी? अतः उक्त पाठ के आधार पर श्रावक को अव्रत की क्रिया लगती है, ऐसा कहकर उसको अन्न-पानी के द्वारा सहायता करने में एकान्त पाप कहना भारी भूल है।

साता पहुँचाना शुभ कार्य है

श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती, यह मुझे ज्ञात हुआ। परन्तु श्रावक को साता पहुँचाने से धर्म या पुण्य होता है, इसका क्या प्रमाण है?

भगवतीसूत्र का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावक को साता पहुँचाने से धर्म और पुण्य होता है।

गोयमा! सणं कुमारे देविन्दे देवराया बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयांणं, बहूणं सावियाणं, हिय-कामए, सुह-कामए, पत्थकामए, अणुकम्पिए, निस्सेयसिए, हिय-सुह-निस्सेयसकामए, से तेणट्ठेणं गोयमा! सणं कुमारे भव सिद्धिए जाव णो अचरिमे।

—भगवतीसूत्र, ३, १, १४०

हे गौतम! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुत से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं के हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्ष की कामना करते हैं। इसलिए वह भवसिद्धि से लेकर यावत् चरम है।

प्रस्तुत पाठ में सनत्कुमार देवेन्द्र को साधु-साध्वी की तरह श्रावक और श्राविकाओं का भी हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा एवं मोक्ष चाहने से भवसिद्धि से लेकर यावत् चरम होना कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रावक और श्राविकाओं को साता पहुँचाने से धर्म और पुण्य होता है। जब सनत्कुमार देवेन्द्र को श्रावक-श्राविकाओं के हित, सुख, पथ्य आदि की कामना मात्र करने से इतना बड़ा उत्तम फल प्राप्त हुआ, तब फिर साक्षात् उनका हित, सुख एवं पथ्य आदि करने से तो कहना ही क्या? अतः जो श्रावक को सुखप्रद वस्तु प्रदान करके उसे धर्म में सहायता देते हैं, वे धर्म का कार्य करते हैं, एकान्त पाप का नहीं। टीकाकार ने लिखा है—

हितं सुख-निबन्धनं वस्तु 'सुह-कामए' त्ति सुखं शम, 'पत्थ-कामए' त्ति पथ्यं दुःख त्राणं कस्मादेवमित्यत्त आह—'अनुकम्पिए' त्ति कृपावान्।

सुख-साधक वस्तु का नाम 'हित' है। सुख पहुँचाना 'सुख' है और दुःख से त्राण—रक्षा करना 'पथ्य' है।

सनत्कुमार देवेन्द्र साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं पर अनुकम्पा रखते हैं, इसलिए वे उनके हित, सुख एवं पथ्य की कामना करते हैं।

यदि कोई यह तर्क करे कि प्रस्तुत पाठ में श्रावक-श्राविकाओं के शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य की कामना नहीं, उनके मोक्ष सम्बन्धी हित, सुख एवं पथ्य की कामना करना कहा है। अतः श्रावक को शारीरिक सुख देना धर्म नहीं है। परन्तु यह तर्क उपयुक्त नहीं है। क्योंकि यह पाठ श्रावक-श्राविकाओं की तरह साधु-साध्वियों के लिए भी आया है। अतः यदि श्रावक-श्राविकाओं के शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य करने में धर्म, पुण्य नहीं है, तो साधु-साध्वियों का शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य करने में भी धर्म एवं पुण्य नहीं होगा। यदि साधु-साध्वी के शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य करने में धर्म और पुण्य होना मानते हो, तो श्रावक-श्राविकाओं के शारीरिक हित, सुख एवं पथ्य करने से भी धर्म एवं पुण्य मानना होगा।

उववाईसूत्र में श्रावक को धार्मिक, सुशील, सुव्रत, धर्मानुरागी और धर्मपूर्वक जीविका करने वाला कहा है।

अप्पिच्छा, अप्परंभा, अप्प-परिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाइ, धम्मप्पलोइया, धम्मप्पलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुशीला, सुव्वया, सुप्पडियाणंदा साहू।

—उववाईसूत्र

श्रावक अल्प इच्छावाले, अल्पारंभी, अल्प-परिग्रही, धार्मिक, धर्मानुग, धर्मिष्ठ, धर्माख्यायी, धर्मप्रलोकी, धर्मप्ररंजन, धर्म समुदाचार, धर्मपूर्वक जीविका करने वाले, सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यानन्द और साधु तुल्य होते हैं।

आगमकार ऐसे विशेषण लगाकर जिसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं, ऐसे श्रावक को कुपात्र बताना और उसे दान देकर उसके धर्म में सहायता पहुँचाने के काम में एकान्त पाप कहना कितनी भारी भूल है, यह बुद्धिमान पाठक स्वयं सोच सकते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में भी श्रावक को धर्मपक्ष में माना है।

तत्थ णं जा सा सव्वओ विरयाविरई एस ठाणे आरंभ णो आरंभ ठाणे। एस ठाणे आरिए, केवले, पडिपुन्ने, णेयाउए, संसुद्धे, सलगत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निव्वाणमग्गे, निज्जाणमग्गे, सव्वदुःखप्पहीणमग्गे, एगंत सम्मे साहू।

—सूत्रकृतांग, सूत्र २, २, ३६

पूर्व कथित स्थानों में जो विरताविरत स्थान है, वह 'आरंभ णो आरंभ' कहलाता है। यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, संशुद्ध, इन्द्रिय संयम, सिद्धिमार्ग, मुक्ति-मार्ग, निर्वाण-मार्ग, सर्वविध दुःखों का विनाशक मार्ग, एकान्त सम्यग्भूत और साधुभूत है।

यहाँ विरताविरत स्थान को सम्यग्भूत, साधुभूत कहकर धर्मपक्ष में स्थापित किया है। यद्यपि कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि कार्य करते समय श्रावक से आरंभजा हिंसा भी होती है, तथापि उसमें धर्मबहुलता होने के कारण उसकी धर्मपक्ष में ही गणना की है। टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है—

एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद् धर्माधर्मभ्यामुपेतं तथापि धर्म भूयिष्ठत्वात् धार्मिक पक्ष एवावतरति तद्यथा बहुषु गुणेषु मध्य पाततो दोषो नात्मानं लभते, कलंक इव चन्द्रिकायाः। तथा बहूदकमध्यपतितो मृच्छकलावयवोनोदकं कलुषयितुमलम् एवं अधर्मोऽपि धर्ममितिस्थितं धार्मिक पक्ष एवायम्।

यह विरताविरत नामक स्थान यद्यपि मिश्र होने से धर्म और अधर्म दोनों से युक्त है, तथापि धर्म की बहुलता होने से यह धर्मपक्ष में ही सिद्ध होता है। क्योंकि बहुत गुणों के मध्य में पड़ा हुआ थोड़ा-सा दोष अपना प्रभाव नहीं दिखलाता। वह चन्द्रमा की किरणों में कलंक की तरह छिप जाता है। जैसे बहुत जल में पड़ा हुआ मिट्टी का कण जल को गन्दा करने में समर्थ नहीं होता, उसी तरह बहुत धर्म के मध्य में पड़ा हुआ थोड़ा-सा अधर्म, धर्म को कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकता।

यहाँ टीकाकार ने प्रस्तुत पाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए श्रावक को धर्मपक्ष में बताकर उसमें स्थित स्वल्प पाप को अकिंचित्कर एवं नगण्य बताया है। अतः उक्त पाठ एवं उसकी टीका से श्रावक सुपात्र और धर्मनिष्ठ सिद्ध होता है। इसलिए श्रावक की सेवा-शुश्रूषा करने और दान-सम्मान आदि के द्वारा उसे धर्म-कार्य में सहायता देने से एकान्त पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध समझना चाहिए।

श्रावक : अव्रत का शस्त्र नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६३ पर स्थानांग का मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे दश शस्त्र कह्या तिण में अव्रत ने भाव शस्त्र कह्यो। तो जे श्रावक ने अव्रत सेवायां रुड़ाफल किम लागे? ए तो अव्रत शस्त्र छै, माटे जेतला-जेतला श्रावक रे त्याग छै, ते तो व्रत छै। अनें जेतलो आगार छै—ते

सर्व अव्रत छै। आगार अव्रत सेव्यां, सेवायां शस्त्र तीखो कीधो कहिये। पिण धर्म किम कहिये?'

स्थानांगसूत्र की उक्त गाथा लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

दश विहे सत्थे पण्णत्ते तं जहा—
सत्थमग्गी, विसं, लोणं, सिणेहो, खारमंबिलं।
दुप्पउत्तो-मणो, वाया, काया, भावो य अविरई।।

—स्थानांगसूत्र, १०, ७४३

शस्त्र दस प्रकार के होते हैं—१. अग्नि, २. विष, ३. नमक, ४. तैल-घी आदि चिकने पदार्थ, ५. भस्म आदि क्षार पदार्थ, ६ खटाई, ७ से ६ अयतनापूर्वक प्रयुक्त मन, वचन और काय योग, और १०. अप्रत्याख्यान।

इनमें प्रथम के छः द्रव्य शस्त्र हैं और अन्तिम चार भाव शस्त्र हैं। जिसमें ये भाव शस्त्र हैं, यदि वह कुपात्र समझा जाए और उसको दान देने से शस्त्र को तीक्ष्ण करना एवं एकान्त पाप समझा जाए, तो षष्ठम गुणस्थानवर्ती प्रमत्त साधु को भी कुपात्र मानना होगा और उसे दान देना उसके प्रमाद रूप शस्त्र को तीक्ष्ण करना एवं एकान्त पापमय कहना होगा। क्योंकि प्रमत्त साधु में प्रमादवश मन, वचन और काय योग का दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है। यदि यह कहें कि प्रमत्त साधु को जो दान दिया जाता है, वह प्रमाद की वृद्धि के लिए नहीं, उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उन्नति के लिए दिया जाता है। इसलिए उसे दान देना पाप नहीं होता। इसी तरह सरल भाव से यह भी समझना चाहिए कि श्रावक को दोष-वृद्धि के लिए नहीं, उसके गुणों का पोषण करने के लिए दान दिया जाता है। अतः श्रावक को धर्म-वृद्धि के लिए दान देना न तो एकान्त पाप है और न शस्त्र को तीक्ष्ण करना ही है। श्रावक को अव्रत की क्रिया भी नहीं लगती, इसलिए उसे दान देना अव्रत का सेवन कराना नहीं है। इस विषय में पहले विस्तार से लिख चुके हैं। वास्तव में जैसे प्रमत्त साधु को उसके मन, वचन और काय योग के दुष्प्रयोग को कम करने के लिए दान दिया जाता है, उनकी वृद्धि करने के लिए नहीं, उसी तरह श्रावक को भी उसके दोषों की निवृत्ति के लिए दान दिया जाता है, उनकी वृद्धि के लिए नहीं। अतः श्रावक को दान देने में एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

भ्रमविध्वंसनकार साधु के भोजन को धर्म में और श्रावक के भोजन को पाप में कहकर श्रावक को दान देने में एकान्त पाप बताते हैं। परन्तु उनका यह कथन आगम-विरुद्ध है। राजप्रश्नीयसूत्र में भोजन-विशेष से पुण्य होना भी कहा है।

सरियाभे णं भन्ते देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी, सा दिव्वा देव जुइ, से दिव्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे, किण्णा पत्ते किण्णा अभिसमण्णागए, पुव्व-भवे के आसी किं नामए वा को वा गुत्तेणं कयरंसि वा गामंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा किं वा दच्चा किं वा भोच्चा किं वा किच्चा किं वा समायरित्ता कस्स वा तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म जण्णं सुरियाभे णं देवेणं सा दिव्वा देव-इड्ढी जाव देवाणुभागे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए।

—राजप्रश्नीय सूत्र ४७

हे भगवन्! यह सूर्याभ देव ने ऐसी उत्तम देव ऋद्धि, ऐसी उत्तम द्युति और ऐसा दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया? यह सूर्याभ देव पूर्वजन्म में कौन था? इसका नाम और गोत्र क्या था? यह किस ग्राम या नगर में रहता था? इसने पूर्वजन्म में कौन-सा दान दिया? किस नीरस पदार्थ का भोजन किया? कौन-सा उद्योग और तप किया? किस श्रमण-माहन से इसने एक भी धर्म सम्बन्धी वाक्य सुना? जिससे इसको दिव्य ऋद्धि से लेकर यावत् इस प्रकार का प्रभाव प्राप्त हुआ।

इस पाठ में जैसे तथारूप के श्रमण-माहन से आर्यधर्म सम्बन्धी वाक्य सुनने, दान देने, तप करने से दिव्य ऋद्धि की प्राप्ति कही गई है, उसी तरह भोजन करने से भी कही गई है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु के अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति का खाना-पीना एकान्त पाप में नहीं है। यदि शुभ भाव से नीरस एवं सात्त्विक पदार्थ का भोजन किया जाए, तो उससे भी पुण्य होता है। अतः श्रावक के खाने-पीने के कार्य को एकान्त पाप में बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

बन्ध राग-द्वेष से होता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ६४ पर भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशा ८ का मूलपाठ बताकर लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो जे श्रावक देश थकी निवृत्यो, देश थकी नथी निवृत्यो, देश पचखाण कीधो, देश पचखाण कीधो नथी। जे देश थकी निवृत्यो अने देश पचखाण किधो तेणे करी देवता हुवे। इहां पचखाणे करी देवता थाय कह्यो, ते किम जे पचखाण पालतां कष्ट भी पुण्य बंधे तेणे करी देवायुष बंधे कह्यो। पिण अव्रत सेव्यां, सेवायां देवगति नो बंध न कह्यो।' इन के कहने का भाव यह है कि उक्त पाठ में श्रावक को देश प्रत्याख्यान से देवता होना कहा है, आगार के सेवन से नहीं। इसलिए श्रावक का आगार एकान्त पाप में है।

भगवतीसूत्र का वह पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

बाल-पंडिए णं मणुसे किं नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ?

गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

से केणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ?

गोयमा! बाल-पंडिए णं मणुसे तहारूवस्स समणस्स-माहणस्स वा अन्तिम एगमवि आरियं धम्मियं सोच्चा णिसम्म देसं उवरयइ, देसं नो उवरयइ, देसं पचक्खाइ, देसं नो पचक्खाइ से तेणट्ठेणं देसोवरइ देस पच्चाक्खाणे णं नो नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ।

—भगवतीसूत्र, १, ८, ६४

हे भगवन्! बाल-पण्डित मनुष्य, नरक, तिर्यंच और मनुष्य की आयु बांध कर नरकादि योनि में जाता है या देव आयु बांध कर देवता होता है?

हे गौतम! बाल-पण्डित मनुष्य नरकादि का आयु बांधकर नरकादि में नहीं जाता, किन्तु देव आयु बांधकर देव योनि में जन्म ग्रहण करता है।

ऐसा क्यों होता है?

हे गौतम! बाल-पण्डित मनुष्य तथारूप के श्रमण और माहन से आर्य धर्म सम्बन्धी एक भी वचन सुनकर देश से निवृत्त होता है और देश से निवृत्त नहीं होता। देश से प्रत्याख्यान करता है और देश से प्रत्याख्यान नहीं करता। अतः देशविरति और देशप्रत्याख्यान से उसको नरक आयु का बन्ध नहीं होता, किन्तु देव आयु को बांधकर वह देवता होता है।

प्रस्तुत पाठ में देशविरति और देशप्रत्याख्यान से नरकादि गतियों का बन्ध रुकना बताया है, न कि देवायु का बन्ध होना। यदि विरति और प्रत्याख्यान से आयुबन्ध होने लगे, तो फिर मोक्ष किससे और कैसे होगा? प्रज्ञापनासूत्र की टीका में विरति से बंध होने का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है।

ननु विरतस्य कथं बन्धो? न हि विरतिर्बन्ध हेतुर्भवति, यदि पुनर्विरतिरपि बन्ध हेतु स्यात्तदा निर्मोक्ष प्रसंगः उपायाभावात्। उच्यते—

नहि विरतिर्बन्ध हेतुः, किन्तु विरतस्य ये कषायास्ते बन्धकारणं, तथाहि सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषायाः संज्वलनरूपा उदयप्राप्ताः सन्ति योगाश्च, ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभ प्रकृतीनां तत्प्रत्ययो बन्धः।

—प्रज्ञापना, पद २२, २८७ टीका

विरत पुरुष को बन्ध क्यों होगा? विरति बन्ध का कारण नहीं है। यदि विरति से भी बन्ध हो, तो मोक्ष किससे होगा? क्योंकि विरति से भिन्न कोई मोक्ष का कारण नहीं है।

विरति से बन्ध नहीं होता है। किन्तु विरत पुरुषों में जो कषाय है, वह बन्ध का कारण है। सामायिक, छेदोपस्थापन और परिहारविशुद्धि आदि संयमों में भी संज्वलनात्मक कषाय और योग का उदय रहता है। अतः उससे विरत पुरुषों को भी आयु आदि का बन्ध होता है।

प्रस्तुत टीका में विरति से बन्ध होने का निषेध किया है। अतः भगवती के उक्त पाठ में विरति और प्रत्याख्यान से देव आयु का बन्ध होना नहीं कहा है। विरति और प्रत्याख्यान से नरक आदि का आयुबन्ध नहीं होता, परन्तु विरत पुरुषों में जो कषाय और योग रहता है, उससे देव-आयु का बन्ध होता है। अतः विरति और प्रत्याख्यान से देव-आयु का बन्ध बताना मिथ्या है।

देशविरति और देशप्रत्याख्यान से जो कायकष्ट होता है, उससे पुण्यबन्ध मानकर देव-आयुबन्ध की कल्पना करना भी युक्तिसंगत नहीं है।

आगम एवं उसकी टीका में कहीं भी नहीं लिखा है कि विरति और प्रत्याख्यान से जो कायक्लेश—कष्ट होता है, उससे वह देवता होता है। प्रज्ञापनासूत्र की टीका में विरत पुरुषों में उदित कषाय एवं योग से देवता होना बताया है। अतः विरति और प्रत्याख्यान से जो कायकष्ट होता है, उससे कर्मों की निर्जरा होती है, पुण्यबन्ध नहीं। यदि विरति और प्रत्याख्यान से होने वाले कायकष्ट से पुण्यबन्ध होने लगे, तो फिर कर्मों की निर्जरा किससे होगी? अतः उक्त कष्ट से पुण्यबन्ध मानकर देव-आयु बन्धने की कल्पना करना मिथ्या है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि देशविरति और देशप्रत्याख्यान से देवता नहीं होता, तो श्रावक किस धर्म के प्रभाव से देवता होता है?

श्रावक में जो अल्पारंभ, अल्प परिग्रह, अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आश्रव होते हैं, उनसे वे देवता होते हैं, देशविरति या देशप्रत्याख्यान से नहीं। क्योंकि बन्ध आश्रव से होता है, संवर और निर्जरा से नहीं। देशविरति और देशप्रत्याख्यान संवर है, आश्रव नहीं। इसलिए इन से देवता होने की कल्पना करना आगम-विरुद्ध है।

भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशा ५ में स्पष्ट कहा है कि व्रतप्रत्याख्यान एवं उससे होने वाले कष्ट से देवता का आयु बन्ध नहीं होता।

संजमे णं भन्ते! किं फले? तवे णं भन्ते! किं फले?
संजमे णं अज्जो! अणण्हय फले। तवे णं वोदाण फले।

—भगवती, २, ५, १११

तुंगिया नगरी के श्रावकों ने भगवान् पार्श्वनाथ के स्थविरों से पूछा—हे भगवन्! संयम और तप का क्या फल है?

स्थविरों ने कहा कि संयम का फल है—नवीन कर्मों का आगमन रुकना। और तप का फल है, पूर्वकृत कर्मों का नाश करना।

प्रस्तुत पाठ में भगवान पार्श्वनाथ के स्थविरों ने व्रत और प्रत्याख्यान से संवर और निर्जरा का होना कहा है। अतः व्रतप्रत्याख्यान से पुण्यबन्ध मानना आगम-विरुद्ध है। इसके अनन्तर उक्त श्रावकों ने उक्त स्थविरों से पूछा कि भगवन्! जब संयम और तप से संवर और निर्जरा होती है, तब पुरुष देवता कैसे होता है? इस प्रश्न का चार स्थविरों ने चार तरह से उत्तर दिया—

एक ने कहा—'सराग अवस्था की तपस्या से व्रतधारी और तपस्वी पुरुष स्वर्ग में जाते हैं।'

दूसरे ने कहा—'सराग अवस्था के संयम से जीव स्वर्ग में जाता है।'

तीसरे ने कहा—'क्षय होने से बचे हुए कर्मों के द्वारा जीव स्वर्ग में जाते हैं।'

चतुर्थ ने कहा—'सांसारिक पदार्थों में आसक्त होने से जीव देवता होते हैं।'

उक्त उत्तरों में से प्रथम के दो उत्तरों का अभिप्राय बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

ततश्च सरागकृतेन संयमेन तपसा च देव त्वावाप्तिः रागांशस्य कर्म–बन्ध हेतुत्वात्।

सराग संयम और सराग तप में जो रागांश विद्यमान है, वही कर्मबन्ध का हेतु है। उस राग से ही सराग संयमी एवं सराग तपस्वी देव बनते हैं, संयम और तप से नहीं।

तीसरे उत्तर में क्षय होने से बचे हुए कर्मों के कारण बन्ध होना कहा है। चौथे उत्तर में तपस्वी और संयमी पुरुषों का अपने उपकरणों पर जो ममत्वभाव है, उससे देवभव पाना बताया है, परन्तु संयम एवं तप से देवभव पाना किसी ने नहीं कहा है। अतः व्रतप्रत्याख्यान से तथा उनके परिपालन से होने वाले कायकष्ट से देवता होने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य है। वस्तुतः श्रावक अल्पारंभ एवं अल्प–परिग्रह आदि से देवता होता है। अतः उनका शुभ भाव से भोजन करना एकान्त पाप में कैसे हो सकता है? यह बुद्धिमान पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

दान का अनुमोदन पाप नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १०२ पर लिखते हैं—'अथ इहां पिण कह्यो, ते गृहस्थादिक ने देवो संसार भ्रमण रो हेतु जाणी नें साधु त्याग्यो। इम कह्यो तो गृहस्थ में तो श्रावक पिण आयो। तो ते श्रावक ने दान री साधु अनुमोदना किम करे? तिण में धर्म-पुण किम कहे?'

सूत्रकृतांगसूत्र की उक्त गाथा एवं टीका लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जेणेहं णिव्वहे भिक्खू अन्नपाणं तहा-विहं।
अणुप्पयाणमन्नेसिं तं विज्जं परिजाणिया।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, ९, २३

येन अन्नेन-पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्वशुद्धेन वा इह अस्मिन्लोके इदं संयम-यात्रादिकं दुर्भिक्ष-रोगांतकादिकं वा साधुः निर्वहेन्निर्वाहयेद्वा तदन्नपानं वा तथाविधं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावापेक्षया शुद्धं कल्पं गृहणीयात्। तथैतेषामन्नादीना-मनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रा निर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत्। यदि वा येन-केनचिदनुष्ठिते न इदं संयमं निर्वहेदसारतामापादयेत् तथाविधमशनंपानमन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात् तथैतेषामशनादीनामनुप्रदानं गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति। तदेतत् सर्व ज्ञ-परिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेत्।

संयति पुरुष उत्सर्ग मार्ग में शुद्ध और अपवाद—कारण की अपेक्षा से अशुद्ध जिस अन्न-पानी से दुर्भिक्ष एवं रोगांतक आदि में संयम का निर्वाह करता हो, वह अन्न-पानी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से शुद्ध और कल्प के अनुसार ही ग्रहण करे और उसी तरह का अन्न-पानी वह दूसरे साधु को भी संयम निर्वाह के लिए प्रदान करे। परन्तु जिस अनुष्ठान से साधु का संयम नष्ट होता हो, वैसा अन्न-पानी या अन्य कोई भी पदार्थ ग्रहण न करे। जिस अन्न से साधु का संयम भ्रष्ट हो

जाए ऐसा आहार–पानी गृहस्थ, स्वयूथिक या परयूथिक को न दे। किन्तु ज्ञ–परिज्ञा से उसे जानकर प्रत्याख्यान–परिज्ञा से त्याग दे।

प्रस्तुत गाथा में जिस आहार–पानी से साधु के संयम का नाश होता हो, उस आहार–पानी को स्वयं लेने और दूसरों को देने का निषेध किया है। परन्तु ऐसा नहीं कहा है कि 'गृहस्थ को दान देना संसार–भ्रमण का हेतु जानकर साधु छोड़ दे।' भ्रमविध्वंसनकार ने उक्त गाथा के नीचे जो टब्बा अर्थ लिखा है, वह न तो मूल पाठ से मिलता है और न टीका से। इसलिए वह अशुद्ध एवं गलत अर्थ का बोधक है। अतः इस गाथा का आश्रय लेकर गृहस्थ के दान को संसार–भ्रमण का हेतु बताना अनुचित है।

प्रस्तुत गाथा के चतुर्थ चरण में 'तं विज्जं परिजाणिया' यह पद आया है। यदि कोई खींचतान कर इसका यह अर्थ करे कि पूर्वोक्त कार्य को संसार–भ्रमण का कार्य जानकर साधु छोड़ दे, तो इसके पूर्व गाथा में भी यही पद आया है, वहाँ भी यही अर्थ करना होगा।

जस्सं कित्तिं सलोयं च जाय वंदण पूयणा।
सव्व लोगंसि जे कामा तं विज्जं परिजाणिया।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, ९, २२

यश–कीर्ति, श्लाघा, वन्दन–पूजन और सांसारिक सकल कामनाएँ साधु को छोड़ देनी चाहिए।

प्रस्तुत गाथा में भी 'तं विज्जं परिजाणिया' पद आया है, इससे साधु के वन्दन–पूजन और सत्कार–सम्मान को भी संसार–परिभ्रमण का हेतु मानना होगा। यदि कोई इस सम्बन्ध में यह कहे कि यह बात साधु को अपने लिए कही है। अतः यदि वह अपने वंदन आदि की इच्छा करे, तो यह उसके संसार–परिभ्रमण का हेतु होगा। परन्तु यदि गृहस्थ साधु का वंदन–पूजन करे तो यह कार्य बुरा नहीं है। इसी प्रकार २३वीं गाथा भी साधु के लिए कही गई है। इसलिए यदि साधु गृहस्थ को अनुचित दान दे, तो उसे २३वीं गाथा में बुरा कहा है। परन्तु यदि गृहस्थ को अनुकम्पादान दे, तो वह बुरा नहीं है। अतः गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ को दिए जाने वाले अनुकम्पादान को एकान्त पाप बताना भारी भूल है।

साधु-मर्यादा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १०३ पर निशीथसूत्र, उ. १५, बोल ७८-७९ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ इहां गृहस्थ ने अशनादिक दियां अनें देता ने अनुमोद्यां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो छै। अने श्रावक पिण गृहस्थ इज छै, ते माटे गृहस्थ नो दान साधु ने अनुमोदनों नहीं। धर्म हुवे तो अनुमोद्यां प्रायश्चित्त क्यों कह्यो। धर्म री सदा ही साधु अनुमोदना करे छै।'

साधु जिस-जिस कार्य का अनुमोदन नहीं करते हैं, उन कार्यों को एकान्त पाप बताना मिथ्या है। कई कार्य ऐसे हैं जिनका साधु अनुमोदन नहीं करते, तब भी उन में एकान्त पाप नहीं होता। जैसे निशीथ सूत्र में लिखा है—

जे भिक्खू अण्ण-उत्थियं वा गारत्थियं वा पज्जोसवेई-पज्जोसवन्तं वा साइज्जई।

—निशीथसूत्र, उ. १०, सूत्र ४६

जो साधु पर-यूथिक या गृहस्थ को पर्युपण कराता है और कराते हुए का अनुमोदन करता है, उसको प्रायश्चित्त आता है।

प्रस्तुत पाठ में अन्य-यूथिक और गृहस्थ को पर्युषण कराने का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त कहा है। अतः साधु इसका अनुमोदन नहीं करते, तथापि अन्य-यूथिक एवं गृहस्थ को पर्युषण कराना एकान्त पाप का कार्य नहीं है। इसलिए गृहस्थ परस्पर एक-दूसरे को पर्युपण कराते हैं। भ्रमविध्वंसनकार के उपासक भी परस्पर पर्युषण कराते हैं। वे स्वयं भी पर्युषण करने एवं अन्य को कराने में पाप नहीं मानते। फिर भी वे कहते हैं कि साधु जिस कार्य का अनुमोदन नहीं करते वह एकान्त पापमय है, यह उनका साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

इसी तरह उववाईसूत्र में गोशालक के साधुओं की भिक्षाचरी आदि तपस्या का वर्णन करके, उसका फल स्वर्गप्राप्ति बताया है। उक्त पाठ और उसका अर्थ मिथ्यात्व अधिकार में दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि साधु जिस कार्य का अनुमोदन नहीं करते, वह एकान्त पाप का कार्य नहीं है। क्योंकि गोशालक मत के साधुओं की भिक्षाचरी एवं तपस्या का साधु

अनुमोदन नहीं करते, फिर भी वह एकान्त पाप का कार्य नहीं है। क्योंकि आगम में इसका फल स्वर्गप्राप्ति बताया है। अतः साधु जिस कार्य का समर्थन नहीं करते, उसमें एकान्त पाप बताना मिथ्या है।

निशीथसूत्र, उ. १५ के पाठ का अभिप्राय यह है कि यदि साधु उत्सर्ग में किसी गृहस्थ को अन्नादि दे, तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। यदि गृहस्थ किसी गृहस्थ को अनुकम्पादान दे, तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को इसमें प्रायश्चित्त नहीं कहा है। क्योंकि उक्त आगम में पर्युषण कराने के सम्बन्ध में उसका भी इसी प्रकार का अर्थ होता है। इसलिए इस पाठ का भी उसी शैली से अर्थ करना उचित है।

इस पाठ में ऐसा उल्लिखित है कि 'गृहस्थ और अन्यतीर्थी को पर्युषण कराने वाले का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त आता है।' इसका भाव यह है कि यदि साधु किसी अन्यतीर्थी या गृहस्थ को पर्युषण कराए, तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। उसी तरह निशीथसूत्र, उद्देशा १५ के ७८-७६ सूत्र का भी यही अभिप्राय है कि उत्सर्ग में गृहस्थ को दान देने वाले साधु का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त आता है। परन्तु गृहस्थ को अनुकम्पा बुद्धि से दान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त नहीं आता है। यदि कोई आगम के इस अर्थ को न मानकर गृहस्थ को अनुकम्पादान देने वाले गृहस्थ की अनुकम्पा का अनुमोदन करने से भी साधु को प्रायश्चित्त बताए, तो फिर उनके विचार से गृहस्थ या अन्यतीर्थी को पर्युषण कराने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से भी साधु को प्रायश्चित्त आना चाहिए। और जिस कार्य का साधु अनुमोदन नहीं करते, ऐसे पर्युषण रूप कार्य को करने और कराने वाले गृहस्थ को एकान्त पाप होना चाहिए। परन्तु यह मान्यता आगमसम्मत नहीं है। पर्युषण करने एवं कराने वाले गृहस्थ को एकान्त पाप नहीं होता और उसका अनुमोदन करने वाले साधु को भी प्रायश्चित्त नहीं आता। इसी तरह जो गृहस्थ, गृहस्थ को अनुकम्पादान देता है, उसे एकान्त पाप नहीं होता और न उसका अनुमोदन करने वाले साधु को ही प्रायश्चित्त आता है। भ्रमविध्वंसनकार ने उक्त पाठ के पूर्वापर का विचार किए बिना गृहस्थ को दान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त आता है—ऐसा अर्थ किया है, वह अविवेकपूर्ण है।

निशीथसूत्र में ऐसे अनेक पाठ मिलते हैं। यदि इन पाठों का भ्रमविध्वंसनकार की सूझ-बूझ के अनुसार अर्थ किया जाए तो अर्थ का महा-अनर्थ हो जाएगा। जैसा कि निशीथसूत्र में एक पाठ आया है—

जे भिक्खू वासावासं पज्जोसवीयंसि गामाणुगामं दुइज्जइ दुइज्जं

तं वा साइज्जइ।

—निशीथसूत्र, उ. १०, सूत्र ७१

जो साधु वर्षावास में विहार करता है या विहार करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

इस पाठ में वर्षा ऋतु में ग्रामानुग्राम विहार करने वाले एवं उसे अच्छा समझने वाले साधु को प्रायश्चित्त बताया है। यदि कोई साधु गुरु-दर्शन के लिए पावस ऋतु में विहार करता है और जो साधु उसके विहार का अनुमोदन करता है, उन दोनों को प्रायश्चित्त आता है। अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से जो श्रावक वर्षावास में साधु के दर्शनार्थ एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं और जो साधु उस श्रावक का अनुमोदन करते हैं, उन दोनों को प्रायश्चित्त आना चाहिए। क्योंकि जैसे गृहस्थ को अनुकम्पादान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने वाले साधु को भ्रमविध्वंसनकार प्रायश्चित्त आना मानते हैं। अतः वर्षावास में साधु के दर्शनार्थ विहार करने वाले श्रावक का अनुमोदन करने वाले साधु को भी प्रायश्चित्त आता है, ऐसा मानना होगा। यदि यह कहें कि उक्त पाठ का अभिप्राय यह है कि वर्षावास में साधु के दर्शनार्थ साधु जाता हो और दूसरा साधु उसका अनुमोदन करता हो, तो उन दोनों को प्रायश्चित्त आता है, न कि साधु के दर्शनार्थ पावस ऋतु में जाने वाले श्रावक एवं उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आता है। इसी सद्बुद्धि से यह समझना चाहिए कि गृहस्थ को दान देने वाले साधु का अनुमोदन करने से साधु को प्रायश्चित्त बताया है, गृहस्थ को दान देने वाले गृहस्थ का अनुमोदन करने से नहीं।

भ्रमविध्वंसनकार ने श्रावक को दिए जाने वाले दान में एकान्त पाप सिद्ध करने के लिए निशीथ का जो पाठ लिखा है, उसकी चूर्णि में अपवाद मार्ग में अवसर आने पर साधु को भी गृहस्थ को दान देने का विधान किया है।

जे भिक्खू अण्ण-उत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा असणं वा ४ देइ दयंतं वा साइज्जइ।

—निशीथसूत्र, उ. १५, सूत्र ७५

जत्थ गिहीणं अण्ण-तित्थियाणय साधुणेय अंचियकाले दुलभे भत्तपाणे दंडियमादिणा साहारणं दिण्णं तत्थ ते गिही अण्ण-तित्थिया वा विभज्जावेयव्वा। अहते अनिच्छा साधु भण्णेजा। अहवा ते पंता ताहे साहू विभयति साधुणा विभयं तेण सव्वेसिं वहु समागने व विभइयव्वं एसुवदेसो।

—निशीथ चूर्णि, उ. १५, भाष्यगाथा ४९६८

यदि किसी अकाल या दुष्काल के समय दाता अन्यतीर्थी, गृहस्थ और साधु को शामिल में ही भिक्षा दे, तो साधु उस आहार का विभाग अन्यतीर्थी और गृहस्थों से ही कराए। यदि वे स्वयं विभाग न कर साधु से ही विभाग कराने की इच्छा प्रकट करें, तो साधु सब को बराबर बाँट कर दे। यही आगम का उपदेश है।

प्रस्तुत चूर्णि में स्पष्ट लिखा है—'कारणवश साधु अन्यतीर्थी और गृहस्थ को शामिल मिली हुई भिक्षा को सबको बाँटकर दे सकता है।' जब साधु भी अकालादि के समय अपवाद मार्ग में अन्यतीर्थी और गृहस्थ को शामिल में लाई हुई भिक्षा बाँटकर देता है, तब यदि दीन-हीन जीवों पर दया करके कोई गृहस्थ दान दे, तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है? यह उल्लेख सिर्फ निशीथ चूर्णि में ही नहीं, आचारांगसूत्र में भी मिलता है।

से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिण्डोलगं वा अतिहिं वा पुव्व-पविट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठिज्जा से तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा अवक्कामित्ता अणावायमसंलोए चिट्ठिजा से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्टु दलइज्जा से य एवं वएज्जा, आउसंतो समणा! इमे भे असणं वा ४ सव्व जणाए निसट्ठे तं भुंजह वा-णं परिभाएह वा णं तं चेगइओ पडिगाहित्ता तुसिणीओ उवेहिज्जा, अवियाइं एयं मममेव सिया, माइट्ठाणं संफासे नो एवं करिज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्जा २ से पुव्वामेव आलोइज्जा—आउसंतो समणा! इमे भे असणे वा ४ सव्व-जणाए निसिट्ठे तं भुंजह वा णं जाव परिभाएह वा णं, सेणमेव वयं तं परोवइज्जा-आउसंतो समणा! तुमं चेव णं परिभाएह, से तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं-खद्धं, डायं-डायं, ऊसढं-ऊसढं, रसियं-रसियं, मणुन्नं-मणुन्नं निद्धं-निद्धं, लुक्खं-लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने बहु सममेव परिभाइज्जा, से णं परिभाएमाणं परोवइज्जा—आउसंतो समणा! मा णं तुमं परिभाएहि सव्वे वेगइ आठिआ उ भक्खामो वा पहामो वा, से तत्थ भुंजमाणे नो अप्पणा खद्धं-खद्धं जाव लुक्खं, से तत्थ अमुच्छिए ४ बहु सममव भुंजिज्जा वा पइज्जा वा।

—आचारांगसूत्र, २, १, ५, २६

स भिक्षुर्ग्रामादौ, भिक्षार्थं प्रविष्टो यदि पुनरेवं विजानीयात् यथाऽत्र गृहे श्रमणादिः कश्चित्प्रविष्टः, तं च पूर्व प्रविष्टं प्रेक्ष्य दातृ-प्रतिग्राहका

समाधानान्तराय भयान्न तदालोकं तिष्ठेत्, नापि तन्निर्गमद्वारं प्रति दातृ-प्रतिग्राहकासमाधानान्तराय भयात्, किन्तु स भिक्षुस्तं श्रमणादिकं भिक्षार्थमुपस्थितं 'आदाय' अवगम्यैकान्तमपक्रामेत् अपक्रम्य चान्येषां चानापाते-विजनेऽसंलोके च संतिष्ठेत्, तत्र च तिष्ठतः स गृहस्थः 'से' तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहारमाहृत्य दद्यात, प्रयच्छेश्चैतद् ब्रूयाद् यथा यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिता अहं च व्याकुलत्वान्नाहारं विभजयितुमलमतो। हे आयुष्मन्ताः श्रमणाः! अयमाहारश्चतुर्विधोऽपि 'भ' युष्मभ्यं सर्व जनार्थं मया निसृष्टोदत्तस्तत्साम्प्रतं स्वरुच्या तमाहारमेकत्र वा भुङ्ध्वं परिभजध्वं वा विभज्य वा गृहणीतेत्यर्थः, तदेवंविधं-आहारं उत्सर्गतो न ग्राह्यः दुर्भिक्षेवाऽध्वान निर्गतादौ वा द्वितीय पदे कारणे सति गृहणीयात् गृहीत्वा च नैवं कुर्याद् यथा तमाहारं गृहीत्वा तूष्णीको गच्छन्नैवमुत्प्रेक्षेत यथा ममैवायमेकस्य दत्तोऽपि चायमल्पत्वान्ममैवेकस्य स्याद्। एवं च मातृस्थानं संस्पृशेद्, अतो नैवं कुर्यादिति। यथा च कुर्यात्तथा च दर्शयति—स भिक्षुस्तमाहारं गृहीत्वा तत्र श्रमणाद्यान्तिके गच्छेद्, गत्वा च सः 'पूर्वमेव' आदावेव तेषामाहारं 'आलोकयेत्' दर्शयेत् इदं च ब्रूयाद्—यथा भो आयुष्मन्तः श्रमणादयः! अयमशनादिक आहारो युष्माकं सर्व जनार्थमविभक्त एव गृहस्थेन निसृष्टो—दत्तस्तद्यूयमेकत्र भुङ्ध्व विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेवं ब्रुवाणं कश्चिद् श्रमणादिरेवं ब्रूयाद्—यथा भो आयुष्मन् श्रमण! त्वमेवास्माकं परिभाज्य, नैवं तावत् कुर्यात्। अथ सति कारणे कुर्यात् तदाऽनेन विधिनेति दर्शयति। स भिक्षुर्विभाजयन्नात्मनः 'खद्धं-खद्धं' प्रचुरं-प्रचुरं, 'डागं' ति शाकम् 'ऊसढं' ति उच्छ्रितं वर्णादि गुणोपेतं, शेष सुगमम् यावद् रूक्षमिति न गृहणीयादिति। अपि च 'सः' भिक्षुः 'तत्र' आहारेऽमूर्छितोऽगृद्धोऽनादृतोऽनध्युपपन्न इति एतान्यादर—ख्यापनार्थमेकर्थिकान्युपात्तानि कथञ्चिद्भेदाद्वा व्याख्यातव्यानि इति, तदेवं प्रभूत समं परिभाजयेत्। तं च साधुं परिभाज्यं तं कश्चिदेवं ब्रूयाद्—यथा आयुष्मन् श्रमण! मा त्वं परिभाजय, किन्तु सर्व एव चैकत्र व्यवस्थिता वयं भोक्ष्यामहे पास्यामो वा, तत्र पर-तीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यं। स्व-यूथैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह साम्भोगिकैः सहौघालोचनां दत्वा, भुञ्जानानामयं विधिः। तद्यथा नो आत्मन इत्यादि सुगममिति।

—आचारांग टीका, आगमोदय समिति, पृष्ठ ३३६

किसी ग्राम या नगर में भिक्षा के लिए गए हुए साधु को यह ज्ञात हो जाए कि इस घर में दूसरा भिक्षु भिक्षार्थ गया हुआ है, तो साधु—दाता और याचक के असंतोष एवं अन्तराय के भय से उनके सम्मुख खड़ा न रहे और न उस घर के द्वार पर ही ठहरे, परन्तु वह वहाँ से हटकर किसी एकान्त स्थान में चला जाए और जहाँ मनुष्यों का गमनागमन कम होता हो तथा दाता एवं याचक की दृष्टि भी न पड़ती हो, वहाँ जाकर खड़ा रहे। ऐसे स्थान पर स्थित साधु के पास आकर यदि वह गृहस्थ चतुर्विध आहार देकर कहे, 'हे आयुष्मान् श्रमण! आज आप बहुत-से भिक्षुक मेरे द्वार पर भिक्षार्थ आए हैं, परन्तु मैं कार्य-विशेष में व्यस्त्त रहता हूँ, अतः आप सब को अलग-अलग बाँटकर देने में असमर्थ हूँ। इसलिए यह चतुर्विध आहार आप सब को इकट्ठा देता हूँ। आप सब अपनी इच्छानुसार एक साथ खा लें या बाँटकर खा लें। उत्सर्ग मार्ग में तो साधु उस आहार को ग्रहण न करें, परन्तु दुर्भिक्ष आदि के समय या मार्ग की थकावट की हालत में साधु उस भिक्षा को ले सकता है। उसे लेकर यदि साधु यह सोचे कि यह भिक्षा गृहस्थ ने मुझ को ही दी है और यह है भी थोड़ी इसलिए इसे मैं ही खा लूँ, तो वह कपट का सेवन करता है। साधु को ऐसा कार्य कदापि नहीं करना चाहिए। अतः उस भिक्षा को लेकर साधु अन्य भिक्षुकों के पास जाए और उन्हें दिखाकर यह कहे कि हे श्रमणो! गृहस्थ ने यह आहार हम सब के लिए सम्मिलित ही दिया है। अतः यदि आप चाहें तो हम सब साथ ही खा लें या परस्पर बाँटकर खा लें। यह सुनकर यदि वे यह कहें कि—हे आयुष्मन् श्रमण! आप ही बाँट कर दे दो। उत्सर्ग मार्ग में तो साधु इसे स्वीकार न करें, परन्तु अपवाद मार्ग में यदि उसे बाँटना पड़े, तो वह पदार्थों के प्रलोभन में आकर सुन्दर, सुवासित, स्निग्ध, रूक्ष और मनोज्ञ आहार अपने हिस्से में अधिक न रखे, परन्तु सब पदार्थों का सम विभाग करे। उस समय यदि वे यह कहें कि—हे आयुष्मन् श्रमण! आप इसे न बाँटें। हम सब साथ-साथ खा लेंगे, तो साधु परतीर्थियों के साथ भोजन न करे। अपने यूथ के पार्श्वस्थ साम्भोगिक साधु के साथ आलोचना लेकर खा लें। परन्तु आहार करते समय साधु उस आहार में मूर्च्छित होकर अच्छे-अच्छे पदार्थ साथियों से अधिक न खाए, सबके साथ बराबर खाए।

प्रस्तुत पाठ में अपवाद मार्ग में साधु को दूसरे भिक्षुओं के साथ प्राप्त हुई भिक्षा को बाँटकर देना कहा है। अतः अपवाद मार्ग में साधु भी अन्यतीर्थी एवं गृहस्थ को दे सकते हैं। जब साधु भी उन्हें अपवाद मार्ग में दे सकते हैं, तब यदि कोई गृहस्थ किसी गृहस्थ को दान देकर उसके धर्म की रक्षा करता है, तो उसे एकान्त पाप कैसे होगा? अतः निशीथसूत्र के पाठ का नाम लेकर गृहस्थ को अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप बताना भारी भूल है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १०३ पर लिखते हैं, 'इण निशीथ ने पनरमें उद्देशे एहवो पाठ कह्यो छै—

जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ–भुंजं तं वा साइज्जइ।

इहां कह्यो सचित्त आंबो भोगवे तो अने भोगवता ने अनुमोदे तो प्रायश्चित आवे। जो साधु भोगवतो हुवे तेहनें अनुमोदणो नहीं, तो गृहस्थ आंबो भोगवे तेहने साधु किम अनुमोदे? जो गृहस्थ रा दान ने साधु अनुमोदे तो तिणरा लेखे आंबो गृहस्थ भोगवे, तेहने पिण अनुमोदणो।'

आम्रफल वाले पाठ का दृष्टान्त देकर गृहस्थ के दान को एकान्त पाप में स्थापित करना मिथ्या है। सचित्त आम्र खाने में प्रत्यक्षतः जीवों की हिंसा होती है, इसलिए साधु उसका अनुमोदन नहीं कर सकता। सचित्त आम्र चाहे गृहस्थ खाए या साधु, साधु दोनों को बुरा समझता है, परन्तु गृहस्थ के दान में यह मान्यता घटित नहीं होती। यदि कोई गृहस्थ अनुकम्पा करके किसी गृहस्थ को अचित्त आहार एवं दधि आदि अचित्त पदार्थों का दान दे, तो उसमें कौन–से जीवों की हिंसा होती है? जिससे साधु अनुकम्पादान का अनुमोदन न करे। साधु हिंसा का अनुमोदन नहीं करता, परन्तु अनुकम्पा का अनुमोदन करता है। अस्तु, सचित्त आम्रफल का दृष्टान्त देकर दीन–हीन जीवों को अनुकम्पा बुद्धि से दान देने में एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

विधि और निषेध

यदि गृहस्थ को दान देने से पुण्य होता है, तो साधु उत्सर्ग मार्ग में गृहस्थ को दान क्यों नहीं देता? और निशीथसूत्र में गृहस्थ को दान देने वाले साधु को प्रायश्चित्त क्यों कहा?

गृहस्थ तथा अन्यतीर्थी पर अनुकम्पा लाकर दान देने से एकान्त पाप होता है, इसलिए निशीथसूत्र में साधु के लिए गृहस्थ को दान देने का निषेध नहीं किया है। परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विराट् धर्म को छोड़कर अनुकम्पादान रूप साधारण पुण्य को ग्रहण करना साधु के लिए निषिद्ध कहा है। अनुकम्पादान का पुण्यलाभ तो गृहस्थ अवस्था में भी किया जा सकता है, परन्तु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धर्म का लाभ गृहस्थ अवस्था में पूर्णतः नहीं हो सकता। इसलिए गृहस्थ अवस्था का त्याग करके दीक्षा स्वीकार की जाती है। दीक्षित होने का उद्देश्य ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की उन्नति करना है। अतः उस प्रमुख उद्देश्य का परित्याग करके, साधारण पुण्य कार्य में प्रवृत्त होना साधु के लिए उचित नहीं है। यह कार्य उसकी उन्नति में बाधक है। यदि कोई रत्नों का व्यापारी रत्नों के व्यापार को छोड़कर पैसों के व्यापार में प्रवृत्त हो जाए, तो यह उसके लिए उचित नहीं कहा जा सकता। यद्यपि पैसों के व्यापार में केवल घाटा ही नहीं, लाभ भी मिलता है, लेकिन रत्नों के व्यापार

में मिलने वाले लाभ के समक्ष वह सामान्य है। उसी तरह ज्ञान, दर्शन और चारित्र के महान् लाभ को ठोकर मारकर, जो पुण्य के साधारण लाभ के कार्य में प्रवृत्त होता है, वह महान् लाभ को त्यागकर साधारण लाभ का कार्य करता है। इस अपेक्षा से आगम में साधु को गृहस्थ को दान देने का निषेध किया है, परन्तु अनुकम्पादान एकान्त पाप है, इसलिए नहीं।

यदि कोई यह तर्क करे कि 'गृहस्थ को दान देने से साधु के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की उन्नति में क्या बाधा होती है?'

इसका समाधान यह है कि साधु को अपने शरीर-निर्वाह से अधिक भोजन लेना नहीं कल्पता। यदि साधु अन्यतीर्थी और गृहस्थ को अनुकम्पादान दे, तो उसे अपनी आवश्यकता से अधिक आहार लाना पड़ेगा और आवश्यकता से अधिक आहार लेने पर उसकी निरवद्य भिक्षावृत्ति नहीं रह सकती। इस तरह चारित्र में बाधा उपस्थित होती है। और गृहस्थों एवं अन्यतीर्थियों के साथ परिचय बढ़ने से दर्शन में गिरावट आ जाती है। इस कारण निशीथसूत्र में गृहस्थ को दान देने का निषेध किया है, एकान्त पाप जानकर नहीं। निशीथसूत्र में शिथिलाचारी साधु से अन्न, वस्त्र, कम्बल आदि लेने से साधु को प्रायश्चित्त कहा है।

जे भिक्खू पासत्थस्स असणं, पाणं, खाइमं, साइमं पडिच्छइपडिच्छं तं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू पासत्थस्स वत्थं वा पडिग्गहं वा कम्बलं वा पाय-पुच्छणं वा पडिच्छइ-पडिच्छं तं वा साइज्जइ।

—निशीथसूत्र, उ. १५, सूत्र ७८ और ६०

जो साधु पार्श्वस्थ साधु से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य ग्रहण करता है, या ग्रहण करते हुए को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

जो साधु पार्श्वस्थ साधु से वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोंछन ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

इस पाठ में शिथिलाचारी साधु से जो साधु अशन-पान एवं वस्त्र आदि ग्रहण करता है या ग्रहण करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी कहा है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि साधु उक्त वस्तुएँ गृहस्थ से लेता है और गृहस्थ पार्श्वस्थ से निम्न श्रेणी का है। अतः जब गृहस्थ से उक्त वस्तुओं का लेना बुरा नहीं है, तब पार्श्वस्थ से लेने में दोष क्यों कहा है? इसका उत्तर यही है कि शिथिलाचारी साधु के साथ लेन-देन का अधिक संसर्ग रखने से संसर्ग दोष के कारण साधु स्वयं शिथिलाचारी हो सकता है। इस

संभावना के कारण ही निशीथसूत्र में शिथिलाचारी साधु से अन्न, वस्त्र आदि लेने-देने का निषेध किया है, एकान्त पाप जानकर नहीं। उसी तरह ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की उन्नति में अवरोध न हो, इसलिए उत्सर्ग-मार्ग में गृहस्थ एवं अन्यतीर्थी को दान देने का निषेध किया है, एकान्त पाप समझकर नहीं।

उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १, गाथा ३५ में साधु को ऐसे स्थानों में आहार करने का विधान है, जो चारों ओर से आवृत हो। इस विधान का अभिप्राय बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा संपातिम सत्व संपात संभवात्। संकटे पार्श्वतः कट-कुड्यादिना संकट द्वारे अटव्यां कुडङ्गादिषु वा अन्यथा दीनादि याचने दानादानयोः पुण्य-बन्ध प्रद्वेषादि दर्शनात्।

साधु को ऊपर से आच्छादित मकान में आहार करना चाहिए, अन्यथा उड़ने वाले जीव वहाँ आ सकते हैं। साधु को दीवार या चटाई के द्वारा चारों ओर से आवृत मकान में आहार करना चाहिए, अन्यथा दीन-दुःखी के मांगने पर देने से पुण्य और नहीं देने से विद्वेष होगा।

यहाँ टीकाकार ने दीन-दुःखी जीवों को दान देने से पुण्य होना बताया है, एकान्त पाप नहीं। परन्तु ऐसे सामान्य पुण्य कार्य में साधु को प्रवृत्त होना उचित नहीं है। इसलिए साधु को खुले स्थान में भोजन करने का निषेध किया है। साधु स्वयं दीन-हीन जीवों को अनुकम्पादान नहीं देता। इसलिए यदि कोई उसमें एकान्त पाप कहे तो उन्हें भगवतीसूत्र का निम्न पाठ बताकर उनके भ्रम को दूर करना चाहिए—

निग्गंथं च णं गाहावइ कुलं पिण्डवाय पडियाए अणुप्पविट्ठं केई दोहिं पिण्डेहिं उव निमन्तेज्जा। एगं आउसो! अप्पणा भुंजाहि, एगं थेराणं दलीयाहि। से यं तं पिण्डं पडिग्गाहेज्जा थेराय से अणुगवेसिय-व्यासिया जत्थेव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्थेवाणुप्पदायव्वे सिया नो चेव णं अणुवेसमाणे थेरे पासिज्जा तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, एगंते अणावाए अचित्ते बहुफासए थण्डिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावे सिया।

—भगवतीसूत्र, ८, ६, ३३३

यदि गृहस्थ के घर भिक्षार्थ गए हुए साधु को कोई गृहस्थ दो पिंड—लड्डू दे और यह कहे, 'हे आयुष्मन् श्रमण! इनमें से एक आप खा लेना और दूसरा स्थविर

को देना।' तब वह साधु दोनों लड्डुओं को लेकर स्थविर की गवेषणा करे और जहाँ स्थविर को देखे, वहाँ जाकर उन्हें एक मोदक दे दे। यदि खोज करने पर भी स्थविर न मिले, तो वह मोदक स्वयं न खाए और न अन्य साधु को दे, परन्तु एकान्त और बहुत प्रासुक स्थान का प्रमार्जन एवं प्रतिलेखन करके उसे वहाँ परठ दे।

इस पाठ में कहा है, 'गृहस्थ से स्थविर के लिए दानार्थ मिला हुआ मोदक स्थविर के नहीं मिलने पर साधु किसी अन्य साधु को न दे।' अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से साधु को देना भी पाप होना चाहिए। क्योंकि साधु स्थविर को देने के लिए मिला हुआ पिण्ड स्थविर से भिन्न दूसरे साधु को नहीं देता। यदि यह कहें कि साधु ने वह पिण्ड स्थविर को देने की प्रतिज्ञा से लिया है, इसलिए वह उस पिण्ड को अन्य साधु को नहीं देता, परन्तु साधु को देने में पाप नहीं है। इसी तरह साधु ने अपने एवं अपने सांभोगिक साधुओं के खाने के लिए गृहस्थ से भिक्षा ली है, दूसरे को देने के लिए नहीं। इसलिए वह अपना भिक्षान्न किसी गृहस्थ या अन्यतीर्थी को नहीं देता। परन्तु गृहस्थ या अन्यतीर्थी को अनुकम्पादान देना एकान्त पाप नहीं है। अतः गृहस्थ या अन्यतीर्थी को अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप कहना आगम-विरुद्ध है।

दान देना शुभ कार्य है

यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने से पुण्यबन्ध होना कहीं मूल पाठ में लिखा हो तो बताएँ।

दशवैकालिकसूत्र में साधु से भिन्न व्यक्ति को अनुकम्पादान देना पुण्य का कार्य कहा है।

असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा पुण्णट्ठा पगडं इमं।।
तं भवे भत्त-पाणं तु संजया णं अकप्पियं।
दितियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं।।

—दशवैकालिकसूत्र, ५, १, ४९-५०

भिक्षा के लिए गया हुआ साधु, यदि यह जाने या सुने कि यह अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य पुण्यार्थ बनाया गया है, तो उसे अपने लिए अकल्पनीय समझे। यदि कोई वह अन्न उसे देने लगे तो वह उसे कहे कि पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न मुझे लेना नहीं कल्पता।

उक्त गाथा में साधु से भिन्न व्यक्तियों को देने के लिए बनाए गए अन्न को 'पुण्यार्थ' कहा है। यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने में एकान्त पाप

होता, तो यहाँ इस अन्न को पुण्यार्थ प्रकृत कैसे कहते? अतः साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने में एकान्त पाप कहना गलत है। क्योंकि जिस घर में साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने के लिए आहार बनाते हैं, उस घर को टीकाकार ने शिष्ट घर कहा है—

पुण्यार्थ प्रकृत परित्यागे शिष्ट कुलेषु वस्तुतो भिक्षा या अवग्रहणमेव शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाक प्रवृत्तेः।

मूल पाठ के गूढ़ अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत टीका में शंका करते हुए लिखा है—'यदि साधु पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न नहीं लेता तो फिर वह शिष्ट लोगों के घरों में भिक्षा ले ही नहीं सकता। क्योंकि शिष्ट लोगों की पुण्यार्थ ही पाक में प्रवृत्ति होती है।'

यहाँ टीकाकार ने साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने के लिए जिस घर में भोजन बनाया जाता है, उसे शिष्ट कहा है, एकान्त पापी नहीं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को दान देने में एकान्त पाप नहीं, पुण्य भी होता है। अतः दीन-हीन जीवों को अनुकम्पादान देने में एकान्त पाप कहना मिथ्या है।

सेवा करना धर्म है

यदि श्रावकों की सेवा-भक्ति और दान-सम्मान करने का शुभ फल होता है, इसका कहीं मूल पाठ में वर्णन हो तो बताएँ।

भगवतीसूत्र, श. २, उ. ५ के मूल पाठ में श्रावक की सेवा-भक्ति करने से शुभ फल होने का स्पष्ट उल्लेख किया है—

तहारूवे णं भन्ते! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फला?

पज्जुवासणा णाण फला।

से णं भन्ते! णाणे किं फले?

विण्णाण फले।

से णं भन्ते! विण्णाणे किं फले?

पच्चक्खाण फले।

से णं भन्ते! पच्चक्खाणे किं फले?

संजम फले।

से णं भन्ते! संजमे किं फले?

अणण्हय फले। एवं अणण्हए तव फले। तवे वोदाण फले।

वोदाणे अकिरिया फले।

से णं भन्ते! अकिरिया किं फला?

सिद्धि पज्जवसाण फला पण्णत्ता, गोयमा!

—भगवतीसूत्र, २, ५, १११

हे भगवन्! तथारूप के श्रमण-साधु और माहन—श्रावक की सेवा करने का क्या फल है?

हे गौतम! तथारूप के श्रमण-माहन की सेवा करने का फल शास्त्र—श्रवण है। शास्त्र श्रवण का फल पदार्थ-ज्ञान है। पदार्थ-ज्ञान का फल विज्ञान, विज्ञान का

फल प्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का फल संयम, संयम का फल आश्रव निरोध, आश्रव निरोध का फल तप, तप का फल कर्म-क्षय, कर्म-क्षय का फल क्रिया का अभाव और क्रिया के अभाव का फल मोक्षप्राप्ति है।

प्रस्तुत पाठ में जैसे तथारूप के श्रमण की सेवा करने का फल शास्त्र-श्रवण से लेकर मोक्षप्राप्तिपर्यन्त कहा है। उसी तरह माहन—श्रावक की सेवा का भी वही फल कहा है। अतः श्रावक की सेवा शास्त्र-श्रवण से लेकर मोक्षप्राप्ति तक का फल देने वाली है। यदि कोई यह कहे कि इस पाठ में 'श्रमण और माहन की सेवा का फल कहा है, श्रावक की सेवा का नहीं।' उनका यह कथन यथार्थ नहीं है। क्योंकि श्रमण नाम साधु का है और माहन नाम श्रावक का है। इसलिए इस पाठ में दोनों की सेवा का फल कहा है। इस पाठ की टीका में टीकाकार ने भी 'माहन' शब्द का श्रावक अर्थ किया है।

श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः।

श्रमण नाम साधु का है और माहन नाम श्रावक का।

इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्र में लिखा है—

तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अन्तिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा।

—भगवतीसूत्र, १, ७, ६२

इस पाठ में प्रयुक्त 'माहन' शब्द का टीकाकार ने श्रावक अर्थ किया है।

माहणस्स त्ति माहन इत्येवमादिशति स्वयं स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहनः।

—भगवती, १, ७, ६२ टीका

जो स्वयं स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्त होकर दूसरे को नहीं मारने का उपदेश देता है, वह 'माहन' कहलाता है।

वह पुरुष श्रावक है। क्योंकि जो स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त है, वही श्रावक है। उस श्रावक की सेवा करने का फल शास्त्र-श्रवण से लेकर मोक्ष-प्राप्ति-पर्यन्त कहा है। श्रावक के धर्मोपदेश से अनेक जीवों ने अपना कल्याण किया है। जितशत्रु राजा ने सुबुद्धि नामक श्रावक के धर्मोपदेश से सम्यक्त्व और बारह व्रत का लाभ प्राप्त किया था। ऐसे श्रावक को कुपात्र कहना एवं अन्न आदि के द्वारा उनकी सेवा करने में एकान्त पाप बताना नितान्त असत्य है।

प्रवचन-वात्सल्य

स्थानांगसूत्र के दशवें स्थान में प्रवचन की वत्सलता से भविष्य में

कल्याण होना बताया है। टीकाकार ने प्रवचन-वात्सल्य का अर्थ करते हुए लिखा है—

प्रकृष्टं प्रशस्तं प्रगतं वा वचनं आगमः प्रवचनं द्वादशांगम्। तदाधारो वा संघस्तस्य वत्सलता हितकारिता प्रयत्नीकत्वादिनिरासेनेति प्रवचन वत्सलता तया।

—स्थानांग, १०, १, ७५८ टीका

सबसे उत्तम आगम को प्रवचन कहते हैं, वह प्रवचन द्वादशांग है। उस द्वादशांग के आधारभूत साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं को प्रवचन कहते हैं। उनके विघ्न आदि को हटाकर उनका हित-संपादन करना '*प्रवचन-वत्सलता*' है। इससे जीव का भविष्य में कल्याण होता है।

यहाँ साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं का हित करना भावी कल्याण का कारण कहा है। इससे सिद्ध होता है कि साधु-साध्वी की तरह श्रावक-श्राविका का हित करना भी भावी कल्याण का हेतु है। इससे चतुर्विध संघ की रक्षा होती है, जो शासन की रक्षार्थ परमावश्यक है। इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठावीसवें अध्ययन में सहधर्मी भाई का आहार-पानी द्वारा उचित सत्कार-सम्मान करना सम्यक्त्व के आठ आचारों में से एक आचार कहा है। वह गाथा यह है—

निस्संकिय निक्कंखिय निवितिगिच्छं अमूढदिट्ठीय।
उववूह थिरीकरणं वच्छलप्पभावणेऽट्ठे ते।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २८, ३१

ये सम्यक्त्व के आठ आचार हैं—१. सर्वज्ञ-भाषित आगम में देश से या सर्व से शंका नहीं करना, २. सर्वज्ञ-भाषित आगम से भिन्न शास्त्र की इच्छा नहीं करना, ३. साधु की निन्दा एवं तप के फल में सन्देह नहीं करना, ४. कुतीर्थी को धनवान देखकर उसके धर्म को श्रेष्ठ एवं स्व-धर्म को निकृष्ट नहीं मानना, ५. ज्ञान-दर्शन सम्पन्न पुरुष की प्रशंसा करना, ६. धर्माचरण करने में कष्ट पाते हुए पुरुष को धर्म में स्थिर करना, ७. अपने सहधर्मी भाई का आहार-पानी से यथोचित सत्कार करना और ८. अपने धर्म की उन्नति का सदा प्रयत्न करना।

प्रस्तुत गाथा में सहधर्मी भाई का आहार-पानी आदि के द्वारा उचित सत्कार करना सम्यक्त्व के आचार का पालन करना कहा है। इसलिए श्रावक की आहार-पानी आदि से सेवा करना एकान्त पाप नहीं, सम्यक्त्व के आचार का पालन करना है। इसमें कुछ व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि 'सहधर्मी' नाम साधु का है, श्रावक का नहीं। इसलिए साधु का आहार-पानी के द्वारा उचित

सत्कार करना ही 'सहधर्मी–वत्सलता' है, श्रावक का सत्कार करना नहीं। भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २६१ पर लिखते हैं—'अनें साधर्म्मी पिण साधु–साध्वीयां ने इज कह्या छै। किणहिक देशे लोकरूढ़ भाषाइं श्रावकों ने साधर्म्मी कहि बोलाविये छै, ते रूढ़ भाषाइं नाम छै।'

भ्रमविध्वंसनकार का उक्त कथन एकान्त मिथ्या है। 'सहधर्मी' शब्द समान धर्म वाले व्यक्तियों का वाचक है। इसलिए साधु का सहधर्मी साधु और श्रावक का सहधर्मी श्रावक है तथा एक मान्यता रूप धर्म को लेकर साधु भी श्रावक का सहधर्मी है। प्रवचन की अपेक्षा से श्रावक का सहधर्मी साधु और श्रावक दोनों कहा है।

पवयण संघे गयरो लिंगे, रयहरण मुहपत्ती।

—व्यवहार भाष्य, उ. २, गाथा १५

'पवयण' त्ति प्रवचनतः सहधर्मिकः संघ मध्ये एकतरः श्रमणः श्रमणीः, श्रावकः, श्राविका चेति। लिंगे तु लिंगितः साधर्मिकः रजोहरण मुहपोतिका युक्तः।

साधु–साध्वी, श्रावक और श्राविका—इनमें से कोई भी प्रवचन के द्वारा साधर्मिक होता है।

उक्त भाष्य और उसकी टीका में प्रवचन के द्वारा श्रावक को भी साधर्मिक कहा है। इसी व्यवहार भाष्य की पन्द्रहवीं गाथा की टीका में लिंग और प्रवचन के द्वारा साधर्मिकों की चतुर्भंगी कही है।

तथा प्रवचनतः साधर्मिको न पुनः लिंगे, लिंगतः एष द्वितीयः के ते एवंभूता इत्याह—

दश भवन्ति सशिखाकाः अमुण्डितशिरस्काः श्रावका इति गम्यते।' श्रावका हि दर्शनव्रतादि प्रतिमा भेदेन एकादश विधाः भवन्ति। तत्र दश सकेशाः एकादश प्रतिमा प्रतिपन्नस्तु लुंचित शिराः श्रमणभूतो भवति। ततस्तद् व्यवच्छेदाय सशिखाक ग्रहणं एते दश सशिखाकाः श्रावकाः प्रवचनतः साधर्मिका भवन्ति। तेषां संघान्तर्भूतत्वात् न तु लिंगं तो रजोहरणादि लिंग रहितत्वात्।

—व्यवहार भाष्य, गाथा १५ टीका

जो प्रवचन के द्वारा साधर्मिक है और लिंग के द्वारा नहीं है, वह दूसरे भंग का स्वामी है।

वह कौन है?

जिसका सिर मुण्डित नहीं है, जो शिखाधारी है, वे दस प्रकार के श्रावक दूसरे भंग के स्वामी हैं। दर्शन-व्रतादि और प्रतिमा के भेद से श्रावक ११ प्रकार के होते हैं। उनमें १० शिखाधारी और ग्यारहवाँ लुन्चित केश वाला साधु के सदृश होता है। उसकी व्यावृत्ति के लिए दूसरे भंग में दस शिखाधारी श्रावक कहा है। ये दस शिखाधारी श्रावक प्रवचन से साधर्मिक होते हैं। वे चतुर्विध संघ में माने जाते हैं। इसलिए प्रवचन से साधर्मिक हैं, परन्तु लिंग से नहीं। क्योंकि उनके रजोहरण एवं मुखवस्त्रिका नहीं हैं।

यहाँ टीकाकार ने प्रवचन के द्वारा श्रावक को भी साधर्मिक कहा है। इसलिए श्रावक भी श्रावक का साधर्मिक है। अतः उसकी वत्सलता करना, प्रवचन-वत्सलता रूप सम्यक्त्व के आचार का पालन करना है, एकान्त पाप नहीं। इसलिए श्रावक की वत्सलता करने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम-विरुद्ध है।

सहधर्मी को भोजन कराना पाप नहीं है

भगवतीसूत्र में अपने से श्रेष्ठ सहधर्मी भाई को भोजन कराना पौषध-धर्म की पुष्टि करने वाला कहा है।

तए णं अम्हे तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसएमाणा विस्साएमाणा परिभाएमाणा परिभुंजेमाणा पक्खियं पोसहं पडिजागरमाणा विहरिस्सामो।

—भगवती, १२, १, ४३८

शंख श्रावक ने कहा—हे देवानुप्रिय! आप विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य पदार्थ तैयार कराएँ। हम लोग चतुर्विध आहार कर पौषध करेंगे।

इस पाठ से सहधर्मी भाई को भोजन कराना पौषध धर्म का पोषक माना है। इसलिए श्रावक को भोजन कराकर उसकी धर्म में श्रद्धा बढ़ाना एकान्त पाप नहीं, किन्तु पौषध धर्म का परिपोषक है। यदि कोई यहाँ तर्क करे कि पौषध में आहार का त्याग करने का विधान है, फिर यहाँ आहार करके पौषध करना कैसे कहा? इस तर्क का समाधान देते हुए टीकाकार ने लिखा है—

इह किल पौषधं पर्व दिनानुष्ठानम्, तच्च द्वेधा इष्टजन भोजनदानादि-रूपमाहारपौषधञ्च तत्र शंखः इष्टजन भोजनदानादिरूपं पौषधं कर्तुकामः यदुक्तवांस्तद्दर्शयतेदमुक्तम्।

—भगवती, १२, १, ४३८ टीका

पर्व के दिन धर्मानुष्ठान करना पौषध कहलाता है, वह दो प्रकार का है—१. अपने इष्ट जन को भोजन कराना और २. आहार का त्याग करना। इसमें से इष्ट

जन को भोजन देने रूप पौषध करने का जो शंख ने कहा था, उसे बताने के लिए यह पाठ आया है।

प्रस्तुत पाठ और उसकी टीका में इष्ट जनों को भोजन कराना पौषध धर्म का परिपोषक कहा है। अतः श्रावक को भोजन देकर पौषध धर्म की पुष्टि कराने में एकान्त पाप कहना भयंकर भूल है।

आचार्यश्री जीतमलजी ने प्रश्नोत्तर सार्ध शतक के ५८वें प्रश्नोत्तर में लिखा है—

'भगवती शतक १२, उद्देशा पहले शंख पोखली कह्यो जीमी ने पोसह करस्यां ते किम इति प्रश्न ?

उत्तर—भगवती शतक ७, उद्देशा २ बारह व्रतों में ए ग्यारहवाँ व्रत रो नाम 'पोसहोववासे' कह्यो, ते माटे जीमि ने पाँच आस्रवना त्याग ते धर्मनी पुष्टि माटे पोसह कह्यो ते व्रत दशमो छै, पिण ग्यारमो नहीं।'

प्रस्तुत प्रश्नोत्तर में आचार्यश्री जीतमलजी ने भगवती के पाठ का अभिप्राय बताते हुए भोजन कर के पांच आश्रव का त्याग करने को धर्म की पुष्टि में कहा है। इसलिए अपने सहधर्मी भाई को पाँच आश्रव का त्याग कराने के लिए आहार-पानी देने या भोजन कराने में एकान्त पाप कहना भ्रमविध्वंसनकार का अपने कथन से भी विरुद्ध सिद्ध होता है।

प्रतिमाधारी को दान देना पाप नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १०४ पर प्रतिमाधारी श्रावक को आहार देने में एकान्त पाप की स्थापना करते हुए लिखते हैं—

'केतला एक एहवो प्रश्न पूछे, जे पडिमाधारी श्रावक ने दीधां काइं हुवे? तेहनो उत्तर—पडिमाधारी पिण देशव्रती छै। तेहना जेतला-जेतला त्याग छै, ते तो व्रत छै। अनें पारणे सूझता आहार नो आगार अव्रत छै, तो अव्रत सेवे छै, ते पडिमाधारी। तेहने धर्म नहीं तो जे अव्रत सेवावन वाला ने धर्म किम हुवे? गृहस्थ रा दान ने साधु अनुमोदे तो प्रायश्चित्त आवे, तो पड़िमाधारी श्रावक पिण गृहस्थ छै। तेहना दान अनुमोदन वाला नें ही पाप हुवे, तो देण वाला ने धर्म किम हुवे?'

ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अठारह पापों का सम्पूर्ण रूप से त्यागी, दशविध यति धर्मों का अनुष्ठान करने वाला एवं बिल्कुल साधु के सदृश है। वह पवित्र आत्मा एवं सुपात्र है। इसलिए आगम में उसे श्रमणभूत—साधु के सदृश कहा है। इसका आचार-विचार प्रायः साधु के समान होता है। अतः उसे आहार देने से एकान्त पाप होता है, ऐसा कथन आगम-विरुद्ध है। यदि ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने वाले श्रावक को सूझता प्रासुक आहार देना, यदि एकान्त पाप का कार्य होता है, तो तीर्थंकर उसे सूझता आहार लेने का विधान क्यों करते? क्योंकि तीर्थंकर एकांत पापरूप कार्य का विधान नहीं करते, निषेध करते हैं। अतः ग्यारहवीं प्रतिमा से सम्पन्न श्रावक का शुद्ध आहार लेना और उसे विशुद्ध आहार देना, दोनों ही धर्म के कार्य हैं, एकान्त पाप के नहीं।

कुछ व्यक्ति ऐसा भी कहते हैं, 'ग्यारह प्रतिमाओं का तीर्थंकर देव ने विधान नहीं किया है, किन्तु ये प्रतिमाएँ श्रावकों की कपोलकल्पित हैं।' परन्तु यह कथन नितान्त असत्य है। ये ग्यारह प्रतिमाएँ श्रावकों द्वारा कपोल-कल्पित नहीं, तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित हैं। दशाश्रुतस्कंध में इसका स्पष्ट रूप से विधान किया है।

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं एग्गारस उवासग पडिमाओ पण्णताओ।

—दशाश्रुतस्कंध, अध्ययन ६

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं, हे आयुष्मन्! इस जिन आगम में स्थविर भगवन्तों ने जिस प्रकार श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाएँ बताई हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान ने भी कही हैं, यह मैंने सुना है।

इस पाठ में ग्यारह प्रतिमाओं का तीर्थंकर देव के द्वारा विधान किया जाना कहा है। अतः उन्हें श्रावकों की कपोलकल्पना बताना एकान्त मिथ्या है। उपासकदशांगसूत्र में आनन्द श्रावक ने कहा है—'मैंने इन प्रतिमाओं का आगम एवं कल्प के अनुसार पालन किया है।'

तएणं से आणंदे समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपजिताणं विहरइ। पढमं उवासग–पडिमं अहासुत्तं, अहाकप्पं, अहामग्गं, अहातच्चं सम्मं काएण फासेइ पालेइ सोहइ तिरइ कित्तए आरोहेइ।

—उपासकदशांगसूत्र, अ. १

अहासुत्तं ति सूत्रानतिक्रमेण, यथाकल्पं प्रतिमाचारानतिक्रमेण, यथामार्गं क्षपोयशमभावानतिक्रमेण, यथातत्त्वं दर्शन प्रतिमेति शब्दस्यान्वर्थानतिक्रमेण।

—उपासकदशांग, १ टीका

इसके अनन्तर आनंद श्रावक उपासक प्रतिमा को स्वीकार करके विचरने लगा। उसने पहली उपासक प्रतिमा को सूत्रानुसार, कल्पानुसार, क्षयोपशम भावानुसार और दर्शन प्रतिमा के शब्दार्थ के अनुसार ग्रहण किया। उसके पश्चात् उपयोग के साथ बार–बार प्रतिमाओं का परिशोध करके उनकी अवधि पूरी होने पर, वह थोड़ी देर तक ठहर जाता था। पारणे के दिन अपने अनुष्ठान का कीर्तन करता हुआ, वह यह कहता—'इस प्रतिमा में अमुक कार्य किया जाता है, इसका मैंने सूत्रानुसार एवं कल्पानुसार अनुष्ठान किया है। इस प्रकार आनंद उपासक ने तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार प्रथम प्रतिमा का आराधन किया। शेष दस प्रतिमाओं का भी उसने इसी प्रकार आराधन किया।

इस पाठ में यह बताया है कि आनन्द श्रावक ने आगम के अनुसार प्रतिमाओं के आचार का पालन किया। इस कथन से प्रतिमाओं का आगमोक्त होना स्पष्ट सिद्ध होता है। यदि ये प्रतिमाएँ श्रावकों की कपोलकल्पना से कल्पित होतीं, तो उक्त पाठ में उनका आगम के अनुसार पालन करना कैसे कहा जाता? अतः इन प्रतिमाओं को श्रावकों की कपोलकल्पना बताकर ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने वाले श्रावकों को सूझता—शुद्ध–निर्दोष आहार देने में एकान्त पाप कहना सर्वथा आगम–विरुद्ध है।

प्रतिमाधारी का स्वरूप

ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक को दस यति-धर्म पालन करने और साधु की तरह भण्डोपकरण रखने की आगम में कहीं आज्ञा दी हो, तो वह पाठ बताएँ।

दशाश्रुतस्कंध में ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाले श्रावक को दशविध यति-धर्म के अनुष्ठान करने और साधु की तरह भण्डोपकरण रखने की आज्ञा दी है।

अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा सव्वधम्मरुइया वि भवइ जाव उद्दिट्ठभत्तं से परिण्णा तं भवति। से णं खुरमुण्डए वा लुत्तसिरए वा गहित्तायार भंडग ने वत्थो, जारिसं समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते, तं सम्मं काएणं फासेमाणे, पालेमाणे, पुरतो जुग-मायाए पेहमाणे दट्ठूणं तसे-पाणे उदट्टूपायं रीएज्जां, साहट्टु पायं रीएज्जा, तिरिच्छं वा पायं कट्टु रीएज्जा सति परक्कमेज्जा, संजयामेव परिक्कमेज्जा णो उज्जुयं गच्छेज्जा।

—दशाश्रुतस्कन्ध, अ. ६

अब ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा का वर्णन करते हैं। इसमें प्रविष्ट श्रावक को पूर्व-प्रतिमाओं के सब धर्मों में रुचि रखनी चाहिए और इसके निमित्त बनाए हुए उद्दिष्ट आहार को ग्रहण नहीं करना चाहिए। केश-लुंचन या क्षुर-मुण्डन कराकर साधुओं के आचार का पालन करने के लिए पात्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका आदि सव धर्मोपकरण रखने चाहिए। धर्मोपकरणों को रखकर, साधु के समान वेश वनाकर श्रमण-निर्ग्रन्थों के सभी धर्मों का शरीर से स्पर्श और पालन करना चाहिए। यदि मार्ग में त्रस प्राणी दृष्टिगोचर हो, तो उसकी रक्षा के लिए अपने पैर के पूर्व भाग को ऊंचा करके अग्रतल की सहायता से गमन करना चाहिए। जहाँ त्रस प्राणी न हो, वहाँ पर पैर रखकर चलना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मार्ग में आने वाले प्राणियों की रक्षा के लिए कभी पैर को संकोच कर और कभी एड़ी के ऊपर अपने पूरे शरीर का वोझ डालकर चलना चाहिए। परन्तु जैसे-तैसे चलना उचित नहीं है। यह विधान भी

वहाँ के लिए समझना चाहिए, जहाँ दूसरा मार्ग न हो। परन्तु जहाँ दूसरा मार्ग हो, वहाँ प्राणि-संकुल मार्ग से जाना उचित नहीं है।

प्रस्तुत पाठ में ग्यारहवीं प्रतिमा को स्वीकार करने वाले श्रावक को दशविध यति-धर्मो का अनुष्ठान करने और उसके लिए साधुओं के समान भण्डोपकरण रखने की स्पष्ट आज्ञा दी है। अतः उक्त प्रतिमाधारी श्रावक दशविध यति-धर्म का परिपालक पवित्रात्मा एवं सुपात्र है। इसे कुपात्र कहकर पारणे के दिन इसे सूझता आहार देने में एकान्त पाप बताना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते हैं—'इन ग्यारह प्रतिमाओं में जितना-जितना त्याग है, वह सब तीर्थंकर और गणधरों की आज्ञा में है, परन्तु उनमें जो आरंभादि अंश शेष हैं, वह उन सब की आज्ञा में नहीं है। सातवीं प्रतिमा में सचित्त का त्याग है, परन्तु आरम्भ का नहीं। अतः जैसे इसमें सचित्त का त्याग भगवान् की आज्ञा में है और आरम्भ करने का आगार भगवान् की आज्ञा में नहीं है। उसी तरह ग्यारहवीं प्रतिमा में तपस्या करना और दशविध यति-धर्म का अनुष्ठान करना भगवान् की आज्ञा में हैं, परन्तु साधु के समान वेश बनाना, निर्दोष आहार लेना एवं भण्डोपकरण रखना इत्यादि कार्य वीतराग की आज्ञा में नहीं हैं। ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक इन कार्यो को अपनी इच्छा से करता है, अतः उसका साधु के समान वेश बनाना, भण्डोपकरण रखना एवं पारणे के दिन सूझता आहार लेना—ये सब एकान्त पाप में हैं, धर्म या पुण्य में नहीं।'

आगम में जैसे साधु के पाँच कल्पों का विधान है—१. स्थितकल्पी, २. अस्थितकल्पी, ३. जिनकल्पी, ४. स्थविरकल्पी और ५. कल्पातीत, उसी तरह ग्यारहवीं प्रतिमा का भी विधान है। जैसे साधु के पाँचों कल्प जिन-आज्ञा में हैं, उसी तरह ग्यारहवीं प्रतिमा का कल्प भी वीतराग की आज्ञा में है।

ग्यारहवीं प्रतिमा में स्थित श्रावक के लिए साधु के समान वेश बनाने, धार्मिक भण्डोपकरण रखने और पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोष आहार लेने का दशाश्रुतस्कंध में विधान किया है। उस विधानानुसार वह साधु के समान वेश बनाता है, धार्मिक उपकरण रखता है और पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोष आहार लेता है, अपनी इच्छा से नहीं। इसलिए इन कार्यो में एकान्त पाप कहना सर्वथा अनुचित है।

सातवीं प्रतिमा में जो आरम्भ का त्याग नहीं होता, उसका दृष्टान्त देकर ग्यारहवीं प्रतिमा में भण्डोपकरण रखने को आज्ञा बाहर कहना अनुचित है। क्योंकि सातवीं प्रतिमा में आरम्भ करने का आगम में विधान नहीं है।

इसलिए सातवीं प्रतिमा वाले श्रावक का आरम्भ करना आगम के अनुसार नहीं, अपनी इच्छा के अनुरूप है। परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा में साधु के समान वेश बनाना, धार्मिक भण्डोपकरण रखना और पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोष आहार ग्रहण करना, आगम की आज्ञा के अनुसार है; अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं। अतः यह सातवीं प्रतिमा वाले के आरम्भ के समान एकान्त पापमय नहीं है। सातवीं प्रतिमा में 'आरंभे अपरिण्णाते भवइ' यह पाठ आया है। इसका अर्थ यह है—'सातवीं प्रतिमा वाला श्रावक आरम्भ का त्याग नहीं करता है।' इस पाठ में उसके आरम्भ करने का विधान नहीं किया है, सिर्फ उल्लेख मात्र किया है। यदि इस पाठ में विधान करते, तो ऐसा लिखते—'श्रावक को सातवीं प्रतिमा में आरम्भ करना चाहिए।' परन्तु ऐसा नहीं लिखा है। अतः सातवीं प्रतिमा वाले का आरम्भ आगम की आज्ञा से नहीं, अपनी इच्छा से है और वह उसमें पहले से ही विद्यमान है। परन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा में साधु के समान वेश बनाना आदि कार्यों का आगम में विधान है और उस विधान के अनुसार वह उन कार्यों को करता है और ये सब क्रियाएँ श्रावक में पहले से विद्यमान नहीं हैं। परन्तु वह ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने के बाद आगम की आज्ञा होने से इन्हें स्वीकार करता है। अतः आरम्भ का दृष्टान्त देकर ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने वाले श्रावक के साधु तुल्य वेश बनाने, धार्मिक उपकरण रखने एवं पारणे के दिन शुद्ध-निर्दोष आहार लेने आदि में एकान्त पाप बताना भयंकर भूल है।

प्रतिमाधारी का कल्प

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १०६ पर लिखते हैं—'तिवारे कोई कहे—जो पडिमाधारी ने दियां धर्म न हुवे तो दशाश्रुतस्कंध में इम क्यूं कह्यो—जे पडिमाधारी न्यातीलारे घरे भिक्षा ने अर्थ जाय, तिहां पहिला उतरी दाल अनें पछे उतरया चावल, तो कल्पे पडिमाधारी ने दाल लेणो, न कल्पे चावल लेवा' इत्यादि लिखकर इसके आगे लिखा है 'इम कहे तेहनों उत्तर—ए कल्प नाम आज्ञा नो नहीं छै। ए कल्प नाम तो आचार नो छै। पडिमाधारी ने जेहवो आचार कल्पतो हुन्तो ते बतायो। पिण आज्ञा नहीं दिधी इम जो आज्ञा हुवे तो अम्बड ने अधिकारे पिण एहवो कह्यो।' इत्यादि लिखकर अम्बड़ संन्यासी के सम्बन्ध में आया हुआ पाठ लिखा और ग्यारहवीं प्रतिमावाले के आचार को आज्ञा-बाहर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

अम्बड़ संन्यासी एवं अन्य परिव्राजकों के अधिकार में जो 'कल्प' शब्द आया है, वह परिव्राजकों के शास्त्रों का कल्प है, वीतराग-आज्ञा का नहीं। उसी तरह वरुणनाग नत्तूया के अधिकार में जो यह कहा है—'जो मुझे पहले

बाण मारेगा, उसी को मैं बाण मारूँगा' यह कल्प भी वरुणनाग नत्तूया की अपनी इच्छा का है, वीतराग–आज्ञा का नहीं। किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमा वाले के अधिकार में जो 'कल्प' शब्द आया है, वह तीर्थंकर द्वारा विधान किया हुआ कल्प है, उसकी अपनी इच्छा का नहीं। क्योंकि आगम में तीर्थंकर एवं गणधरों ने इसका विधान किया है।

सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं एगारस्स उवासग पडिमाओ पण्णत्ताओ।

प्रस्तुत पाठ में ग्यारह प्रतिमाओं का आचार तीर्थंकर एवं गणधरों द्वारा कथित है। इसलिए ग्यारहवीं प्रतिमा स्वीकार करने वाले का आचार–कल्प तीर्थंकर–बोधित है, अपनी इच्छा का नहीं। अतः प्रतिमाधारी श्रावक के कल्प को ऐच्छिक बताकर, उसे वीतराग–आज्ञा से बाहर बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

श्रावक के धर्मोपकरण पाप में नहीं हैं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ११५ पर भगवती, श. ७, उ. १ का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ इहां पिण सामायक में श्रावक की आत्मा अधिकरण कही छै। अधिकरण ते छव काय रो शस्त्र जाणवो। ते माटे सामायक पोषा में तेहनी काया शस्त्र छै। शस्त्र तीखो किया धर्म नहीं। वली ठाणांग ठाणे दश अव्रत ने भाव शस्त्र कह्यो छै। ते सामायक में पिण वस्त्र, गेहणा, पूंजणी आदिक उपकरण अने काया ए सर्व अव्रत में छै। तेहना यत्न कियां धर्म नहीं।'

भगवती, शतक ७, उ. १ में जैसे श्रावक की आत्मा को अधिकरण कहा है, उसी तरह भगवती, श. १६, उ. १ में साधु की आत्मा को भी अधिकरण कहा है।

जीवे णं भन्ते! आहारगे सरीरं निवत्तिए माणे किं अधिकरणी अधिकरणं वा पुच्छा?

गोयमा! अधिकरणी वि अधिकरणं वि।

से केणट्ठेणं वा जाव अधिकरणं वि?

गोयमा! पमायं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव अधिकरणं वि।

—भगवती, १६, १, ५६६

हे भगवन्! आहारक शरीर को उत्पन्न करता हुआ जीव अधिकरणी होता है या अधिकरण?

हे गौतम! वह अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी।

इसका क्या कारण है?

हे गौतम! आहारक शरीर को उत्पन्न करने वाला जीव प्रमाद की अपेक्षा से अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी।

प्रस्तुत पाठ में प्रमत्त साधु की आत्मा को प्रमाद की अपेक्षा से अधिकरणी और अधिकरण कहा है। टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है—

इहाहारक शरीरं संयमवतामेव भवति तत्र चाविरतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणत्वमवसेयम्।

आहारक शरीर संयमधारी का ही होता है। यद्यपि उसमें अविरति नहीं है, तथापि प्रमाद के कारण उसे अधिकरण समझना चाहिए।

स्थानांगसूत्र के दसवें स्थान में अकुशल मन, वचन और काय को भाव शस्त्र कहा है। प्रमाद की अपेक्षा से प्रमादी साधु के भी मन, वचन और काय अकुशल होते हैं। भगवतीसूत्र में प्रमादी साधु को आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी कहा है।

तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं-जोगं पडुच्च णो आयारंभा, णो परारंभा, णो तदुभयारंभा चेव। असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा।

—भगवती १, १, १७

प्रमत्त साधु शुभ-योग की अपेक्षा आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी नहीं, अनारंभी है। अशुभ योग की अपेक्षा वह आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी है, अनारंभी नहीं।

इस पाठ में प्रमादी साधु को अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी कहा है और पूर्वलिखित भगवती के पाठ में प्रमत्त साधु की आत्मा को अधिकरण कहा है तथा स्थानांग के दसवें स्थान में दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काय को भाव शस्त्र कहा है। अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से प्रमत्त साधु को आहार आदि का दान देना शस्त्र को तीक्ष्ण करना कहना चाहिए, धर्म या पुण्य नहीं। परन्तु यहाँ यदि यह कहें, 'प्रमादी साधु को उसके प्रमाद की वृद्धि के लिए नहीं, प्रत्युत उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र की उन्नति के लिए दान देते हैं, इसलिए उसे दान देना शस्त्र को तीक्ष्ण करना नहीं है।' इसी तरह यहाँ भी यह समझना चाहिए कि श्रावक को उसके दोषों की अभिवृद्धि के लिए दान नहीं देते, प्रत्युत उसके व्रतों को परिपुष्ट करने के लिए देते हैं। अतः श्रावक को दान देना एकान्त पाप या शस्त्र को तीक्ष्ण करना नहीं है।

सामायिक एवं पौषध के समय श्रावक अपने धर्म का पालन करने के लिए प्रमार्जनिका—पूँजणी आदि धर्मोपकरण रखते हैं। उनको एकांत पाप में बताना अनुचित है। उपासकदशांगसूत्र में बिना प्रमार्जन किए पौषधोपवास करने से श्रावक को अतिचार लगता है, ऐसा कहा है। अतः उस अतिचार की निवृत्ति एवं जीवों की रक्षा के लिए श्रावक प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखता है, आरम्भ आदि कार्य के लिए नहीं।

तयाणंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासए णं पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सिज्जा-संथारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय सिज्जा-संथारे, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय उच्चार-पासवणभूमि, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चार-पासवणभूमि, पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया।

—उपाशकदशांगसूत्र, अध्ययन १

श्रमणोपासक के पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं—१. शय्या-संथारे का प्रतिलेखन नहीं करना या भली-भाँति प्रतिलेखन नहीं करना २. शय्या-संथारे का प्रमार्जन नहीं करना या अच्छी तरह से प्रमार्जन नहीं करना, ३. उच्चार-पासवण भूमि का प्रतिलेखन नहीं करना या सम्यक्तया प्रतिलेखन नहीं करना। ४. उच्चार-पासवण भूमि का प्रमार्जन नहीं करना या सम्यक्तया प्रमार्जन नहीं करना। ५. पौषधोपवास व्रत का विधिवत् पालन नहीं करना।

पौषध व्रत के ये पांच अतिचार हैं। इन अतिचारों में प्रवृत्त नहीं होना आवश्यक है। इसलिए श्रावक सामायिक एवं पौषध में प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखता है। यदि श्रावक इन्हें नहीं रखे, तो वह पौषध में शय्या-संथारा एवं उच्चार-पासवण भूमि का प्रमार्जन नहीं कर सकता और प्रमार्जन नहीं करने से पौषध व्रत में अतिचार लगता है। उसकी निवृत्ति के लिए श्रावक प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखता है। अतः इन धर्मोपकरणों को एकान्त पाप में बताना अनुचित है। ग्यारहवीं प्रतिमा वाला श्रावक जो मुखवस्त्रिका, रजोहरण एवं पात्रादि धर्मोपकरण रखता है, वे भी व्रत पालन के लिए रखता है, अन्य स्वार्थ साधने के लिए नहीं। अतः धर्मोपकरण रखना उसके धर्म के लिए उपकारक हैं और उसके व्रत के अंगभूत हैं। उन्हें एकान्त पाप में कहना मिथ्या है। आगम में ग्यारहवीं प्रतिमा वाले के लिए धर्मोपकरण रखने का विधान है।

लुंच-सिरए गहित्तायारभंडगनेपत्था। जारिस समणाणं निग्गंथाणं धम्मे तं धम्मं कएण फासेमाणे पालेमाणे।

—दशाश्रुतस्कंध, ६

ग्यारहवीं प्रतिमावाले श्रावक को केश-लोच करके, मुखवस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरण साधु के आचार का पालन करने के लिए रखने चाहिए और साधु के तुल्य वेश बनाकर श्रमण-निर्ग्रन्थ धर्म का शरीर से स्पर्श एवं पालन करते हुए विचरना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में एकादश प्रतिमाधारी को साधु के तुल्य आचार–पालनार्थ धर्मोपकरण रखने का विधान किया है और पौषधोपवास में अतिचार को हटाने के लिए प्रमार्जनिका आदि धर्मोपकरण रखना आवश्यक है। अतः श्रावक के धर्मोपकरणों को एकान्त पाप में बताना भयंकर भूल है।

प्रमार्जनिका जीव–रक्षा के लिए है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ११५ पर लिखते हैं—'ए पूंजणी आदिक सामायक में राखे ते अव्रत में छै। ए तो सामायक में शरीर नी रक्षा निमित्त पूंजणी आदिक उपाधि राखै छै। ते पिण आपरी कचाई छै, परं धर्म नहीं। ते किम? जे पूंजणी आदिक न राखे तो काया स्थिर राखनी पड़े। अनें काया स्थिर राखण री शक्ति नहीं। माछरादिक रा फर्स खमणी आवे नहीं। ते माटे पूंजणी आदिक राखे। माछरादिक पूंजी खाज खणे। ए तो शरीर नो रक्षा निमित्ते पूंजे, पिण धर्म हेतु नहीं। कोई कहे दया रे अर्थे पूंजे ते मिले नहीं। जो पूंजणी बिना दया न पले, तो अढ़ाई द्वीप बारे असंख्याता तिर्यच श्रावक छै। सामायक आदि व्रत पाले छै। त्यांरे तो पूंजणी दीसे नहीं। जे दया रे अर्थे पूंजणी राखणी कहे—त्यांरे लेखे अढ़ाई द्वीप बारे श्रावकां रे दया किम पले?'

पौषध व्रत में श्रावक अपने शरीर की रक्षा के लिए नहीं, प्रत्युत उपासकदशांगसूत्र के पाठ के अनुसार प्रमार्जन किए बिना होने वाले अतिचार को दूर करने के लिए प्रमार्जनी आदि उपकरण रखता है। अतः उन्हें शरीर–रक्षा का साधन बताकर अव्रत या एकान्त पाप में बताना मिथ्या है।

प्रमार्जनी अपने शरीर की रक्षा का कोई प्रमुख साधन नहीं है। इसके बिना भी शरीर की रक्षा हो सकती है। परन्तु इसके बिना प्रमार्जन नहीं हो सकता और प्रमार्जन किए बिना श्रावक के पौषध व्रत में अतिचार लगता है। उससे निवृत्त होने के लिए पौषध में प्रमार्जनी रखना आवश्यक है। जो लोग इसे शरीर रक्षा का साधन मानकर पौषध में शरीर–रक्षार्थ उसे रखने का कहते हैं, उनके मत में पागल कुत्ते आदि से शरीर की रक्षा करने के लिए श्रावक को एक डंडा भी रखना चाहिए तथा अन्य साधन भी रखने चाहिए। अतः प्रमार्जनी को शरीर–रक्षा का साधन बताना नितान्त असत्य है। वस्तुतः प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरणों के बिना दया नहीं पाली जा सकती। अतः जीवों की रक्षा के लिए उसे रखते हैं।

भ्रमविध्वंसनकार ने अढ़ाई द्वीप के बाहर रहने वाले तिर्यच श्रावकों का उदाहरण देकर यह बताया है कि प्रमार्जनी रखे बिना भी जीवों की दया का पालन हो सकता है। परन्तु इनका यह कथन एकान्त मिथ्या है। क्योंकि अढ़ाई

द्वीप के बाहर रहने वाले तिर्यंच श्रावक मनुष्य श्रावक की तरह बारह व्रतों का शरीर से स्पर्श एवं पालन करते हों, यह असंभव है। उनमें मनुष्य श्रावक की तरह बारह व्रतों का शरीर से स्पर्श एवं पालन करने की योग्यता नहीं है और आगम में कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि तिर्यंच श्रावक मनुष्य श्रावक की तरह बारह व्रतों का शरीर से स्पर्श एवं पालन करते हैं। अतः तिर्यंच श्रावक कई व्रतों में श्रद्धा रखने मात्र से बारह व्रतधारी माने जाते हैं, शरीर से स्पर्श एवं पालन करने से नहीं। ज्ञातासूत्र में नन्दन मनिहार के जीव मेढक को बारह व्रतधारी कहा है। यदि मनुष्य की तरह बारह व्रतों का शरीर से स्पर्श एवं पालन करने से तिर्यंच श्रावक बारह व्रतधारी होते, तो नन्दन मनिहार का जीव मेढक के भव में कदापि बारह व्रतधारी नहीं कहा जाता। क्योंकि मेढक योनि के जीव में मुनि को दान देने रूप बारहवें व्रत का शरीर से स्पर्श करने की योग्यता नहीं है। उसमें आहार को सचित्त पदार्थ पर रखने एवं सचित्त पदार्थ से ढकने पर, जो अतिचार आता है, उसे हटाने की भी योग्यता नहीं है। तिर्यंच श्रावक मनुष्य श्रावक की तरह पौषध व्रत का शरीर से स्पर्श और पालन करते हों, इसका आगम में कोई प्रमाण नहीं मिलता.। आगम में कहीं भी ऐसा नहीं लिखा है कि अमुक तिर्यंच श्रावक ने पौषध व्रत का शरीर से स्पर्श एवं पालन किया, अतः तिर्यंच श्रावक के पास प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरण नहीं होने पर भी कोई क्षति नहीं है। परन्तु मनुष्य श्रावक तो सभी व्रतों का शरीर से स्पर्श और पालन करता है, इसलिए बिना प्रमार्जन किए पौषध व्रत में आने वाले अतिचार को टालने के लिए मनुष्य श्रावक को पौषध व्रत में प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरण रखना आवश्यक है।

जो व्यक्ति श्रावक के प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरणों को शरीर-रक्षा का साधन बताते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि आप प्रमादी साधु के रजोहरण, पात्र आदि धर्मोपकरणों को उनकी शरीर-रक्षा का साधन क्यों नहीं मानते? यदि वे प्रमादी साधु के उपकरणों को शरीर-रक्षा का साधन मानें, तो फिर उनके मत में उनके वे उपकरण भी एकान्त पाप और अव्रत में ठहरते हैं। क्योंकि भगवती सूत्र में प्रमादी साधु को अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी कहा है और उस की आत्मा को अधिकरण कहा है। इसलिए भ्रमविध्वंसनकार के मत में प्रमादी साधु के रजोहरण, पात्र आदि धर्मोपकरण एकान्त पापरूप ठहरेंगे। यदि वे यह कहें कि प्रमादी साधु रजोहरण आदि उपकरण प्रमाद-सेवन और अपने शरीर की रक्षा के लिए नहीं, किन्तु जीव-रक्षा आदि धर्म के पालन करने हेतु रखते हैं, अतः उनके धर्मोपकरण एकान्त पाप में नहीं हैं। यही बात श्रावक के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। श्रावक पौषध व्रत में होने वाले अतिचार की निवृत्ति और जीव रक्षा के लिए प्रमार्जनी

आदि धर्मोपकरण रखते हैं, अपने दोषों में वृद्धि करने एवं अन्य किसी स्वार्थ से नहीं। अतः श्रावक के धर्मोपकरणों को एकान्त पाप एवं अव्रत में बताना मिथ्या है।

यह बात अलग है कि यदि प्रमादी साधु धर्मोपकरणों पर ममता–मूर्च्छा रखे और उनका अयतना से व्यवहार करे, तो उसको परिग्रह एवं आरंभ का दोष लगता है। उसी तरह यदि श्रावक भी प्रमार्जनी आदि धर्मोपकरणों पर ममत्व भाव रखे तथा उनका अयतना से व्यवहार करे, तो उसे भी परिग्रह एवं आरम्भ का दोष लगता है। परन्तु यदि वह उन धर्मोपकरणों को अममत्व भाव से यतनापूर्वक उपयोग में लेता है, तो वे उपकरण धर्म के सहायक हैं, आरंभ एवं परिग्रह के हेतु नहीं। अतः श्रावक के उपकरणों को एकान्त पाप में कहना आगम–विरुद्ध है।

धर्मोपकरण सुप्रणिधान हैं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ११७ पर स्थानांगसूत्र, स्थान चार, उद्देशा एक के पाठ का उदाहरण देकर लिखते हैं—

'अथ इहां चार व्यापार कह्या—१. मन, २. वचन, ३. काया और चौथा उपकरण। ए चारूं व्यापार सन्निपंचेन्द्रिय रे कह्या। ए चारूं भुंडा व्यापार पिण १६ दंडक सन्निपंचेन्द्रिय रे कह्या। अने ए चारूं भला व्यापार तो एक संयति मनुष्यां रे इज कह्या। पिण ओर रे न कह्या। तो जोवोनी साधु रा उपकरण तो भला व्यापार में घाल्या अने श्रावक रा पूंजणी आदिक उपकरण भला व्यापार में न घाल्या। ते माटे पूंजणी आदिक श्रावक राखे ते सावद्य योग छै।'

स्थानांगसूत्र का पाठ एवं टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

चउव्विहं पणिहाणे—मन पणिहाणे, वय पणिहाणे, काय पणिहाणे, उवगरण पणिहाणे। एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं। चउव्विहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते तं जहा—मण सुप्पणिहाणे, जाव उवगरण सुप्पणिहाणे एवं संजय मणुस्साण वि। चउव्विहे दुप्पणिहाणे पण्णत्ते तं जहा—मण दुप्पणिहाणे जाव उवगरण। एवं पञ्चेन्दियाणं जाव वेमाणियाणं।'

—स्थानांगसूत्र, ४, १, २५४

प्रणिधानं प्रयोगः तत्र मनसः प्रणिधानं, आर्त-रौद्र-धर्मादिरूपतया प्रयोगो मनः प्रणिधानम्। एवं वाक्काययोरपि। उपकरणस्य लौकिक-लोकोत्तररूपस्य वस्त्र-पात्रादेः संयमासंयमोपकाराय प्रणिधानं प्रयोगः उपकरण प्रणिधानम्। एवमिति तथा सामान्यतस्तथा नैरयिकाणामिति। तथा चतुर्विंशति दण्डक पठितानां मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषामपि वैमानिकान्तानामेवेति। एकेन्द्रियानां मनः प्रभृतीनामं संभवेन प्रणिधाना संभवात्। प्रणिधान विशेषः सुप्रणिधानम् दुष्प्रणिधानञ्चेति तत्सूत्राणि। शोभनं संयमार्थत्वात्प्रणिधानं मनः प्रभृतीनां प्रयोजनं सुप्रणिधानमिति। इदं च सुप्रणिधानं चतुर्विंशति दण्डक निरूपणायां मनुष्याणां तत्रापि

संयतानामेव भवति चारित्र परिणतिरूपत्वात् सुप्रणिधानस्येत्याह 'एवं संजमे' इत्यादि दुष्प्रणिधान सूत्रम् सामान्य सूत्रवत् नवरं दुष्प्रणिधानं असंयमार्थं मनः प्रभृतीनां प्रयोगः इति।

प्रयोग करने का नाम 'प्रणिधान' है। आर्त, रौद्र और धर्म आदि ध्यान करना मन-प्रणिधान कहलाता है। इसी तरह वचन और शरीर के प्रयोग को क्रमशः वचन और काय-प्रणिधान कहते हैं। उपकरण नाम वस्त्र-पात्र आदि का है। वह दो तरह का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। उनका संयम और असंयम के लिए प्रयोग करना उपकरण-प्रणिधान कहलाता है। ये चारों प्रणिधान नारकी से लेकर वैमानिक देव तक के जीवों में होते हैं, एकेन्द्रियादि जीव, जो मनोविकल हैं, उनमें इनका व्यापार नहीं होता। प्रणिधान-विशेष को सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान कहते हैं। संयम पालनार्थ मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग करना सुप्रणिधान है। यह सुप्रणिधान चतुर्विंशति दण्डक के जीवों में केवल संयमधारी जीव को ही होता है, क्योंकि सुप्रणिधान चारित्र का परिणाम स्वरूप है। इसी तरह असंयम के लिए जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग किया जाता है, वह दुष्प्रणिधान कहलाता है। यह पंचेन्द्रिय से लेकर वैमानिक देवपर्यन्त के जीवों को होता है।

प्रस्तुत पाठ में संयमधारी जीवों के मन, वचन, काय और उपकरण को सुप्रणिधान कहा है। इसलिए देश से संयम के परिपालक श्रावकों का देश-संयम पालन के लिए, जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग होता है, वह सुप्रणिधान है, दुष्प्रणिधान नहीं। अतः इस पाठ का नाम लेकर श्रावक के मन, वचन, काय एवं उपकरण के प्रयोग को दुष्प्रणिधान कहना आगम से सर्वथा विपरीत है। प्रस्तुत पाठ एवं उसकी टीका में संयत का सुप्रणिधान होना कहा है, वहाँ संयम पद से देश-संयत श्रावक और सर्व-संयत साधु दोनों का ही ग्रहण है, केवल सर्व-संयत का नहीं। अतः श्रावक अपने देश-संयम का पालन करने हेतु मन से धर्म-ध्यान ध्याता है, वचन से अर्हन्त एवं साधुओं का गुणानुवाद करता है, शरीर से साधु का मान-सम्मान करता है, उसे दान देता है और उपकरण से जीव-रक्षा आदि शुभ कार्य करता है, ये सब व्यापार सुप्रणिधान ही हैं, दुष्प्रणिधान नहीं।

जो व्यक्ति उक्त चारों सुप्रणिधान एकमात्र साधुओं में ही होना मानकर श्रावक के उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान में मानते हैं, उन से पूछना चाहिए—'श्रावक जो मन से धर्म-ध्यान ध्याता है, वचन से अर्हन्त, सिद्ध और साधु के गुणानुवाद गाता है और काय से साधु को मान देता है, उनका मान-सम्मान एवं सेवा-शुश्रूषा करता है, उसे दुष्प्रणिधान में क्यों नहीं मानते? यदि यह कहें कि ये सब व्यापार संयमपालन के लिए किए जाते हैं,

इसलिए दुष्प्रणिधान नहीं हैं। उसी तरह जो श्रावक संयम पालने के हेतु उपकरण का व्यापार करता है, वह भी दुष्प्रणिधान नहीं, सुप्रणिधान ही है। यदि उसके उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान कहते हैं, तो उसके पूर्वोक्त मन, वचन एवं काय के व्यापारों को भी दुष्प्रणिधान कहना होगा। परन्तु जैसे श्रावक का पूर्वोक्त मन, वचन एवं काय का व्यापार दुष्प्रणिधान नहीं है, उसी प्रकार संयमपालन के हेतु किया गया उपकरण का व्यवहार भी दुष्प्रणिधान नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि श्रावक के ये चतुर्विध व्यापार सुप्रणिधान हैं, तो उक्त पाठ में संयतियों के ही चतुर्विध सुप्रणिधान क्यों कहे? तिर्यंच श्रावक के भी कहने चाहिए। तिर्यंच श्रावकों के पास धर्मोपकरण नहीं होते, इसलिए उपकरणों का सुप्रणिधान उनमें असंभव है। इसलिए उनमें चतुर्विध सुप्रणिधान नहीं कहे हैं। यद्यपि तिर्यंच श्रावकों के भी मन, वचन और काय-व्यापार सुप्रणिधान होते हैं, तथापि उपकरण-व्यापार नहीं होने से यहाँ तिर्यंच श्रावकों का कथन नहीं किया है। यह स्थानांगसूत्र का चतुर्थ स्थान है, इसलिए जिसके चारों व्यापार—मन, वचन, काय और उपकरण सुप्रणिधान होते हैं, उन्हीं का यहाँ कथन है। उक्त चारों सुप्रणिधान मनुष्य श्रावक एवं साधु के ही होते हैं, तिर्यंच श्रावक के नहीं। यदि कोई यह कहे कि श्रावक असंयम का पालन करने के लिए भी मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग करता है, अतः उसके ये व्यापार भी सुप्रणिधान में क्यों नहीं मानते?

श्रावक संयम पालन करने के लिए, जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग करते हैं, उन्हीं व्रतों की अपेक्षा से वे देश-संयत माने जाते हैं, असंयम के हेतु उक्त चतुर्विध व्यापार का प्रयोग करने के कारण नहीं। अतः उक्त चतुर्विध व्यापार जो संयमपालन के लिए होते हैं, वे ही सुप्रणिधान हैं, दूसरे नहीं। असंयम के लिए श्रावक के जो मन, वचन, काय और उपकरण का प्रयोग होता है, उसकी अपेक्षा वह असंयत माना जाता है और संयमपालन के लिए जो उक्त चार व्यापारों का प्रयोग होता है, उसकी अपेक्षा संयत समझा जाता है। अतः आगम में श्रावक को संयतासंयत कहा है। संयतासंयत वही है, जो देश से संयमधारी है। और जिसके उक्त चतुर्विध व्यापार देश से संयम के उपकारी हैं। अतः संयम के उपकारार्थ जो श्रावक के उक्त चतुर्विध व्यापारों का प्रयोग होता है, वे सुप्रणिधान हैं और जो असंयत के लिए इनका प्रयोग होता है, वे दुष्प्रणिधान हैं। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार सामायिक एवं पौषध में स्थित श्रावक के मन, वचन और काय को सुप्रणिधान और उसके उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान कहते हैं, यह इनका एकान्त व्यामोह है। यदि

सामायिक और पौषध में स्थित श्रावक के उपकरणों का व्यापार दुष्प्रणिधान है, तो उसके मन, वचन और काय का व्यापार सुप्रणिधान कैसे हो सकता है? यदि मन, वचन और काय का व्यापार सुप्रणिधान है, तो उसका उपकरण का व्यापार दुष्प्रणिधान कैसे होगा? अतः सामायिक एवं पौषध में स्थित श्रावक के प्रथम तीन व्यापारों को सुप्रणिधान में और चौथे उपकरण के व्यापार को दुष्प्रणिधान में बताना आगम से सर्वथा विपरीत है।

भ्रमविध्वंसनकार ने सुप्रणिधान के प्रसंग में प्रयुक्त संयति शब्द से केवल साधु को ही ग्रहण किया है, देश-संयति श्रावक को नहीं। ऐसी स्थिति में सामायिक एवं पौषध में स्थित श्रावक के मन, वचन और काय-व्यापार भी सुप्रणिधान में नहीं माने जायेंगे। क्योंकि उक्त पाठ में संयति के मन, वचन और काया के व्यापार को ही सुप्रणिधान कहा है, अन्य को नहीं। यदि उक्त पाठ में प्रयुक्त 'संयत' शब्द से देश-संयति श्रावक का ग्रहण होना मान कर उसके प्रथम के तीन व्यापारों को सुप्रणिधान मानते हैं, तो उसके उपकरण के व्यापार को भी सुप्रणिधान मानना होगा।
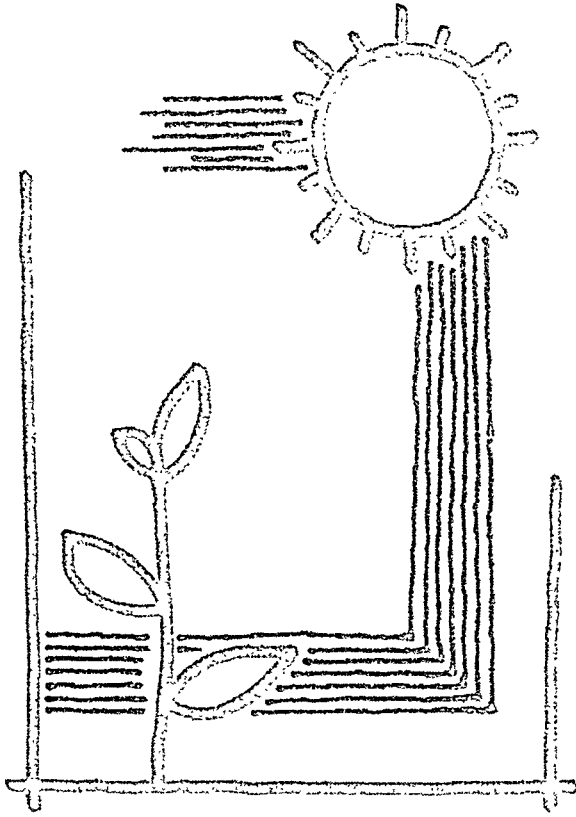
अनुकम्पा-अधिकार

रक्षा करना अहिंसा है
अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान है
भगवान महावीर क्षेमंकर थे
जीव-रक्षा का उपदेश
भ. नेमिनाथ ने जीव-रक्षा की
हाथी ने शशक की रक्षा की
'मत मार' कहना पाप नहीं
साधु गृहस्थ के घर में न ठहरें
साधु जीवन की इच्छा करता है
असंयम का निषेध
आहार : संयम का साधन है
नमिराज ऋषि
शान्ति देना सावद्य कार्य नहीं

उपसर्ग दूर करना पाप नहीं
धन और जीव-रक्षा
पथ-भूले को पथ बताना
साधु आत्म-रक्षा कैसे करे?
साध्वाचार और जीव-रक्षा
चुलनीप्रिय श्रावक
साधु अनुकम्पा कर सकता है
त्रस जीव को बांधना-खोलना
सुलसा के पुत्रों की रक्षा
अभयकुमार
जिनरक्षित और रयणा देवी
भक्ति और नाटक
सेवा और प्रताड़न
शीतल लेश्या

रक्षा करना अहिंसा है

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो अहिंसा के यथार्थ अर्थ को नहीं समझते। इसलिए वे अनुकम्पा एवं जीवों की रक्षा करने की व्याख्या भी विचित्र ढंग से करते हैं। वे अहिंसा का केवल निषेधार्थक अर्थ करते हैं—जीव को नहीं मारना अहिंसा है। जो व्यक्ति जीवों को नहीं मारता, वह अहिंसा का परिपालन करता है, इसलिए वह धार्मिक है। परन्तु जो व्यक्ति मरते हुए प्राणियों को बचाने के भाव से हिंसा में प्रवृत्तमान व्यक्ति को उपदेश देकर उसे हिंसा करने से रोकता है और प्राणियों की रक्षा करता है, वह धर्म नहीं, अधर्म या पापकार्य करता है। भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १२० पर लिखते हैं—

'श्री तीर्थंकर देव पिण पोताना कर्म खपावा तथा अनेरा ने तारवा नें अर्थे उपदेश देवे इम कह्यूं छै। पिण जीव बचावा उपदेश देवे इम कह्यो नहीं।'

तेरापंथ के निर्माता आचार्य श्री भीखणजी ने अनुकम्पादान की ढाल में इससे भी कठोर भाषा में लिखा है—

कई आज्ञानी इम कहे, छः काया रा काजे हो देवां धर्म उपदेश।।
एकन जीव ने समझावियां, मिट जावे हो घणां जीवांरा क्लेश।।
छः काया रा घरे शान्ति हुवे, एहवा भाषे हो अन्य-तीर्थी धर्म।।
त्यां भेद न पायो जिन धर्म रो, ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म।।

'कुछ अज्ञानी व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि वे छः काय के जीवों के घर में शान्ति होने के लिए धर्मोपदेश देते हैं। क्योंकि एक जीव को समझा देने से बहुत-से जीवों का क्लेश मिट जाता है। परन्तु छः काय के जीवों के घर में शान्ति होने के लिए उपदेश देना अन्यतीर्थियों का धर्म बताता है, जैन धर्म नहीं। अतः छः काय के जीवों के घर में शान्ति करने के लिए जो उपदेश देते हैं, वे जैन धर्म के रहस्य को नहीं समझते, वे भूले हुए हैं और उनके अशुभ कर्म का उदय है।'

किसी मरते हुए प्राणी को बचाना तो दूर रहा, परन्तु उसके लिए 'मत मार' कहना भी पाप है। इसके लिए वे लिखते हैं—

मत मार कहे उण रो रागी रे, तीजे करणे हिंसा लागी रे।
मति मारण रो कह्यो नहीं, ते तो सावज जाणी वाय रे।।

'जो मनुष्य हिंसक के द्वारा मारे जाते हुए जीव को 'मत मार' कहकर उसे बचाने का प्रयत्न करता है, वह तीसरे करण से हिंसा का पाप करता है।'

'मत मार' इस भाषा को सावद्य—पापयुक्त जानकर इसके बोलने का निषेध किया है।'

परन्तु उक्त कथन यथार्थ नहीं है। जैन धर्म 'मत मार' कहकर प्राणी की रक्षा करने के कार्य को सावद्य नहीं कहता और जैन धर्म को जानने वाला कोई भी व्यक्ति इस सिद्धान्त का समर्थन नहीं कर सकता। कुछ व्यक्ति भोले-भोले लोगों के मस्तिष्क में भ्रान्त धारणा बैठाने के लिए ऐसा अनर्गल उपदेश देते हैं। अपने मत को पुष्ट करने के लिए ऐसे उदाहरण भी देते हैं। जैसे भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं—'एक मनुष्य झूठ बोलता है, दूसरा झूठ नहीं बोलता और तीसरा सत्य बोलता है। इनमें जो झूठ बोलता है, वह एकान्त पापी है। जो झूठ नहीं बोलता वह एकान्त धर्मी है। परन्तु जो सत्य बोलता है, उसके भी दो भेद हैं—एक सावद्य सत्य बोलता है और दूसरा निरवद्य सत्य बोलता है। इनमें सावद्य सत्य बोलने वाला एकान्त पाप करता है और निरवद्य सत्यवक्ता धर्म करता है। इसी तरह एक मनुष्य हिंसा करता है, दूसरा हिंसा नहीं करता और तीसरा रक्षा करता है, इनमें जो व्यक्ति हिंसा करता है, वह एकान्त पापी है। जो हिंसा नहीं करता, वह एकान्त धर्मी है। परन्तु जो रक्षा करता है, उसके दो भेद हैं—एक हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश देता है और दूसरे हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले प्राणी को बचाने के लिए नहीं मारने का उपदेश देता है। इसमें प्रथम व्यक्ति धर्म करता है और द्वितीय व्यक्ति एकान्त पाप करता है। क्योंकि मरते हुए प्राणी की रक्षा करना जैन धर्म का सिद्धान्त नहीं है।'

भ्रमविध्वंसनकार ऐसा ही एक और दृष्टान्त देते हैं—'चोरी करने वाले चोर को साधु धनी के माल की रक्षा के लिए चोरी नहीं करने का उपदेश नहीं देते, किन्तु उसे चोरी के पाप से बचाने के लिए उपदेश देते हैं। उसी तरह साधु कसाई के हाथ से मारे जाने वाले बकरे की प्राण-रक्षा के लिए उसे नहीं मारने का उपदेश नहीं देते, परन्तु कसाई को हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश देते हैं।'

इस तरह भ्रमविध्वंसनकार अनेक तरह की कपोलकल्पना करके जैन धर्म के प्राणभूत रक्षा-धर्म का उन्मूलन करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु इनकी

ये सब कल्पनाएँ कपोल-कल्पित हैं, आगम से सर्वथा विरुद्ध हैं। कसाई के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी के प्राणों की रक्षा के लिए उसे नहीं मारने का उपदेश देना सावद्य सत्य की तरह एकान्त पाप नहीं, धर्म का कार्य है। मरते हुए प्राणी की रक्षा करना जैन धर्म का प्रमुख उद्देश्य है। वास्तव में प्राणियों की रक्षा के लिए ही जैनागम का निर्माण हुआ है। तीर्थंकर भगवान के प्रवचन देने का मुख्य उद्देश्य बताते हुए आगम में स्पष्ट लिखा है—

सव्व जग-जीव रक्खण-दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, प्रथम संवर द्वार

संसार के सभी जीवों की रक्षा-रूप दया के लिए तीर्थंकर भगवान ने प्रवचन—आगमों का उपदेश दिया।

यदि हिंसक द्वारा मारे जाने वाले प्राणियों की रक्षा करने के लिए उपदेश देने में एकान्त पाप होता, तो प्रश्नव्याकरणसूत्र में संसार के सभी जीवों की रक्षा-रूप दया के लिए तीर्थंकरों द्वारा आगम का उपदेश देने के पाठ का उल्लेख क्यों करते? अतः जीव-रक्षा के लिए उपदेश देने में एकान्त पाप बताना और इसे अन्यतीर्थियों का धर्म कहना आगम के सर्वथा विरुद्ध है।

यदि कोई यह कहे कि प्रश्नव्याकरण के पाठ में प्रयुक्त 'रक्षण' शब्द का अर्थ जीवों को बचाना नहीं, नहीं मारना है, तो उनका यह कथन नितान्त असत्य है। कोष, व्याकरण एवं व्यवहार में 'रक्षण' शब्द का अर्थ—बचाना प्रसिद्ध है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी इस बात को स्वीकार किया है—'एक तो जीव हणे, एक न हणे, एक जीव छुड़ावे ए तीनूं न्यारा-न्यारा छै।' इसमें उन्होंने नहीं मारने वाले और रक्षा करने वाले दोनों को एक नहीं, भिन्न-भिन्न माना है। इसलिए जीवों को नहीं मारने की क्रिया को रक्षा कहना और मरते हुए जीवों को बचाने की क्रिया को रक्षा करना नहीं मानना एकान्त दुराग्रह है।

जीवों की रक्षा के लिए उपदेश देना और सावद्य सत्य बोलना एक जैसा कार्य नहीं है। सावद्य सत्य बोलने से जीवों को दुःख होता है। जैसे—काणे को काणा, अन्धे को अन्धा कहना सत्य है, परन्तु इससे काणे एवं अन्धे व्यक्ति के मन में दुःख होगा। इसलिए आगम में सावद्य सत्य को एकान्त पाप कहा है। परन्तु हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए उसे नहीं मारने का उपदेश देने से न तो हिंसक को ही दुःख होता है और न मारे जाने वाले प्राणी को ही दुःख का संवेदन होता है, बल्कि हिंसक व्यक्ति हिंसा के पाप से बच जाता है और मारे जाने वाले व्यक्ति का आर्त-रौद्र ध्यान छूट

जाता है, ऐसी स्थिति में बचाने के लिए उपदेश देने वाले दयालु उपदेशक को पाप किस बात का हुआ? यह बुद्धिमान एवं दयानिष्ठ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

आगम के अनुसार प्राणियों की रक्षा-रूप दया के लिए उपदेश देना प्रशस्त कार्य है। उसमें एकान्त पाप बताना आगम के यथार्थ अर्थ को नहीं जानने का परिणाम है। आगम में सत्य के दो भेद किए हैं—१. सावद्य और २. निरवद्य। परन्तु जीव-रक्षा को आगम में कहीं भी सावद्य नहीं कहा है और न इसके सावद्य और निरवद्य दो भेद ही किए हैं। अतः जीव-रक्षा को सावद्य कार्य कहना असत्य है।

जीव-रक्षा-रूप धर्म को एकान्त पाप का कार्य सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने जो दूसरा चोर का दृष्टान्त दिया है, वह भी असंगत है। क्योंकि प्रश्नव्याकरणसूत्र में 'जीव-रक्षा-रूप दया के लिए भगवान ने आगम का उपदेश दिया कहकर जीव-रक्षा-रूप धर्म को आगम का प्रमुख उद्देश्य बताया है। इसलिए साधु जीव-रक्षा का उपदेश देते हैं, किन्तु धनी के धन की रक्षा के लिए नहीं। क्योंकि आगम में पर द्रव्यहरण-रूप पाप से निवृत्ति-रूप दया के लिए तीर्थंकर भगवान ने आगम का उपदेश दिया, ऐसा कहा है—

पर-दव्व-हरण वेरमण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, तृतीय संवर द्वार

इस पाठ में पर-द्रव्य के हरण-रूप पाप से निवृत्ति के लिए प्रवचन का कथन होना बताया है, धनी के धन की रक्षा के लिए नहीं। परन्तु जीव-रक्षा के विषय में ऐसा नहीं कहा है—'हिंसा की निवृत्ति के लिए जैनागम का कथन हुआ है, जीव-रक्षा के लिए नहीं।' परन्तु वहाँ तो स्पष्ट लिखा है—'संसार के सभी प्राणियों की रक्षा-रूप दया के लिए भगवान ने प्रवचन कहा।' अतः हिंसक के हाथ से जीवों को बचाने के लिए उपदेश देना आगमसम्मत एवं प्रशस्त कार्य है। इसमें एकान्त पाप नहीं होता है।

धन-रक्षा और जीव-रक्षा को एक समान बताना भयंकर भूल है। धन अचित्त—जड़ पदार्थ है। उसकी अनुकंपा-दया नहीं होती। परन्तु जीव चेतन है, उसकी रक्षा करना धर्म है। इसीलिए आगम में अनेक जगह—**पाणानुकम्पयाए, भूयाणुकम्पयाए** आदि पाठ आए हैं। परन्तु आगम में **धनानुकम्पयाए, वितानुकम्पयाए** आदि पाठ नहीं आए हैं। अतः धन-रक्षा का दृष्टान्त देकर जीव-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम-विरुद्ध है।

केशी श्रमण और प्रदेशी राजा

हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणियों की प्राण-रक्षा के लिए किसी साधु ने उपदेश दिया हो, मूल पाठ के साथ ऐसा उदाहरण बताएँ?

राजप्रश्नीय सूत्र का पाठ लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स रण्णो धम्म-माइक्खेज्जा बहु-गुणतरं खलु होज्जा, पएसिस्स रण्णो तेसिं च बहूणं दुप्पय-चउप्पय-मिय पसु-पक्खी-सरीसवाणं। तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स रणो धम्म-माइक्खेज्जा बहु गुणतरं फलं होज्जा, तेसिं च बहूणं समण-माहण-भिक्खुयाणं। तं जइ णं देवाणुप्पिया! पएसिस्स बहु गुणतरं होज्जा, सव्वस्स वि जणवयस्स।

—राजप्रश्नीय सूत्र

हे देवानुप्रिय! यदि आप प्रदेशी राजा को धर्म सुनाएँ, तो बहुत गुणयुक्त फल होगा।

वह फल किसे होगा?

स्वयं प्रदेशी राजा को एवं उसके हाथ से मारे जाने वाले बहुत से द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु-पक्षी और सरीसृपों को।

हे देवानुप्रिय! यदि आप प्रदेशी राजा को धर्म सुनाएँ, तो बहुत-से श्रमण-माहन, भिक्षुओं, प्रदेशी राजा एवं उसके सम्पूर्ण राष्ट्र को बहुत गुणयुक्त फल होगा।

प्रस्तुत पाठ में प्रदेशी राजा को धर्मोपदेश सुनाने से राजा एवं उसके हाथ से मारे जाने वाले बहुत से द्विपद-चतुष्पद आदि प्राणियों, दोनों को गुण होने का कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रदेशी राजा को धर्म सुनाने से वह हिंसा का परित्याग करके उसके पाप से बच सकता है और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियों के प्राणों की भी रक्षा हो सकती है। अतः राजा को हिंसा के पाप से बचने का गुण होगा और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियों को प्राणरक्षा-रूप गुण होगा। उक्त उभय प्रकार के लाभ के लिए चित्त प्रधान ने केशी श्रमण से यह प्रार्थना की कि वे प्रदेशी राजा को धर्मोपदेश दें, केवल राजा को हिंसा के पाप से बचाने के लिए नहीं। अतः उक्त पाठ से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु केवल हिंसक को हिंसा के पाप से बचाने के लिए ही नहीं, प्रत्युत् उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवों की रक्षा के लिए भी उपदेश देते हैं।

यहाँ कुछ लोग यह तर्क करते हैं—'यह पाठ चित्त प्रधान की प्रार्थना की अभिव्यक्ति करने के रूप में आया है, इसलिए इस पाठ में चित्त प्रधान ने द्विपद, चतुष्पद आदि जीवों की प्राण-रक्षा के लिए केशी श्रमण से धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि साधु को मारे जाते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देना चाहिए। क्योंकि चित्त प्रधान अज्ञानवश भी मुनि से मरते हुए जीवों की रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने की प्रार्थना कर सकता है।'

वस्तुतः यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि चित्त प्रधान सामान्य व्यक्ति नहीं, बारह व्रतधारी श्रावक था। वह जीव-रक्षा में धर्म या अधर्म होना जानता था। अतः उसने मुनि से अज्ञानवश नहीं, किन्तु धर्मादि तत्त्व को जानते हुए प्रार्थना की। यदि यह कार्य एकान्त पाप का ही था तो केशी श्रमण ने प्रार्थना करते ही चित्त प्रधान को क्यों नहीं समझाया, 'हे देवानुप्रिय! प्रदेशी राजा को तारने के लिए धर्मोपदेश देना तो उपयुक्त है, परन्तु उसके हाथ से मारे जाने वाले जीवों की प्राण-रक्षा के लिए उसे उपदेश देना उचित नहीं है। क्योंकि मरते जीवों की रक्षा के लिए उपदेश देने में एकान्त पाप होता है।' परन्तु केशी श्रमण ने ऐसा नहीं कहा। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव-रक्षा में धर्म होता है। तथापि हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणियों की रक्षा के उद्देश्य से धर्मोपदेश करने में एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अभयदान सर्वश्रेष्ठ दान है

सूत्रकृतांग, श्रु. १, अ. ६ की गाथा में प्रयुक्त दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाण पद का कुछ लोग यह अर्थ करते हैं—'अपनी ओर से किसी प्राणी को भय नहीं देना अभयदान है। परन्तु दूसरे से भय पाते हुए प्राणी को भयमुक्त करना अभयदान नहीं है।'

अभयदान का केवल दूसरे को भय नहीं देना इतना ही अर्थ नहीं, बल्कि दूसरे से भय पाते हुए प्राणी को भयमुक्त करना भी अभयदान है। सूत्रकृतांग की उक्त गाथा की टीका में दूसरे से भयभीत व्यक्ति को भयमुक्त करना भी अभयदान बताया है।

स्वपरानुग्रहार्थमर्थिनेदीयत इति दानमेकधा तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभय प्रदानं श्रेष्ठम्। तदुक्तम्—

दीयते म्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा।
धन कोटिं न गृहणीयात् सर्वो जीवितुमिच्छति।।

गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्त द्वारेणार्थो बद्धौ सुखेनारोहतीत्यतोऽभयदान प्राधान्य ख्यापनार्थं कथानकमिदम्—

वसन्तपुरे नगरे अरिदमनोराजा, स च कदाचित् चतुर्वधू समेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति तेन कदाचिच्चोरो रक्त कणवीर कृत मुण्डमालो, रक्त परिधानो, रक्त चन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः। दृष्टवा च ताभिः पृष्टं किमनेनाकारि इति? तासामेकेन राजपुरुषेणावेदितम्। यथा— परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति। तत एकया राजा विज्ञप्तः यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयताम्, येनाहमस्योपकरोमि किंचित् राज्ञापि प्रतिपन्नम्। ततस्तया स्नानादि पुरस्सरमलंकारेणालंकृतो दीनार सहस्र व्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः। पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनार

शतसहस्र व्ययेन लालितः। तत–स्तृतीयया तृतीय महो दीनार कोटि व्ययेन सत्कारितः। चतुर्थ्यातु राजानु–मत्या मरणाद् रक्षितोऽभय प्रदानेन। ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्य त्वया किञ्चिद् दत्तमिति। तदेवं तासां परस्परं बहूपकार विषये विवादे जाते। राजाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्ठः 'यथा केन तव बहूपकृतम्' तेनाप्यभाणि यथा न मया मरण–महाभय–भीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यज्ञायि। अभय प्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमिति। अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमितिस्थितम्।'

—सूत्रकृतांगसूत्र, १, ६, २३ टीका

अपने या पर के अनुग्रह के लिए याचक पुरुष को जो दिया जाता है, वह दान कहलाता है। वह अनेक प्रकार का है, उनमें अभयदान सर्वश्रेष्ठ है। अभय-दान—जीने की इच्छा रखने वाले प्राणियों के जीवन की रक्षा करना। इसलिए वह सब दानों में श्रेष्ठ माना गया है। कहा भी है—'यदि मरते हुए प्राणी को एक ओर करोड़ों का धन दिया जाए और दूसरी ओर जीवनदान, तो वह करोड़ों का धन न लेकर, जीवन को ही लेता है। क्योंकि जीवों को जीवन सबसे अधिक प्रिय है।' अतः अभयदान सब दानों में श्रेष्ठ है। साधारण बुद्धि के लोगों को समझाने के लिए एक दृष्टान्त के द्वारा अभयदान की श्रेष्ठता बता रहे हैं—

वसन्तपुर नगर में अरिदमन नाम का एक राजा रहता था। वह एक दिन अपनी चारों रानियों के साथ झरोखे में बैठकर क्रीड़ा कर रहा था। उस समय उसने अपनी रानियों के साथ गले में लाल कनेर के फूलों की माला पहिनाए हुए, लाल वस्त्र पहिनाए हुए और शरीर पर रक्त चंदन का लेप किए हुए एक चोर को ढोल बजाकर और उसका वध करने की घोषणा करते हुए राजमार्ग से ले जाते हुए देखा।

उसे देखकर रानियों ने पूछा—'इसने क्या अपराध किया है?'

यह सुनकर राजा ने कहा—'इसने चोरी करके राजा की आज्ञा का उल्लंघन किया है।'

इसके अनन्तर एक रानी ने राजा से कहा—'आपने मुझे पहले जो वरदान देना स्वीकार किया था, वह अभी दे दें, जिससे मैं इस चोर का कुछ उपकार कर सकूँ।'

यह सुनकर राजा ने वरदान देना स्वीकार कर लिया।

रानी ने राजा से यह वर मांगा—'इस चोर को स्नान कराकर, आभूषण पहिनाकर, एक हजार मोहरों के व्यय से एक दिन तक शब्दादि पाँचों विषयों का सुख दिया जाए।'

इसके अनन्तर दूसरी रानी ने दूसरे दिन उस चोर को एक लाख मोहरों के व्यय से सुख देने का वर मांगा।

तीसरे दिन तीसरी रानी ने एक कोटि मोहरों के व्यय से उसे सुख देने को कहा।

चौथे दिन चौथी रानी ने राजा से वर मांगकर उस चोर को अभयदान देकर मरने से बचा लिया।

यह देखकर पहली तीनों रानियाँ चौथी रानी की हंसी उड़ाने लगीं। वे कहने लगीं—'इसने तो बेचारे को कुछ नहीं दिया।'

इसके अनन्तर उन रानियों में अपने-अपने उपकार के विषय में संघर्ष होना शुरू हुआ। उस संघर्ष को शान्त करने के लिए राजा ने चोर को बुलाकर पूछा—'इन रानियों में से तुम्हारा सबसे अधिक उपकार किसने किया?'

चोर ने कहा—'मैं मरण के महाभय से भयभीत था, अतः स्नानादि के सुख का मुझे कुछ भी आनन्द नहीं आया। परन्तु जब मैंने यह सुना कि मुझे अभयदान मिला है, तब मुझे नवजीवन-प्राप्ति के समान महान् आनन्द हुआ।'

यहाँ मारे जाने वाले प्राणी को मरने से बचाने को अभयदान कहा है। और इस विषय को स्पष्ट करने के लिए चोर का दृष्टान्त दिया है। इस दृष्टान्त में रानी ने अपनी ओर से चोर को भय देने का त्याग नहीं किया, बल्कि शूली या फांसी द्वारा होने वाले मरण रूपी महाभय से उसे बचाया और इस कार्य को यहाँ अभयदान कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे से भय पाते हुए प्राणी के भय को दूर करना भी अभयदान है, अपनी ओर से भय नहीं देना मात्र ही नहीं। अतः दूसरे से भयभीत प्राणी को भय से मुक्त करने में एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भगवान महावीर क्षेमंकर थे

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १२१ पर सूत्रकृतांगसूत्र की गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो पोताना कर्म खपावा तथा आर्य क्षेत्र ना मनुष्य ने तारिवा भगवान धर्म कहे। इम कह्यो पिण इम न कह्यो जे जीव बचावाने अर्थे धर्म कहे। इण न्याय असंयति जीवां रो जीवणो वांछ्यां धर्म नहीं।' इनके कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर आर्य क्षेत्र के मनुष्यों को तारने के लिए और अपने कर्मों का क्षय करने के लिए धर्मोपदेश करते थे। परन्तु हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले प्राणियों की प्राण-रक्षा करने के लिए नहीं। अतः मारे जाते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए उपदेश देना साधु का कर्तव्य नहीं है।

सूत्रकृतांगसूत्र की उक्त गाथाओं को लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

नो काम किच्चा नय बाल किच्चा, रायाभियोगेण कुतो भये णं।
वियागरेज्जा पसिणं नवावि, सकाम किच्चे णिह आरियाणं।।
गन्तावतत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समिया सुपन्ने।
अनारिया दंसण तो परित्ता, इति संकमाणो न उवेति तत्थ।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, ६, १७-१८

गोशालक के मत का खण्डन करने के लिए आर्द्र मुनि कहते हैं—भगवान् महावीर बिना इच्छा के काम नहीं करते। जो बिना बिचारे काम करता है, वह इच्छा के बिना भी काम करता है। वह ऐसा काम कर डालता है, जिससे स्व या पर का अनिष्ट हो, परन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् महावीर परहित करने में तत्पर रहते हैं। वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते जिससे स्व या पर का उपकार नहीं होता। भगवान् महावीर किसी राजा आदि के दबाव से या अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए उपदेश नहीं देते। क्योंकि उनकी प्रवृत्ति भय से नहीं होती। यदि कभी कोई पूछता है या उसका उपकार होता देखते हैं, तो भगवान् उत्तर देते हैं, अन्यथा नहीं। और लाभ समझने पर भगवान् बिना पूछे ही उपदेश देते हैं। अनुत्तरविमानवासी देवता और

मनःपर्यवज्ञानी साधकों के प्रश्नों का उत्तर भगवान मन से ही देते हैं, वाणी से नहीं। क्योंकि उन्हें वाणी द्वारा उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। यद्यपि भगवान वीतरागी हैं, तथापि अपने तीर्थंकर नामकर्म का क्षय करने के लिए और उपकार योग्य आर्य क्षेत्र के मनुष्यों का उपकार करने हेतु उपदेश देते हैं।

भगवान् महावीर परहित-साधन में तत्पर रहते हैं। इसलिए वे शिक्षा पाने योग्य पुरुष के निकट जाकर भी उपदेश देते हैं। वे जिस प्रकार भव्य जीवों का कल्याण देखते हैं, उसी तरह उपदेश देते हैं। वे कहीं नहीं जाकर भी उपदेश देते हैं। यदि उपकार होता देखते हैं, तो वहाँ जाकर उपदेश देते हैं और उपकार होता नहीं देखते हैं, तो वहाँ रहकर भी उपदेश नहीं देते। उन्हें किसी से भी राग-द्वेष नहीं है। चक्रवर्ती नरेश या दर-दर का भिखारी, वे सब को एक दृष्टि से देखते हैं। पूछने या नहीं पूछने पर सब को समान रूप से धर्मोपदेश देते हैं। भगवान् अनार्य देश में धर्मोपदेश देने इसलिए नहीं जाते कि वहाँ के निवासी दर्शनभ्रष्ट हैं और ऐहिक सुख को ही अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर परलोक को स्वीकार करते हैं। अपितु उनकी भाषा और कर्म भी आर्य लोगों से विपरीत होते हैं। इसलिए वहाँ उपकार नहीं होने से भगवान् अनार्य देश में नहीं जाते।

प्रस्तुत गाथाओं में यह बताया है कि भगवान् महावीर आर्यक्षेत्र के मनुष्यों के उपकार के लिए एवं अपने तीर्थंकर नामकर्म का क्षय करने हेतु उपदेश देते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले जीवों की प्राण-रक्षा के लिए भी धर्मोपदेश देते हैं। क्योंकि जैसे हिंसक को हिंसा के पाप से बचाना उसका उपकार करना है, उसी तरह उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियों की रक्षा करना भी उनका उपकार करना है। उक्त गाथाओं के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने भी यह लिखा है—

असावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय न यथा कथंचिदतोऽसावग्लानः इह अस्मिन् संसारे आर्यक्षेत्रे वा उपकार योग्ये आर्याणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति।

—सूत्रकृतांग, २, ६, १७-१८ टीका

भगवान् महावीर अपने तीर्थंकर नामकर्म को क्षय करने के लिए इस संसार में अथवा उपकार करने योग्य आर्य क्षेत्र में त्यागने योग्य सभी बुरे धर्मों से अलग रहने वाले आर्यों के उपकार के हेतु धर्मोपदेश देते थे।

प्रस्तुत टीका में भी हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले जीवों की रक्षा के लिए भगवान् का उपदेश देना सिद्ध होता है। क्योंकि मरते हुए प्राणी की प्राण-

रक्षा करना हो, उसको सबसे बड़ा उपकार है। अतः उक्त गाथाओं एवं उनकी टीका से यही प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर आर्य क्षेत्र के प्राणियों की प्राण–रक्षा–रूप उपकार के लिए धर्मोपदेश देते थे। तथापि उक्त गाथाओं का नाम लेकर यह कहना कि भगवान् आर्य क्षेत्र के जीवों की प्राण–रक्षा करने हेतु उपदेश नहीं देते थे, नितान्त असत्य है।

सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् मरते हुए जीव की प्राण–रक्षा के लिए धर्मोपदेश देते हैं—

समिच्च लोगं तस–थावरा णं खेमंकरे समणे–माहणे वा।
आइक्खमाणे वि सहस्समज्झे एगंत यं सारयति तहच्चे।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, ६, ४

स्यादेतत् धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो भवत्युतनेति। भवतीत्याह 'समिच्च लोगं' इत्यादि सम्यक् यथावस्थितं लोकं षड्द्रव्यात्मकं मत्वा अवगम्य केवलालोकेन परिच्छिद्य त्रस्यन्तीति त्रसाः त्रसनामकर्मोदया द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीतिस्थावराः स्थावर–नामकर्मोदयात्स्थावराः पृथिव्यादस्तेषामुभयेषामपि जन्तुनां क्षेमं शान्तिः रक्षा तत्करणशीलः क्षेमंकरः। श्राम्यतीति श्रमणः द्वादश प्रकार तपोनिष्टप्तदेहः तथा माहन इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो ब्राह्मणो वा स एवं भूतो निर्ममो राग–द्वेष रहितः प्राणिहिताद्यर्थं न पूजालाभ ख्यात्याद्यर्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि प्राग्वत् छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत एव उत्पन्न–दिव्यज्ञानत्वाद् भाषागुणदोषविवेकज्ञ तया भाषणे नैव गुणवासेः अनुत्पन्न दिव्यज्ञानस्य तु मौन व्रतिकत्वेनेति। तथा देवासुर–नर–तिर्य्यक् सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः पंकाधारपंकजवत्तद्दोषव्यासंगा भावान्ममत्वविरहादाशंसादोष विकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति प्रख्यातिं नयति साधयतीति यावत्। ननु चैकाकि परिकरोयेतावस्थयोरस्ति विशेषः प्रत्यक्षेणैवोपालभ्यमानत्वात्सत्यमस्ति विशेषो बाह्यतो न त्वांतरतोऽपि दर्शयति—तथा प्राग्वदर्चा लेश्या शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथार्चः। यदि वा अर्चा शरीरं तच्च प्राग्वद्यस्य स तथार्चः। तथाहि असावशोकाद्यष्ट प्रातिहार्य्योपेतोऽपि नोत्सेकं याति नापि शरीरं संस्कार यत्रं विदधाति स हि भगवान् आत्यन्तिक राग–द्वेष प्रहाणादेकाक्यपि जन परिवृतोऽप्येकाकी न तस्य तयोरवस्थयो कश्चिद् विशेषोऽस्ति। तथाचोक्तम्—

राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये करिष्यसि?
अथ नो निर्जितावेतौ किमरण्ये करिष्यसि?

इत्यतो बाह्यमनंगमान्तरमेव कषाय जयादिक प्रधानं कारणमिति स्थितम्।

भगवान् महावीर के धर्मोपदेश से प्राणियों का कुछ उपकार होता था या नहीं?

होता था।

भगवान् महावीर केवलज्ञान से षट्द्रव्यात्मक लोक को यथार्थ रूप से जानकर द्वीन्द्रियादि त्रस और पृथ्वी आदि स्थावर प्राणियों की स्वभाव से ही रक्षा, शान्ति, क्षेम करते थे। वे बारह प्रकार की तपस्या से अपने शरीर को तपाते हुए और माहन—प्राणियों को अहिंसा का उपदेश देते हुए, ममतारहित होकर प्राणियों के हितार्थ धर्मोपदेश देते थे। उन्हें अपनी पूजा-प्रतिष्ठा एवं मान-सम्मान की इच्छा नहीं थी। भगवान् धर्मोपदेश करते समय भी पूर्व की तरह—मौनव्रतिक की तरह वाक्संयत थे। तात्पर्य यह है कि जैसे भगवान् छद्मस्थ अवस्था में मौनव्रतधारी थे, उसी तरह सर्वज्ञ होने के बाद धर्मोपदेश देते हुए भी मौनव्रतधारी के समान थे। क्योंकि दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने पर उन्हें भाषा के गुण और दोष का पूर्ण ज्ञान हो जाने से उनके बोलने में गुण ही था, दोष नहीं। और जब तक सर्वज्ञ नहीं हुए तब तक मौन रखने में ही गुण था। भगवान् महावीर हजारों देव, असुर, मनुष्य एवं तिर्यंचों के मध्य में रहते हुए भी कीचड़ में रहने वाले कमल की तरह दोष से निर्लिप्त रहते थे। ममता एवं सांसारिक लाभ की इच्छा तथा दोषरहित होकर वे सदा-सर्वदा और सर्वत्र एकान्तता का अनुभव करते थे। यदि कोई यह कहे कि एकाकी रहने की अवस्था एवं शिष्यादि के साथ रहने की अवस्था में प्रत्यक्षतः भेद परिलक्षित होता है, फिर वे सब के मध्य में निवसित होकर एकान्तता का कैसे अनुभव करते थे? इसका उत्तर यह है कि एकाकी रहने और शिष्यादि के साथ रहने की अवस्था में जो भेद दिखाई देता है, वह बाह्य भेद है, आन्तरिक नहीं। क्योंकि शिष्यादि के साथ रहने पर भी भगवान् की पूर्व के समान ही शुक्ल-ध्यान रूप लेश्या थी और वे पूर्ववत् अपने शरीर का संस्कार नहीं करते थे। अशोक वृक्षादि अष्ट प्रतिहार्यों के साथ रहने पर भी वे गर्वरहित थे और उनमें राग-द्वेष का सर्वथा अभाव था। इसलिए सब के साथ रहने पर भी वे एकान्तता का अनुभव करते थे। एक आचार्य ने कहा भी है—

यदि तुमने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर ली है, तो वन में जाकर क्या करोगे? और उस पर विजय नहीं पाई है, तब भी जंगल की खाक छानकर क्या करोगे? इसका निष्कर्ष यह है कि बाह्याचार—क्रिया-काण्ड ही कल्याण का कारण नहीं है। मुक्ति का मूल कारण कषाय आदि पर विजय प्राप्त करना है।

उस पर विजय पाने के पश्चात् भले ही जनता के बीच रहो या जंगल में,
एकान्तता की ही अनुभूति होगी।

प्रस्तुत गाथा में यह बताया है कि भगवान् महावीर त्रस और स्थावर सम
प्राणियों की क्षेम-रक्षा करने वाले थे। टीकाकार के शब्दों में वे सब प्राणियों
रक्षा करते थे—

क्षेमं शान्तिः रक्षा तत्करणशीलः क्षेमकरः।

इससे स्पष्टतः प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर केवल हिंसक
पाप से मुक्त करने के लिए ही नहीं, प्रत्युत् मरते हुए प्राणियों की रक्षा कर
के लिए भी धर्मोपदेश देते थे। यदि कोई यह कहे कि हिंसा के पाप से बच
देना ही जीव की रक्षा या क्षेम है, मरने से बचाना नहीं। इस सम्बन्ध में उन्हें
यह सोचना-समझना चाहिए कि प्रस्तुत गाथा में भगवान को त्रस की तरह
स्थावर जीवों का भी क्षेम करने वाला कहा है। यदि वे मरते जीवों की रक्षा के
लिए उपदेश नहीं देते, तो उन्हें स्थावर जीवों का क्षेमंकर कैसे कहा? क्योंकि
स्थावर जीवों में उपदेश ग्रहण करने की योग्यता नहीं है। अतः उन्हें हिंसा के
पाप से बचाने के लिए उपदेश देना घटित नहीं होता। किन्तु उनकी प्राण-रक्षा
के लिए उपदेश देना घट सकता है। अतः इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि
भगवान् मरते हुए प्राणी की रक्षा करने के लिए भी उपदेश देते थे।

कुछ व्यक्ति ऐसी कल्पना करते हैं कि हिंसक के हाथ से असंयति जीव
को बचाना उसके असंयम का अनुमोदन करना है और साधु को असंयम का
अनुमोदन करना नहीं कल्पता। इसलिए हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी
की प्राण-रक्षा के लिए साधु को उपदेश नहीं देना चाहिए।

परन्तु उनकी यह कल्पना सत्य नहीं है। क्योंकि साधु असंयति जीव की
प्राण-रक्षा उसके असंयम-सेवन का अनुमोदन करने के लिए नहीं करता।
साधु यह कामना नहीं करता कि यह असंयति जीवित रहकर असंयम का
सेवन करे या असंयम का सेवन करना अच्छा है। वह असंयम-सेवन को बुरा
समझता है। अतः वह असंयम-सेवन करने के लिए असंयति की रक्षा नहीं
करता। किन्तु साधु असंयति को उसके आर्त-रौद्र ध्यान एवं मरण-भय से
मुक्त करने के भाव से उसकी रक्षा करता है। अतः असंयति की प्राण-रक्षा
करने हेतु धर्मोपदेश देने से साधु को असंयम का अनुमोदन लगता है, ऐसा
कहना पूर्णतः गलत है।

यदि इस प्रकार असंयम का अनुमोदन लगता हो, तब तो हिंसक को
हिंसा छोड़ने के लिए अहिंसा का उपदेश भी नहीं देना चाहिए। क्योंकि इस

उपदेश से प्रभावित होकर यदि हिंसक असंयति को नहीं मारेगा, ता वह बच जाएगा और जीवित रहकर असंयम का सेवन भी करेगा। फिर प्राण-रक्षा में पाप की प्ररूपणा करने वाले हिंसक को हिंसा का त्याग कराने के लिए क्यों उपदेश देते हैं? यदि यह कहें कि हम असंयति की रक्षा के लिए उसे उपदेश नहीं देते, किन्तु उसे हिंसा के पाप से मुक्त करने हेतु उपदेश देते हैं। इसलिए हमें असंयति की प्राणरक्षा या उसके असंयम-सेवन का अनुमोदन नहीं लगता। इसी तरह सरल हृदय से उन्हें यह समझना चाहिए कि हम असंयम का सेवन कराने के लिए असंयति की प्राण-रक्षा नहीं करते, किन्तु उसका आर्त-रौद्र ध्यान मिटाकर उसे मरण-भय से उन्मुक्त करने हेतु उसकी रक्षा करते हैं। अतः हमें उसके असंयम-सेवन का अनुमोदन नहीं लग सकता। अस्तु हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने में असंयम-सेवन का नाम लेकर एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

जीव-रक्षा का उपदेश

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १२१ पर लिखते हैं—

'जिम कोई कसाई पाँच सौ-पाँच सौ पंचेन्द्रिय जीव नित्य हणे छै। ते कसाई ने कोई मारतो हुवे तो तिणने साधु उपदेश देवे। तो तिण ने तारिवाने अर्थे, पिण कसाई ने जीवतो राखण नें उपदेश न देवे। ए कसाई जीवतो रहे तो आछो, इम कसाई नो जीवणो वांछणो नहीं। केई पंचेन्द्रिय हणे, केई एकेन्द्रियादिक हणे छै। ते माटे असंयति जीव तो हिंसक छै। हिंसक नो जीवणों वांछ्यां धर्म किम हुवे?'

इनके कहने का अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति पंचेन्द्रिय जीव को मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीव को। इसलिए साधु के अतिरिक्त सभी व्यक्ति कसाई के समान हिंसक हैं। उनकी प्राण-रक्षा करने के लिए धर्मोपदेश देना धर्म नहीं, एकान्त पाप है। जो कसाई प्रतिदिन पाँच-सौ बकरे मारता है, यदि कोई उस कसाई को मार रहा हो, तो साधु उस मारने वाले को हिंसा के पाप से मुक्त करने के लिए उपदेश देते हैं, परन्तु कसाई को बचाने के लिए नहीं। क्योंकि यदि कसाई बचेगा तो वह पुनः प्रतिदिन पाँच-सौ बकरों का वध करेगा। उसी तरह यदि अन्य असंयति बचे रहे तो वे भी प्रतिदिन एकेन्द्रिय जीवों का विनाश करेंगे। इसलिए साधु हिंसक को हिंसा छोड़ने के लिए उपदेश देते हैं, परन्तु उसके हाथ से मारे जाने वाले असंयति जीवों की प्राण-रक्षा करने के लिए नहीं।

साधु किसी भी जीव की हिंसा को अच्छा नहीं समझता। वह प्रत्येक प्राणी की रक्षा करने की भावना रखता है। वह जैसे कसाई का वध करने वाले को उपदेश देकर कसाई की प्राण-रक्षा करने का प्रयत्न करता है, उसी तरह कसाई को उपदेश देकर प्रतिदिन उसकी छुरी से मारे जाने वाले बकरों की प्राण-रक्षा करने का प्रयत्न करता है। वह यह अभिलाषा नहीं रखता कि कसाई जीवित रहकर प्रतिदिन बकरों का वध करे। उसका एकमात्र यह भाव रहता है कि कसाई, बकरे एवं अन्य प्राणी आर्त-रौद्र ध्यान एवं मरण-भय से मुक्त हों और उनके साथ-साथ साधु हिंसक को हिंसा के पाप से भी मुक्त

करने का प्रयत्न करता है। साधु मरने वाले प्राणी को आर्त–रौद्र ध्यान एवं मरण के महाभय से निवृत्त करने की ही भावना रखता है, उसके असंयम–सेवन आदि बुराइयों की नहीं। अतः असंयति जीव की प्राण–रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने से, उस असंयति के द्वारा सेवन किये जाने वाले असंयमादि का साधु को अनुमोदन नहीं लगता।

यदि असंयम की इच्छा न रखने पर भी असंयति को बचाने मात्र से साधु को असंयम का अनुमोदन लगे, तो हिंसक को अहिंसा का उपदेश देने से भी असंयम का अनुमोदन लगना चाहिए। क्योंकि अहिंसा का उपदेश सुनकर हिंसक यदि असंयति को नहीं मारेगा, तो वह जीवित रहकर असंयम का सेवन करेगा, ऐसी स्थिति में हिंसक की हिंसा छुड़ाने वाले साधु को असंयति के असंयम–सेवन का अनुमोदन क्यों नहीं लगेगा? यदि उक्त अहिंसा का उपदेशक हिंसा छुड़ाने मात्र की भावना से उपदेश देता है, हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण–रक्षा तथा उसके द्वारा सेवन किए जाने वाले असंयम–सेवन की इच्छा से नहीं, इसलिए उसे असंयम का अनुमोदन नहीं लगता। उसी तरह जो साधु प्राणियों की प्राण–रक्षा एवं उन्हें आर्त–रौद्र ध्यान तथा मरण–भय से मुक्त करने मात्र की भावना से प्राणियों की रक्षा करता है, उनके असंयम–सेवन की इच्छा से नहीं, उसे भी असंयति के द्वारा सेवन किए जाने वाले असंयम–सेवन का अनुमोदन नहीं लगता। किन्तु मरते हुए प्राणी की प्राण–रक्षा रूप महान् पुण्य का लाभ होता है। अतः मरते हुए प्राणी की प्राण–रक्षा करने के लिए धर्मोपदेश देने से असंयम एवं हिंसा का समर्थन होता है, ऐसा कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ. नेमिनाथ ने जीव-रक्षा की

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं—'अथ इहां तो पाधरो कह्यो—जे म्हारे कारण यां जीवाँ ने हणे तो ए कारणज मोनें परलोक में कल्याणकारी भलो नहीं। इम बिचारी पाछा फिर्या। पिण जीवाँ ने छुड़ावा चाल्यो नहीं।' इसके अतिरिक्त पृष्ठ १२४ पर लिखते हैं—'त्यां जीवाँ रे जीवण रे अर्थे तो नेमिनाथजी पाछा फिर्या नहीं। ए तो जीवाँ री अनुकम्पा कही तेहनो न्याय इम छै। जे म्हारा ब्याह रे वास्ते यां जीवाँ ने हणे तो मोनें ए कार्य करवो नहीं। इम विचारी पाछा फिर्या।'

उत्तराध्ययनसूत्र की उक्त गाथाओं एवं उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

सो ऊण तस्स वयणं बहुपाणि विनासनं।
चिन्तेइ से महापन्ने सानुक्कोसो जिये हिउ।।
जइ मज्झ कारणा ए-ए हम्मन्ति सु बहु जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सइ।।
सो कुण्डलाण-जुगलं सुत्तगं च महाजसो।
आभरणानि य सव्वाणि सारहिस्स पणामइ।।

—उत्तराध्ययन, २२, १८ से २०

इत्थं सारथिनोक्ते यद् भगवान् विहितवांस्तदाह सुगममेव नवरं तस्य सारथेः बहूनां प्रभूतानां प्राणानां प्राणिनां विनाशनं हननं अभिधेयं यस्मिन् तद् बहुप्राणि विनाशनं। स भगवान् सानुक्रोशः सकरुणः केषु 'जीए हिउ' त्ति जीवेषु तु पाद पूरणे ममकारणादिति मद्विवाह प्रयोजने भोजनार्थत्वादमीषामितिभावः। हम्मंति हन्यन्ते वर्तमान सामीय्ये लट् ततो हनिष्यन्ते इत्यर्थः। पाठान्तरतः 'हमिहंति' त्ति सुस्पष्टम्। सुबहवः अति प्रभूताः 'जिय' त्ति जीवाः एतदिति जीव हननं तु एवकारार्थे नेत्यनेन योज्यते ततः न तु नैव निःश्रेयसं कल्याणं परलोके भविष्यति

पापहेतुत्वादस्येति भावः, भवान्तरेषु परलोक भीरुत्व-स्यात्यन्तमभ्यस्ततयैवमभिधानमन्यथा चरमशरीरत्वादतिशय ज्ञानित्वाच्च भगवतः कुत एवं विध चिन्तावसरः। एवं च विदित भगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्वेषु पारितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह 'सो' इत्यादि सुत्तकञ्चेति कटिसूत्रमर्पयतीति योगः किमेतदेवेत्याह आभरणानि सर्वाणि शेषाणीति गम्यते।'

इस प्रकार सारथी के कहने पर भगवान् नेमिनाथ ने जो कार्य किया, वह इन गाथाओं में बताया गया है—

बहुत-से प्राणियों के विनाश रूप अर्थ को अभिव्यक्त करने वाली सारथी की वाणी सुनकर प्रबुद्ध विचारक भगवान् नेमिनाथ उन प्राणियों पर दयानिष्ठ भाव से सोचने लगे—

'यदि ये बहुत से प्राणी मेरे निमित्त मेरे विवाह में आए हुए लोगों के भोजनार्थ मारे जाएँगे, तो यह कार्य मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी नहीं होगा।' यद्यपि भगवान् नेमिनाथ अतिशय ज्ञानवान एवं चरमशरीरी होने के कारण उसी भव में मोक्ष जाने वाले थे। अतः उन्हें परलोक की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं थी। तथापि दूसरे भवों में परलोक से डरने का उनका जो अत्यन्त अभ्यास था, उसी कारण ऐसा कथन है।

भगवान् नेमिनाथ के अभिप्राय को समझ कर जब सारथी ने उन सब प्राणियों को बन्धनमुक्त कर दिया, तब उन्होंने सारथी पर प्रसन्न होकर उसे अपने कानों के कुण्डल, कटिसूत्र एवं अन्य सब आभूषण उतार कर पारितोषिक के रूप में दे दिए।

प्रस्तुत गाथाओं में बताया है—'सानुक्कोसो जीये हिउ'—भगवान् को उन प्राणियों पर अनुक्रोश—दया उत्पन्न हुई। दया का अर्थ है—दूसरे के दुःख को दूर करना, दुःखी व्यक्ति की रक्षा करना, दुःखी व्यक्ति को दुःख से मुक्त करने की भावना।

पर-दुःख प्रहाणेच्छा दया।

यदि मरते हुए प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप होता तो भगवान् को उन जीवों पर दया क्यों उत्पन्न होती? अतः उक्त गाथाओं से यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि मरते हुए प्राणी की रक्षा करना पाप नहीं, धर्म है।

भ्रमविध्वंसनकार का यह लिखना मिथ्या है कि भगवान् नेमिनाथ यह विचार करके वापिस लौट गये कि मेरे कारण इन जीवों को मारा जा रहा है, यह मेरे लिए परलोक में कल्याणकारी एवं अच्छा नहीं है, परन्तु जीवों को

बचाने के लिए नहीं। वस्तुतः भगवान् नेमीनाथ जीवों की रक्षा के लिए और उनकी मृत्यु से होने वाले पाप से बचने के लिए वापिस लौटे थे, केवल अपनी आत्मा को पाप से बचाने के लिए नहीं। इसलिए उक्त गाथा में सानुक्कोसो जिये हिउ पाठ आया है। यह पाठ तभी सार्थक हो सकता है, जब कि भगवान् का उन सब जीवों की रक्षा के लिए वापिस लौटना माना जाए। जो व्यक्ति जीवों की रक्षा के लिए भगवान् का वापिस लौटना नहीं मानते, उसके मत में उक्त पाठ निरर्थक सिद्ध होता है। क्योंकि पाप के भय से वापिस लौटना अपनी अनुकम्पा है, उन जीवों की नहीं। अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से उक्त पाठ बिल्कुल सार्थक नहीं हो सकता। परन्तु इसका निरर्थक प्रयोग नहीं हुआ है। अतः भगवान् उन जीवों की रक्षा के लिए वापिस नहीं लौटे थे, यह कहना नितान्त असत्य है।

उपरोक्त बीसवीं गाथा में लिखा है—'भगवान् ने अपने कानों के कुण्डल, कटिसूत्र एवं शेष सभी आभूषण उतारकर सारथी को इनाम रूप में दे दिए।' पारितोषिक देने के कारण को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

विदित भगवदाकूतेन सारथिना मोचितेषु सत्वषु परितोषितोऽसौ यत्कृतवांस्तदाह।

भगवान् के अभिप्राय को समझ कर जब सारथी ने उन सब जीवों को बन्धन से मुक्त कर दिया, तब भगवान् ने सारथी पर प्रसन्न होकर उसे यह पारितोषिक दिया।

यदि जीव–रक्षा करने में एकान्त पाप होता, तो भगवान् उन जीवों की रक्षा करने के कारण सारथी पर प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक क्यों देते? भगवान् के मन में उन जीवों की रक्षा करने का भाव क्यों उत्पन्न होता? इससे जीव की रक्षा करने में पाप नहीं, धर्म सिद्ध होता है।

कुछ व्यक्ति एकेन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा को एक समान मानकर उनमें अल्प और महान् के भेद का खण्डन करते हैं और अल्प और महान का भेद बताने वाले विचारकों को हिंसा का अनुमोदक कहते हैं। इसी तरह एकेन्द्रिय की दया से पञ्चेन्द्रिय की दया को प्रधान—श्रेष्ठ कहने वाले को भी हिंसा का समर्थक बताते हैं। परन्तु यह उनका केवल भ्रम है। क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के बाईसवें अध्ययन में भगवान् नेमीनाथ के विवाह के निमित्त जल से स्नान करने का उल्लेख है। यदि संख्या की दृष्टि से विचार करें तो जल के जीव विवाह में भोजनार्थ एकत्रित किए गए पशुओं से असंख्य गुणा अधिक थे। फिर भगवान् स्नान करते समय जल के जीवों की हिंसा को

देखकर उससे निवृत्त क्यों नहीं हुए? इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् जल के जीवों की अपेक्षा भोजनार्थ बाँधे हुए पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा को बहुत अधिक पापमय समझते थे और एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय की दया को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। इसलिए भगवान् स्नान के समय निवृत्त नहीं हुए, परन्तु पशु-रक्षा के समय तुरन्त वापिस मुड़ गये। यद्यपि भगवान् नेमिनाथ तीन ज्ञान से युक्त होने के कारण यह जानते थे कि मेरा विवाह नहीं होगा और उनके पूर्व में हुए इक्कीस तीर्थंकरों ने भी बाईसवें तीर्थंकर को बाल-ब्रह्मचारी रहकर दीक्षा ग्रहण करना कहा था। तथापि एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा पंचेन्द्रिय जीवों की दया का महत्त्व बताने के लिए भगवान् ने स्नान करते समय कोई आपत्ति नहीं की, परन्तु भोजनार्थ बाँधे हुए पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा करके वहाँ से बिना विवाह किए ही वापिस लौट आए।

इससे दिन के उजेले की तरह स्पष्ट हो जाता है कि एकेन्द्रिय की अपेक्षा पंचेन्द्रिय की दया एवं रक्षा करना अधिक महत्त्वपूर्ण है और मरते हुए प्राणियों की रक्षा करने में एकान्त पाप नहीं, पुण्य होता है।

हाथी ने शशक की रक्षा की

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १२७ पर ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन का पाठ लिखकर, उसके अवतरण में कहते हैं—

'वली मेघकुमार रे जीव हाथी रे भवे एक सुसलारी अनुकम्पा करी परित संसार कियो। अनें केइ कहे मंडला में घणा जीव बच्या त्यां घणा प्राणी री अनुकम्पाइं करी परित संसार कियो कहे। ते सूत्रार्थ रा अजाण छै। एक सुसला री दया थी परित संसार कियो छै।'

हाथी ने अकेले शशक की अनुकम्पा करके परित्त संसार किया, परन्तु मण्डल में जो बहुत–से जीव बचे उनकी अनुकम्पा से परित्त संसार नहीं किया, यह कथन अविवेक की पराकाष्ठा का ज्वलंत उदाहरण है। जब भ्रमविध्वंसनकार एक शशक की अनुकम्पा करने से संसार परिमित होना स्वयं स्वीकार करते हैं, तब अनेक जीवों की अनुकम्पा से भयभीत होने जैसी क्या बात है? जब एक प्राणी पर अनुकम्पा करने से संसार परित्त हो सकता है, तब अनेक जीवों पर अनुकम्पा करने से अधिक धर्म ही होगा। यह एक ऐसा साधारण विषय है, जिसे बाल–वृद्ध सब आसानी से समझ सकते हैं। फिर भी इस विषय को स्पष्ट करना आवश्यक है कि हाथी ने एक शशक की ही नहीं, अन्य प्राणियों पर भी अनुकम्पा की थी। यदि हाथी को शशक की अनुकम्पा करनी ही इष्ट थी, दूसरों की नहीं, तो वह अपना उठाया हुआ पैर शशक के ऊपर न रखकर अन्य किसी प्राणी पर रख देता। परन्तु उसने ऐसा नहीं करके ढाई दिन तक अपने पैर को ऊपर ही उठाए रखा। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हाथी शशक के साथ अन्य प्राणियों के प्राणों की भी रक्षा करना चाहता था। इस बात को आगम में **पाणाणुकम्पयाए** आदि चार पद देकर स्पष्ट कर दिया है।

कुछ विचारक कहते हैं कि हाथी ने शशक को बचाने रूप नहीं, प्रत्युत नहीं मारने रूप अनुकम्पा की थी और इसी से उसने संसार परित्त किया। पता नहीं, उन्होंने यह कैसे समझ एवं जान लिया कि हाथी का विचार जीवों को बचाने का नहीं था। इसे जानने के दो ही मार्ग हैं—१. हाथी ने स्वयं आकर

ऐसा कहा हो या २. उन्होंने मनःपर्यवज्ञान से जान लिया हो। परन्तु इन दोनों में से एक भी संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में आगम में उल्लिखित पाठ का ही आश्रय लेना पड़ता है। आगम में उल्लिखित पाठ में एक भी ऐसा शब्द नहीं है, जिससे यह जाना जा सके कि हाथी का विचार जीव-रक्षा करने का नहीं था। आगम में स्पष्ट शब्दों में **पाणाणुकम्पयाए** आदि शब्दों का उल्लेख कर के प्राणियों की अनुकम्पा करना स्वीकार किया है। यदि उसने पाप से बचने के लिए नहीं मारने रूप अनुकम्पा की होती, तो वह मुख्य रूप से हाथी की अपनी ही अनुकम्पा होती। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने स्वयं ने भी ऐसा नहीं लिखा है कि हाथी ने अपनी अनुकम्पा करके संसार परित्त किया। वे भी शशक की अनुकम्पा कर के हाथी का संसार परित्त होना स्वीकार करते हैं और आगम में भी **आयाणुकम्पयाए, प्राणाहिंसयाए** आदि पाठ नहीं। अतः जो लोग पाप के भय से नहीं मारने रूप अनुकम्पा से ही संसार परित्त होना मानते हैं, जीव-रक्षा रूप अनुकम्पा से नहीं, उनके मत के अनुसार **पाणाणुकम्पयाए** आदि पाठ मिथ्या सिद्ध होते हैं। अतः यह मानना आगम के अनुरूप है कि हाथी ने प्राणियों की रक्षा-रूप अनुकम्पा कर के संसार परित्त किया। क्योंकि **पाणाणुकम्पयाए** आदि पाठ से बचाने-रूप दया करने का अर्थ ध्वनित होता है।

शशक हाथी के पैर रखने के स्थान पर आया था। उसे दूसरे सशक्त प्राणी त्रास दे रहे थे। इसलिए हाथी ने अपना पैर रखने का स्थान देकर उसे सुरक्षित रूप से वहाँ ठहरने दिया। स्वयं ने उसे मारा या हटाया नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवों को स्वयं मारना नहीं और यदि दूसरा मारता या त्रास देता हो, तो उन्हें स्थान या सहारा देना, जिससे उसके प्राणों की रक्षा हो जाए। परन्तु कुछ लोग जीव-रक्षा में पाप सिद्ध करने के लिए विचित्र तरह की कल्पनाएँ करते हैं। जैसे आचार्यश्री भीखणजी लिखते हैं—

'कष्ट सह्यो तिण पापसुं डरतो, मन दृढ़ सेंठि राखी तिण काया।'
बलतां जीव दावानल देखी, सूंढ सू ग्रही-ग्रही बाहिरे नहीं लाया।'

'हाथी ने पाप से डर कर अपने मन को दृढ़ एवं शरीर को मजबूत रखा। परन्तु दावानल में जल रहे जीवों को सूंड से पकड़कर बाहर नहीं लाया। इसलिए मरते हुए प्राणी की रक्षा-रूप दया करना एकान्त पाप है।'

परन्तु इनकी यह कपोलकल्पना बिल्कुल निराधार एवं नितान्त असत्य है। हाथी ने जब मण्डल में प्रवेश किया उसके पहले ही मण्डल जीवों से इतना भर गया था कि स्वयं हाथी को अपने उठाए हुए पैर को पुनः नीचे रखने के लिए स्थान नहीं मिला। ऐसी स्थिति में वह हाथी दावानल में जलने वाले जीवों को लाकर कहाँ रखता? और उन्हें लाने के लिए किस रास्ते से

जाता ? क्योंकि वह मण्डल जीवों से इतना भर गया था कि उसमें कहीं पैर रखने को भी स्थान नहीं था। अतः आचार्यश्री भीखणजी का तर्क गलत है। वास्तव में हाथी ने शशक के प्राणों की रक्षा करने के लिए अपने उठाए हुए पैर को पुनः नीचे नहीं रखा और अन्य प्राणियों की रक्षा के लिए अपने पैर को अन्य स्थान पर भी नहीं रखा। अतः हाथी का उदाहरण देकर जीव-रक्षा में पाप बतलाना आगमसम्मत नहीं है।

'मत मार' कहना : पाप नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १३४ पर सूत्रकृतांगसूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो, जीवां ने मार तथा मत मार एहवू पिण वचन न कहिणो। इहां ए रहस्य महणो–महणो साधुनो उपदेश छै। ते तारिवा ने अर्थ उपदेश देवे। अने इहां वर्ज्यो द्वेष आणी ने हणो इम न कहिणो। अने त्यां जीवां रो राग आणी ने मत हणो इम पिण न कहिणो। मध्यस्थ पणे रहिवो।' इनके कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसक के हाथ से मारे जाते हुए प्राणी की प्राण– रक्षा करने के लिए 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग लाना है। किसी जीव पर राग करना साधु के लिए उचित नहीं है। अतः मरते हुए जीव की प्राण–रक्षा करने के लिए साधु को 'मत मार' यह उपदेश नहीं देना चाहिए।

भ्रमविध्वंसनकार ने सूत्रकृतांग गाथा का जो अर्थ किया है, वह गलत है। वस्तुतः वह गाथा के यथार्थ अर्थ को समझ ही नहीं पाए हैं। देखिए गाथा और उसका अर्थ यह है—

वज्झा पाणा न वज्झेति, इति वायं न नीसरे।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, ५, ३०

वध्याश्चौर पारदारिकादयोऽवध्या वा तत्कर्मानुमति प्रसंगादित्येवं भूतां वाचां स्वानुष्ठान–परायणः साधुः परव्यापार निरपेक्षो न निसृजेत्।

वध का दण्ड देने योग्य चोर और पारदारिक प्राणी को साधु वध का दण्ड नहीं देने योग्य निरपराधी नहीं कहे। क्योंकि अपराधी को निरपराधी कहने से साधु को उसके कार्य का अनुमोदन लगता है। अतः अपने अनुष्ठान में संलग्न और दूसरों के व्यापार से निरपेक्ष साधु को पूर्वोक्त बात नहीं कहनी चाहिए।

यहाँ 'मार या मत मार' कहने का कोई प्रसंग नहीं है। इस गाथा में सिर्फ अपराधी को निरपराधी कहने का निषेध किया है। अतः इस गाथा का प्रमाण देकर प्राणी की प्राण रक्षा के लिए मत मार कहने का निषेध करना नितान्त असत्य है।

इस गाथा के अभिप्राय को बताते हुए भ्रमविध्वंसनकार ने यह लिखा है— 'द्वेष प्राणी ने हणो इम पिण न कहिणो, अने त्यां जीवां रो राग आणी ने मत हणो इम पिण नहीं कहिणो', नितान्त असत्य है। क्योंकि उक्त गाथा में न तो राग शब्द का उल्लेख है और न द्वेष का। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने दया करने में पाप बताने के लिए अपने मन से ही राग-द्वेष को इसमें मिलाने का प्रयत्न किया है। इस गाथा में भाषा-समिति का उपदेश दिया है। यहाँ राग-द्वेष की कोई चर्चा नहीं है। अतः मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में राग का नाम लेकर पाप बताना बिल्कुल गलत है।

भ्रमविध्वंसनकार ने आचार्य शीलांक की टीका का नाम लेकर मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने का निषेध किया है, वह सर्वथा गलत है। आचार्य शीलांक ने अपनी टीका में प्राणी-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है। और न साधु के अतिरिक्त अन्य सब जीवों के प्रति मध्यस्थ भाव रखने का कहा है।

तथाहि सिंहव्याघ्र-मार्जारादीन् परसत्वव्यापादन-परायणान् दृष्ट्वा साधुर्माध्यस्थमवलंबयेत। तथाचोक्तम्—

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्यानि।
सत्व गुणाधिक क्लिश्यमानाविनयेषु।।

—सूत्रकृतांग, २, ५, ३० टीका

जीवों की हिंसा करने में तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, मार्जार आदि प्राणियों को देखकर साधु मध्यस्थ होकर रहे। कहा भी है—समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव, अपने से अधिक गुणसम्पन्न व्यक्तियों के प्रति प्रमोद भाव, क्लेश पाते हुए दुःखी जीवों के प्रति करुणा भाव और अविनेय प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना चाहिए।

प्रस्तुत टीका में **सिंह-व्याघ्र-मार्जारादीन्** शब्दों के साथ जो आदि शब्द प्रयुक्त हुआ है, उससे पञ्चेन्द्रियों की घात करने वाले महारंभी प्राणियों का ग्रहण होता है, साधु के सिवाय अन्य सभी प्राणियों का नहीं। इसलिए सिंह, व्याघ्र, बिल्ली एवं पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने वाले अन्य प्राणियों के प्रति मध्यस्थ भाव रखना आगमसम्मत है, संक्लेश पाते हुए दुःखी जीवों के प्रति नहीं। दुःखी जीवों पर करुणा एवं दया करना साधु का परम कर्तव्य है। अतः जो साधु मरते हुए प्राणी पर दया नहीं करता और दया करके उसकी रक्षा का उपदेश देने में पाप समझता है, वह सम्यक्त्व के मूल गुण—अनुकम्पा से रहित है। जो व्यक्ति इस टीका में प्रयुक्त आदि शब्द से साधु के अतिरिक्त अन्य सभी जीवों को ग्रहण करके उन्हें हिंसक मानते हैं और उनके विषय में मध्यस्थ

भाव रखने का उपदेश देते हैं, वे भयंकर भूल करते हैं। यदि साधु के अतिरिक्त संसार के सब प्राणी हिंसक हैं, इसलिए सबके विषय में मध्यस्थ भाव रखना आगमसम्मत है, तो फिर मैत्री, प्रमोद एवं करुणा भाव किस पर रखेंगे? अतः उक्त टीका का प्रमाण देकर साधु के अतिरिक्त अन्य सब प्राणियों को हिंसक कहना और उपदेश के द्वारा उनकी प्राण-रक्षा करने में एकान्त पाप बताना मिथ्या है। वस्तुतः पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने वाले क्रूर प्राणी, जो उपदेश देने पर भी नहीं समझ सकते हैं, साधु को उनके विषय में मध्यस्थ भाव रखने को कहा है। परन्तु मरते हुए प्राणी पर दया करके उपदेश देने का निषेध नहीं किया है। उन जीवों पर तो करुणा भाव रखना ही चाहिए।

साधु गृहस्थ के घर में न ठहरें

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १३६ पर आचारांग का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो गृहस्थ मांहो मांही लड़े छै, आक्रोश आदिक करे छै। तो इम चिंतवणो नहीं, एहनें आक्रोशो, हणो, रोको, उद्वेग–दुःख उपजावो। तथा एहनें मत हणो, मत आक्रोशो, मत रोको, उद्वेग–दुःख मत उपजाओ इम पिण चिन्तवणो नहीं। एहनो ए परमार्थ, जे राग आणि जीवणो वांछी, इम न चिन्तवणो। ए बापड़ा ने मत हणो, दुःख–उद्वेग मत देवो, तो राग में धर्म कहां थी? जीवणो वांछयां धर्म किम कहिये? अने जे हणे तेहनो पाप टालवा ने, तारिवाने उपदेश देई हिंसा छोड़ावे ते धर्म छै।'

आचारांगसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नं आक्कोसंति वा पचंति वा रुंभंति वा उद्दविंति वा अहभिक्खूणं उच्चावयं मणं नियंच्छेज्जा ए–ए खलु अन्नमन्नं आक्कोसंतु वा मा वा आक्कोसंतु जाव मा वा उद्दविंतु वा।

—आचारांगसूत्र, २, २, १, ६८

जिस मकान में गृहस्थ रहता है, उसमें साधु का रहना कर्मबन्ध का कारण होता है। क्योंकि उस मकान में साधु के रहते हुए यदि उसके सामने गृहस्वामी या कर्मकरी आदि परस्पर आक्रोश करते हों, एक–दूसरे को डंडे आदि से मारते हों, रोकते हों, उपद्रव करते हों, तो यह सब देखकर साधु अपने मन को ऊंचा–नीचा करने लगे अर्थात् ये लोग परस्पर आक्रोश न करें, नहीं मारें, रोके नहीं, उपद्रव नहीं करें या ये लोग पूर्वोक्त कार्य करें, तो यह कार्य कर्मबन्ध का कारण होगा। इसलिए साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में यह बताया है कि जिस मकान में गृहस्थ सपरिवार रहता हो, उसमें साधु का रहना कर्मबन्ध का कारण है। क्योंकि गृहस्थ के घर में कभी–कभी घरेलू संघर्ष भी हो जाता है। यदि कभी साधु के समक्ष ही संघर्ष

हो जाए, तो उसे देखकर साधु के मन में अनेक प्रकार के ऊँचे-नीचे भाव आ सकते हैं। तुम इसे यहाँ मत मारो, मत रोको, उपद्रव मत करो, इस भावना को ऊँचा मन कहा और उक्त कार्य करो, इस भावना को नीचा मन कहा है। परिवारयुक्त घर में निवसित साधु के मन में ऐसे भावों का उद्भव होना स्वाभाविक है। इसलिए आगम में साधु को परिवारयुक्त गृहस्थ के मकान में ठहरने का निषेध किया है।

प्रस्तुत पाठ से यह बिल्कुल ध्वनित नहीं होता कि कोई हिंसक पंचेन्द्रिय जीव का वध करना चाहता हो, उस समय उसे देखकर उसको नहीं मारने की भावना करने से साधु को कर्मबन्ध होता है या पाप लगता है। क्योंकि प्रस्तुत पाठ में पारिवारिक कलह का वर्णन है, जो कि परिवार में यदा-कदा होता रहता है। परन्तु वह संघर्ष किसी को मारने के लिए नहीं होता। क्योंकि पारिवारिक जीवन पारस्परिक स्नेह-सूत्र से आबद्ध रहता है। अतः वह संघर्ष भी एक प्रकार का स्नेह-संघर्ष होता है। गृहस्थ के साथ रहने से साधु के मन पर भी उसका असर पड़ सकता है। इसलिए उससे बचे रहने के लिए साधु को गृहस्थ के साथ ठहरने का निषेध किया है।

जो व्यक्ति इस पाठ का यह तात्पर्य बताते हैं—'किसी मरते प्राणी की प्राण-रक्षा करने की भावना करना अनुचित है'—उसे पूछना चाहिए कि आप गृहस्थ के निवास स्थान में क्यों नहीं ठहरते? क्योंकि आप के विचार के अनुरूप मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने की भावना रखते हुए यदि साधु गृहस्थ के साथ निवास करे तो कर्मबन्ध नहीं होगा। और यदि वह अन्य स्थान पर रहते हुए भी मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा की भावना रखता है, तो उसके कर्मबन्ध होगा। ऐसी स्थिति में आगम में गृहस्थ के निवास स्थान में ठहरने का निषेध क्यों किया? सिर्फ इतना ही आदेश देना पर्याप्त था कि साधु मरते हुए प्राणी के प्राणों की रक्षा करने की भावना न करे। परन्तु आगम में प्राणी के प्राणों की रक्षा करने की भावना का निषेध नहीं किया है। वहाँ तो केवल साधु के मन पर गृहस्थ के पारिवारिक संघर्ष का प्रभाव पड़ने से उसका मन साधना से हटकर अन्यत्र संक्लेश में न लगे, गृहस्थ के पारिवारिक झगड़े में न उलझ जाए, इस भावना से साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में ठहरने का निषेध किया है।

संकल्प-विकल्प जाग्रत् न हो

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १३७ पर आचारांग का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे इम कह्यो। जे अग्नि लगाव तथा मत लगाव, बुझाव तथा मत

बुझाव, इम पिण साधु ने चिंतवणो नहीं। तो लाय मत लगाव इहां स्यूं आरंभ छै। ते माटे इसो न चिन्तवणो। इहां ए रहस्य—जे अग्नि थी कीडयां आदिक घणां जीव मरस्ये, त्यां जीवाँ रो जीवणो वांछी ने इम न चिंतवणो, जे अग्नि मत लगाव। अने अग्नि रो आरंभ तेहनो पाप टलावा, तारिवा अग्नि रो आरंभ करवा रा त्याग करायां धर्म छै। पिण जीवणो बांछयां धर्म नहीं।'

आचारांग में उल्लिखित पाठ का उद्देश्य जीव-रक्षा में पाप बताना नहीं, प्रत्युत साधु को संकल्प-विकल्प से दूर रखना है।

आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइहिं सद्धिं संवसमाणस्स इह खलु गाहावई अप्पणो सयट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जा वा, पज्जालिज्जा वा, विज्जाविज्जा वा। अह भिक्खू उच्चा वचं मणं नियंच्छिज्जा एते खलु अगणिकायं उज्जालेंतु वा मा वा उज्जालेंतु वा, पज्जालेंतु वा मा वा पज्जालेंतु वा, विज्जावेंतु वा मा वा विज्जावेंतु वा।

—आचारांगसूत्र, २, २, १, ६६

गृहस्थ के निवास स्थान में साधु का रहना कर्मबन्ध का कारण है। गृहस्थ अपने कार्य के लिए आग जलाए या बुझाए, उस समय यदि साधु का मन ऊँचा-नीचा हो अर्थात् यह गृहस्थ आग जलाए या न जलाए, बुझाए या न बुझाए, तो यह कर्मबन्ध का कारण होता है। इसलिए साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में यह नहीं कहा है कि अग्नि जलाने से मरने वाले कीड़े-मकोड़े आदि की रक्षा के लिए साधु को अग्नि जलाने की भावना नहीं करनी चाहिए। अतः अग्नि जलाने से मरने वाले जीवों की रक्षा के लिए अग्नि नहीं जलाने की भावना को कर्मबन्ध का कारण कहना आगम के यथार्थ अर्थ को नहीं समझना है।

भ्रमविध्वंसनकार को इस पाठ का रहस्य जीव की रक्षा नहीं करना सूझा है। परन्तु क्या इसका कारण साधु का अपना स्वार्थ नहीं हो सकता है? जैसे साधु शीत से पीड़ित होकर कांप रहा हो, उस समय उसके मन में सहज ही यह भावना आ सकती है कि गृहस्थ आग जलाए तो अच्छा रहे और गरमी के समय यह भाव आ सकता है कि गृहस्थ आग न जलाए तो अच्छा रहे। इस प्रकार अपने स्वार्थवश साधु के मन में आग जलाने एवं नहीं जलाने के सम्बन्ध में भावना हो सकती है। गृहस्थ के निवास स्थान में रहने वाले साधु के मन में ऐसी भावना का उद्भव होने की संभावना को देखकर आगम में गृहस्थ के निवास स्थान में ठहरने का निषेध किया है, परन्तु जीवों को बचाने के लिए

उक्त भावना को कर्मबन्ध का कारण जानकर नहीं। क्योंकि जीव को बचाना एवं जीव-रक्षा के लिए उपदेश देना साधु का कर्तव्य है। आगमों का निर्माण ही जीव-रक्षा की भावना से हुआ है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट लिखा है कि भगवान् ने संसार के समस्त जीवों की रक्षा रूप दया के लिए प्रवचन दिया। अतः जीव-रक्षा में पाप कहना तथा जीव-रक्षा के हेतु आग नहीं जलाने की भावना को कर्मबन्ध का कारण कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वंसनकार ने इस पाठ की जो व्याख्या की है, यदि उसे मान लें तो आगम का सारा सिद्धान्त ही विपरीत हो जाएगा। वे कहते हैं—'आग में जलकर मरने वाले जीवों की रक्षा करने के भाव से यदि साधु आग नहीं जलाने की भावना करे, तो यह कर्मबन्ध का कारण है।' यदि उनकी इस व्याख्या के अनुसार कोई साधु जीव-रक्षा के भाव से नहीं, प्रत्युत अपने स्वार्थ के लिए आग नहीं जलाने की भावना करके गृहस्थ के निवास स्थान में रहे, तो उसे दोष नहीं लगना चाहिए। इनके विचार से तो साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में ही ठहरना चाहिए। क्योंकि साधु वहाँ रहेगा तो गृहस्थ जब आग जलाना या बुझाना चाहेगा, तब साधु उसे समझाकर आग जलाने या बुझाने का निषेध कर देगा। इस प्रकार गृहस्थ के संसार-सागर से पार होने में अधिक सुविधा होगी। परन्तु आगम में साधु को गृहस्थ के निवास स्थान में ठहरने का निषेध किया है। इसका एकमात्र यही कारण है कि अपने स्वार्थ के लिए आग जलाने या बुझाने की भावना करना बुरा है। अतः उक्त पाठ का प्रमाण देकर जीव-रक्षा में पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु जीवन की इच्छा करता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १३८ पर स्थानांग, स्थान १० के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे पिण जीवणो-मरणो आपणो-आपणो वांछणो नहीं, तो पारको क्यां ने वांछसी' आदि लिखकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की रक्षा करने में एकान्त पाप बताते हैं।

भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३५४ पर लिखा है—'अथ अठे कह्यो—साध्वी पानी में डूबती ने बाहिरे काढ़े तो आज्ञा उल्लंघे नहीं।' अतः भ्रमविध्वंसनकार एवं उनके अनुयायियों से पूछना चाहिए—'जब साधु अपना या दूसरे का जीवन नहीं चाहता, तब वह पानी में डूबती हुई साध्वी को क्यों निकालता है? तथा अपनी प्राण-रक्षा के लिए साधु आहार क्यों करता है?' उत्तराध्ययन-सूत्र में साधु को अपनी प्राण-रक्षा के लिए आहार करने का विधान है।

वेयण वेयावच्चे, हरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाण-वत्तियाए, छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २६, ३३

१. क्षुधा और पिपासा से उत्पन्न हुई वेदना की निवृत्ति के लिए, २. क्षुधा और पिपासा से व्याकुल साधु गुरु आदि की सेवा नहीं कर सकता, अतः गुरु की सेवा-शुश्रूषा के लिए, ३. क्षुधा-पिपासा से व्याकुल साधु विधिपूर्वक इर्यासमिति का पालन नहीं कर सकता, अतः इर्यासमिति का पालन करने के लिए, ४. यदि क्षुधातुर होकर कभी सचित्त वस्तु का आहार कर ले तो उसका संयम स्थिर नहीं रहता, अतः संयम की रक्षा के लिए, ५. अपने प्राणों की रक्षा के लिए और ६. धर्म की चिन्ता के लिए, साधु को आहार-पानी का अन्वेषण करना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट लिखा है कि साधु को अपने प्राणों की, जीवन की रक्षा के लिए आहार-पानी की गवेषणा करनी चाहिए। टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है—

पाणवत्तियाए' त्ति प्राणप्रत्ययं जीवित निमित्तं अविधिनाह्यात्मनोऽ-पिप्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात्।

अपने जीवन की रक्षा करने के लिए साधु को आहार का अन्वेषण करना चाहिए। क्योंकि आगम-विधि से विपरीत अपने प्राणों को छोड़ना भी हिंसा है।

प्रस्तुत गाथा एवं उसकी टीका में साधु को अपने जीवन की रक्षा के लिए आहार करना कहा है। अतः यह कहना मिथ्या है कि साधु अपने जीवन की रक्षा नहीं करते। अस्तु, बुद्धिमान पाठकों को यह स्वयं सोचना चाहिए कि जब साधु अपने प्राणों की रक्षा करते हैं, पानी में डूबती हुई अपनी साध्वी की रक्षा करते हैं, तब दूसरे प्राणियों की प्राण-रक्षा के लिए उपदेश दें, तो इसमें पाप कैसे होगा? जैसे उक्त गाथा में अपने प्राणों की रक्षा के लिए साधु को आहार करने का आदेश दिया है, उसी तरह भगवतीसूत्र में पृथ्वीकाय आदि की रक्षा के लिए साधु को प्रासुक एवं एषणीय आहार लेने का विधान किया है।

फासु-एसणिज्जं भुंजमाणे समणे-निग्गंथे आयाए धम्मं नो आइ-क्कमइ, आयाए धम्मं अणइक्कमाणे पुढविकायं अवकंखइ जाव तसकायं अवकंखइ।

—भगवतीसूत्र, १, ६, ७८

जो साधु प्रासुक और ऐषणिक आहार ग्रहण करता है, वह अपने धर्म का उल्लंघन नहीं करता। वह अपने धर्म का उल्लंघन नहीं करता हुआ पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों की प्राण-रक्षा करना चाहता है।

प्रस्तुत पाठ में साधु को पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों की प्राण-रक्षा करने हेतु प्रासुक एवं एषणीय आहार ग्रहण करने का आदेश दिया है। इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणी की प्राण-रक्षा करना भी साधु का कर्तव्य है।

स्थानांगसूत्र के दशवें स्थान में साधु को प्राप्त जीवन की इच्छा करने का निषेध नहीं किया है। वहाँ साधु को चिरकाल तक जीवित रहने की अभिलाषा रखने का निषेध किया है। स्थानांग के पाठ में **जीवनाशंसा** का निषेध किया है। **आशंसा**—नहीं पाई हुई वस्तु को प्राप्त करना। अभिधान राजेन्द्र कोष में भी लिखा है—**अप्राप्त प्रापणमाशंसा**—'अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना आशंसा है।' अस्तु जो जीवन अभी प्राप्त नहीं है, उसको प्राप्त करने की अभिलाषा रखना, चिरकाल तक जीने की इच्छा करना 'जीवनाशंसा' कहलाती है। साधु के लिए इसका निषेध किया गया है। परन्तु प्राप्त जीवन की इच्छा करने का निषेध नहीं किया है। अन्यथा उत्तराध्ययन एवं भगवती के पाठ से स्थानांग का पाठ स्पष्टतः विरुद्ध होगा। अतः स्थानांग के पाठ का प्रमाण देकर यह कहना भयंकर भूल है कि साधु अपना एवं दूसरे का जीवन नहीं चाहता।

कुछ व्यक्ति ऐसा कहते हैं—'असंयति की प्राण-रक्षा करने से असंयम का अनुमोदन लगता है।' परन्तु उनका यह कथन गलत है। क्योंकि जिस व्यक्ति को जो कार्य अच्छा नहीं लगता, उसे उस कार्य का अनुमोदन भी नहीं लगता। साधु असंयति को असंयम-सेवन का उपदेश नहीं देता और वह उसके असंयम-सेवन को अच्छा भी नहीं समझता, बल्कि वह तो उसे असंयम-सेवन का त्याग करने का उपदेश देता है। अतः ऐसी स्थिति में उसकी प्राण-रक्षा के लिए उपदेश देने वाले साधु को असंयति के असंयम का अनुमोदन कैसे लग सकता है? यदि उसके बच जाने मात्र से साधु को असंयम का अनुमोदन लग जाए, तो फिर कसाई को तारने के लिए उपदेश देने में भी पाप होगा? क्योंकि अहिंसा का उपदेश सुनकर कसाई उसे नहीं मारेगा, इस तरह वह बच जाएगा और असंयम का सेवन करेगा। परन्तु ऐसा कार्य करने पर भी साधु को असंयम का अनुमोदन नहीं लगता। क्योंकि साधु ने असंयम का सेवन कराने के भाव से कसाई को अहिंसा का उपदेश नहीं दिया। इसी तरह यहाँ भी अनाग्रह बुद्धि से यह समझना चाहिए कि साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा करने के लिए उपदेश देता है, वह उस प्राणी का आर्त-रौद्र ध्यान मिटाने एवं कसाई को हिंसा के पाप से बचाने के भाव से देता है, इस भाव से नहीं कि असंयति बचकर असंयम का सेवन करे। अस्तु, मरते हुए असंयति प्राणी का आर्त-रौद्र ध्यान मिटाने एवं उसे मरण-भय से विमुक्त करने की भावना से उसकी प्राण-रक्षा करने से असंयम का अनुमोदन बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

वर्तमान जीवन जीना पाप नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १३८ पर सूत्रकृतांगसूत्र, श्रु. १, अ. १०, गाथा २४ और अ. १३ की गाथा २३ लिखकर यह बताते हैं—'इन गाथाओं में साधु को अपने जीने और मरने की इच्छा करने का निषेध किया है। इसलिए दूसरों के जीने और मरने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जब साधु दूसरे प्राणी के जीवन की इच्छा नहीं रखता, तब फिर वह मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए उपदेश कैसे दे सकता है? अतः मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए उपदेश देना एकान्त पाप है।'

सूत्रकृतांगसूत्र की उभय गाथाओं का नाम लेकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देने में एकान्त पाप कहना मिथ्या है। उक्त गाथाओं में कहे हुए **जीविताशंसा संप्रयोग, मरणाशंसा संप्रयोग** शब्दों में साधु को चिरकाल तक जीवित रहने और शीघ्र ही मर जाने की इच्छा करने का निषेध किया है, परन्तु प्राप्त जीवन और यथाकाल मरण की इच्छा करने का निषेध नहीं किया है। अन्यथा उत्तराध्ययनसूत्र एवं भगवती

के पूर्वकथित पाठ के साथ सूत्रकृतांग की गाथाओं का विरोध होगा। क्योंकि उत्तराध्ययन में साधु को अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए आहार करने का आदेश दिया है और भगवतीसूत्र में पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों की प्राण-रक्षा करने के लिए साधु को प्रासुक एवं ऐषणिक आहार ग्रहण करने का विधान किया है। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांगसूत्र में साधु को अपने जीवन और मरण की इच्छा करने का कैसे निषेध किया जा सकता है? अतः उनका भाव यह है कि साधु न तो चिरकाल तक जीवित रहने की कामना करे और न तुरन्त या शीघ्र मरने की अभिलाषा रखे। उक्त गाथाओं की टीका में टीकाकार ने यही अर्थ किया है—

जीवितमसंयमजीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावर-जंगम जन्तुदण्डेन नाभिकांक्षी स्यात्।

साधु स्थावर या जंगम जन्तुओं को दण्ड देकर असंयम के साथ जीवित रहने की या चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छा न करे।

प्रस्तुत टीका में प्राणियों की हिंसा करके असंयममय जीवन जीने की तथा चिरकाल तक जीवित रहने की इच्छा का निषेध किया है। परन्तु प्राणियों की रक्षा करके प्राप्त जीवन की रक्षा करने का निषेध नहीं किया है। इसलिए साधु जीवों की प्राण-रक्षा करने के साथ अपने प्राप्त जीवन की रक्षा करने की अभिलाषा रखता है और इसी इच्छा से प्रेरित होकर वह मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए मारने वाले एवं मरने वाले—दोनों को जीव-रक्षा करने का उपदेश देता है।

सूत्रकृतांग की उक्त गाथाओं में **नो जीविअं नो मरणावकंखी** पद में **नो अवकंखी** शब्द का प्रयोग हुआ है। इस शब्द को देख कर कुछ व्यक्ति भ्रान्तिवश यह कहने लगते हैं कि 'यहाँ जीवन की इच्छा रखने का स्पष्ट इनकार किया है।' अतः साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा कैसे कर सकता है? उन भ्रान्त विचारकों से यह कहना चाहिए कि जैसे यहाँ **नो अवकंखई** शब्द आया है, उसी तरह भगवती सूत्र में **पुढ़वीकाय अवकंखइ जाव तसकायं अवकंखइ** पाठ में भी **अवकंखइ** शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवों के जीवन-रक्षा की इच्छा करना। ऐसी स्थिति में सूत्रकृतांग की उक्त गाथाओं में अपने जीवन की इच्छा नहीं करने का कैसे कहा जा सकता है? अतः इस पाठ का वास्तविक अर्थ यह है कि साधु चिरकाल तक जीवित रहने की अभिलाषा न करे। अस्तु, उक्त गाथाओं का प्रमाण देकर जीव-रक्षा के लिए उपदेश देने में पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

असंयम का निषेध

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४०, १४१ और १४२ पर सूत्रकृतांगसूत्र, श्रुत. १, अ. १५, गाथा १०; अ. ३, उ. ४, गाथा १५; अ. ५, गाथा ३; अ. १, गाथा ३; और अ. २, उ. ३, गाथा १६ का प्रमाण देकर हिंसक के हाथ के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की रक्षा करने में पाप बताते हैं।

भ्रमविध्वंसनकार द्वारा उद्धृत उक्त गाथाओं में छः काय के जीवों की हिंसा करके साधु को जीवित रहने की इच्छा का निषेध किया है, परन्तु छः काय के जीवों की रक्षा करते हुए जीवित रहने की इच्छा का निषेध नहीं किया है।

जिवियं पीइओ किच्चा।

—सूत्रकृतांग, १, १५, १०

साधु असंयम—हिंसायुक्त जीवन को पीछे रख दे।

इससे प्राणियों की रक्षा करते हुए जीवित रहना स्पष्टतः प्रमाणित होता है। इसी तरह प्रस्तुत आगम में असंयमयुक्त जीवन जीने का निषेध किया है—

नावकंखति जीवियं।

—सूत्रकृतांगसूत्र, १, ३, ४, १५

साधु असंयमयुक्त जीवन जीने की अभिलाषा न करे।

सूत्रकृतांगसूत्र में दूसरे प्राणियों को भय देने और हिंसा आदि पापों का आचरण करने से नरक योनि में जाना कहा है।

जे केई बाले इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा।
ते घोर रूवे तिमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पतन्ति।।

—सूत्रकृतांग १, ५, ३

जो अज्ञानी पुरुष अपने जीवन के लिए दूसरे प्राणियों को भय देता है और हिंसा आदि घोर क्रूर कर्म करता है, वह तीव्र तापयुक्त और अंधकार से परिपूर्ण घोर नरक के गर्त में गिरता है।

प्रस्तुत गाथा में प्राणियों को भय देने एवं उनकी हिंसा करने से नरक गति में जाना कहा है। परंतु प्राणियों को अभयदान देने एवं उनके प्राणों की रक्षा करने से नरक के गर्त में गिरने का नहीं लिखा है। अतः उक्त गाथा का प्रमाण देकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा करने के लिए उपदेश देने में पाप बताना एकान्त मिथ्या है। इसी प्रकार उक्त आगम के दशवें अध्ययन का नाम लेकर जीव-रक्षा में पाप बताना भी गलत है।

सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिन्ने, लाढे चरे आय तुले पयासु।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू।।

—सूत्रकृतांग, १, १०, ३

वीतराग-भाषित धर्म का आचरण करने वाला, संशयरहित, ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न, उत्तम तपस्वी साधु प्रासुक आहार से अपने जीवन का निर्वाह करे, संयम-पालन में सदा संलग्न रहे, सब प्राणियों को आत्म-तुल्य देखता हुआ आश्रव का सेवन न करे और असंयम जीवन—हिंसामय जीवन एवं परिग्रह-संग्रह करने की इच्छा न करे।

प्रस्तुत गाथा में कहा है कि साधु सब प्राणियों को अपने समान देखे। जब सब प्राणियों को अपने समान देखना साधु का कर्तव्य है, तब जिस प्रकार साधु अपनी रक्षा करने में पाप नहीं समझता, उसी प्रकार दूसरे प्राणी की रक्षा करने में भी उसे पाप नहीं समझना चाहिए। इस प्रकार इस गाथा से जीव-रक्षा में धर्म सिद्ध होता है। फिर भी भ्रमविध्वंसनकार इसी गाथा का नाम लेकर जीव-रक्षा में पाप सिद्ध करने का असफल प्रयत्न करते हैं। परन्तु एक साधारण बुद्धिवाला व्यक्ति भी इस गाथा को पढ़कर जीव-रक्षा करने में पाप नहीं, धर्म ही कहेगा। इसके अतिरिक्त इस गाथा में पूर्वगाथा की तरह असंयम-पूर्वक जीवित रहने की इच्छा करने का निषेध किया है, जीवों की रक्षा करते हुए जीवित रहने का नहीं। उक्त आगम के दूसरे अध्ययन में भी प्राण-रक्षा करने में पाप नहीं कहा है।

नो अभिकंखेज्ज जीवियं, नो वि य पूयण पत्थए सिया।।
अब्भत्थमुवेंति भेरवा, सुन्नागार गयस्स भिक्खुणो।।

—सूत्रकृतांग, १, २, १६

यदि शून्यगृह में निवसित साधु के निकट भैरवादि कृत भयंकर उपद्रव हो, तो उसे उससे डर कर भागना नहीं चाहिए किन्तु अपने जीवन की परवाह न करके उस उपसर्ग को सहन करना चाहिए। यह सहिष्णुता अपनी मान-प्रतिष्ठा एवं पूजा के लिए नहीं, किन्तु स्वाभाविक होनी चाहिए।

प्रस्तुत गाथा में अभिग्रहधारी साधु के लिए भैरव आदि कृत उपद्रव को सहन करने का उपदेश दिया है। परन्तु यहाँ किसी हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है। अतः इस गाथा का नाम लेकर मरते हुए जीव की रक्षा करने में पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

आहार : संयम का साधन है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४३ पर उत्तराध्ययनसूत्र अ. ४, गाथा ७ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ अठे पिण कह्यो, अन्न-पानी आदिक देई संयम जीवितव्य वधारणो पिण और मतलब नहीं। ते किम उण जीवितव्य री वांछा नहीं? एक संयम री वांछा। आहार करतां पिण संयम छै। आहार करण री पिण अव्रत नहीं। तीर्थंकर री आज्ञा छै। अनें श्रावक नो तो आहार अव्रत में छै। अव्रत छै ते अधर्म छै। ते माटे असंयम मरण-जीवण री वांछा करे ते अव्रत में छै।'

उत्तराध्ययनसूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे हैं—

चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मन्नमाणो।
लाभंतरे जीविय बूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, ४, ७

किसी भी त्रस प्राणी की विराधना न हो, इसलिए साधु अपने पैर को शंका के साथ पृथ्वी पर रखकर चले। यदि गृहस्थ लोग उसकी थोड़ी-सी भी प्रशंसा करे, तो वह उसे पाश के समान कर्मबन्ध का कारण समझे। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विशेष लाभार्थ आहार-पानी आदि से अपने जीवन की रक्षा करे। जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना हो जाए, अपना शरीर रोग से ग्रस्त या वृद्धावस्था से जर्जरित हो जाए और साधु को यह ज्ञात हो जाए कि इस शरीर से अब ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की साधना नहीं हो सकती, तब वह आगमिक विधान के अनुसार अपने शरीर का त्याग कर दे।

प्रस्तुत गाथा में कहा है कि साधु ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आदि गुणों का उपार्जन करने के लिए आहार-पानी के द्वारा अपने जीवन की रक्षा करे। इससे यह सिद्ध होता है कि मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा के लिए उपदेश आदि देना भी साधु का कर्तव्य है। क्योंकि प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में जीवों की रक्षा करना गुण कहा है और यहाँ गुण उपार्जन करने हेतु साधु को अपने जीवन की रक्षा करने का कहा है। अतः जो साधु उपदेश आदि के द्वारा मरते हुए प्राणियों की प्राण-रक्षा करता है, वह गुण का उपार्जन करता है, पाप का नहीं। अतः

इस गाथा का प्रमाण देकर मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने के लिए उपदेश देने में एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

भ्रमविध्वंसनकार ने साधु के भोजन को स्वतःव्रत में बतलाया है, परन्तु यह भी इनकी भयंकर भूल है। यदि भोजन करना स्वतःव्रत में है, तो जैसे अधिक से अधिक उपवास करना श्रेष्ठ है, उसी तरह अधिक-से-अधिक भोजन करना भी साधु के लिए गुण होना चाहिए। भ्रमविध्वंसनकार के विचारानुसार जो साधु जितना अधिक एवं बार-बार आहार करे, वह अधिक श्रेष्ठ समझा जाना चाहिए। जैसे अधिक-से-अधिक उपवास करने वाला साधु उत्कृष्ट व्रतधारी समझा जाता है, उसी तरह अत्यधिक आहार करने वाला साधु उत्कृष्ट श्रेणी का व्रतधारी गिना जाना चाहिए। परन्तु आगम में ऐसा नहीं कहा है। आगम में साधु को कारणवश आहार करने का आदेश दिया है और बिना कारण से, आवश्यकता से अधिक एवं बार-बार आहार करने वाले साधु को पाप-श्रमण कहा है। अस्तु, साधु का कारणवश आहार करना उसके व्रत का, संयम का उपकारक है। परन्तु उपवास आदि की तरह स्वतःव्रत में नहीं है। अतः साधु के आहार को उपवास आदि की तरह साक्षात् व्रत-रूप बताना आगम-विरुद्ध है।

जैसे साधु का कारणवश आहार करना उसके व्रत का उपकारक होने से अव्रत में नहीं है, उसी तरह बारह व्रतधारी श्रावक का भोजन भी उसके व्रत का उपकारक होने से अव्रत में नहीं है। यह दानाधिकार में स्पष्ट कर चुके हैं कि श्रावक को अव्रत की क्रिया नहीं लगती। अतः साधु के आहार को साक्षात् व्रत में और श्रावक के भोजन को अव्रत में बताना आगम-विरुद्ध है।

संयम दुर्लभ है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४४ पर सूत्रकृतांगसूत्र की गाथा लिखकर उसकी समालोचन करते हुए लिखते हैं—'अथ अठे पिण संयम जीवितव्य दोहिलो कह्यो, पिण और जीवितव्य दोहिलो न कह्यो।'

सूत्रकृतांगसूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे हैं—

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइयो, नो सुलभं पुनरावि जीवियं।।

—सूत्रकृतांग

हे प्राणियो! तुम सम्यग्ज्ञान आदि को प्राप्त करो। तुम इस बोध को क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हो? यदि इस भव में नहीं किया, तो परलोक में करना दुर्लभ है। जो

रात बीत जाती है, वह पुनः लौटकर नहीं आती। संसार में संयमप्रधान जीवन दुर्लभ है। जिस जीवन की आयु टूट गई है, वह फिर नहीं जुड़ सकती।

इसमें संयमप्रधान जीवन को दुर्लभ कहा है। जो जीवन हिंसा से निवृत्त होकर जीव-रक्षा में व्यतीत होता है, वही संयमी जीवन है। इसलिए जो साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा करता है, उसका जीवन संयमनिष्ठ जीवन है, असंयममय नहीं। उक्त गाथा में एक भी शब्द ऐसा नहीं है, जिससे जीव-रक्षा करने में पाप होने की प्ररूपणा को समर्थन मिलता हो, तथापि भ्रमविध्वंसनकार व्यर्थ ही इस गाथा का नाम लेकर रक्षा करने में पाप कहते हैं। वस्तुतः बुद्धिमान पाठकों को इनके कथन पर विश्वास नहीं करना चाहिए।

नमिराज ऋषि

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४५ पर उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ६ की १२ से १५ तक की गाथाओं की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे इम कह्यो—मिथिला नगरी बलती देख नमीराज ऋषि साहमो न जोयो। बली कह्यो म्हारे वाहलो-दुवाहलो एक ही नहीं। राग-द्वेष अण करवा माटे। तो साधु, मिनकियां आदि रे लारे पड़ने उंदरादिक जीवां ने बचावे, ते शुद्ध के अशुद्ध? असंयति रा शरीर ना जाबता करे ते धर्म के अधर्म?'

नमिराज ऋषि का उदाहरण देकर मरते हुए जीव की रक्षा करने में पाप कहना भारी भूल है। नमिराज ऋषि प्रत्येकबुद्ध साधु थे। प्रत्येकबुद्ध साधु का आचार स्थविरकल्पी साधु से कुछ अंश में भिन्न होता है। वे किसी मरते हुए प्राणी की रक्षा नहीं करते। शिष्य भी नहीं बनाते, किसी को दीक्षा भी नहीं देते। आहार-पानी लाकर किसी साधु की सेवा भी नहीं करते और संघ से बाहर अकेले रहते हैं।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी प्रतिमाधारी के विषय में लिखा है—'जे पड़िमाधारी किण ही ने संथारो पिण पचखावे नहीं, कोई ने दीक्षा देवे नहीं, श्रावक रा व्रत आदरावे नहीं, उपदेश देवे नहीं। पड़िमाधारी धर्मोपदेशादि कोई ने देवे नहीं। ए तो एकान्त आपरोइज उद्धार करवाने उठ्या छै। ते पोते किण ही जीव ने हणे नहीं, ए तो आपरी अनुकम्पा करे, पिण पर नी न करे। जिम ठाणांग चोथे ठाणे उद्देशा चार में कह्यो—**आयाणुकम्पए नाममेगे नो पराणुकम्पए** आत्मानीज अनुकम्पा करे पिण पर नी न करे ते जिनकल्पी आदिक। इहां पिण जिनकल्पी आदिक कह्यो ते आदिक शब्द में तो पड़िमाधारी भी आया, ते आपरीज अनुकम्पा करे पिण पर नी न करे। तो जीव ने न हणे ते आपरीज अनुकम्पा छै।'

भ्रमविध्वंसनकार ने स्थानांगसूत्र का प्रमाण देकर प्रतिमाधारी साधु को अपने पर अनुकम्पा करने वाला बताया है, दूसरे पर अनुकम्पा करने वाला नहीं। मूल पाठ में जिनकल्पी आदि शब्द नहीं है। परन्तु उसकी टीका में अपने पर अनुकम्पा करने वाले और दूसरों पर अनुकम्पा नहीं करने वाले तीन प्रकार

के जीव बताए हैं—१. प्रत्येकबुद्ध साधु, २. जिनकल्पी और ३. परोपकार बुद्धि से रहित निर्दयी।

प्रस्तुत टीका के अनुसार प्रत्येकबुद्ध साधु दूसरे की अनुकम्पा नहीं करते। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, भ्रमविध्वंसनकार भी इसे मानते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येकबुद्ध साधु नमिराज ऋषि का उदाहरण देकर स्थविर-कल्पी साधु को जीव-रक्षा करने में पाप बताना कितनी बड़ी भूल है, यह पाठक स्वयं सोच सकते हैं? प्रत्येकबुद्ध अपनी ही अनुकम्पा करते हैं, पर की नहीं, परन्तु स्थविरकल्पी स्व एवं पर दोनों की अनुकम्पा करते हैं। प्रत्येकबुद्ध का कल्प स्थविरकल्पी के कल्प से भिन्न है। अतः दोनों के कार्य एक-से कैसे हो सकते हैं? जो व्यक्ति नमिराज ऋषि का उदाहरण देकर जीव-रक्षा में पाप बताते हैं उनकी दृष्टि से प्रत्येकबुद्ध जो कार्य नहीं करते, स्थविरकल्पी को भी वे सब कार्य नहीं करने चाहिए या उसे उन कार्यों के करने में पाप लगना चाहिए। जैसे प्रत्येकबुद्ध साधु शिष्य नहीं करते, दीक्षा नहीं देते, धर्मोपदेश नहीं करते, साधु को आहार-पानी लाकर नहीं देते, साधु की वैयावृत्य नहीं करते। अतः स्थविरकल्पी साधु इन कार्यों को करे, तो उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि यहाँ यह कहें कि दोनों का कल्प भिन्न होने के कारण स्थविरकल्पी को उक्त कार्य करने में पाप नहीं लगता, केवल प्रत्येकबुद्ध आदि को ही इन कार्यों को करने में दोष लगता है। इसी तरह जीव-रक्षा के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए कि स्थविर-कल्पी को जीवरक्षा करने में धर्म होता है। क्योंकि उसका यह कल्प है। परन्तु प्रत्येकबुद्ध का यह कल्प नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्र ने नमिराज ऋषि से यह नहीं पूछा—'मरते हुए जीव की रक्षा करने में धर्म है या पाप?' यदि वह ऐसा प्रश्न करता और नमिराज ऋषि जीव-रक्षा करने में पाप बताते, तब तो जीव-रक्षा में पाप माना जाता। परन्तु वहाँ ऐसा प्रश्न ही नहीं पूछा। वहाँ तो इन्द्र ने देवमाया करके नमिराज ऋषि की सांसारिक पदार्थों एवं भोगों में आसक्ति है या नहीं, इसकी परीक्षा ली और नमिराज ऋषि ने यह कहकर स्पष्ट कर दिया—

मिहिलाए डज्झमाणिए न मे डज्झइ किंचणं।

—उत्तराध्ययन, ६

मिथिला के जल जाने पर मेरा कुछ भी नहीं जलता।

इस उत्तर में नमिराज ऋषि ने सांसारिक पदार्थों एवं भोगों पर से अपना ममत्व हट जाना अभिव्यक्त किया है, परन्तु मरते हुए जीव की रक्षा में पाप होना नहीं कहा है। अतः उक्त उदाहरण देकर जीव-रक्षा में पाप कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

शान्ति देना सावद्य कार्य नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक अ. ७, गाथा ५० की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे पिण कह्यो—देवता, मनुष्य तथा तिर्यंच मांहो-मांही कलह करे, तो हार-जीत वांछणी नहीं। तो काया थी हार-जीत किम करावणी? असंयति ना शरीर नी साता करे, ते तो सावद्य छै।'

दशवैकालिकसूत्र की गाथा का प्रमाण देकर जीव-रक्षा करने में पाप बताना मिथ्या है। उक्त गाथा में जीव-रक्षा में पाप होना नहीं कहा है—

देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च कुग्गहे।
अमुगाणं जयो होऊ मा वा होउति णो वए।।

—दशवैकालिकसूत्र, ७, ५०

देवता, मनुष्य और तिर्यंचों के परस्पर युद्ध होने पर साधु को कभी भी यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक की जीत हो और अमुक की जीत न हो।

प्रस्तुत गाथा में देव, मानव और तिर्यंचों के युद्ध होने पर साधु को किसी एक पक्ष की हार या जीत के सम्बन्ध में कहने का निषेध किया है। क्योंकि साधु को मध्यस्थ भाव रखना ही आगमसम्मत है। परन्तु किसी पक्ष-विपक्ष की हार-जीत की घोषणा करना उचित नहीं है। अतः कभी दो दलों में युद्ध होने पर साधु एक दल की हार और दूसरे की विजय होने की बात नहीं कहता। ऐसे समय में यदि साधु उभय दलों को समझा-बुझाकर युद्ध में मरने वाले जीवों की रक्षा के लिए युद्ध बन्द करा दे, तो इस गाथा में उसका निषेध नहीं किया है। यहाँ एक दल के साथ पक्षपात एवं दूसरे के साथ द्वेष करने का निषेध है।

इसी गाथा का प्रमाण देकर भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं—'बिल्ली के द्वारा मारे जाने वाले चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है। क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है तथा बिल्ली की हार एवं चूहे की जीत कराना है।' परन्तु इनका यह कथन सत्य नहीं है। बिल्ली के द्वारा मारे जाने

वाले चूहे की रक्षा करना, चूहे की अनुकम्पा करना है। अनुकम्पा करना पाप नहीं, धर्म है। और बिल्ली पर साधु का द्वेष भाव भी नहीं है। क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है, उसी बिल्ली को यदि कुत्ता मार रहा हो, तो दयालु पुरुष उस समय बिल्ली पर अनुकम्पा करके, दया करके उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। यदि उसका बिल्ली पर द्वेष भाव होता, तो वह उसे कुत्ते से क्यों बचाता?

भ्रमविध्वंसनकार की यह एक उपहासास्पद कल्पना है कि बिल्ली से चूहे की रक्षा करना, बिल्ली की हार और चूहे की जीत कराना है। परन्तु इसमें जय-पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि जय-पराजय का व्यवहार युद्ध में होता है। परन्तु चूहे का बिल्ली के साथ कोई युद्ध नहीं होता। क्योंकि युद्ध वहीं होता है, जहाँ उभय पक्ष विजय की आकांक्षा से एक-दूसरे पर आक्रमण करें। चूहा तो बिल्ली को देखते ही दुम दबाकर भागने का प्रयत्न करता है। वह तो भयभीत होकर अपने को बचाने के लिए बिल की ओर भागता है। परन्तु वह युद्ध करने के लिए बिल्ली के सामने नहीं जाता, इसलिए इसे युद्ध की संज्ञा देना, युद्ध के अर्थ को नहीं समझना है। कोई भी समझदार व्यक्ति इतनी भयंकर भूल नहीं कर सकता।

अस्तु, चूहे और बिल्ली का युद्ध नहीं होता है। यहाँ सशक्त हिंसक प्राणी के द्वारा एक दुर्बल एवं कमजोर प्राणी की हिंसा का कार्य होता है। उस हिंसा को रोकने के लिए चूहे पर अनुकम्पा करना दयावान व्यक्ति का परम कर्तव्य है। उसे युद्ध बताकर चूहे की प्राण-रक्षा करने के कार्य को चूहे की जीत और बिल्ली की हार बताना सर्वथा अनुचित है।

उपसर्ग दूर करना पाप नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४७ पर दशवैकालिकसूत्र, अ. ७, गाथा ५१ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो—वायरो, वर्षा, शीत, तावड़ो, राजविरोध रहित सुभिक्ष पणो, उपद्रव रहित पणो, ए सात बोल हुवो इम साधुने कहिणो नहीं। तो करणो किम? उंदरादिक ने मिनकियांदिक थी छुड़ाय ने उपद्रवपणा रहित करे ते सूत्र विरुद्ध कार्य छै।'

दशवैकालिकसूत्र की उक्त गाथा में साधु को अपनी व्याधि-पीड़ा की निवृत्ति के लिए उक्त सात बातों की प्रार्थना करने का निषेध किया है। क्योंकि साधु के लिए आर्त-ध्यान करना उचित नहीं है और यह आर्त-ध्यान है। परन्तु मरते हुए प्राणी की रक्षा करने के भय से उक्त बातों की प्रार्थना करने का आगम में निषेध नहीं किया है।

वाओ वुट्ठं च सीउण्हं, खेमं धायं सिवंति वा।
कयाणु हुज्ज एयाणि, मा वा होउत्ति णो वए।।

—दशवैकालिकसूत्र, ७, ५१

पुनः किञ्च धर्मादिनाऽभिभूतोयतिरेवं नो वदेदधिकरणादिदोष प्रसंगात्। वातादिषु सत्सु सत्त्व पीड़ा प्राप्तेः। तद्वचन तस्तथाऽभवतेऽप्यार्तध्यान भावादित्येवं नो वदेत्। तत् किं—वातो मलयः मरुतादि वृष्टं वा वर्षणं शीतोष्णं प्रतीतं क्षेमं राजविज्वर शून्यं पुनः ध्रातं सुभिक्षं शिवमिति वा उपसर्ग रहितं कदानुभवेयुरेतानि वातादीनि मा वा भवेयुरिति।

—दशवैकालिक, ७, ५१ दीपिका

गरमी आदि से पीड़ित एवं संतप्त होकर साधु इन बातों को न कहे। क्योंकि इसमें अधिकरणादि दोष होता है। वायु आदि के चलने पर प्राणियों को पीड़ा होती है। यद्यपि साधु के कहने मात्र से वायु आदि नहीं चलते, तथापि साधु को आर्त-ध्यान करना उचित नहीं है। इसलिए वह उक्त सात बातों को न कहे—

१. मलयानिल हवा, २. वर्षा, ३. शीत, ४. गरमी, ५. राजरोग, ६. सुभिक्ष और ७. उपसर्ग। इनके होने की या नहीं होने की बात साधु को नहीं कहनी चाहिए।

प्रस्तुत गाथा में अपनी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए साधु को इनकी प्रार्थना करने का निषेध किया है, परन्तु मरते हुए असंयति प्राणियों की रक्षा करने में पाप मानकर उससे निवृत्त होने के लिए नहीं। प्रस्तुत गाथा की टीका में टीकाकार ने भी यही लिखा है—

एतानि वातादीनि मा वा भवेयुरिति धर्माद्यभिभूतो नो वदेत् अधिकरणादि दोष प्रसंगात्। वातादिषु सत्सु सत्त्व पीड़ा प्राप्तेः। तद् वचन तस्तथाऽभवनेऽप्यार्तध्यान भावादिति सूत्रार्थः।

—दशवैकालिक, ७, ५१ टीका

वायु आदि के चलने पर प्राणियों को पीड़ा होती है इसलिए गरमी आदि से पीड़ित होकर साधु वायु आदि सात बातों के लिए होने या न होने की प्रार्थना न करें। क्योंकि इसमें अधिकरणादि दोषों का प्रसंग होता है। यद्यपि साधु के कहने मात्र से सातों बातें नहीं हो जातीं, तथापि साधु को आर्त-ध्यान करना उचित नहीं है। इसलिए वह उन्हें न कहे।'

प्रस्तुत गाथा के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने भी यही बताया है—'साधु को अपनी पीड़ा की निवृत्ति के लिए इन सात बातों की प्रार्थना नहीं करनी चाहिए।' परन्तु प्राणियों की रक्षा करने में पाप जानकर उसकी निवृत्ति के लिए इन सात बातों की प्रार्थना करने का निषेध नहीं किया है। टीकाकार ने उक्त निषेध का एक कारण यह बताया है—'वायु आदि के चलने पर प्राणियों को पीड़ा होती है।' इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणी को पीड़ा न हो, इसलिए गरमी से संतप्त साधु स्वयं पीड़ा एवं कष्ट पाते हुए भी हवा आदि के चलने की प्रार्थना नहीं करता। प्रस्तुत प्रसंग में जीवों की रक्षा करने का नहीं, प्रत्युत जीवों को पीड़ा देने का निषेध किया है।

वस्तुतः इस गाथा में जो सात बातों का निषेध किया गया है, वह पूर्ण रूप से जिनकल्पी के लिए है, स्थविरकल्पी के लिए नहीं। स्थविरकल्पी साधु के लिए उनके कल्प की मर्यादा के अनुसार कुछ बातों का निषेध किया है, सबका नहीं। क्योंकि स्थविरकल्पी साधु रोगी साधु को रोग की निवृत्ति के लिए औषध देता है। पानी में डूबती हुई साध्वी को पानी में से निकाल कर उसके उपसर्ग को दूर करता है और उपदेश देकर जनता के उपसर्ग एवं उपद्रव को दूर करता है। सूत्रकृतांगसूत्र में बताया है कि श्रमण भगवान् महावीर त्रस और स्थावर समस्त प्राणियों के क्षेम के लिए उपदेश देते थे—

समिच्च लोगं तस–थावराणां खेमंकरे समणे–माहणे वा।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, ६, ४

यदि दशवैकालिक की गाथा के अनुसार साधु का किसी के क्षेम-कल्याण के लिए प्रार्थना करना बुरा होता, तो भगवान् महावीर त्रस एवं स्थावर के क्षेम–कल्याण के लिए क्यों उपदेश देते? अतः दशवैकालिक में बताई गई बातें जिनकल्पी के लिए पूर्ण रूप से निषिद्ध हैं। परन्तु स्थविरकल्पी के लिए सब का नहीं, कुछ का निषेध है। इसी कारण इस गाथा में उपसर्ग दूर करने एवं रोगनिवृत्ति के लिए प्रार्थना करने का निषेध होने पर भी स्थविरकल्पी साधु रोगी के रोग की निवृत्ति के लिए उसे औषध देता है, उसकी परिचर्या करता है, पानी में डूबती हुई साध्वी को उपसर्ग एवं कष्ट से मुक्त करने के लिए उसे बाहर निकाल कर उसके उपसर्ग को दूर करता है। अतः उक्त गाथा में कथित सातों बातों को स्थविरकल्पी के लिए बताना गलत है।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'खेमं' शब्द का टीकाकार ने **राजविज्वर शून्यम्** राज रोग का अभाव होना—ऐसा अर्थ किया है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार **राजविज्वर शून्यम्** का अर्थ समझ ही नहीं पाए। अतः उन्होंने इसका यह अर्थ किया है—'राजादिक ना कलह रहित हुवे ते क्षेम।'

भ्रमविध्वंसनकार ने स्वयं उपसर्ग–निवारण करने को साधु का कर्तव्य बताया है। 'धर्म नी चोयणा करी ने पर ने उपदेशे जिम अनुकूल–प्रतिकूल उपसर्ग कर्ता ने वारे।' परन्तु दुराग्रहवश अपने कथन के विरुद्ध उपसर्ग-निवारण को दोष बताया है। अस्तु बुद्धिमान विचारकों को इनके आगम–विरुद्ध कथन को नहीं मानना चाहिए।

साधु सबकी रक्षा करता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४७ पर स्थानांग स्थान चार के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे पिण कह्यो—जे साधु पोता नी अनुकम्पा करे, पिण आगला नी अनुकम्पा न करे। तो जे पर जीव ऊपर पग न देवे, ते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमा छै। ते किम? एहने मार्या मोनें इज पाप लागसी, इम जाणी न हणे। ते भणी पोतानी अनुकम्पा कही छै। अनें आपने पाप लगाय आगला नी अनुकम्पा करे ते सावद्य छै।'

स्थानांगसूत्र की चतुर्भंगी में मरते हुए जीव की रक्षा करना स्थविर–कल्पी साधु का कर्तव्य बताया है। अपनी भूल को छिपाने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने उसका स्पष्ट अर्थ नहीं लिखा।

चत्तारी पुरिस जाया पण्णत्ता, तंजहा—आयाणुकम्पए नाममेगे, णो परानुकम्पए।

—स्थानांग सूत्र, ४, ४, ३५२

आत्मानुकम्पकः आत्महितप्रवृत्तः प्रत्येकबुद्धो जिनकल्पिको वा परानपेक्षो निर्घृणः। परानुकम्पकः निष्ठतार्थतया तीर्थंकरः आत्मानपेक्षो वा दयैकरसो मेतार्य्यवत्। उभयानुकम्पकः स्थविरकल्पिकः। उभयाननुकम्पकः पापात्मा कालशौकरिकादिरिति।

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—१. जो अपनी ही अनुकम्पा करते हैं, परन्तु दूसरे की नहीं करते। ऐसे तीन पुरुष होते हैं—१. प्रत्येकबुद्ध, २. जिनकल्पी और ३. दूसरे की अपेक्षा नहीं करने वाला निर्दयी। २. जो दूसरे की अनुकम्पा करता है, अपनी नहीं करता। ऐसे श्रेष्ठ व्यक्ति तीर्थंकर भगवान्, या अपने जीवन की परवाह नहीं रखने वाले मेतार्य मुनि जैसे परम दयालु पुरुष होते हैं। ३. जो स्व और पर दोनों की अनुकम्पा करता है, ऐसा पुरुष स्थविरकल्पी साधु होता है और ४. जो स्व और पर दोनों की अनुकम्पा नहीं करता, ऐसा पुरुष कालशौकरिक कसाई की तरह अतिशय पापी होता है।

इसमें बताया है कि स्थविरकल्पी मुनि उभयानुकम्पी होता है। वह स्व-पर दोनों की अनुकम्पा करता है। अतः मरते हुए प्राणी की रक्षा करना स्थविरकल्पी साधु का परम कर्तव्य है। जो स्थविरकल्पी साधु दूसरे जीव की रक्षा नहीं करता, वह साधुत्व के कर्तव्य से च्युत हो जाता है। उक्त चतुर्भंगी में कथित प्रथम भंग का स्वामी जिनकल्पी और प्रत्येकबुद्ध मुनि दूसरे की अनुकम्पा नहीं करते, वे केवल अपने हित में प्रवृत्त होते हैं। उनकी तरह जो व्यक्ति दूसरे की अनुकम्पा नहीं करता, वह उन दोनों से भिन्न निर्दयी व्यक्ति है।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४७ पर इस चतुर्भंगी के प्रथम भंग का यही अर्थ किया है—'जे पोता ना हित ने विषे प्रवर्त्ते ते प्रत्येकबुद्ध अथवा जिनकल्पी अथवा परोपकार बुद्धि रहित निर्दयी पारका हित ने विषे न प्रवर्त्ते।'

इनके इस अर्थ से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो जिनकल्पी और प्रत्येकबुद्ध साधु से भिन्न पुरुष दूसरे प्राणी की अनुकम्पा-रक्षा नहीं करता, वह दयाहीन पुरुष है, साधु नहीं। ऐसे निर्दयी व्यक्ति को साधु समझना भयंकर भूल है।

इस पाठ की समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसनकार ने सभी साधुओं को प्रथम भंग में सम्मिलित कर लिया है। उन्होंने लिखा है—'अथ अठे पिण

कह्यो साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगला नी अनुकम्पा न करे। तो जे पर जीव ऊपर पग न देवे ते पिण पोतानी ज अनुकम्पा निश्चय नियमा छै।' परन्तु इनका यह कथन नितान्त असत्य है। आगम में स्पष्ट कहा है कि स्थविरकल्पी मुनि स्व और पर दोनों की अनुकम्पा करते हैं। इन्होंने स्वयं इस पाठ का यह अर्थ किया है—'तीजे बेहूने वांछे ते स्थविर–कल्पी'—इससे भी यह प्रमाणित होता है कि स्थविरकल्पी केवल अपनी ही नहीं, प्रत्युत दूसरे प्राणी की भी अनुकम्पा करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि दूसरे जीव पर पैर नहीं रखना तो निश्चयनय से अपनी अनुकम्पा है, दूसरे की नहीं। ऐसी स्थिति में स्थविरकल्पी साधु दूसरे की अनुकम्पा कैसे करते हैं? इसका सीधा–सा उत्तर यह है कि वह दूसरे मरते हुए प्राणी की प्राण–रक्षा करता है, यह पर की अनुकम्पा है। अतः उक्त पाठ का नाम लेकर मरते हुए प्राणी की प्राण–रक्षा करने में पाप बताना सर्वथा अनुचित है।

यदि कोई यह कहे कि स्थविरकल्पी दूसरे को धर्मोपदेश देते हैं, यह उनकी दूसरे पर अनुकम्पा है और स्वयं किसी जीव को मारते नहीं, यह निश्चयनय के अनुसार उनकी अपनी अनुकम्पा है, परन्तु मरते जीव की रक्षा करना पर की अनुकम्पा नहीं है। किन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। क्योंकि तीर्थंकर भगवान् भी धर्मोपदेश देते हैं और वे स्वयं भी किसी को नहीं मारते। फिर आपकी दृष्टि से वे दूसरे भंग परानुकम्पक के स्वामी न रहकर, तृतीय भंग उभयानुकम्पक के स्वामी ठहरेंगे। क्योंकि दूसरे जीव की रक्षा करना परानुकम्पा है। इस प्रकार जो जीव अपनी रक्षा पर ध्यान न देकर दूसरे जीव की रक्षा करता है, वह द्वितीय भंग का स्वामी है। ऐसे व्यक्ति तीर्थंकर या मेतार्य मुनि जैसे परम दयालु पुरुष होते हैं। जो स्व और पर दोनों की रक्षा करते हैं, वे तृतीय भंग के स्वामी स्थविरकल्पी साधु हैं।

प्रस्तुत चतुर्भंगी के अनुसार मरते हुए प्राणी के प्राणों की रक्षा करना स्थविर–कल्पी साधु का कर्तव्य सिद्ध होता है। जो व्यक्ति न तो स्वयं किसी प्राणी की रक्षा करता है और दूसरे व्यक्ति को भी रक्षा करने में पाप का उपदेश देता है, इस पाठ के अनुसार वह परोपकार–बुद्धि से रहित निर्दय पुरुष सिद्ध होता है।

मेघकुमार के जीव ने हाथी के भव में और धर्मरुचि अणगार ने अपनी रक्षा की परवाह न करके दूसरे की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझा था। इसलिए वे महापुरुष इस चतुर्भंगी के द्वितीय भंग के स्वामी थे। अस्तु इस चतुर्भंगी का नाम लेकर जीव–रक्षा करने में एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

धन और जीव-रक्षा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४८ पर उत्तराध्ययनसूत्र, अ. २१, गाथा ६ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथं इहां पिण कह्यो—समुद्रपाली चोर ने मारतो देखी वैराग्य आणी चारित्र लीधो, पिण गर्थ देइ छोड़ायो नहीं।'

जीव-रक्षा में पाप सिद्ध करने के लिए समुद्रपाल का उदाहरण देना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि राजा चोर का विक्रय नहीं कर रहा था और उसने द्रव्य लेकर चोर को छोड़ने की घोषणा भी नहीं की। ऐसी स्थिति में समुद्रपाल द्रव्य देकर उस चोर को कैसे छुड़ा सकता था? और न्यायसम्पन्न राजा मृत्यु दण्ड के योग्य चोर को द्रव्य लेकर छोड़ता भी कैसे? यह लोक कहावत है—'राजा भी रिश्वत लेकर अपराधी को छोड़ने लगे, तो फिर न्याय कौन करेगा?' अतः समुद्रपाल उस अपराधी चोर को कैसे मुक्त कराता? अस्तु, समुद्रपाल का उदाहरण देकर हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले निरपराधी प्राणी के प्राणों की रक्षा करने में एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४८ पर लिखते हैं—

'परिग्रह तो पांचमों पाप कह्यो छै। जे परिग्रह देइ जीव छुड़ायां धर्म हुवे, तो बाकी चार आश्रव सेवाय ने जीव छोड़ायां पिण धर्म कहिणो। पिण धर्म निपजे नहीं।' आचार्यश्री भीखणजी ने भी कहा है—

दोय वेश्या कसाई वाड़े गई, करता देखी हो जीवां रा संहार।
दोनों जणिया मतो करी, मरता राख्या हो जीव दोय हजार।।
एक गहणो देई आपणो, तिण छोड़ाया हो जीव एक हजार।
दूजी छुड़ाया इण विधे, एक-दोय से चोथो आश्रव सेवाय।।

—अनुकम्पा ढाल ७

इनके क़हने का अभिप्राय यह है कि किसी हिंसक को द्रव्य देकर जीवों की रक्षा करना और उसके साथ व्यभिचार करके जीवों को बचाना, दोनों एक समान एकान्त पाप के कार्य हैं।

जीव–रक्षा आदि परोपकार के कार्य में अपने धन को लगाना परिग्रह का त्याग करना है, धन पर रही हुई आसक्ति एवं तृष्णा को घटाना है। जिस व्यक्ति की धन के प्रति तृष्णा एवं आसक्ति कम होती है, वही अपने द्रव्य का परोपकारार्थ त्याग कर सकता है। परन्तु जिसके मन में धन के प्रति लोभ, तृष्णा एवं आसक्ति है, वह परोपकारार्थ उसका कभी भी त्याग नहीं कर सकता। अस्तु, जीव–रक्षा के लिए धन का परित्याग करने वाला दयालु पुरुष अपने लोभ, मोह एवं आसक्ति को कम करता है और मरते हुए प्राणी की रक्षा भी करता है। इसलिए वह एकान्त पापी नहीं, धार्मिक है। परिग्रह से ममत्व घटाना और जीव–रक्षा करना दोनों धर्म के कार्य हैं। इनमें पाप बताना भारी भूल है।

धन देकर जीव–रक्षा करने में एकान्त पाप सिद्ध करने के लिए आचार्यश्री भीखणजी ने व्यभिचार का सेवन करके जीवों को बचाने वाली वेश्या का जो दृष्टान्त दिया, वह युक्तिसंगत नहीं। इससे केवल उनका दया के प्रति रहा हुआ विद्वेष भाव ही अभिव्यक्त होता है। क्योंकि परिग्रह का त्याग और व्यभिचार-सेवन दोनों एक–से कार्य नहीं हैं। परिग्रह का त्याग करना धन पर रहे हुए मोह, तृष्णा एवं आसक्ति को कम करना है, घटाना है। परन्तु व्यभिचार का सेवन करना मोह, आसक्ति एवं तृष्णा को घटाना नहीं, बढ़ाना है। इसलिए ये दोनों कार्य प्रकाश और अन्धकार की तरह एक–दूसरे से बिलकुल विपरीत हैं। इन्हें एक समान बताकर परोपकारार्थ धन का परित्याग करने वाले और व्यभिचार का सेवन करके जीव–रक्षा करने वाले उभय व्यक्तियों को एक समान पापी बताना दृष्टि का विकार एवं भयंकर भूल है।

यदि आचार्यश्री भीखणजी एवं भ्रमविध्वंसनकार उक्त दोनों कार्य एक–से मानते हैं, तो उनके अनुयायियों को यह स्पष्ट करना चाहिए कि कोई दो गरीब बहनें बहुत दूर के प्रांत से आपके वर्तमान आचार्यश्री के दर्शनार्थ आईं। उनसे आचार्यश्री ने पूछा—'तुमने इतनी दूर आने के लिए द्रव्य कहाँ–से प्राप्त किया?' तब एक बहन ने उत्तर दिया—'मैंने अपने जेवर बेचकर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया।' और दूसरी ने बताया—'मैंने वेश्यावृत्ति के द्वारा धन प्राप्त करके आपके दर्शनों का लाभ लिया।' वहाँ कोई मध्यस्थ एवं निष्पक्ष विचारशील श्रावक उपस्थित था। उसने आचार्यश्री से पूछा कि इन दोनों में धार्मिक एवं पापी कौन है? क्या भ्रमविध्वंसनकार दोनों को एक समान धार्मिक कहेंगे? उनके मत से दोनों ही धार्मिक होनी चाहिए। परन्तु यहाँ उन्हें विवश होकर कहना पड़ता है—'जिसने जेवर बेचकर दर्शन का लाभ लिया, वह धार्मिक है और दूसरी धर्म को लज्जित करने वाली दुराचारिणी है।

साधु के दर्शन से होने वाला धर्म उसे नहीं हो सकता, उसका साधु-दर्शन का नाम लेना दंभ है, पाखण्ड है।'

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है—'एक ने पाँचवे आश्रव का सेवन किया है और दूसरी ने चौथे आश्रव था। ऐसी स्थिति में दोनों को एक-सी क्यों नहीं मानते? जिसने पाँचवें आश्रव का सेवन कर आपके दर्शन किए उसे धर्मात्मा और जिसने चौथे आश्रव का सेवन कर आपके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया, उसे पापात्मा क्यों कहते हैं? यहाँ इतना भेद क्यों?'

इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा, 'जिसने साधु के दर्शनार्थ जेवर बेचा है, उसने अपने शृंगार एवं धन पर से ममत्व हटाया है और आभूषणों को बेचने से उसके चारित्र में, उसके आचरण में किसी तरह का दोष नहीं आया, अतः वह धर्मनिष्ठ श्राविका है। परन्तु जिसने वेश्यावृत्ति के द्वारा धन का संग्रह किया है, उसने मोह और आसक्ति में अभिवृद्धि की है, तथा अपने चारित्र और आचरण में दोष लगाया है। अतः वह विषयानुरागिणी है, धर्मानुरागिणी नहीं।'

यही दृष्टि जीव-रक्षा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। जिस प्रकार आप दर्शनार्थ आई हुई बहनों में जेवर बेचकर दर्शन करने वाली को धर्मात्मा और दूसरी को पापात्मा कहते हैं, उसी प्रकार अपने जेवर की ममता का परित्याग करके जीवों की रक्षा करने वाली बहिन को धर्मात्मा और व्यभिचार का सेवन करके जीव बचाने वाली बहिन को पापात्मा कहना चाहिए। दोनों को एक-सी नहीं, एक-दूसरे से भिन्न समझना चाहिए।

जब साधु के दर्शनार्थ जेवर के ममत्व का त्याग करने वाली स्त्री धर्मात्मा हो सकती है, तब जीव-रक्षा के लिए अपने जेवर के ममत्व एवं धन की आसक्ति का त्याग करने वाली स्त्री धर्मात्मा क्यों नहीं होगी? अतः द्रव्य देकर जीव-रक्षा करने में पाप कहना भयंकर भूल है।

पथ-भूले को पथ बताना

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १४६ पर निशीथसूत्र का पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे गृहस्थ तथा अन्यतीर्थी ने मार्ग भूला ने अत्यन्त दुःखी देखी मार्ग बतायां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो। ते माटे असंयति री सुखसाता वांछ्या धर्म नहीं।'

निशीथसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जे भिक्खू अन्न उत्थियाण वा गारत्थियाण वा णट्ठाणं मुढाणं विप्परियासियाणं मग्गं वा पवेएइ, संधिं वा पवेएइ, मग्गाओ (मग्गेण) वा संधिं पवेएइ, संधीओ वा मग्गं पवेएइ पवेएंतं वा साइज्जइ।

—निशीथसूत्र, १३, २८

जो साधु पथभ्रष्ट या मूढ़ होकर विपरीत मार्ग से जाते हुए गृहस्थ या अन्य-यूथिक को मार्ग या मार्ग की सन्धि अथवा सन्धि से मार्ग या मार्ग से सन्धि बताता है और बताते हुए को अच्छा जानता है, उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि साधु अन्यतीर्थी या गृहस्थ को मार्ग या उसकी सन्धि क्यों नहीं बताते? इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार ने उक्त पाठ की चूर्णि में लिखा है—

तेण वा पहेण गच्छंता ते सावयोवद्दवं सरीरोवहि तेणोवद्दवं पावेंति त्ति, जं वा ते गच्छंता अन्नेसिं उवद्दवं करेंति।

—निशीथ उ. १३, भाष्य गाथा ४३१०

साधु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से जाते हुए अन्यतीर्थी या गृहस्थ को यदि कभी जंगली जानवरों का उपसर्ग हो अथवा चोर उन्हें लूट लें, या वे स्वयं किसी जीव पर प्रहार कर दें। अतः इन कारणों से साधु उन्हें मार्ग नहीं बताते।

यहाँ चूर्णिकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्यतीर्थी या गृहस्थ पर चोट एवं जंगली जानवरों द्वारा होने वाले या उनके द्वारा जंगल के जानवरों पर

किए जाने वाले उपद्रव की संभावना से साधु उन्हें मार्ग नहीं बताते, परन्तु उनकी रक्षा करने एवं उन्हें दुःख से बचाने को बुरा समझकर नहीं।

इसी पाठ के आधार पर आचार्यश्री भीखणजी ने अनुकम्पा को सावद्य बताया है। उन्होंने लिखा है—

गृहस्थ भूलो ऊजड़ वन में, अटवी ने बले ऊजड़ जावे।
अनुकम्पा आणी साधु मार्ग बतावे, तो चार महीना रो चारित्र जावे।।
आ अनुकम्पा सावज जाणो।।

—अनुकम्पा ढाल १

आचार्यश्री भीखणजी का कथन सत्य नहीं है। आगम में कहीं भी अनुकम्पा को सावद्य नहीं कहा है। निशीथ चूर्णि में भी रास्ता नहीं बताने का कारण अनुकम्पा का सावद्य होना नहीं लिखा है, प्रत्युत भावी उपद्रव की आशंका से मार्ग बताने का निषेध करके अनुकम्पा का समर्थन किया है।

अनुकम्पा को सावद्य मानने वालों से यह पूछा जाय कि यदि कुछ व्यक्ति सामूहिक रूप से आपके आचार्य के दर्शनार्थ जाना चाहें और उसके लिए वे आप से मार्ग पूछें, तो क्या आप उन्हें मार्ग बताएंगे? यदि यह कहें कि हम नहीं बता सकते तो इससे यह प्रश्न उठेगा कि आपके आचार्य का दर्शन करना सावद्य कार्य है? यदि वह सावद्य नहीं है, तो आप दर्शनार्थियों को रास्ता क्यों नहीं बताते? यदि यह कहें, 'दर्शन करने का कार्य सावद्य नहीं है, परन्तु रास्ता बताना साधु का कल्प नहीं है।' तो इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा करना, प्राणी का दुःख दूर करना सावद्य कार्य नहीं है। परन्तु मार्ग बताना साधु का कल्प नहीं होने से साधु रास्ता नहीं बताते। यदि कोई यह कहे कि आचार्यश्री के दर्शनार्थ जाने वाले व्यक्तियों को निरवद्य भाषा में रास्ता बताने में कोई दोष नहीं है, तो उसी प्रकार दुःखित प्राणियों के दुःख को दूर करने के लिए निरवद्य भाषा में उन्हें मार्ग बताना भी दोष एवं पाप का कार्य नहीं है।

साधु आत्म-रक्षा कैसे करे ?

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १५० पर स्थानांगसूत्र, स्थान ३ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे पिण कह्यो—हिंसादिक अकार्य करता देखी धर्म उपदेश देई समजावणो तथा अणबोल्यो रहे। तथा उठि एकान्त जावणो कह्यो। पिण जबरी सूं छुड़ावणो न कह्यो। तो रजोहरण ओघा थी मिनकी ने डराय ने उंदरा ने बचावे। त्यां ने आत्म-रक्षक किम कहिए?'

स्थानांगसूत्र के पाठ का प्रमाण देकर जीव-रक्षा का निषेध करना पूर्णतः मिथ्या है। उक्त पाठ में प्राणी की प्राण-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है। वह पाठ एवं उसकी टीका निम्न है—

तओ आयरक्खा पण्णत्ता तं जहा—धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएत्ता भवइ, तुसिणीए वा सिया उट्ठित्ता वा आतति एगंतमवक्कमेज्जा।

—स्थानांगसूत्र, ३, ३, १७२

आत्मानं रागद्वेषादेरकृत्याद्भवकूपाद्वारक्षन्तीति आत्मरक्षाः। धम्मियाए पडिचोयणाए त्ति धार्मिकिणोपदेशेन नेदं भवदृशां विधातुमुचितमित्यादिना प्रेरयिता उपदेष्टा भवति अनुकूलेत्तरोपसर्ग कारिणः। ततोऽसावुपसर्ग करणान्निवर्तते ततोऽकृतया सेवा न भवतीत्यात्मा रक्षितो भवतीति। तुष्णीको वा वाचयम उपेक्षकः इत्यर्थः स्यादिति प्रेरणाया अविषये उपेक्षणा सामर्थ्ये च ततः स्थानादुत्थाय 'आय-आए' त्ति आत्मना एकान्तं विजनं अन्यं भूमिभागमवक्रमेद् गच्छेत्।

जो पुरुष राग-द्वेष, अनुचित आचरण एवं भवकूप से अपनी आत्मा की रक्षा करता है, वह आत्मरक्षक कहलाता है। यदि उस आत्मरक्षक के निकट आकर कोई अनुकूल उपसर्ग करे, तो उसे धर्मोपदेश के द्वारा समझाना चाहिए—'आप जैसे पुरुष के लिए यह आचरण करने योग्य नहीं है।' यदि इस उपदेश को सुनकर वह

उपसर्ग देना बन्द कर दे तो साधु अकार्य का सेवन नहीं करता, किन्तु साधु की आत्मा अकृत्य के आचरण से बच जाती है। या साधु चुप रहकर शान्त भाव से उपसर्ग सहन कर ले, तब भी उसकी आत्मा अनुचित आचरण से बच जाती है। यदि उपसर्ग देने वाला व्यक्ति धर्मोपदेश देने योग्य नहीं है और साधु भी उपसर्ग नहीं सह सकता है, तो वह वहाँ से उठकर एकान्त स्थान में चला जाए। इस प्रकार साधु को अनुचित आचरण से अपनी आत्म-रक्षा करनी चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में आत्म-रक्षक साधु को अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गकर्ता के प्रति राग-द्वेष एवं अकृत्य आचरण से बचने के लिए तीन उपाय बताए हैं—१. धर्मोपदेश देना, २. उपसर्ग सह लेना और ३. वहां से उठकर एकान्त स्थान में चले जाना। इसमें हिंसक के द्वारा मारे जाने वाले प्राणी की प्राण-रक्षा करने या प्राण-रक्षा करने के लिए धर्मोपदेश देने का निषेध नहीं किया है। अतः उक्त पाठ का प्रमाण देकर मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा करने में पाप बताना नितान्त असत्य है।

उक्त पाठ की समालोचना में भ्रमविध्वंसनकार ने लिखा है—'पिण जबरी सूं छोड़ावणो न कह्यो।' इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये जबरदस्ती से जीव बचाने में पाप कहते हैं, परन्तु उपदेश देकर जीव बचाने में पाप नहीं कहते। वस्तुतः ये उपदेश देकर जीव बचाने में भी पाप ही कहते हैं। इस विषय में भ्रमविध्वंसनकार का मन्तव्य एवं आचार्य भीखणजी की ढालें लिखकर विस्तार के साथ बता चुके हैं। इसलिए इनका यह लिखना 'पिण जबरी सूं छोड़ावणो न कह्यो।' जनता को भ्रम में डालना है। इसके आगे भ्रमविध्वंसनकार ने लिखा है—'रजोहरण-ओघा थी मिनकी ने डराय ने ऊंदरा ने बचावे त्यां न आत्मरक्षक किम कहिए?' इनका यह कथन असंगत है। क्योंकि जो दयालु साधु रजोहरण से बिल्ली को एक ओर हटाकर चूहे की प्राण-रक्षा करता है, वह कौन-सा अनुचित कार्य करता है, जिससे उसे आत्म-रक्षक न कहा जाए? यदि यह कहें—'किसी को भय देना उचित नहीं है और वह बिल्ली को भय देकर चूहे की रक्षा करता है, इसलिए वह आत्म-रक्षक नहीं है।' यदि ऐसा है तो कभी साधु को गाय-भैंस मारने को आए या कुत्ते काटने को दौड़े, उस समय साधु गाय, भैंस या कुत्ते को रजोहरण-ओघा से डराकर अपनी रक्षा करता है, उसे भी आत्म-रक्षक कैसे कह सकते हैं? क्योंकि वह भी गाय, भैंस एवं कुत्ते को रजोहरण से डराकर या भयभीत करके दूर करता है। इसलिए आप के मत से उसे आत्म-रक्षक नहीं कहना चाहिए। यदि यह कहें कि साधु को मारने या काटने के लिए आने वाली गाय, भैंस या कुत्ते को साधु रजोहरण-ओघा से डराकर अपनी रक्षा करता है, उसमें कुछ भी अनुचित कार्य नहीं करता। तो उसी

तरह यह भी समझना चाहिए कि दया-निष्ठ साधु रजोहरण से बिल्ली को एक ओर हटाकर चूहे की रक्षा करता है, वह भी अनुचित कार्य नहीं करता, प्रत्युत बिल्ली को हिंसा के पाप से बचाता है और चूहे की प्राण-रक्षा करता है।

बिल्ली से चूहे को बचाने वाले साधु का अभिप्राय बिल्ली को त्रास देने का नहीं, प्रत्युत चूहे को बचाने का होता है। जैसे किसी व्यक्ति को हिंसा आदि दुष्कर्म से रोकने के लिए नरक के दुखों का भय बताया जाता है, उसी तरह चूहे की रक्षा करने के लिए रजोहरण आदि से बिल्ली को एक ओर हटाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु उसे त्रास देने की भावना से नहीं।

निशीथसूत्र के उद्देशक ११ में किसी जीव को त्रास देने के अभिप्राय से भयभीत करने की क्रिया को पापमय कहा है और इसी के लिए उसे प्रायश्चित्त कहा है। परन्तु स्व और पर की रक्षा के लिए अबोध प्राणी को डंडे आदि से दूर हटाने में न तो एकान्त पाप होता है और न उसके लिए प्रायश्चित्त का ही विधान है।

साध्वाचार और जीव-रक्षा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १५१ पर निशीथसूत्र, उ. १३ के सूत्र की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे गृहस्थ नी रक्षा निमित्त मंत्रादि कियां, अनुमोद्यां चौमासी प्रायश्चित्त कह्यो। तो ऊंदरादिक नी रक्षा साधु किम करे? अनें जो इम रक्षा कियां धर्म हुवे तो डाकिनी-शाकिनी, भूतादिक काढ़ना, सर्पादिक ना जहर उतारना, औषधादिक करी असंयति ने बचावना। अने जो एतला बोल न करणा, तो असंयति ना शरीर नी रक्षा पिण नहीं करणी।'

निशीथसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जे भिक्खू अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा भुइ कम्मं करेइ—करेंतं वा साइज्जइ।

—निशीथ सूत्र १३, १८

जो साधु गृहस्थ या अन्ययूथिक के लिए भूतिकर्म करता है या भूतिकर्म करने वाले को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

प्रस्तुत पाठ में साधु को भूतिकर्म करने का निषेध किया है। परन्तु अपने कल्प एवं मर्यादा के अनुसार मरते हुए प्राणी की रक्षा करने का निषेध नहीं किया है। निशीथसूत्र में निम्नोक्त पाठ भी आए हैं—

जे भिक्खू विज्जापिण्डं भुंजइ-भुंजंत वा साइज्जइ।
जे भिक्खू मंतपिण्डं भुंजइ-भुंजंतं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू जोग पिण्डं भुंजइ-भुंजंतं वा साइज्जइ।।

—निशीथसूत्र, १३, ७४-७५ और ७८

जो साधु विद्या, मंत्र एवं योग-वृत्ति से आहार-पानी लेता है या लेने वाले साधु को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

इस पाठ में साधु को विद्या, मंत्र एवं योग-वृत्ति से आहार-पानी लेने का निषेध किया है, परन्तु साधु की मर्यादा के अनुसार आहार-पानी लेने का

नहीं। इसी तरह पूर्वोक्त पाठ में भूतिकर्म करने का निषेध किया है, परन्तु अपने कल्प एवं मर्यादा का पालन करते हुए जीव-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है। यदि जीव-रक्षा से प्रायश्चित्त आता है, ऐसा विधान करना होता तो भूतिकर्म का ही उल्लेख क्यों करते? क्योंकि केवल भूतिकर्म से ही जीवों की रक्षा नहीं होती। रक्षा करने के और भी अनेक साधन हैं। यदि आगम में सामान्य रूप से ऐसा उल्लेख होता—

जे भिक्खू अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा रक्खइ-रक्खंतं वा साइज्जइ।

तो जीव-रक्षा करने का स्पष्ट रूप से निषेध हो जाता। परन्तु आगम में ऐसा नहीं लिखकर भूतिकर्म करने का निषेध किया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमकार ने भूतिकर्म करने का प्रायश्चित्त बताया है, जीव-रक्षा करने का नहीं।

जैसे किसी व्यक्ति को प्रतिबोध देना पाप का कार्य नहीं है। परन्तु यदि कोई साधु किसी व्यक्ति को भूतिकर्म के द्वारा प्रतिबोध दे, तो उसे निशीथ-सूत्र के इस पाठ के अनुसार अवश्य ही प्रायश्चित्त आएगा। परन्तु यह प्रायश्चित्त प्रतिबोध देने का नहीं, भूतिकर्म करने का है।

इसी तरह डाकिनी-शाकिनी और भूत आदि निकालना, सर्प आदि का जहर उतारना एवं औषध आदि बाँटना साधु का कल्प नहीं है। इसलिए साधु उक्त कार्यों को नहीं करते। परन्तु अपने कल्प के अनुसार साधु मरते हुए प्राणी की रक्षा कर सकता है। क्योंकि जीव-रक्षा का कार्य प्रतिबोध देने के कार्य की तरह एकान्त धर्म का काम है। इसलिए विभिन्न असत्य कल्पनाओं के द्वारा मरते हुए प्राणी की रक्षा करने में पाप सिद्ध करने का प्रयत्न करना दयायुक्त धर्म से विमुख होना है।

चुलनीप्रिय श्रावक

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १५६ पर उपासकदशांगसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे पिण कह्यो—चुलणी पिया श्रावक रा मुंहड़ा आगे देवता तीन पुत्रा नां शूला किया, पिण त्यांने बचाया नहीं। माता ने बचावा उठ्यो तो पोषा, नियम, व्रत भांग्यो कह्यो। तो उंदरादिक ने साधु किम बचावे?'

भ्रमविध्वंसनकार का यह सिद्धान्त है कि हिंसक को हिंसा के पाप से बचाने के लिए उपदेश देना चाहिए, मरते जीव की रक्षा करने के लिए नहीं। अतः इनके मतानुसार यहाँ यह प्रश्न होता है कि चुलनीप्रिय श्रावक ने अपने सामने हिंसा करते हुए हिंसक पुरुष को हिंसा के पाप से बचाने के लिए धर्मोपदेश क्यों नहीं दिया?

यदि इस विषय में यह कहें कि हिंसक को हिंसा के पाप से बचाने के लिए धर्मोपदेश देना धर्म है, परन्तु वह पुरुष बिल्कुल अनार्य एवं अयोग्य था, अतः उसे उपदेश देना निष्फल जानकर चुलनीप्रिय ने उपदेश नहीं दिया। ऐसे ही सरल भाव एवं निष्पक्ष बुद्धि से यह समझना चाहिए कि जीव-रक्षा के लिए धर्मोपदेश देना धर्म है, परन्तु उस अनार्य एवं अयोग्य पुरुष को जीव-रक्षा का उपदेश देना निष्फल जान कर ही चुलनीप्रिय ने उपदेश नहीं दिया, अतः चुलनीप्रिय श्रावक का दृष्टान्त देकर जीव-रक्षा करने में पाप कहना भयंकर भूल है।

इसी तरह माता की रक्षा के लिए प्रवृत्त होने से चुलनीप्रिय के व्रत-नियम का भंग होना बताना भी मिथ्या है। क्योंकि हिंसक पर क्रोध करके उसे मारने के लिए अयत्नापूर्वक दौड़ने से उसके व्रत-नियम नष्ट हुए थे, माता के प्रति रक्षा का भाव आने से नहीं।

तएणं सा भद्दा सत्थवाही चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं सा ओ गिहाओ णिणेइ-णिणेइत्ता तव आगओ घाएइ। एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ। एस णं तुमे

विदरसिणे दिट्ठे। ते णं तुमं एयाणिं भग्ग-वए, भग्ग-णियमे, भग्ग-पोसहे विहरति।

—उपासकदशांगसूत्र, ३, १४७

इसके अनन्तर उस भद्रा सार्थवाही ने कहा—हे चुलनीप्रिय! तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र से लेकर कनिष्ठ पुत्र को घर से बाहर लाकर तुम्हारे समक्ष किसी ने नहीं मारा है। यह तुम्हारे पर किसी ने उपसर्ग किया है। तुमने जो देखा है, वह मिथ्या दृश्य था। इस समय तुम्हारे व्रत, नियम और पौषध नष्ट हो गए।

इस पाठ में भद्रा ने चुलनीप्रिय के व्रत आदि के भंग होने की जो बात कही है, उसका कारण बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

भग्गवए' त्ति भग्नव्रतः स्थूल प्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्गत्वात् तद्विनाशार्थं कोपेनोद्धावनात् सापराधस्यापिव्रतविषयीकृतत्वात्। भग्न नियमः कोपोदयेनोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्नत्वात्। भग्नपौषधः अव्यापारपौषरूपस्य भग्नत्वात्।

—उपासकदशांग, ३, १४७ टीका

चुलनीप्रिय श्रावक का स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भाव से नष्ट हो गया। क्योंकि वह क्रोध करके हिंसक को मारने के लिए दौड़ा था। व्रत में अपराधी प्राणी को भी मारने का त्याग होता है। उत्तर गुण—क्रोध नहीं करने का जो अभिग्रह था, वह क्रोध करने से टूट गया और अयत्नापूर्वक दौड़ने से उसका पौषध नष्ट हो गया।

प्रस्तुत टीका में व्रत, नियम एवं पौषध के भंग होने का स्पष्ट कारण यह बताया है—'चुलनी-प्रिय क्रोध करके हिंसक को मारने के लिए दौड़ा'—परन्तु मातृ-रक्षा का भाव आने से उसके व्रत आदि का भंग होना नहीं कहा है। अतः मातृ-रक्षा का भाव आने से उसके व्रत आदि का भंग होना बताना आगम के सर्वथा विपरीत है। परन्तु आचार्यश्री भीखणजी ने लोगों के मन में भ्रम फैलाने के लिए माता की रक्षा के भाव आने से उसके व्रतादि भंग हो गए ऐसा लिखा है—

इम सुणने चुलणीपिया चल गयो, मां ने राखण रो करे उपाय रे।
ओ तो पुरुष अनार्य कहे जिसो, झाल राखूं ज्यों न करे घात रे।।
ओ तो भद्रा बंचावण ऊठियो, इणरे थांबो आयो हाथ रे।
अनुकम्पा आनी जननी तणी, तो भांग्या व्रत ने नेम रे।।
देखो मोह अनुकम्पा एहवीं, तिण में धर्म कही जे केम रे?

—अनुकम्पा ढाल, ७, ३५

इनके कहने का अभिप्राय यह है कि किसी मरते हुए प्राणी की प्राण-रक्षा—अनुकम्पा करना मोह-अनुकम्पा है। चुलनीप्रिय ने माता की रक्षार्थ

अनुकम्पा की थी। इससे उसका व्रत भंग हुआ, क्योंकि वह मोह-अनुकम्पा थी। परन्तु इनका यह कथन आगम-विरुद्ध है। यह ऊपर बता चुके हैं कि व्रत आदि हिंसक को मारने के लिए अयत्नापूर्वक दौड़ने से टूटे थे, माता की रक्षा करने के भाव से नहीं। क्योंकि पौषध व्रत के समय श्रावक को सापराधी हिंसा का भी त्याग होता है, अनुकम्पा करने का नहीं। अतः उसके मन में सापराधी हिंसा के भाव उद्भूत होने एवं हिंसक को मारने के लिए दौड़ने से उसके व्रत आदि भंग हुए, अनुकम्पा के भाव आने से नहीं। आचार्यश्री भीखणजी ने भी सामायिक एवं पौषध के समय अग्नि एवं सर्प आदि का भय होने पर श्रावक को यत्नापूर्वक निकलने के लिए लिखा है—

लाय सर्पादिका रा भय थकी, जयणा सूं निसर जाय जी।
राख्या ते द्रव्य ले जावतां, समाइ रो भंग न थाय जी।।
पोषा ने सामायक व्रत ना, सरीखा छै पचक्खान जी।
पोषा ने सामायक व्रत में, सरीखा छै आगार जी।।

—श्रावक धर्म विचार, नवम व्रत की ढाल

इस ढाल में आचार्यश्री भीखणजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—'अग्नि, सर्प आदि का भय होने पर सामायिक एवं पौषध में अपने रखे हुए द्रव्य लेकर यत्नापूर्वक निकल जाए, तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता।' यदि सामायिक एवं पौषध एवं पौषध में अनुकम्पा करना बुरा है, तो अग्नि आदि का उपद्रव होने पर श्रावक यत्नापूर्वक कैसे निकल सकता है? क्योंकि यह भी तो स्व-अनुकम्पा करना है। यदि यह कहें कि अपने पर अनुकम्पा करने से व्रत भंग नहीं होता, दूसरे पर अनुकम्पा करने से व्रत भंग होता है। इसलिए अग्नि आदि के समय सामायिक या पौषध में बैठा हुआ श्रावक यत्नापूर्वक निकल जाए तो उसमें कोई दोष नहीं है। यदि ऐसा है, तो सुरादेव श्रावक का व्रत क्यों भंग हुआ? उसने किसी अन्य पर नहीं, अपने पर ही अनुकम्पा की थी।

तए णं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिए! के वि पुरिसे तहेव कहइ जाव चुलणीपिया। धन्ना वि भणइ—जाव कणियसं नो खलु देवाणुपिया! तुब्भं केऽवि पुरिसे सरीरगंसि जमग-समगं सोलस रोगायंके परिपक्खिवइ। तए णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ सेसं जहा चुलणीपियस्स तहा भणइ।

—उपासकदशांगसूत्र, ४, १५७

इसके अनन्तर सुरादेव श्रावक ने अपनी धन्या नामक पत्नी को अपना समस्त वृत्तान्त चुलनीप्रिय श्रावक की तरह सुनाया। वह सुनकर धन्या ने कहा—हे देवानुप्रिय! किसी ने तुम्हारे ज्येष्ठ से लेकर कनिष्ठ पुत्र को नहीं मारा है और न

तुम्हारे शरीर में एक साथ सोलह ही रोग प्रविष्ट कर रहे हैं। किन्तु तुम्हारे पर किसी ने उपसर्ग किया है। शेष बातें चुलनीप्रिय की माता की तरह धन्या ने अपने पति से कही, अर्थात् उसने सुरादेव से कहा कि तुम्हारे व्रत, नियम एवं पौषध भंग हो गए हैं।

प्रस्तुत पाठ में चुलनीप्रिय श्रावक की तरह सुरादेव श्रावक के व्रत-नियमादि भंग होना कहा है। आप के मत से उसके व्रत आदि भंग नहीं होने चाहिए। क्योंकि सुरादेव ने स्व की अनुकम्पा की थी, पर की नहीं। आचार्यश्री भीखणजी सामायिक एवं पौषध में अपनी अनुकम्पा करने से व्रत आदि का भंग होना नहीं मानते। फिर सुरादेव श्रावक के व्रत आदि के भंग होने का क्या कारण है? यदि इस विषय में यह कहें कि सुरादेव के व्रत आदि अपनी अनुकम्पा करने के कारण नहीं, प्रत्युत अपराधी को मारने के लिए क्रोधित होकर अयत्ना से दौड़ने के कारण भंग हुए, तो फिर चुलनीप्रिय के सम्बन्ध में भी आपको यही बात माननी चाहिए। उभय श्रमणोपासकों के सम्बन्ध में प्रयुक्त पाठ बिल्कुल समान है। केवल भेद इतना ही है कि चुलनीप्रिय श्रावक ने माता पर अनुकम्पा की थी और सुरादेव श्रावक ने अपने पर। यदि माता पर अनुकम्पा करने से चुलनीप्रिय का व्रत भंग होना मानते हैं, तो यहाँ सुरादेव का अपने पर अनुकम्पा करने से व्रत भंग होना मानना पड़ेगा। जैसे चुलनीप्रिय की मातृ-अनुकम्पा को सावद्य कहते हैं, वैसे सुरादेव की स्व-अनुकम्पा को भी सावद्य कहना होगा। और आचार्यश्री भीखणजी ने अपनी ढाल में सामायिक और पौषध में अग्नि आदि के समय यत्नपूर्वक बाहर निकल जाने की आज्ञा दी है, वह भी मिथ्या सिद्ध होगी। अतः आचार्यश्री भीखणजी के अनुयायी अपनी अनुकम्पा को सावद्य नहीं कह सकते। अस्तु जैसे सुरादेव की अपनी अनुकम्पा सावद्य नहीं थी, उसी तरह चुलनीप्रिय की मातृ-अनुकम्पा भी सावद्य नहीं थी। दोनों के व्रत आदि स्व या मातृ-अनुकम्पा करने से नहीं, प्रत्युत हिंसक पर क्रोध करके मारने के लिए अयत्नापूर्वक दौड़ने से भंग हुए थे। इसलिए चुलनीप्रिय का उदाहरण देकर अनुकम्पा को सावद्य बताना नितान्त असत्य एवं आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु अनुकम्पा कर सकता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १६० पर आचारांगसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो—जे पानी नाव में आवे घणा मनुष्य नाव में डूबतां देखे तो पिण साधु ने मन-वचन करी पिण बतावणो नहीं। जो असंयति रो जीवणो बांछया धर्म हुवे तो नाव में पानी आवतो देखी साधु क्यों न बतावे? केतला एक कहे—जे लाय लाग्यां ते घर रा किवाड़ उघाड़ना तथा गाड़ा हेठे बालक आवे तो साधु ने उठाय लेणो। इम कहे, तेहनो उत्तर जो लाय लाग्यां ढाँढ़ा बाहिरे काढ़णा, तो नाव में पानी आवे ते क्यूं न बतावणो?'

भ्रमविध्वंसनकार दूसरे प्राणी की रक्षा करना पाप मानते हैं, परन्तु अपनी रक्षा करना पाप नहीं मानते। अपनी रक्षा करना वे साधु का कर्तव्य मानते हैं। ऐसी स्थिति में साधु अन्य की रक्षा के लिए नहीं, प्रत्युत अपनी रक्षा के लिए नाव में आते हुए पानी को क्यों नहीं बताते? क्योंकि नाव में पानी भरने पर अन्य लोगों की तरह साधु स्वयं भी डूब जाएगा। फिर वह अपने-आप को बचाने के लिए नाव में भरते हुए पानी को क्यों नहीं बताता? यदि यह कहें कि अपनी रक्षा करना साधु का कर्तव्य है परन्तु पानी बताने की जिन-आज्ञा नहीं है। अतः यह साधु का कल्प नहीं होने से वह नाव में भरता हुआ पानी नहीं बताता। इसी तरह अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए कि जीवों की रक्षा करना साधु का धर्म है, परन्तु पानी बतलाने का कल्प नहीं है, इसलिए साधु नाव में आते हुए पानी को नहीं बताता।

परन्तु आचार्यश्री भीखणजी ने तो यहाँ अनुकम्पा मात्र का निषेध करते हुए लिखा है—

आप डूबे अनेरा प्राणी, अनुकम्पा किण री नहीं आणी।

'नौका में बैठा हुआ साधु स्वयं भी डूबे और अन्य प्राणी भी डूब जाएँ, परन्तु वह किसी पर भी अनुकम्पा न करे।'

यदि ऐसा मान लें तो आचार्यश्री भीखणजी की परंपरा के सभी साधु-साध्वी स्थानांगसूत्र में कथित चतुर्भंगी के चौथे भंग के स्वामी होंगे। क्योंकि

उसमें कथित चौथे भंगवाला जीव ही स्व और पर किसी की भी अनुकम्पा नहीं करता। जैसे कालशौकरिक कसाई आदि किसी की अनुकम्पा नहीं करते। परन्तु यह कथन आगम-विरुद्ध है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी इस बात को स्वीकार किया है—'पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगला नी अनुकम्पा न करे।' यहाँ भ्रमविध्वंसनकार ने अपनी अनुकम्पा करना साधु का कर्तव्य बताया है। गाय, भैंसे, कुत्ते आदि से भी इनके साधु अपनी रक्षा करते हैं और अपने शरीर की सुरक्षा के लिए आहार-पानी की गवेषणा भी। अस्तु, आचार्यश्री भीखणजी का यह कथन, 'आप डूबे अनेरा प्राणी, अनुकम्पा किणरी नहीं आणी', आगम से ही नहीं इनके अपने सिद्धान्त एवं आचार से भी विरुद्ध है। परन्तु पर-जीव की रक्षा करने में पाप बताकर जन-मन में से दयाभाव का उन्मूलन करने के आवेश में अपनी परम्परा के विरुद्ध पर-रक्षा के साथ स्व-रक्षा करने का भी निषेध कर दिया, परन्तु आचारांग में जीव-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है।

वस्तुतः स्थानांग में कथित चतुर्भंगी के अनुसार स्थविरकल्पी साधु स्व और पर दोनों की अनुकम्पा करते हैं। परन्तु नौका में प्रविष्ट पानी गृहस्थ को बताना मुनि का कल्प नहीं होने से, वे उसे नहीं बताते। पर इसके निकट के सूत्र में साधु को प्रसंगवश तैर कर नदी पार करने का कहा है। यदि आचार्यश्री भीखणजी के कथनानुसार अपनी रक्षा करना साधु का धर्म नहीं होता, तो आगमकार साधु को तैरकर नदी पार करने की आज्ञा कैसे देते?

से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे णो हत्थेण-हत्थं, पाएण-पायं, काएण-कायं, आसाइज्जा से अणासायणाए अणासायमाणे तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा। से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे नो उमुग्ग-निमुग्गियं करिज्जा मामेय उदगं कन्नेसु वा, अच्छीसु वा, नक्कंसि वा, मुहंसि वा, परियावज्जिज्जा तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा। से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे दुब्बलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विंगिचिज्ज वा विसोहिज्ज वा नो चेव णं साइजिज्जा। अह पुण एवं जाणेज्जा, पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा।

—आचारांगसूत्र, २, ३, २, १२२

साधु या साध्वी नदी के पानी को तैरकर पार करते समय अपने हाथ का हाथ से, पैर का पैर से और शरीर का शरीर से स्पर्श न करे। वह अपने अंगों का परस्पर स्पर्श न करते हुए यत्नापूर्वक नदी पार करे। वह तैरते समय जल में डुबकी-गोता न लगाए और अपनी आँख, नाक, कान एवं मुख आदि में जल प्रविष्ट नहीं होने दे।

यदि तैरते समय साधु को दुर्बलता का अनुभव हो, तो वह अपने उपकरणों को तुरन्त वहीं त्याग दे, उन पर जरा भी ममत्व भाव न रखे। यदि उपकरणों को लेकर वह तैरने में समर्थ हो, तो उसे उनका त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार नदी पार करने के बाद जब तक शरीर से जल की बूंदें गिरती रहें, शरीर भीगा हुआ रहे, तब तक साधु नदी के किनारे पर ही खड़ा रहे।

प्रस्तुत पाठ में साधु को तैरकर नदी पार करने का आदेश दिया है, जल में डूबकर मरने का नहीं। अतः इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु स्व-रक्षा करने में पाप नहीं समझता। जब उसे अपनी रक्षा करने में पाप नहीं लगता, तब दूंसरे की रक्षा करने में पाप कैसे होगा? अतः आचार्यश्री भीखणजी ने साधु के लिए जो जल में डूब मरने का लिखा है, वह पूर्णतः मिथ्या है।

यदि कोई यह कहे, 'नदी पार करते समय साधु के द्वारा पानी के जीवों की विराधना होती ही है, फिर भी नाव में आता हुआ पानी बताकर स्व और पर की रक्षा क्यों नहीं करता?' इसका उत्तर यही है कि साधु आगम के विधानानुसार ही स्व और पर की रक्षा करता है, आगम-आज्ञा का उल्लंघन करके नहीं। जैसे यदि गृहस्थ के हाथ की रेखा भी सचित्त जल से भीगी हुई है, तो साधु उसके हाथ से आहार नहीं लेता, क्योंकि उसका कल्प नहीं है। परन्तु वही साधु अपवाद मार्ग में नदी पार करता है। नदी पार करना साधु के कल्प के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि आगम में नदी पार करने की आज्ञा दी है। परन्तु नौका के छिद्र से प्रविष्ट होते हुए पानी को बताने का आगम में निषेध किया है, इसलिए साधु उसे नहीं बताता। परन्तु वह साधु की मर्यादा में रहकर स्व और पर की रक्षा करने में पाप नहीं समझता।

त्रस जीव को बांधना-खोलना

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ पर १६२ पर निशीथसूत्र, उ. १२ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ कह्यो—'कोलुण पडियाए' कहितां अनुकम्पा निमिते त्रस जीव ने बांधे, बांधता ने अनुमोदे—भलो जाणे तो चौमासी दंड कह्यो। अने बांध्या जीव ने छोड़े, छोड़तां ने अनुमोदे—भलो जाणे तो पिण चौमासी दंड कह्यो। बांधे छोड़े तिण ने सरीखो प्रायश्चित्त कह्यो।'

निशीथसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जे भिक्खू कोलुण पडिआए अण्णयरिं तसपाणजाइं तण-पासएण वा मुंज-पासएण वा कट्ठ-पासएण वा चम्म-पासएण बंधइ-बंधंतं वा साइज्जइ।

जे भिक्खू बद्धेल्लयं मुयइ-मुंयंतं वा साइज्जइ।

—निशीथसूत्र, १२, १-२

जो साधु अनुकम्पा की प्रतिज्ञा से किसी त्रस प्राणी को तृणपाश से, मुंज-पाश से, काष्ट-पाश से या चर्म-पाश से बांधता है या बांधने वाले को अच्छा समझता है तथा जो साधु बंधे हुए त्रस प्राणी को छोड़ता है, या छोड़ते हुए को अच्छा समझता है, तो उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है।

साधु के अनुकम्पा की प्रतिज्ञा है, अतः उस अनुकम्पा का नाश न हो जाए, इस भावना से प्रस्तुत पाठ में त्रस प्राणी को बांधने और छोड़ने से साधु को प्रायश्चित्त कहा है, परन्तु उन जीवों पर अनुकम्पा करने से नहीं। क्योंकि अनुकम्पा करने की आगम की आज्ञा है। जैसे—साधु को आहार-पानी लेने से प्रायश्चित्त नहीं आता, क्योंकि इसके लिए आगम की आज्ञा है। परन्तु यदि कोई साधु मंत्र, विद्या या योग-वृत्ति से आहार ग्रहण करता है, तो उसे उसका प्रायश्चित्त आता है। यह प्रायश्चित्त आहार ग्रहण करने का नहीं प्रत्युत मंत्र, विद्या या योगवृत्ति करने का है। इसी तरह त्रस प्राणी पर अनुकम्पा करने का प्रायश्चित्त नहीं है, वह तो उन्हें बांधने-छोड़ने का है। त्रस प्राणी पर अनुकम्पा

करना, उन्हें शान्ति पहुँचाना एवं किसी जीव की रक्षा करना पाप नहीं है, अतः अनुकम्पा करने से प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है? त्रस प्राणी को बांधने और उसे बन्धन से मुक्त करने का जो प्रायश्चित्त बताया है, उसका कारण यह है कि बांधने-छोड़ने से अनेक तरह का अनर्थ भी हो सकता है। उक्त सूत्र के भाष्य एवं चूर्णि में इस पाठ के पीछे रहे हुए उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अच्चावेढन मरणंतराय फड्डंत आत्त-परहिंसा।
सिंग-खुरणोल्लणं वा उड्डाहो भद्द-पंता वा।

—निशीथसूत्र, उ. १२, भाष्य ३६८१

अईव आवेढियं परिताविज्जइ मरइ वा अन्तराइयं च भवइ। बद्धं च तडफ्फडितं अप्पाणं परं वा हिंसइ। एसा संजम विराहणा, तं वा वज्झंतं सिंगेण, सुरेण वा, काएण वा, साहुं णोल्लेज्जा। एवं च साहुस्स आयविराहणा। तं च दट्ठुं जणो उड्डाहं करेज्ज। 'अहो दुद्दिट्ठ धम्मा परतत्ति वाहिणो' एवं पवयणोवघाओ। भद्दपंत दोषा व भवे।

भद्दो भणइ—'अहो इमे साहवो अम्हं परोक्खाण घरे वावारं करेंति।' पंतो पुणो भणेज्जा 'दुद्दिट्ठ धम्मा चाडुकारिणो कीस वा अम्हं वच्छे बंधंति-मुयंति वा' दिवा वा राओ वा णिच्छुभेज्जा, वोच्छेयं वा करेज्ज, ए-ए बंधणे दोसा।

—निशीथसूत्र, उ. १२, चूर्णि ३६८१

रस्सी आदि बन्धन से बाँधे हुए पशु अत्यन्त आंटा खाकर-उलझकर दुःख पाते हैं एवं बंधन से पीड़ित होकर तड़फडाते एवं छटपटाते हुए अपनी या अन्य प्राणियों की हिंसा भी कर देते हैं। इस प्रकार पशुओं को बांधने से संयम की विराधना होती है। पशुओं को बांधते समय यदि वे सींग या खुर से साधु को मार दें, तो साधु की अपनी विराधना भी होती है।

यदि उक्त घटनाएँ न भी हों, तब भी गृहस्थ के पशुओं को बांधते-खोलते हुए साधु को देखकर लोग साधु की निंदा करते हैं—इन साधुओं का धर्म अच्छा नहीं है, ये लोग गृहस्थ की नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचन की निन्दा होती है।

उक्त साधु पर श्रेष्ठ एवं साधारण दोनों तरह के लोग दोष लगाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं—ये साधु मेरे घर का काम-काज करते हैं और साधारण जन कहते हैं—ये गृहस्थ की खुशामद करते हैं। ये हमारे बछड़े बांधते और खोलते हैं, अतः इनका धर्म अच्छा नहीं है। उक्त कारणों से साधु को पशुओं को बांधना एवं खोलना नहीं चाहिए।

उक्त गाथा एवं चूर्णि में पशुओं को बांधने से अनर्थ होने की संभावना बताकर प्रायश्चित्त कहा है, परन्तु अनुकम्पा करने का नहीं। अतः इस पाठ के आधार पर गाय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करने का प्रायश्चित्त बताना भयंकर भूल है।

यहाँ यह प्रश्न होता है, 'त्रस प्राणियों को बांधने से तो अनर्थ होने की संभावना है, इसलिए उक्त पाठ में उसका प्रायश्चित्त कहा। परन्तु उन्हें खोलने से कौन–सा अनर्थ होता है, जिससे बंधे हुए पशुओं को छोड़ने से भी प्रायश्चित्त कहा?' इसका उत्तर इसी भाष्य एवं चूर्णि में दिया है—

छक्काय अगड विसमे, हिय णट्ठ पलाय खईय पीए वा।
जोगक्खेम वहन्ति मणे, बंधण दोसा य जे वुत्ता।

—निशीथसूत्र, उ. १२, भाष्य ३६८२

तन्नगाइमुक्कमडंतं छक्कायविराहणं करेज्ज। अगडे विसमे वा पडेज्ज, तेणेहिं वा हीरेज्ज, नट्ठं अटवीए रुलंतं अच्छेज्ज, मुक्कं वा पलाइयं पुणो बंधिउं न सक्कइ। वृगादि सणफ्फडे (ए) हिं वा खज्जइ। मुक्कं वा माउए थणात खीरं पीएज्जा। जइ वि एयाइ दोसा न होज्ज तहावि गिहिणो विसत्था अच्छेज्ज, अम्हं घरे साहवो सुत्थ–दुत्थ–जोगक्खेम वावारं वहंति, मणं त्ति एवं मणेण चिन्तिता अणुत्तसत्ता अप्पणो कम्मं करेंति। अह तद्दोसभया मुक्कं पुणो बंधंति। तत्थ बंधणे जे दोसा वुत्ता ते भवन्ति। जम्हा ए–ए दोसा तम्हा ण बंधंति, ण मुयंति वा।

—निशीथसूत्र, उ. १२, चूर्णि ३६८२

बंधन से मुक्त हुए बछड़े दौड़कर छः काय के जीवों की विराधना करते हैं, खाई या गड्ढे आदि में गिर जाते हैं, उन्हें चोर चुरा सकते हैं, जंगल में भूलकर इधर–उधर भटकते फिरते हैं, भागते–फिरते हुए बछड़ों को पुनः बांधने में कठिनाई होती है। सिंह आदि हिंस्र जीव उन्हें मार दें या वे अपनी माता का दूध पी जाएँ, जिससे घर का मालिक साधु पर नाराज हो, इत्यादि अनेक दोष बछड़े आदि पशुओं को खोलने से होने की संभावना रहती है।

यदि उक्त दोष न भी हो, तब भी इस कार्य में साधु को प्रवृत्त देखकर गृहस्थ के मन में यह विश्वास हो जाता है कि मुझे अपने घर का कार्य करने की जरा भी चिंता करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मेरे घर को संभाल कर रखने के लिए साधु वहाँ हैं ही। ऐसा सोचकर गृहस्थ गृह–कार्य की चिन्ता से मुक्त होकर अन्य कार्यों में प्रवृत्त हो जता है। तब साधु यदि उसके पशुओं को बाँधे तो उसे बाँधने का दोष लगता है। अतः साधु गृहस्थ के पशुओं को बाँधते एवं छोड़ते नहीं हैं।

इसमें स्पष्ट लिखा है—बछड़े आदि पशुओं को बंधन से मुक्त करने से अनेक प्रकार के उपद्रव होने की संभावना है। इसलिए साधु उन्हें नहीं खोलता। यदि साधु छोड़ता है तो इन्हीं उपद्रवों के कारण उसे प्रायश्चित्त लेने को कहा है, अनुकम्पा करने का नहीं। गाय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करना पाप नहीं, धर्म है। अस्तु, जहाँ उनको बाँधने एवं खोलने में अनर्थ होने की संभावना है, वहाँ उन्हें बाँधने-खोलने पर साधु को प्रायश्चित्त कहा है। परन्तु जहाँ ऐसी परिस्थिति हो कि गाय आदि को बाँधे या खोले बिना उनकी रक्षा नहीं हो सकती, वहाँ निशीथ भाष्य एवं चूर्णि में बाँधने एवं छोड़ने का भी विधान किया है—

बिइयपदमणप्पज्झे, बन्धे अविकोविते व अप्पज्झे।
विसमऽगड अगणि आऊ, सणप्फगादीसु जाणमवि।।

—निशीथसूत्र, १२, चूर्णि ३६८३

अणप्पज्झो बंधइ अविकोविओ वा सेहो। अहवा-विकोविओ अप्पज्झो इमेहिं कारणेहिं बंधंति-विसमा, अगड, अगणि, आऊसु मरिज्जिहितित्ति, वृगादिसणफ्फएण वा मा रवज्जिहितित्ति, एवं जाणगो वि बंधइ-मुंचइ।

—निशीथसूत्र, १२, चूर्णि ३६८३

जहाँ पशु के आग में जलकर, गड्ढे में गिरकर या जंगली जानवरों के द्वारा मरने की संभावना हो, वहाँ साधु उन्हें बाँधते एवं छोड़ते भी हैं। परन्तु बन्धन प्रगाढ़ नहीं होना चाहिए।

यहाँ यह स्पष्ट कहा है कि यदि त्रस प्राणी को बाँधे या मुक्त किए बिना उसकी रक्षा नहीं हो सकती हो, तो ऐसी स्थिति में साधु उसे बाँध भी सकता है और छोड़ भी सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि निशीथसूत्र के पाठ में बाँधने एवं खोलने से अनर्थ की संभावना होने के कारण ही त्रस प्राणी को बाँधने एवं खोलने का प्रायश्चित्त कहा है। परन्तु उनकी रक्षा करने से प्रायश्चित्त नहीं कहा है।

यदि यह कहें—'अपवाद मार्ग में गाय आदि को बाँधने एवं खोलने का विधान भाष्य में किया है, मूल पाठ में नहीं।' तो उनसे पूछना चाहिए—'आप अपने पानी के पात्र में पड़कर शीत से मूर्च्छित हुई मक्खी को कपड़े में बांधकर क्यों रखते हैं? उसकी मूर्च्छा हटने पर उसे क्यों छोड़ते हैं? मक्खी भी तो त्रस प्राणी है। इसके अतिरिक्त यदि आपका साधु पागल हो जाय तो उसे क्यों बाँधते हैं? उसका पागलपन ठीक होते ही उसे पुनः क्यों छोड़ते हैं? साधु भी

तो त्रस प्राणी से भिन्न नहीं है।' अतः निशीथ भाष्य एवं चूर्णि में जो विधान किया है, उसका आप मक्खी एवं पागल साधु पर तो व्यवहार करते हैं, परन्तु गाय आदि पशुओं की रक्षा का प्रश्न आने पर इसमें पाप कहते हैं। यह केवल दृष्टि एवं दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

भ्रमविध्वंसनकार ने भी निशीथ चूर्णि को प्रमाण माना है, उन्होंने लिखा है—'कोलुण पडियाए रो अर्थ चूर्णि में अनुकम्पा-करुणा इज कियो छै।' उसी चूर्णि में प्रसंगवश पशु के बन्धन एवं विमोचन का भी विधान किया है। अतः उक्त चूर्णि की आधी बात मानना और आधी नहीं मानना, केवल साम्प्रदायिक अभिनिवेश मात्र है। वस्तुतः शास्त्र से मिलती हुई सभी चूर्णि मान्य हैं।

सुलसा के पुत्रों की रक्षा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १६८ पर लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो—सुलसा नी अनुकम्पा ने अर्थ देवकी पासे सुलसा ना मुआ बालक मेल्या। देवकी ना पुत्र सुलसा पासे मेल्या ए पिण अनुकम्पा कही। ए अनुकम्पा आज्ञा मांहि, के बाहरे? सावद्य, के निरवद्य छै? ए तो कार्य प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे सावद्य छै। ते कार्य नी देवता ना मन में उपनी जे ए दुःखिनी छै, तो एहनों ए कार्य करी दुःख मेटूं। ए परिणाम रूप अनुकम्पा पिण सावद्य छै।'

हरिणगमेशी देव ने अनुकम्पा करके छः बालकों के प्राण बचाए थे, इस अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है। ये छहों बालक चरमशरीरी थे और दीक्षा लेकर मोक्ष गए। यदि वह देव उनकी रक्षा नहीं करता, तो वे किस तरह जीवित रहते और दीक्षा लेकर मोक्ष जाते? अतः हरिणगमेशी देव ने बालकों पर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाए और सुलसा के दुःख की निवृत्ति की, उसे सावद्य कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उन बालकों की रक्षा करने के लिए देव ने जो आवागमन की क्रिया की, उसका नाम लेकर अनुकम्पा को सावद्य कहना मिथ्या है। अनुकम्पा के परिणाम आने-जाने की क्रिया से सर्वथा भिन्न हैं। अतः आवागमन की क्रिया से अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। तीर्थंकरों को वन्दन करने के लिए देव आते-जाते हैं, परन्तु उनकी इस क्रिया से वन्दन करना सावद्य नहीं होता। क्योंकि वन्दन करने की भावना आवागमन की क्रिया से भिन्न है। यदि आने-जाने की क्रिया से अनुकम्पा सावद्य होती है, तो देवों की आवागमन की क्रिया से तीर्थंकरों को किया जाने वाला वन्दन-नमस्कार भी सावद्य होगा? यदि आवागमन की क्रिया से तीर्थंकरों की वन्दना सावद्य नहीं होती, तो इससे अनुकम्पा भी सावद्य नहीं होगी।

हरिणगमेशी देव ने बालकों एवं सुलसा पर जो अनुकम्पा की, उसका यह परिणाम निकला कि छहों लड़के कंस की मृत्यु के भय से मुक्त हो गए और सुलसा भी आर्त-रौद्र ध्यान से मुक्त हो गई। अतः हरिणगमेशी देव की अनुकम्पा को सावद्य कहना आगम के अर्थ को नहीं जानने का परिणाम है।

अनुकम्पा सावद्य नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १६८ पर अन्तकृतदशांग के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कृष्णजी डोकरा री अनुकम्पा करी हस्ति स्कंध पर बैठा ईट उपाड़ि तिणरे घरे मूंकी, ए अनुकम्पा आज्ञा में के बाहिरे, सावद्य, के निरवद्य छै?'

श्रीकृष्णजी भगवान् नेमीनाथ को वन्दन करने जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने जरा से जीर्ण, अति दुःखी एवं कांपते हुए एक वृद्ध को देखा। उसे देख कर श्रीकृष्णजी के हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न हुई और उन्होंने अपने हाथ से ईट उठाकर बुड्ढे के घर पर रखी। उनकी यह अनुकम्पा स्वार्थ से रहित थी। परन्तु इसे सावद्य सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने यह तर्क दिया हैं—'साधु ईट उठाकर रखने की आज्ञा नहीं देते, इसलिए यह अनुकम्पा सावद्य थी।' यह तर्क पूर्णतः अनुचित है। ईंट उठाने की क्रिया सावद्य होने से अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुकम्पा के भाव क्रिया से भिन्न हैं।

श्रीकृष्णजी के मन में जब भगवान् के दर्शन की भावना उत्पन्न हुई, तब उन्होंने चतुरंगिणी सेना सजाई। साधु सेना सजाने की आज्ञा नहीं देते, परन्तु तीर्थकर के वन्दन को अच्छा समझते हैं। सेना सजाकर जाने पर भी तीर्थकर को वन्दन करने का कार्य सावद्य नहीं समझा जाता। क्योंकि वन्दन करने का भाव सेना सजाने की क्रिया से सर्वथा भिन्न है। उसी तरह साधु ईंट उठाने एवं रखने की आज्ञा नहीं देते, परन्तु अनुकम्पा करने की आज्ञा देते हैं। यदि ईंट उठाने की क्रिया से अनुकम्पा सावद्य होती है, तो सेना सजाकर वन्दन करने जाने से वन्दन भी सावद्य होगा। परन्तु जैसे सेना सजाकर जाने पर भी वन्दन सावद्य नहीं होता, उसी तरह ईंट उठाने से अनुकम्पा भी सावद्य नहीं हो सकती। अतः ईंट उठाने की क्रिया का नाम लेकर अनुकम्पा को सावद्य बताना मिथ्या है।

उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन में वन्दन का फल उच्च गोत्रबन्ध कहा है और भगवतीसूत्र में अनुकम्पा करने का फल साता वेदनीय कर्म का बन्ध बताया है। अतः दोनों कार्य प्रशस्त हैं। इसलिए वृद्ध पर की गई श्रीकृष्णजी की अनुकम्पा को सावद्य बताना भयंकर भूल है।

यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा की

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १६९ पर उत्तराध्ययन अ. १२, गाथा ८ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां हरिकेशी मुनि नी अनुकम्पा करी यक्षे विप्रां ने ताड़्या, ऊंधा पाड़्या, ए अनुकम्पा सावद्य छै, के निरवद्य छै? आज्ञा में छै के आज्ञा बाहिरे छै? ऐ तो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै।'

उत्तराध्ययनसूत्र की उक्त गाथा लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जक्खो तहिं तिंदुय रुक्खवासी, अणुकम्पओ तस्य महामुनिस्स।
पच्छायइत्ता नियगं सरीरं, इमाइ वयणाइ मुदाहरित्था।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १२, ८

तिंदुक वृक्ष पर निवसित यक्ष, जो उस महामुनि का अनुकम्पक एवं उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने वाला था, उसने अपने शरीर को छिपाकर ब्राह्मणों से इस प्रकार कहा।

प्रस्तुत गाथा का नाम लेकर आचार्यश्री भीखणजी और भ्रमविध्वंसनकार अनुकम्पा को सावद्य कहते हैं। वे कहते हैं—यक्ष ने ब्राह्मण-कुमारों को मारा-पीटा था, उसने हरिकेशी मुनि पर अनुकम्पा की'—परन्तु उनका यह कथन मिथ्या है। यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा करके ब्राह्मणों को सदुपदेश दिया था। जब ब्राह्मण-कुमार उसे मारने लगे, तब उसने भी मारने के प्रतिशोध में उन्हें मारा-पीटा, परन्तु अनुकम्पा के कारण नहीं मारा। आगम में अनुकम्पा करके मारने का नहीं, सदुपदेश देने का उल्लेख है।

समणो अहं संजयो बंभयारी, विरओ धण, पयण परिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्ख काले, अन्नस्स अट्ठा इह आगओमि।।
वियरिज्जइ, खज्जइ, भुज्जइ अन्नपभूयं भवयाणमेयं।
जाणाहि मे जायण जीविणुत्ति सेसावसेसं लहओ तवस्सी।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १२, ९-१०

मैं श्रमण हूँ, संयत—सर्व सावद्य योगों से निवृत्त हूँ, ब्रह्मचारी हूँ और धन, पचन, पाचन तथा परिग्रह से रहित हूँ। मैं आपके यहाँ भिक्षा के समय भिक्षार्थ आया हूँ। गृहस्थ अपने खाने के लिए जो आहार बनाते हैं, मैं उसकी भिक्षा लेने आया हूँ। इस यज्ञ स्थान में प्रचुर अन्न दीन, अनाथ एवं दरिद्रों को दिया जाता है, स्वयं खाया और खिलाया जाता है। यह सब अन्न आपका है। मैं भिक्षा-जीवी तपस्वी हूँ। अतः आपके यहाँ अवशिष्ट भोजन में से जो अवशेष रहा हुआ हो, वह मुझे मिलना चाहिए।

प्रस्तुत गाथा में यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा करके ब्राह्मणों को नम्रतापूर्वक मुनि को भिक्षा देने का उपदेश दिया है। यह उपदेश देना बुरा नहीं है। जैसे कोई व्यक्ति क्षुधातुर साधु को भिक्षा देने के लिए लोगों को उपदेश दे, तो वह

बुरा नहीं कहा जा सकता। उसी तरह मुनि को भिक्षा देने के लिए यक्ष का ब्राह्मणों को उपदेश देना बुरा नहीं है।

जब यक्ष के उपदेश से ब्राह्मण लोग समझे नहीं, बल्कि अधिक उत्तेजित होकर मारने को दौड़े, तब यक्ष ने भी क्रोधवश उनको मारा। यक्ष ने यह कार्य क्रोधवश किया था, अनुकम्पा करके नहीं। क्योंकि आगम में जहाँ मारने-पीटने का विषय आया है, वहाँ यह नहीं लिखा है कि यक्ष ने मुनि पर अनुकम्पा करके ब्राह्मण-कुमारों को मारा पीटा। अतः यक्ष का यह कार्य अनुकम्पा के कारण नहीं, क्रोधवश हुआ था। अनुकम्पा करके उसने ब्राह्मणों को उपदेश दिया था, मारा नहीं। अतः उसका यह मारने रूप कार्य सावद्य होने पर भी इसके पूर्व उसने ब्राह्मणों को जो उपदेश दिया था, वह सावद्य नहीं हो सकता।

जैसे कोई साधु-भक्त श्रावक साधु पर अनुकम्पा करके लोगों को भिक्षा देने का उपदेश दे, परन्तु उसके उपदेश को सुनकर लोग भिक्षा तो न दें, उल्टे उत्तेजित होकर मुनि को मारने के लिए दौड़ें। यह देखकर यदि वह भक्त भी लोगों को मारे-पीटे, तो उसके इस कार्य से, उसका प्रथम कार्य—साधु को भिक्षा देने का उपदेश देना बुरा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यक्ष ने जो ब्राह्मणों को मारा था, इससे उसका प्रथम कार्य—मुनि पर अनुकम्पा करके मुनि को भिक्षा देने का उपदेश देना सावद्य नहीं हो सकता। अतः उक्त गाथा का प्रमाण देकर हरिकेशी श्रमण पर की गई यक्ष की अनुकम्पा को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।

अनुकम्पा मोहरूप नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७० पर ज्ञातासूत्र के मूल पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां धारणी रानी गर्भ री अनुकम्पा करी मन गमता आहार जीम्या, ए अनुकम्पा सावद्य छै, के निरवद्य छे? ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै।'

ज्ञातासूत्र का पाठ और अर्थ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

तए णं सा धारणी देवी तं सि अकालदोहलंसि विणियंसि सम्माणिय दोहला तस्स गब्भस्स अणुकम्पणट्ठयाए, जयं चिट्ठइ, जयं आसइ, जयं सुवइ, आहारं पियणं आहारेमाणी नाइ तित्तं, नाइ कडुअं, नाइ कसायं, नाइ अंबिलं, नाइ महुरं। जं तस्स गब्भस्स हियं, मियं, पत्थयं, देसेय कालेय आहारं आहरेमाणी, णाइ चिन्तं, णाइ सोगं, णाइ देण्णं, णाइ मोहं,

णाइ भयं, णाइ परितासं, ववगय चिन्ता-सोग-मोह-भय-परित्ता सा भोयण छायणगन्ध-मल्लालंकारेहिं तं गब्भं सुहं-सुहेणं परिवहति।

—ज्ञातासूत्र, १, १७

इसके अनन्तर वह धारणी रानी अकाल दोहद को पूर्ण करके गर्भ की अनुकम्पा के लिए यत्ना से खड़ी होती, यत्नापूर्वक बैठती और यत्नापूर्वक शयन करती थी। वह मेधा और आयु को बढ़ाने वाले, इन्द्रियों के अनुकूल, निरोग और देश-काल के अनुसार न अधिक तिक्त, न अति कटु, न अति कषाय, न अति खट्टा, न अति मधुर पदार्थ खाती थी, परन्तु वह उस गर्भ के हितकारक, परिमित तथा पथ्य—आहार करती थी। वह अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह, अति भय तथा अति परित्रास नहीं करती थी। वह चिन्ता, शोक, मोह, भय और परित्रास से रहित होकर भोजन, आच्छादन, गन्ध, माल्य और अलंकारों से युक्त होकर सुखपूर्वक उस गर्भ का पालन करती हुई विचरती थी।

भ्रमविध्वंसनकार प्रस्तुत पाठ का नाम लेकर कहते हैं—'धारणी रानी ने गर्भ पर अनुकम्पा करके मन-वांछित आहार किया था।' परन्तु उक्त पाठ में मनोवांछित आहार करने का नहीं, प्रत्युत उसका त्याग करना तथा गर्भ के हितकारक आहार करने का लिखा है। अस्तु, भ्रमविध्वंसनकार का उक्त कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

धारणी ने गर्भ की अनुकम्पा के लिए अयत्ना से चलना, खड़े रहना एवं शयन करने का तथा चिन्ता, शोक, मोह और भय का त्याग कर दिया था। भ्रमविध्वंसनकार के मत से गर्भ की अनुकम्पा के लिए किए गए धारणी के उक्त कार्य भी सावद्य होने चाहिए। यदि उसका अयत्ना चिन्ता, शोक, मोह एवं भय आदि का त्याग करना सावद्य नहीं था, तो उसने जो गर्भ पर अनुकम्पा की, वह सावद्य कैसे हो सकती है?

इस पाठ में स्पष्ट लिखा है कि धारणी ने गर्भ पर अनुकम्पा करके मोह का त्याग कर दिया। फिर भी भ्रमविध्वंसनकार की बुद्धि को देखिए कि वह उसकी गर्भ-अनुकम्पा को मोह-अनुकम्पा कहते हैं। जो व्यक्ति अनुकम्पा के हेतु मोह करना छोड़ दे, उसकी उस अनुकम्पा को मोह-अनुकम्पा कहना कितनी असत्य कल्पना है?

धारणी रानी गर्भ पर अनुकम्पा करके गर्भ का हित करने वाला आहार करती थी। इस आहार करने की क्रिया का नाम लेकर गर्भ की अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है, क्योंकि गर्भ का आहार गर्भवती के आहार पर निर्भर है। यदि गर्भवती आहार न करे, तो गर्भ को भी आहार नहीं मिलेगा और

बिना आहार के गर्भ का जीव मर भी सकता है। और उसकी हिंसा का पाप गर्भवती को लगेगा। अतः गर्भ की हिंसा से निवृत्त होने तथा गर्भ की रक्षा के लिए धारणी का आहार करना एकान्त पापमय नहीं है। यदि गर्भवती श्राविका भोजन न करे, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है। क्योंकि अपने आश्रित प्राणी को भूखा रखना प्रथम व्रत का अतिचार है। इसलिए गर्भवती को उपवास भी नहीं करना चाहिए। परन्तु दया का उन्मूलन करने वाले व्यक्ति इस बात को नहीं समझते—वे गर्भवती बहिन को उपवास करने का उपदेश देते हैं और गर्भ के जीव पर दया नहीं करने को धर्म मानते हैं।

भगवतीसूत्र, श. १, उ. ७ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'माता के आहार में से गर्भ को आहार मिलता है।' अतः गर्भवती स्त्री को उपवास कराना या उसके आहार को छुड़ाना गर्भस्थ जीव को भूखा रखना है। अस्तु विवेकसम्पन्न सम्यग्दृष्टि कभी भी ऐसा कार्य नहीं करता।

यह सिद्धान्त केवल गर्भस्थ प्राणी के लिए ही नहीं, प्रत्युत अपने आश्रित द्विपद-चतुष्पद सभी प्राणियों के लिए है। श्रावक अपने अधीनस्थ किसी भी प्राणी को भूखा नहीं रखता। यदि वह उन पर अनुकम्पा नहीं करके उन्हें भोजन नहीं दे, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है। अतः धारणी के द्वारा गर्भ पर की गई अनुकम्पा को मोह एवं सावद्य अनुकम्पा कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अभयकुमार

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७० पर ज्ञातासूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां अभयकुमार नी अनुकम्पा करी देवता मेह बरसायो ए पिण अनुकम्पा कही। ते सावद्य छै, के निरवद्य छै? ए तो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै।'

अभयकुमार ने तीन दिन का उपवास किया और ब्रह्मचर्य धारण करके तीन दिन तक बैठा रहा। उसका कष्ट देखकर देवता के हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न हुई तथा अभयकुमार के जीव के साथ उसका जो पूर्वभव में स्नेह, प्रेम एवं बहुमान था, उसका स्मरण करके उसके मन में मित्र-विरह का क्षोभ भी हुआ। मूल पाठ में अनुकम्पा करके पानी बरसाने का नहीं कहा है। परन्तु अनुकम्पा करके पानी बरसाने की कल्पना भ्रमविध्वंसनकार की अपनी कपोलकल्पित है, इससे उसमें सत्यता का अभाव है। आगम में पानी बरसाने का कारण अनुकम्पा नहीं, प्रेम कहा है—

अभयकुमारमणुकम्पमाणे देवे पुव्वभव जणिय नेह पीई बहुमान जाय सोगे।

—ज्ञातासूत्र, अध्ययन १

हा तस्य अष्टमोपवासस्य रूपं कष्टं विद्यते इति विकल्पयन्।

मेरे मित्र को अष्टमोपवासजनित कष्ट हो रहा हैं, यह सोचते हुए देव के हृदय में पूर्वजन्म की प्रीति, स्नेह, बहुमान के स्मरण होने से उसे मित्र–विरह रूप खेद उत्पन्न हुआ।

प्रस्तुत प्रसंग में अनुकम्पा कर के पानी बरसाने का नहीं लिखा है। इसके आगे जहाँ पानी बरसाने का वर्णन आया है, वहाँ उसका कारण अनुकम्पा नहीं, प्रीति लिखा है।

अभयकुमारं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया! मए तव प्पिपट्टयाए सगज्जिया सफुसिया दिव्वा पाउससिरी विउव्विया।

—ज्ञातासूत्र, अ. १

देव ने अभयकुमार से कहा—हे देवानुप्रिय! मैंने तुम्हारे प्रेम के लिए गर्जन, विद्युत और जलबिन्दु–पात के साथ दिव्य वर्षा ऋतु की शोभा उत्पन्न की है।

प्रस्तुत पाठ में अभयकुमार के साथ प्रीति होने के कारण पानी बरसाना कहा है, अनुकम्पा के लिए नहीं। अतः अनुकम्पा से वर्षा करने की बात कहना आगम से सर्वथा विपरीत है।

जैसे गुणों से प्रेम रखने वाले देव तप–संयम से सम्पन्न मुनि पर अनुकम्पा करके उत्तर वैक्रिय शरीर बनाकर हर्ष के साथ उनके दर्शनार्थ आते हैं, उस समय उन देवों के गुणानुराग, मुनि पर अनुकम्पा भाव एवं साधु–दर्शन को वैक्रिय शरीर बनाने और आने–जाने की क्रिया करने के कारण आगमकार बुरा नहीं, श्रेष्ठ ही बताते हैं। क्योंकि उनका गुणानुराग, अनुकम्पा भाव एवं साधु–दर्शन उत्तर वैक्रिय करने एवं आवागमन की क्रिया से भिन्न है। इसी तरह अनुकम्पा आवागमनादि की क्रियाओं से सर्वथा भिन्न है। उक्त क्रियाएँ सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं होती। अतः अभयकुमार पर की गई देवता की अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है।

जिनरक्षित और रयणा देवी

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७१ पर ज्ञातासूत्र, अ. ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां रयणादेवी री अनुकम्पा करी जिनऋषि साहमो जोयो ए पिण अनुकम्पा कही। ए अनुकम्पा मोह कर्मरा उदय थी, के मोह कर्म रा क्षयोपशम थी? ए अनुकम्पा सावद्य, के निरवद्य छै? आज्ञा में छै, के आज्ञा बाहिरे छै? विवेक लोचने करी विचारी जोयजो।'

जिनरक्षित ने रयणादेवी पर अनुकम्पा करके देखा था, यह आगम का पाठ नहीं, केवल भ्रमविध्वंसनकार की असत्य कल्पना है, जिसके द्वारा वे जन–मन से दया के भाव का उन्मूलन करने का प्रयत्न करते हैं। आगम में इस जगह 'अनुकम्पा' नहीं 'समुपन्न कलुणभावं' पाठ आया है और इसमें प्रयुक्त 'कलुण' शब्द का अर्थ अनुकम्पा नहीं, करुण रस है। क्योंकि रयणादेवी पर जिनरक्षित के मन में अनुकम्पा उत्पन्न होने का यहाँ कोई प्रसंग नहीं था। परन्तु प्रेमिका के वियोग से प्रेमी के मन में जो करुण रस उत्पन्न होता है, उसकी वहाँ सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान थी। अतः जिनरक्षित के मन में अनुकम्पा का नहीं, करुण रस का प्रवाह प्रवहमान हुआ।

आगम में स्पष्ट शब्दों में लिखा है—'रयणादेवी के विचित्र हाव–भाव, कटाक्ष एवं मुख–सौन्दर्य का स्मरण करके तथा उसके मनोहर शब्द एवं आभूषणों की मधुर ध्वनि सुनकर जिनरक्षित के मन में करुण भाव उत्पन्न हुआ।' यह तो सूर्य के प्रखर प्रकाश की तरह स्पष्ट है कि प्रेमिका के हाव–भाव, कटाक्ष एवं मुख–सौन्दर्य के स्मरण करने एवं उसके मधुर शब्द तथा आभूषणों की मधुर ध्वनि सुनने से करुण रस ही उत्पन्न होता है, अनुकम्पा नहीं। अनुकम्पा के भाव प्रेमिका के विषय–वासना युक्त संकेतों को देखकर नहीं, दुःखी व्यक्ति की दुःखमय एवं कष्टमय आवाज को सुनकर या दुःखद स्थिति को देखकर जाग्रत् होते हैं। परन्तु यहाँ जिनरक्षित के सामने रयणादेवी की दुःखद जीवन की नहीं, प्रत्युत विषय–सुख भोगने की तस्वीर थी। ज्ञातासूत्र में भी लिखा है—

तएणं से जिणरक्खिए चल मणे तणेव भूसणरवेण कण्णसुह मनोहरेणं

तेहिय सप्पणय सरल महुर भासिएहिं संजाय विउणराए रयणदेवीस्स देवयाए तीसे सुंदर थण जहण वयण कर चरण नयण लावण्ण रूव जोवण सिरीं च दिव्वं सरभस उवगूहियाइं जातिं विव्वोय विल-सिताणिय विहसिय सकडक्खदिट्ठी निस्ससिय मलिय उवललिय ठिय गमण पणय खिज्जिय पासादियाणिय सरमाणे रागमोहियमइ अवसे कम्मवसगए अवयक्खति मग्गतो सविलियं। तत्तेणं जिणरक्खियं समुप्पण्ण कलुणभावं मच्चुगल्लत्थल्लणोल्लियमइं अवयक्खंतं तहेव जक्खेय सेलए जाणिऊण सणियं-सणियं उव्विहिति नियग पिट्ठाहिं विगय-सत्थं। तत्तेणं सा रयणदेवी देवता निस्संसा कलुणं जिणरक्खियं सकलुसा सेलग पिट्ठाहिं उवयंतं। दास! मओसीत्ति जम्पमाणी अप्पत्तं सागर सलिलं गेण्हिय वाहाहिं आरसंतं उड्ढं उव्विहिति अंबरतले ओवयमाणं च मंडलग्गेणं पडिच्छित्ता नीलुप्पणधवल अयसिप्पगासेण असिवरेण खंडाखंडिं करेंति।

—ज्ञाता सूत्र, अध्ययन ९

इसके अनन्तर जिनरक्षित का मन रयणादेवी पर चलायमान हो गया। रयणादेवी के कर्णमनोहर आभूषण के शब्द और प्रेम-युक्त सरल-मृदु वाणी से जिनरक्षित का राग-मोह रयणादेवी पर पूर्व से भी अधिक बढ़ गया। उसके सुन्दर स्तन, जंघा, मुख, हाथ, पैर और नयनों के लावण्य, उसके शरीर सौन्दर्य, दिव्य यौवन की शोभा का हर्षपूर्वक आलिंगन करना, स्त्री चेष्टा, विलास, मधुर हास्य, सकटाक्ष दर्शन, निश्वास, सुखद अंग स्पर्श, रतिकूजित अंक, आसनादि पर बैठना, हंसवत् चलना, प्रणय, क्रोध एवं प्रसन्नता आदि का स्मरण करके वह रयणादेवी पर मोहित हो गया और अपने-आप को वश में नहीं रख सका। जिनरक्षित अवश और कर्म के वशीभूत होकर पीछे आती हुई रयणादेवी को लज्जा के साथ देखने लगा।

इसके अनन्तर प्रेमिका के वियोग से जिसे करुण रस उत्पन्न हो गया था, मृत्यु के द्वारा जिसका कण्ठ पकड़ लिया गया था, जो यमपुरी की यात्रा के लिए तैयार हो गया था और जो प्रेमयुक्त नेत्रों से रयणादेवी को देख रहा था, ऐसे जिनरक्षित को उस शैलक यक्ष ने धीरे-धीरे अपनी पीठ पर से नीचे फेंक दिया। इसके अनन्तर मनुष्यों का वध करने वाली और द्वेषयुक्त हृदय वाली रयणादेवी ने शैलक यक्ष की पीठ पर से गिरते हुए करुण रस से युक्त उस जिनरक्षित को—अरे दास! मरा, ऐसे कहती हुई समुद्र में गिरने के पूर्व ही अपनी भुजाओं में ग्रहण करके उसे ऊपर आकाश में उछाल दिया और उसके पश्चात् उसे अपने तीक्ष्ण शूल के ऊपर रखकर तीक्ष्ण तलवार से उसके शरीर का खण्ड-खण्ड कर दिया।

इस पाठ में स्पष्ट लिखा है कि रयणादेवी के आभूषणों के मनोहर शब्द एवं उसके मधुर शब्दों को सुनकर उसका रयणादेवी पर पहले से भी अधिक राग हो

गया। उसके शारीरिक सौन्दर्य को देखकर वह उस पर मोहित हो गया और मोहित होकर उसकी ओर देखने लगा। यहाँ रयणादेवी पर मोहित होकर देखने को कहा है, अनुकम्पा करके देखने का नहीं। अतः उसे उस पर मोह उत्पन्न हुआ, अनुकम्पा नहीं।

प्रस्तुत पाठ में 'समुप्पन्न कलुणभावं' यह जिनरक्षित का विशेषण है। अतः इसका अर्थ—रयणादेवी पर प्रिय-वियोग से उत्पन्न होने वाले करुण रस की उत्पत्ति होना है। अनुयोगद्वारसूत्र में प्रिय के वियोग में करुण रस का उत्पन्न होना बताया है।

नव कव्व रसा पण्णत्ता, तं जहा—
वीरो, सिंगारो, अब्भुओ, रोद्दो, होइ बोद्धव्वो।
वेलेणओ, वीभच्छो, हासो, कलुणो, पसंतो अ।।

—अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १

काव्य के नव रस होते हैं—१. वीर, २. शृंगार, ३. अद्भुत, ४. रौद्र, ५. ब्रीडनक, ६. वीभत्स, ७. हास्य, ८. करुण और ९. प्रशान्त रस।

इस में प्रयुक्त करुण रस की उत्पत्ति का इसी पाठ में निम्न कारण बताया है—

पिय विप्पयोग बंध वह वाहि विणिवाय सम्भमुप्पण्णो।
सोइय विलविय अपम्हाण रुण्णलिंगो रसो करुणो।।
पज्झाय किलामिअयं वाहागय पप्पु अच्छियं बहुसो।
तस्स वियोगे पुत्तिय दुव्वलयंते मुहं जायं।।

—अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६-१७

प्रिय के साथ वियोग होने से तथा बन्धन, वध, व्याधि, पुत्रादि मरण और पर-राष्ट्र के भय से करुण रस उत्पन्न होता है।

चिन्ता करना, विलाप करना, उदास होना और रोगी होना इसके लक्षण हैं। इसका उदाहरण यह है—प्रिय वियोग से दुःखित बाला को कोई वृद्धा कहती है—हे पुत्री! अपने प्रिय की अत्यन्त चिन्ता करने से तेरा मुख खिन्न हो गया है और अविरल अश्रुधारा से तेरी आँखें सदा सजल रहती हैं।

प्रस्तुत गाथाओं में प्रिय के वियोग से करुण रस की उत्पत्ति बताकर वियोग से अत्यन्त दुःखित बाला का उदाहरण दिया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि रयणादेवी के वियोग से जिनरक्षित के हृदय में करुण रस की उत्पत्ति हुई थी, अनुकम्पा की नहीं। अतः करुण रस को अनुकम्पा बताकर अनुकम्पा को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।

भक्ति और नाटक

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७५ पर राजप्रश्नीय के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे सूर्याभ री नाटक रूप भक्ति कही। तेहनी भगवान् आज्ञा न दीधी। अनुमोदना पिण न कीधी। अने सूर्याभ वन्दना रूप सेवा-भक्ति किधी तिहां एवो पाठ छै—**अब्भणुणायमेयं सुरियाभा** एवं वन्दना रूप भक्ति री म्हारी आज्ञा छै। इम आज्ञा दीधी तो ए वन्दना रूप भक्ति निरवद्य छै, ते माटे आज्ञा दीधी। अने नाटक रूप भक्ति सावद्य छै। ते माटे आज्ञा न दीधी। अनुमोदना पिण न कीधी। जिम सावद्य-निरवद्य भक्ति छै—तिम अनुकम्पा पिण सावद्य-निरवद्य छै। कोई कहे सावद्य अनुकम्पा किहां कही छै, तेहने कहिणो सावद्य भक्ति किहां कही छै?'

राजप्रश्नीय सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

'तए णं से सूरियाभे देवे समणे णं भगवया महावीरे णं एवं वुत्ते समाणे हट्ठ-तुट्ठ चित्तमाणंदिए परम सोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसंति एवं वयासि तुब्भे णं भन्ते! सव्वं जाणह, सव्वं पासह, सव्वं कालं जाणह, सव्वं कालं पासह, सव्वे भावे जाणह, सव्वे भावे पासह। जाणंति णं देवाणुप्पिया! मम पुव्विं वा पच्छा वा ममेयं रूवं, दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देव जुइं, दिव्वंदेवाणुभागं लद्धं-पत्तं अभिसमण्णागयं त्ति तं इच्छामि णं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुव्वगं गोतमादियाणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढिं, दिव्वं देवजुइं, दिव्वं देवाणुभागं, दिव्वंबत्तीसति बद्धं नट्टविहिं उवदंसित्तए। तए णं समणे भगवं महावीरे सूर्याभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एवमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणाइ तुसिणिए सोचिट्ठइ।'

—राजप्रश्नीयसूत्र, २२

श्रमण भगवान् महावीर से इस प्रकार सुनकर सूर्याभदेव हृष्ट-तुष्ट और आनन्दित होकर, भगवान् को वन्दन-नमस्कार करके कहने लगा—हे भगवन्!

आप सबकुछ, सब काल तथा सब भावों को जानते-देखते हैं, मुझे सदा-सर्वदा इस प्रकार की दिव्य ऋद्धि, देव-द्युति और देव-प्रभाव प्राप्त है, यह भी आप जानते-देखते हैं। अतः आपको भक्तिपूर्वक मैं गौतम आदि निर्ग्रन्थों को दिव्य देव-ऋद्धि, देव-द्युति, देव-प्रभाव एवं बत्तीस प्रकार की नाट्य विधि दिखाना चाहता हूँ। यह सुनकर भगवान् ने उसके कथन का आदर नहीं किया, अनुमोदन भी नहीं किया किन्तु मौन रहे।

इस पाठ में सूर्याभ ने भक्तिपूर्वक नाटक दिखाने की बात कही, परन्तु भक्ति को ही नाटक नहीं कहा है। यदि नाटक ही भक्ति होता, तो इस पाठ में नाटक का **भत्तिपुव्वगं** के स्थान पर **भत्तिरूवं** ऐसा विशेषण आता। परन्तु यहाँ **भक्तिपूर्वक** यह विशेषण आया है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटक अलग वस्तु है और भगवान् की भक्ति उससे भिन्न है। वीतराग में परमानुराग रखना उनकी भक्ति है। और वेश-भूषा एवं भाषा के द्वारा किसी श्रेष्ठ पुरुष का अनुकरण करना नाटक है। नट नाटक के पूर्व विघ्न निवारणार्थ भगवान् की भक्ति करता है। यदि नाटक स्वयं भक्ति स्वरूप होता, तो उसे नाटक के पूर्व भगवान् की भक्ति करने की क्या आवश्यकता है? राग आदि वासना के उदय से नाटक किया एवं देखा जाता है, परन्तु वीतराग की भक्ति राग आदि वासना का क्षयोपशम होने से की जाती है। अतः भगवद्भक्ति एवं नाटक—दोनों एक नहीं, परस्पर भिन्न हैं। अतः भगवान् ने भक्ति करने की आज्ञा दी थी, परन्तु नाटक करने की नहीं। अस्तु, नाटक को ही भक्ति बताना भारी भूल है।

उक्त पाठ की टीका में लिखा है—नाटक स्वाध्याय का विघातक है और भगवान् वीतराग थे, इसलिए उन्होंने नाटक की आज्ञा नहीं दी। यदि नाटक ही भक्ति होता, तो टीकाकार स्पष्ट लिख देते—नाटक रूप भक्ति सावद्य है, इसलिए वीतराग ने आज्ञा नहीं दी।

ततः श्रमणो भगवान् सूर्य्याभेन एवमुक्तः सन् सूर्य्याभस्स देवस्यैनमनंतरोदितमर्थं नाद्रियते न तदर्थ करणायादरपरो भवति नापि परिजानाति अनुमन्यते स्वतो वीतरागत्वात् गौतमादीनां च नाट्य विधेः स्वाध्यायादि विघात कारित्वात्। केवलं तुष्णीकोऽवतिष्ठते।

—राजप्रश्नीय, २२ टीका

सूर्याभ देव के ऐसा कहने पर भगवान् महावीर ने उसके कथन का आदर एवं अनुमोदन नहीं किया। भगवान् स्वयं वीतराग थे और नाटक गौतमादि मुनियों के स्वाध्याय का विघातक था। अतः वे इस विषय में मौन रहे।

प्रस्तुत टीका में नाटक की आज्ञा नहीं देने का कारण भगवान् का वीतराग होना एवं नाटक का गौतमादि के स्वाध्याय का विघातक होना बताया है। परन्तु उससे वीतराग भक्ति का सावद्य होना नहीं बताया है। अतः नाटक को भक्ति मानकर, उसकी आज्ञा न देने से भक्ति को सावद्य कहना भारी भूल है। न तो मूल पाठ में नाटक को भक्ति रूप कहा है और न टीकाकार ने ही भक्ति को सावद्य कहा है। अतः उक्त पाठ का प्रमाण देकर वीतराग-भक्ति को सावद्य कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सेवा और प्रताड़न

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७६ पर उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १२ गाथा, ३२ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे हरिकेशी मुनि कह्यो—ए छात्रां ने हण्या ते यक्षे ब्यावच कीधी छै, पर म्हारो दोष तीनु ही काल में नथी। इहां ब्यावच कही ते सावद्य छै, आज्ञा बाहर छै, अने हरिकेशी आदि मुनि ने अशनादिक दान रूप जे ब्यावच ते निरवद्य छै। तिम अनुकम्पा पिण सावद्य-निरवद्य छै।'

यक्ष ने जो ब्राह्मण-कुमार को मारा था, उसे मुनि की वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा कहना मिथ्या है। क्योंकि वैयावृत्य और मारना दोनों एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। आगम में मारने को वैयावृत्य नहीं कहा है।

ईसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १२, २४

ऋषि की वैयावृत्य करने हेतु यक्ष ब्राह्मण-कुमारों का निवारण करने लगा।

प्रस्तुत पाठ में वैयावृत्य के लिए ब्राह्मण-कुमारों को मारना कहा है, न कि मारने को ही वैयावृत्य कहा है। जैसे भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए जहाँ देवों ने वैक्रिय समुद्घात किया है, वहाँ **वन्दनवत्तियाए** पाठ आया है, वैसे ही यहाँ **वेयावडियट्ठयाए** पाठ आया है। अतः जैसे भगवान् को वन्दन करने के लिए देवों द्वारा कृत-वैक्रिय समुद्घात वन्दनस्वरूप नहीं है, किन्तु उससे भिन्न है। उसी तरह मुनि का वैयावृत्य करने हेतु यक्ष के द्वारा ब्राह्मणों को प्रताड़ित करना वैयावृत्यस्वरूप नहीं, किन्तु उससे भिन्न है।

इतना स्पष्ट होने पर भी यदि कोई दुराग्रहवश मारने को ही वैयावृत्य कहे, तो उन्हें भगवान् के वन्दन के निमित्त देवों द्वारा कृत-वैक्रिय समुद्घात को भी वन्दनस्वरूप मानना पड़ेगा। और भगवान् का वन्दन भी वैक्रिय समुद्घातस्वरूप होने से सावद्य मानना होगा। जब वैक्रिय समुद्घात वन्दन-स्वरूप नहीं, किन्तु उससे भिन्न मानते हो, तब वैयावृत्य को भी मारने से भिन्न मानना होगा।

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि ने भी ब्राह्मणों को मारने के कार्य को अपनी वैयावृत्य नहीं कहा है।

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च,
मनप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेंति,।
तम्हा हु ए–ए निहया कुमारा।।

—उत्तराध्ययनसूत्र,. १२, ३२

हरिकेशी मुनि ने ब्राह्मणों से कहा—आपके प्रति मेरे मन में न कभी द्वेष था, न अब है और न भविष्य में होगा। यह यक्ष मेरी वैयावृत्य करता है, इसलिए ये लड़के मारे गए।

यहाँ मुनि ने यह नहीं कहा कि यक्ष ने जो ब्राह्मण–कुमारों को मारा है, वह मेरा वैयावृत्य है। इसलिए मारने को वैयावृत्य मानना भारी भूल है। यद्यपि यक्ष ने मुनि की सेवा करने के लिए ब्राह्मण–कुमारों को प्रताड़ित किया, तथापि जैसे तीर्थकर को वन्दन करने के लिए देवों द्वारा कृति–वैक्रिय समुद्घात वन्दन से भिन्न है, उसी तरह प्रताड़न की क्रिया वैयावृत्य से भिन्न है। आज–कल भी श्रावक लोग मोटर–कार, रेल, हवाई जहाज आदि विभिन्न वाहनों में बैठकर मुनियों के दर्शनार्थ दूर–दूर जाते हैं, उनका आना–जाना दर्शनार्थ ही होता है, फिर भी जैसे आवागमन रूप क्रिया से मुनि–दर्शन भिन्न है, उसी तरह सेवा की भावना मारने से भिन्न है। और मुनि के दर्शन के समान मुनि का वैयावृत्य भी निरवद्य ही है, सावद्य नहीं।

यदि कोई यह कहे—'मुनि का वन्दन तो हम अपने लिए करते हैं, परन्तु वैयावृत्य अपने लिए नहीं, मुनि के लिए करते हैं, अतः वन्दन और वैयावृत्य एक–से नहीं हैं।' यह कथन अनुचित है। क्योंकि वैयावृत्य भी वन्दन के समान अपने लाभ के लिए किया जाता है। वैयावृत्य करने से जो निर्जरा होती है, वह वैयावृत्य करने वाले के कर्मो की ही होती है। अतः वैयावृत्य को बारह प्रकार की निर्जरा में सम्मिलित किया गया है। मुनि तो वैयावृत्य करने के लिए एक निमित्त मात्र है। अतः मुनि का वैयावृत्य भी वन्दन के समान निरवद्य है। और वह अपने लिए ही किया जाता है। अतः यक्ष के द्वारा प्रताड़ित ब्राह्मण–कुमारों के प्रताड़न को वैयावृत्यस्वरूप मानकर उसे सावद्य बताना एवं उसका दृष्टान्त देकर अनुकम्पा को सावद्य कहना आगम से सर्वथा विपरीत है।

शीतल लेश्या

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७७ पर लिखते हैं—

'वली केतला एक कहे—गोशाला ने भगवान् बचायो, ते अनुकम्पा कही छै, ते माटे धर्म छै। तेहनो उत्तर—जो ए अनुकम्पा में धर्म छै, तो अनुकम्पा तो घणे ठिकाणे कही छै' इत्यादि लिखकर बूढ़े पर कृष्णजी की और सुलसा पर हरिणगमेशी आदि की अनुकम्पा का दृष्टान्त देकर भगवान् ने जो गोशालक पर अनुकम्पा की उसे सावद्य बताया है।

भगवान् ने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये थे। इस अनुकम्पा को सावद्य कहना अनुकम्पा के प्रति विद्वेष भाव अभिव्यक्त करना है। प्रश्नव्याकरण के पाठ का प्रमाण पहले दे चुके हैं कि मरते हुए जीव पर दया करके उसकी प्राण-रक्षा करना आगम का प्रमुख उद्देश्य है। इसी भाव से भगवान् ने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाए थे।

यदि कोई यह कहे कि गोशालक को बचाने के लिए भगवान् को शीतल लेश्या प्रकट करनी पड़ी और शीतल लेश्या प्रकट करने से जीवों की विराधना होती है। इसलिए भगवान् द्वारा की गई अनुकम्पा निवरद्य नहीं, सावद्य है। उनका यह कथन असत्य है। क्योंकि शीतल लेश्या से जीवों की विराधना नहीं, प्रत्युत रक्षा ही होती है। अतः शीतल लेश्या का नाम लेकर अनुकम्पा को सावद्य कहना भारी भूल है। शीतल लेश्या से जीवों की विराधना नहीं होती, इसलिए आगे लब्धि प्रकरण में विस्तार से विचार करेंगे।

श्रीकृष्णजी ने वृद्ध पर जो अनुकम्पा की थी, वह भी सावद्य नहीं है। ईट उठाने की क्रिया अनुकम्पा से भिन्न है। इसलिए ईट उठाने की क्रिया सावद्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती। इस विषय को एवं हरिणगमेशी देव आदि की अनुकम्पा के विषय को पीछे के अध्यायों में स्पष्ट कर चुके हैं। अतः श्रीकृष्णजी आदि की अनुकम्पा के उदाहरण देकर भगवान् महावीर द्वारा गोशालक पर की गई अनुकम्पा को सावद्य बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अनुकम्पा और क्रिया

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १७८ पर लिखते हैं—

'ए कार्य नी मन में उपनी हियो कम्पायमान हुयो ते माटे ए अनुकम्पा पिण सावद्य छै। इहां अनुकम्पा अने कार्य संलग्न छै। जे कृष्णजी ईंट उपाड़ी तो अनुकम्पा ने अर्थे **अणुकम्पणट्ठयाए** एहवूं पाठ कह्यो। ते अनुकम्पा ने अर्थे ईंट उपाड़ी मूकी इम, ते माटे ए कार्य थी अनुकम्पा संलग्न छै। ए कार्य रूप अनुकम्पा सावद्य छै। इम हरिणगमेशी देव तथा धारणी अनुकम्पा कीधी तिहाँ पिण 'अणुकम्पणट्ठयाए' पाठ कह्यो। ते माटे अनुकम्पा पिण सावद्य छै। जिम भगवती श. ७, उ. २ कह्यो **जीवदव्वट्ठयाए सासए, भावट्ठयाए असासए**— जीव द्रव्यार्थ सासतो भावार्थे आसासतो कह्यो। ते द्रव्य-भाव जीव थी न्यारा नहीं। तिम कृष्णादि जे सावद्य कार्य किया ते तो अनुकम्पा अर्थे किया, ते माटे ए कार्य थी अनुकम्पा न्यारी न गिणवी।'

अनुकम्पा के निमित्त जो कार्य किया जाता है, वह कार्य यदि अनुकम्पा से भिन्न नहीं है, तो फिर भगवान् महावीर एवं साधुओं के दर्शनार्थ जो कार्य किया जाता है, वह भी उनके दर्शन से भिन्न नहीं होना चाहिए। जैसे अनुकम्पा के निमित्त की जाने वाली क्रिया से भ्रमविध्वंसनकार अनुकम्पा को सावद्य कहते हैं, उसी तरह दर्शन के निमित्त की जाने वाली क्रिया के कारण दर्शन को भी सावद्य कहना चाहिए। जैसे कृष्णजी के द्वारा की गई अनुकम्पा के विषय में 'अणुकम्पणट्ठयाए' पाठ आया है, उसी तरह कौणिक राजा ने भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चतुरंगिणी सेना सजाई थी, और अपने शहर का संस्कार कराया था, वहाँ भी, **निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवन्दए** पाठ आया है। यहाँ कौणिक ने भगवान् महावीर के दर्शनार्थ सेना को सजाने और नगर का संस्कार करने की आज्ञा दी है। अतः वन्दन के निमित्त किए जाने वाले इस कार्य से वन्दन को संलग्न मानना होगा। और उक्त क्रिया से संलग्न होने के कारण वंदन को सावद्य भी मानना होगा। यदि वंदन के लिए किए जाने वाले कार्य से उसे संलग्न एवं सावद्य नहीं मानते, तो अनुकम्पा के लिए किए जाने वाले कार्य से अनुकम्पा को भी उस कार्य से संलग्न एवं सावद्य नहीं मानना चाहिए।

वस्तुतः जैसे भगवान् को वन्दन करने के लिए किए जाने वाले कार्य वन्दन से भिन्न हैं और भिन्न होने के कारण वे सावद्य एवं आज्ञा बाहर होने पर भी उनसे वन्दन सावद्य एवं आज्ञा बाहर नहीं होता। उसी तरह अनुकम्पा के लिए भी की जाने वाली क्रिया अनुकम्पा से भिन्न है। अतः भिन्न होने के कारण वह क्रिया सावद्य एवं आज्ञा बाहर होने पर भी उससे अनुकम्पा सावद्य एवं आज्ञा बाहर नहीं हो सकती। भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए कौणिक ने चतुरंगिणी सेना सजाई थी और अपने नगर को संस्कारित कराया था।

तए णं से कुणिए राया भंभसार पुत्ते बलबाउअं आमंतेइ–आमं तेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! अभिसेक्कं हत्थिरयणं परिकप्पेहि हय, गय, रह, पवर जोह, कलिअं च चाउरंगिणीं सेण्णं सन्नाहीहि। सुभद्दा पमुहाणय देवीणं बाहिरियाउ उवट्ठाण सालाए पाडिएक्क–पाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह। चम्पं नयरीं सब्भिंतर बाहिरियं आसित्त सित्त सुइ समट्ठ रथंतरावण वीहियं मंचाई मंच कलियं नानाविहराग उच्छिय झय पडागाइ पडागमंडियं लाउल्लोइयमहियं गोसीस सरस रत्तचंदन जाव गंधवट्टिभूयं करेह–कारवेह, करित्ता–कारवेत्ता ए असाणात्तियं पचपिण्णाहि, निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवन्दए।'

—उववाई सूत्र, ३०

इसके अनन्तर बिम्बसार के पुत्र कौणिक राजा ने अपने सेनापति को बुलाकर कहा—हे देवानुप्रिय! मेरे प्रधान हस्ती रत्न को शीघ्र तैयार करो और हाथी, घोड़े, रथ तथा योद्धाओं से युक्त चतुरंगिणी सेना सजाओ। सुभद्रा आदि रानियों के जाने के लिए प्रत्येक के निमित्त अलग–अलग रथ तैयार करो। झाड़ू से कूड़ा–करकट साफ करवाकर सिंचन–लेपन आदि से चम्पा नगरी के बाजार, सड़क एवं गलियों का संस्कार कराओ। सेना की यात्रा को देखने हेतु आने वाले दर्शकों के बैठने के लिए मंच आदि बंधा दो। नगर को कृष्णागुरु धूप आदि से सुगन्धित करो। मेरी इस आज्ञा का शीघ्र पालन कराकर मुझे सूचना दो। मैं श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए जाऊंगा।

प्रस्तुत पाठ में कौणिक ने भगवान् के दर्शनार्थ सेना को सजाया एवं नगर को साफ तथा सुवासित करवाया।

सूर्याभदेव ने भी भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए जाते समय सुघोष नामक घण्टा बजाकर देवों को सूचित किया था।

सूरियाभे देवे गच्छइ णं भो सूरियाभे देवे! जम्बूदीपं २ भारहं–वासं आमलकप्पं नयरीं अम्बासालवणं चेइयं समणं भगवं महावीरं अभिवन्दए। तं तुब्भेऽपि णं देवाणुप्पिया! सव्विड्ढिए अकाल परिहीणा चेव सूरियाभस्स अंतियं पाउब्भवइ।

—राजप्रश्नीयसूत्र, २२

सूर्याभदेव ने भगवान् महावीर को वन्दन करने के लिए जाते समय सुघोष नामक घण्टा बजाकर अपने विमानवासी देवों को सूचित किया—हे देवानुप्रिय!

सूर्याभदेव जम्बूद्वीप में स्थित भारतवर्ष में भगवान् महावीर को वन्दन करने हेतु आम्रकल्पा नगरी के आम्रशाल वन में जा रहा है। अतः आप भी अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि से युक्त होकर शीघ्र ही सूर्याभदेव के समीप आ जाएँ।

यहाँ सूर्याभदेव के हृदय में जब भगवान् के दर्शन की भावना उत्पन्न हुई, तब उसने सुघोष नामक घण्टा बजाकर अपने विमान में स्थित सब देवों को इसकी सूचना दी। साधु घण्टा बजाने की आज्ञा नहीं देते, इसलिए यह कार्य आज्ञा-बाहर है और भ्रमविध्वंसनकार के मतानुसार वन्दन के कार्य के साथ संलग्न है। क्योंकि जैसे अनुकम्पा के भाव आने से अनुकम्पा का कार्य किया जाता है, उसी तरह वन्दन के भाव आने पर वन्दन को जाने के लिए सुघोष घण्टा बजाकर अन्य देवों को सूचित किया। यदि कार्य करने मात्र से अनुकम्पा सावद्य है, तो फिर इस कार्य से वन्दन भी सावद्य होना चाहिए। यदि वन्दन घण्टा बजाने के कार्य से भिन्न होने से सावद्य नहीं है, तो इसी प्रकार अनुकम्पा भी उसके लिए की जाने वाली क्रिया से भिन्न होने के कारण सावद्य नहीं है।

सूर्याभदेव की आज्ञा प्राप्त कर जब देव भगवान् के दर्शनार्थ गए, उस समय का वर्णन आगम में इस प्रकार मिलता है—

एयमट्ठं सोच्चा-णिसम्म हट्ठ-तुट्ठ जाव हियया अप्पेगइया वन्दन-वत्तियाए, अप्पेगइया पूयणवत्तियाए, अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए, अप्पेगइया असुयाइं सुणिस्सामो, सुयाइं अट्ठाइं, हेउइ पासिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगइया सूरियाभस्स वयणमणुवत्तमाणा, अप्पेगइया अन्न-मन्न मणुयतमाणा, अप्पेगइया जिणभत्तिरागेणं, अप्पेगइया धम्मोत्ति, अप्पेगइया जियमेयंत्ति कट्टु सव्विड्ढिए जाव अकाल परिहीणा चेव सूरियाभस्स देवस्स अन्तियं पाउब्भवंति।

—राजप्रश्नीयसूत्र, २२

यह सुनकर हृष्ट-तुष्ट हृदय वाले देवगण—कोई भगवान् को वन्दन करने, कोई उनकी पूजा करने, कोई सत्कार-सम्मान करने, कोई कौतूहल देखने, कोई अश्रुत उपदेश सुनने और श्रुत विषय में रहे हुए संदिग्ध अर्थ को पूछने, कोई सूर्याभ या अपने मित्र की आज्ञा का पालन करने तथा कोई भगवद्-भक्ति के अनुराग से, कोई धर्म समझकर एवं कोई अपना जीत आचार है ऐसा जानकर भगवान् का दर्शन करने हेतु सम्पूर्ण ऋद्धि से युक्त होकर सूर्याभदेव के निकट उपस्थित हुए।

इस पाठ में बताया है कि देव देवऋद्धि से सम्पन्न होकर भगवान् के दर्शनार्थ जाने के लिए सूर्याभदेव के पास आए। अस्तु, देवों के मन में जब भगवान् को वन्दन-नमस्कार करने, उनका सत्कार-सम्मान एवं सेवा-शुश्रूषा करने के भाव उत्पन्न हुए तब वे सूर्याभ के पास एकत्रित हुए। अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से भगवान् का वन्दन भी सावद्य सिद्ध होगा। क्योंकि साधु किसी को कहीं आने-जाने की आज्ञा नहीं देते। यदि वन्दन आवागमन की क्रिया से भिन्न है, इसलिए क्रिया के सावद्य होने पर भी वन्दन सावद्य नहीं होता, तो अनुकम्पा के भाव भी क्रिया से भिन्न होने के कारण सावद्य नहीं हो सकते।

भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन भी सत्य नहीं है—'जिस कार्य की मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप का कार्य है।' क्योंकि मुनि किसी गृहस्थ को साधु के दर्शनार्थ जाने की आज्ञा नहीं देते, तथापि साधु का दर्शन करने के लिए जाना एकान्त पाप का कार्य नहीं है। इस विषय में भगवती एवं राजप्रश्नीयसूत्र में लिखा है—

तहारूवाणं अरिहंताणं भगवंताणं नाम गोयस्स वि सवणयाए महाफलं। किमंग पुण अभिगमण वन्दण-नमंसण परिपुच्छण पज्जुवासणाए!

तथारूप के अरिहन्त भगवन्त के नाम गोत्र का श्रवण करने से भी महाफल होता है। तब फिर उनके सम्मुख जाकर वन्दन-नमस्कार करने, कुशल प्रश्न पूछने एवं सेवा-शुश्रूषा करने से तो कहना ही क्या! उससे तो अवश्य ही महाफल का लाभ होता है।

साधु किसी व्यक्ति को अरिहन्तों के सम्मुख जाने की आज्ञा नहीं देते, तब भी आगम में अरिहंतों के सम्मुख जाने से महान् फल की प्राप्ति होना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस कार्य के लिए साधु आज्ञा प्रदान नहीं करते, उसमें एकान्त पाप ही होता है, यह नियम नहीं है। अतः आज्ञा बाहर के सब कार्यों को एकान्त पाप कहना तथा इसके आधार पर अनुकम्पा करने में एकान्त पाप की प्ररूपणा करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।
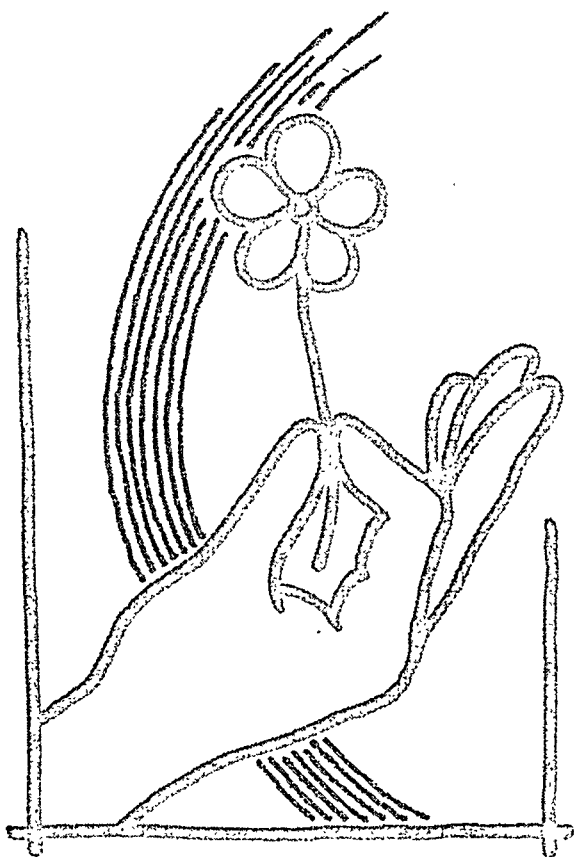
लब्धि-अधिकार

शीतल लेश्या और तेज-समुद्घात

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं—'भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में शीतल लेश्या को प्रकट करके गोशालक की प्राण-रक्षा की थी, इसमें भगवान् को जघन्य तीन और उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगी थीं। क्योंकि पन्नवणा, पद ३६ में तेज-समुद्घात करने से जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाओं का लगना लिखा है। शीतल लेश्या भी तेजोलेश्या ही है, अतः उसमें भी तेज-समुद्घात होता है। इसलिए भगवान् ने शीतल लेश्या प्रकट करके, जो गोशालक की रक्षा की उसमें उन्हें जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगीं।'

आगम में तेज-समुद्घात करने से जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगने का कहा है। परन्तु उष्ण-तेजोलेश्या प्रकट करने में तेज-समुद्घात होता हैं, शीतल लेश्या के प्रकट करने में नहीं। भगवतीसूत्र में उष्ण-तेजोलेश्या के प्रकट करने में तेज-समुद्घात बताया है, शीतल लेश्या में नहीं।

तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ-पासइत्ता ममं अंतियाओ तुसिणियं-तुसिणियं पच्चोसक्कसि जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ-उवागच्छइत्ता, वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी—किं भवं मुणी-मुणिए उदाहु जूयासेज्जायर?

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं नो आढाइ, नो परिजाणइ, तुसिणीए संच्चिट्ठइ।

तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयासी किं भवं मुणी-मुणिए जाव सेज्जायरए?

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चंपि तच्चंपि एवं वत्ते समाणे आसुरत्ते जाव मिस-मिसे माणे आयावण भूमिओ पच्चोसक्कइ २ त्ता तेयासमुग्घाएणं संमोहणइ-संमोहणइत्ता सत्तट्ठ पयाइं पच्चोसक्कइ-पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वहाए सरीरगं तेय लेस्सं निस्सरई। तए णं अहं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स

अणुकम्पणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवसिस्ससा उसिण तेयलेस्सा पडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलीयं तेयलेस्सं निस्सरामि। जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बालतवसिस्स सा उसिण तेय लेस्सा पडिहया।

—भगवतीसूत्र, १५, १, ५४३

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्र ने वैश्यायन बाल तपस्वी को देखा और धीरे-धीरे मेरे पास से हट कर उसके पास गया। वहाँ जाकर गोशालक ने उस तपस्वी से कहा—'तुम मुनि हो या जूं आदि जीवों के शय्यान्तर हो? यह सुनकर उस तपस्वी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु मौन रहा। परन्तु गोशालक ने इस वाक्य को दो-तीन बार दुहराया। यह सुनकर क्रोध के वश मिस-मिस करते हुए उस तपस्वी ने आतापना भूमि से पीछे हटकर तेज-समुद्घात किया और तेज-समुद्घात करके सात-आठ पैर पीछे हटकर गोशालक का वध करने के लिए अपने शरीर से सम्बन्धित तेज को गोशालक पर फेंका।

हे गौतम! उस समय गोशालक की अनुकम्पा करने के लिए मैंने उसकी ओर आती हुई उष्ण-तेजोलेश्या के निवारणार्थ शीतल लेश्या छोड़ी। मेरी शीतल लेश्या से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण-तेजोलेश्या प्रतिहत हो गई।'

प्रस्तुत पाठ में उष्ण-तेजोलेश्या के वर्णन में तेज-समुद्घात करने का उल्लेख है, परन्तु शीतल लेश्या का प्रयोग करने में नहीं। अतः शीतल लेश्या का प्रयोग करने में तेज-समुद्घात होने की कल्पना करना आगम-विरुद्ध है। जब शीतल लेश्या का प्रयोग करने में तेज-समुद्घात ही नहीं होता, तब उसमें जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ कैसे लग सकती हैं?

तेज-समुद्घात

'तेज-समुद्घात' का सप्रमाण अर्थ बताएँ, जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि शीतल लेश्या का प्रयोग करने में तेज-समुद्घात क्यों नहीं होता?

प्राचीन आचार्यों ने तेज-समुद्घात का अर्थ इस प्रकार किया है—

तेजो निसर्ग लब्धिमान् क्रुद्धः साध्वादि सप्ताष्टौपदानि अवष्वक्य त्रिष्कंभ वाहल्याभ्यां शरीरमानमायामतस्तु संख्येय योजन प्रमाणं जीवप्रदेशदण्डं शरीराद्बहिः प्रक्षिप्य क्रोधविषयीकृतं मनुष्यादिं निर्दहति, तत्र च प्रभूतास्तैंजस शरीरनाम कर्म पुद्गलान् शातयति।

—प्रवचनसारोद्धार, द्वार २३१

तेजोलब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात-आठ पैर पीछे हटकर अपने शरीर के समान स्थूल और विस्तृत तथा संख्यात योजनपर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्ड को बाहर निकाल कर, क्रोध विषयीभूत मनुष्य आदि को जला देता है। इसमें बहुत-से तैजस शरीर नामक पुद्गल अलग हो जाते हैं, इसलिए इसे तेज-समुद्घात कहते हैं।

इसमें तेजोलब्धिधारी साधु क्रोधित होकर किसी को जलाने के लिए जो उष्ण-तेजोलेश्या का प्रक्षेप करता है, उसमें तेज-समुद्घात का होना कहा है। परन्तु किसी मरते हुए प्राणी के प्राणों की रक्षा करने के लिए जो शीतल लेश्या छोड़ी जाती है, उसमें तेज-समुद्घात का होना नहीं कहा है। अस्तु, भगवान् महावीर ने गोशालक की प्राण-रक्षा करने हेतु जो शीतल लेश्या छोड़ी थी उसमें तेज-समुद्घात का नाम लेकर जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगने की बात कहना आगम से सर्वथा विपरीत है।

पाँच क्रियाएँ

उष्ण-तेजोलेश्या के प्रकट करने में जो क्रियाएँ लगती हैं, उनके नाम एवं अर्थ बताएँ?

उष्ण-तेजोलेश्या का प्रयोग करने में उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगती हैं— १. कायिकी, २. आधिकरणिकी, ३. प्राद्वेषिकी, ४. पारितापनिकी और ५. प्राणातिपातिकी। उक्त पाँचों क्रियाएँ हिंसा के साथ सम्बन्ध होने से लगती हैं, रक्षा-करने वाले को नहीं। स्थानांगसूत्र में इनका इस प्रकार उल्लेख किया है—

काइया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—अनुवरयकाय किरिया चेव, दुप्पउत्तकाय किरिया चेव। आहिकरणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—संयोजणाधिकरणिया चेव, निवत्तनाधिकरणिया चेव। पाउसिया किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—जीव-पाउसिया चेव, अजीवपाउसिया चेव। पारियावणिया किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—सहत्थ पारियावणिया चेव, परहत्थ पारियावणिया चेव। पाणाइवाय किरिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा—सहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव परहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव।

—स्थानांगसूत्र, स्थान २, ६०

जो क्रिया शरीर से की जाती है, वह कायिकी क्रिया है। वह दो तरह की है— १. अनुपरत काय-क्रिया और २. दुष्प्रयुक्त काय-क्रिया। जो क्रिया सावद्य कार्य से अनिवृत्त मिथ्यादृष्टि एवं अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष के शरीर से उत्पन्न होकर कर्मबन्ध का कारण बनती है, वह 'अनुपरत काय-क्रिया' कहलाती है। और प्रमत संयत पुरुष अपने शरीर से इन्द्रियों को इष्ट या अनिष्ट लगने वाली वस्तु की प्राप्ति और परिहार के लिए आर्त-ध्यान वश जो क्रिया करता है, वह 'दुष्प्रयुक्त काय-क्रिया' कहलाती है। अथवा मोक्ष-मार्ग के प्रति दुर्व्यवस्थित संयत पुरुष अशुभ मानसिक संकल्पपूर्वक शरीर से जो क्रिया करता है, वह भी 'दुष्प्रयुक्त काय-क्रिया' कहलाती है।

आधिकरणिकी क्रिया दो तरह की है—१. संयोजन आधिकरणिकी और २. निर्वर्तन आधिकरणिकी। तलवार में उसकी मूठ को जोड़ने की क्रिया को

'संयोजन आधिकरणिकी' और तलवार एवं उसकी मूठ बनाने की क्रिया को 'निर्वर्तन अधिकरणिकी क्रिया' कहते हैं।

जो क्रिया किसी पर द्वेष करके की जाती है, वह 'प्राद्वेषिकी क्रिया' है। वह भी दो प्रकार की है—१. जीव-प्राद्वेषिकी और २. अजीव-प्राद्वेषिकी। किसी जीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है उसे 'जीव-प्राद्वेषिकी' और जो अजीव पर द्वेष करके की जाती है, उसे 'अजीव-प्राद्वेषिकी' क्रिया कहते हैं।

किसी व्यक्ति को प्रताड़न आदि के द्वारा परिताप देना 'पारितापनिकी' क्रिया है। वह भी दो प्रकार की है—१. स्वहस्त पारितापनिकी और २. परहस्त पारितापनिकी। अपने हाथ से किसी को परिताप देना या दूसरे के हाथ से किसी को परिताप दिलाना क्रमशः स्वहस्त और परहस्त पारितापनिकी क्रिया कहलाती है।

किसी जीव की घात करना 'प्राणातिपातिकी क्रिया' है। वह भी दो प्रकार की है—१. स्वहस्त प्राणातिपातिकी और २. परहस्त प्राणातिपातिकी। अपने हाथ से जीवों का वध करना और दूसरे के हाथ से जीवों की घात कराना क्रमशः स्वहस्त और परहस्त प्राणातिपातिकी क्रिया कहलाती है।

इसमें कायिकी आदि पाँचों क्रियाओं का जो स्वरूप बताया है, इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी मरते हुए जीव की रक्षा करने के लिए, जो शीतल लेश्या का प्रयोग किया जाता है, उसमें इनमें से एक भी क्रिया नहीं लगती, किन्तु उष्ण-तेजोलेश्या के प्रयोग में ये क्रियाएँ लगती हैं। किसी जीव की घात करना प्राणातिपातिकी क्रिया है, मरते हुए जीवों की रक्षा करने में यह क्रिया कैसे लग सकती है? क्योंकि जीवों की रक्षा करना उनकी घात करना नहीं है। इसी तरह जो व्यक्ति किसी को प्रताड़ित नहीं करता, किसी पर द्वेष नहीं करता, तलवार आदि घातक शस्त्रों को तैयार नहीं करता और अपने शरीर का दुष्प्रयोग न करके उन्हें शान्ति देने के लिए हिंसक हथियारों या काय के दुष्प्रयोग से मरते हुए प्राणी के प्राणों की रक्षा के लिए अपने शरीर का सदुपयोग करता है, उसे ये क्रियाएँ कैसे लग सकती हैं? अतः भगवान् ने शीतल लेश्या का प्रयोग करके जो गोशालक की रक्षा की उसमें भगवान् को क्रिया लगी, ऐसा कहना नितान्त असत्य है।

उक्त क्रियाओं के सम्बन्ध में स्वयं भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १८१ पर लिखते हैं—

'अथ अठे वैक्रिय समुद्घात करी पुद्गल काढ़े। ते पुद्गलां सूं जेतला क्षेत्र में प्राण भूत, जीव, सत्व नी घात हुवे ते जाव शब्द में भोलाया छै। ते पुद्गलां थी विराधना हुवे तिण सूं उत्कृष्टी पाँच क्रिया कही छै। इम वैक्रिय लब्धी फोड़्यां पाँच क्रिया लागती कही। हिवे तेजू लेश्या फोडे ते पाठ लिखिये छै।' इसके आगे

लिखते हैं—'अथ इहां वैक्रिय समुद्घात करतां पाँच क्रिया कही, तिम हिज तेजू समुद्घात करता पाँच क्रिया जाणवी।'

यहाँ भ्रमविध्वंसनकार ने भी जीव-विराधना होने के कारण उत्कृष्ट पाँच क्रिया लगना स्वीकार किया है। परन्तु भगवान् ने गोशालक की प्राण-रक्षा करने के लिए जो शीतल लेश्या का प्रयोग किया, उसमें कौन-सी जीव-विराधना हुई, जिससे भगवान् को पाँच क्रियाएँ लगेंगी? शीतल लेश्या से किसी भी जीव की विराधना नहीं होती। उससे जीवों को सुख-शान्ति मिलती है। अतः इससे पाँच क्रियाओं के लगने की बात कहना अनुचित है।

पन्नवणा पद ३२ में तेज-समुद्घात करने से जघन्य तीन एवं उत्कृष्ट पाँच क्रियाओं का लगना कहा है। हम यह पहले बता चुके हैं कि तेज-समुद्घात उष्ण-तेजोलेश्या का प्रयोग करने में होता है, शीतल लेश्या का प्रयोग करने में नहीं। अस्तु, शीतल लेश्या का प्रयोग करने में उक्त क्रियाएँ नहीं लगतीं।

शीतल लेश्या

शीतल लेश्या किसे कहते हैं? सप्रमाण बताएँ?

पूर्वाचार्यों ने शीतल लेश्या का इस प्रकार अर्थ किया है—

अगण्यकारुण्यवशादनुग्राह्यं प्रति तेजोलेश्या-प्रशमन-प्रत्यल-शीतलतेजोविशेषविमोचनसामर्थ्यं।

—प्रवचनसारोद्धार, द्वार २७०

अतिशय दयालुता के कारण, दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजोलेश्या को शान्त करने में समर्थ शीतल तेज-विशेष छोड़ने की शक्ति का नाम 'शीतल लेश्या' है।'

इससे स्पष्ट परिज्ञात हो जाता है कि उष्ण-तेजोलेश्या जलाने का काम करती है, वहाँ शीतल लेश्या शान्ति का कार्य करती है। उष्ण-तेजोलेश्या का प्रयोग जीवों का वध करने के लिए किया जाता है और शीतल लेश्या का प्रयोग जीवों की रक्षा करने हेतु। उक्त उभय लेश्याएँ धूप-छाया की तरह परस्पर विरुद्ध गुणवाली हैं। इसलिए दोनों के प्रयोग में एक समान क्रियाएँ नहीं लग सकतीं। क्योंकि उष्ण-तेजोलेश्या के प्रयोग में जीवों की विराधना होती है, इसलिए इसका प्रयोग करने में उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ लगती हैं। परन्तु शीतल लेश्या के प्रयोग से किसी भी जीव की विराधना नहीं होती, प्रत्युत जीवों की रक्षा होती है, इसलिए जीव-विराधना से लगने वाली पाँचों क्रियाएँ शीतल लेश्या के प्रयोग में नहीं लगतीं। अस्तु गोशालक को बचाने के लिए शीतल लेश्या का प्रयोग करने से भगवान् को पाँच क्रियाएँ लगने की प्ररूपणा करना पूर्णतः गलत है।

गोशालक द्वारा तेजोलेश्या का प्रयोग

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १८६ पर लिखते हैं—'अने जो लब्धि फोड़ी गोशाला ने बचायां धर्म हुए तो केवल ज्ञान उपना पछै गोशाले दोय साधां ने बाल्या त्यां ने क्यूं न बचाया? जो गोशाला ने बचायां धर्म छै, तो दोय साधां ने बचायां घणो धर्म हुवे। तिवारे कोई कहे भगवान् केवली था, सो दोय साधां रो आयुषो आयो जाण्यो तिण सूं न बचाया। इम कहे तेह नो उत्तर—जो भगवान् केवल ज्ञानी आयुषो आयो ज़ाण्यो तिणसूं न बचाया, तो गौतमादिक छद्मस्थ साधु लब्धीधारी घणाइं हुन्ता त्यांने आयुषो आयारी खबर नहीं, त्यां साधां ने लब्धि फोड़ी ने क्यूं न बचाया?'

सर्वज्ञ होने के बाद भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति—इन दोनों मुनियों को नहीं बचाया, इसलिए मरते हुए प्राणी की प्राण–रक्षा करने में पाप बताना गलत है। आगम और उसकी टीका में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि भगवान् ने जीव–रक्षा करने में पाप समझकर उक्त उभय मुनियों को नहीं बचाया। इस विषय में टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—गोशालक के द्वारा सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनियों का मरना अवश्यम्भावी था, व अवश्य होनहार था, इसलिए भगवान् ने उनकी रक्षा नहीं की—

अवश्यम्भावी भावात्वाद्वेत्यवसेयम्।

यदि रक्षा करने में पाप होता, तो यहाँ टीकाकार स्पष्ट लिखते कि भगवान् ने जीव–रक्षा में पाप होने के कारण उक्त उभय मुनियों को नहीं बचाया। परन्तु टीकाकार ने ऐसा नहीं लिखकर, उनके नहीं बचाने का कारण अवश्य होनहार बताया है। अतः उक्त मुनियों का उदाहरण देकर गोशालक की प्राण–रक्षा करने में भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा करना मिथ्या है।

भ्रमविध्वंसनकार मरते हुए जीव को बचाने में पाप कहते हैं, परन्तु साधु को विहार कराने में तो पाप नहीं मानते। अतः गोशालक के आगमन के समय भगवान् महावीर ने उक्त उभय मुनियों को विहार क्यों नहीं कराया? क्योंकि सर्वज्ञ होने के कारण वे यह जानते थे कि गोशालक दोनों मुनियों को तेजोलेश्या से भस्म करेगा। ऐसा ज्ञान होने पर भी भगवान् ने उन्हें वहाँ से विहार नहीं कराया। इससे

यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उभय मुनियों की गोशालक की क्रोध-अग्नि से जलकर मृत्यु होना अवश्यंभावी भाव था। अस्तु, इसी कारण भगवान् ने उन्हें बचाने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु रक्षा करने में पाप होता है, यह जानकर नहीं।

आगम में तीर्थंकरों के अतिशय के वर्णन में कहा है—'तीर्थंकर में ऐसा अतिशय होता है, जिससे उनके निवास स्थान से पच्चीस योजन तक किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता। सभी प्राणी पारस्परिक वैर-विरोध का त्याग करके मित्रवत् रहते हैं।' भगवान् का इतना विशिष्ट अतिशय होते हुए भी गोशालक ने उनके समक्ष ही उनके दो शिष्यों को जलाकर भस्म कर दिया, यह होनहार का ही प्रभाव था, अन्यथा उनके अतिशय से ही यह घटना नहीं घटती। परन्तु जिस समय जिस प्रकार से मृत्यु होना है, उसे भगवान् भी नहीं रोक सकते। अतः सुनक्षत्र एवं सर्वानुभूति मुनिवरों को नहीं बचाने का उदाहरण देकर जीव-रक्षा में पाप बताना प्रश्नव्याकरण आदि आगमों से विरुद्ध समझना चाहिए।

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं—'यद्यपि केवलज्ञानी होने के कारण भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना जानते थे, तथापि गौतमादि छद्मस्थ मुनियों को इसका ज्ञान नहीं था। यदि रक्षा करने में धर्म था, तो उन्होंने उनकी रक्षा क्यों नहीं की? इससे यह स्पष्ट होता है कि जीव-रक्षा करने में धर्म नहीं है।' परन्तु भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि चौदह पूर्वधर साधु छद्मस्थ होने पर भी उपयोग लगाकर आयु पूर्ण होना जान सकते हैं। धर्मघोष मुनि ने छद्मस्थ होने पर भी उपयोग लगाकर धर्मरुचि मुनि का सम्पूर्ण वृत्तान्त जान लिया और उनकी आत्मा को सर्वार्थसिद्ध-विमान में देखा। अतः गौतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति के आयुष्य का पूर्ण होना नहीं जानते थे, यह कहना सत्य नहीं है।

दो मुनियों की मृत्यु

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १६० पर भगवतीसूत्र की टीका लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ टीका में पिण इम कह्यो—ते गोशालानो रक्षण भगवन्ते कियो ते सराग पणे करी अनें सर्वानुभूति-सुनक्षत्र मुनि नों रक्षण न करस्ये ते वीतराग पणे करी। ए गोशाले ने बचायो ते सराग पणो कह्यो, पिण धर्म न कह्यो। ए सरागपणा ना अशुद्ध कार्य में धर्म किम होय?'

भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन नितान्त असत्य है कि सरागपणे के कार्य में धर्म नहीं होता। अपने धर्म, धर्माचार्य एवं दया आदि उत्तम गुणों में राग-अनुराग रखना सरागता का कार्य है। आगम में उक्त कार्य करने में पाप नहीं कहा है,

प्रत्युत इनकी प्रशंसा की है। इनकी प्रशंसा में आगम में निम्न वाक्यों का प्रयोग किया है—

धम्मायरिया पेमाणुरागरत्ता। अट्ठिमिंज्जा पेमाणुरागरत्ता। तीव्व धम्माणुरागरत्ता।

अपने धर्माचार्य में प्रेमानुराग से अनुरक्त। हड्डी और मज्जाओं में प्रेम और अनुराग से अनुरंजित। धर्म के तीव्र अनुराग में अनुरक्त।

आगम में धर्म आदि पर अनुराग रखने वालों की प्रशंसा में ये शब्द आये हैं। धर्माचार्य में प्रेमानुराग रखना, धर्म में तीव्र अनुराग रखना, आचार्य एवं धर्म के प्रति हड्डी तथा मज्जा का प्रेमानुराग से अनुरंजित होना, ये सब सरागता के कार्य हैं। इसलिए भ्रमविध्वंसनकार के मत से इन सब कार्यों में पाप होना चाहिए। परन्तु आगम में उक्त कार्यो को पापरूप नहीं कहा है, प्रत्युत उनमें धर्म जानकर उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। अतः सरागता के सभी कार्यों में पाप बताना अनुचित है। वस्तुतः हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि पापकार्यो में राग रखना बुरा है, पाप का कारण है। परन्तु धर्म, धर्माचार्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम एवं जीव-रक्षा आदि में अनुराग रखने में पाप नहीं, धर्म है।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी भिक्खू-जस रसायन ग्रन्थ में लिखा है—

रुडे चित्त भेला रह्या वरषट् सन्त वदीत हो।
जाव-जीव लगि जाणियो, परम माहो-मांही प्रीति हो।।

प्रस्तुत पद्य में भ्रमविध्वंसनकार ने लिखा है—'छः साधुओं का जन्म-भर आचार्यश्री भीषणजी पर परम प्रेम था।' क्या यह सरागता का कार्य नहीं है? यदि है, तो फिर भ्रमविध्वंसनकार एवं उनके अनुयायी इसे पाप क्यों नहीं मानते? यदि अपने धर्माचार्य और धर्म पर अनुराग रखना सरागता का कार्य होने पर भी पाप कार्य नहीं है, तब जीव-दया में अनुराग रखना पापकार्य कैसे हो सकता है? भगवतीसूत्र की टीका में भगवान् के द्वारा की गई गोशालक की रक्षा में पाप नहीं कहा है।

इह च यद् गोशालकस्यसंरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन दयैकरसत्वाद्भगवतः। यच्च सुनक्षत्र-सर्वानुभूति मुनि पुंगवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्ध्यनुपजीवकत्वादवश्यं भाविभावत्वाद्वेत्यवसेयम्।

यहाँ भगवान् ने जो गोशालक की रक्षा की थी, उसका कारण यह है कि सराग संयमी होने के कारण भगवान् दया के अत्यधिक प्रेमी थे। सुनक्षत्र और

सर्वानुभूति मुनिपुंगवों की रक्षा नहीं करेंगे, इसका कारण वीतराग होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करना और गोशालक के द्वारा उनके मरण का अवश्य होनहार होना समझना चाहिए।

भ्रमविध्वंसनकार ने इसी टीका का नाम लेकर जीव-रक्षा में पाप होना बताया है। परन्तु टीका में जीव-रक्षा में पाप होना कहीं नहीं लिखा है। इसमें गोशालक की रक्षा का कारण भगवान् का दया करने में परम अनुराग बताया है। दया में अनुराग रखना पाप नहीं, धर्म है। अतः गोशालक की प्राण-रक्षा करने से भगवान् को पाप नहीं, धर्म हुआ।

सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनिवरों की रक्षा नहीं करने का कारण भी टीकाकार ने जीव-रक्षा में पाप होना नहीं, प्रत्युत उस समय वीतराग होने के कारण लब्धि का प्रयोग नहीं करना और अवश्य होनहार बताया है। यद्यपि दोनों मुनियों को वहाँ से विहार कराकर बिना लब्धि का प्रयोग किए ही उनकी रक्षा कर सकते थे, तथापि गोशालक द्वारा उनकी मृत्यु होने वाली है, यह जानकर भगवान् ने उन्हें बचाने का प्रयत्न नहीं किया। अतः टीकाकार ने उभय मुनियों की रक्षा नहीं करने का सैद्धान्तिक कारण बताते हुए **अवश्यंभावि भावत्वात्** लिखा है। अस्तु, भगवतीसूत्र की उक्त टीका का नाम लेकर जीव-रक्षा में पाप नितान्त असत्य है।

'अथ टीका में कह्यो—ए लब्धि फोड़े ते प्रमाद नो सेववो ते आलोयां बिना चारित्र नी आराधना नहीं, ते माटे विराधक कह्यो। इहां पिण लब्धि फोड्या रो प्रायश्चित्त कह्यो, पिण धर्म नहीं। ठाम-ठाम लब्धि फोड़णी सूत्र में बर्जी छै। ते भगवन्त छट्ठे गुणठाणे थकां तेजू लब्धि फोड़ी ने गोशाला ने बचायो, तिण में धर्म किम कहिये?'

भगवती, श. २०, उ. ६ की टीका में जंघा-चरण और विद्या-चरण लब्धि के विषय में विचार किया गया है, अन्य लब्धियों का नहीं। वहाँ उक्त दोनों लब्धियों का प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना कहा है, परन्तु शीतल लेश्या का प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना नहीं है। तथापि यदि कोई व्यक्ति दुराग्रहवश लब्धि मात्र का प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना बतलाए, तो उसे—आगम में कथित ज्ञान लब्धि, दर्शन लब्धि, चारित्र लब्धि, क्षीर, मधु और सर्पिराश्रव लब्धि का प्रयोग करना भी प्रमाद का आसेवन करना मानना चाहिए। परन्तु इनके प्रयोग में प्रमाद का सेवन करना क्यों नहीं मानते? यदि इनका प्रयोग करना प्रमाद का सेवन करना नहीं, गुण है। तो उसी तरह शीतल लेश्या का प्रयोग करना भी प्रमाद का सेवन करना नहीं है।

उपसंहार

वस्तुतः आचार्यश्री भीषणजी और आचार्यश्री जीतमलजी का लब्धि की चर्चा करना व्यर्थ है। क्योंकि यदि लब्धि का प्रयोग न करके, किसी अन्य साधन से भी मरते हुए जीव की रक्षा की जाए, तब भी ये उसमें एकान्त पाप मानते हैं। जीव-रक्षा करने की विशुद्ध दया-भावना को ये मोह-अनुकम्पा, सावद्य-अनुकम्पा और एकान्त पापमय बताते हैं। अतः यदि भगवान् महावीर लब्धि का प्रयोग न करके, उपदेश द्वारा भी गोशालक की प्राण-रक्षा करते, तब भी इनके मतानुसार उसमें पाप ही होता। इस विषय में आचार्यश्री भीषणजी ने शिशुहित शिक्षा ढाल ५ में लिखा है—

कोई एक अज्ञानी इम कहे, छः काया रा काजे हो देवां धर्म उपदेश।
एकण जीवने समझावियां, मिट जावे हो घणा जीवां रा क्लेश।।
छः काया रे घरे शान्ति हुवे, एहवा भाषे हो अन्य-तीर्थी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिनधर्म रो, ते तो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म।।

'कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि छःकाय के जीवों के घर में शांति करने के लिए वे धर्मोपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि एक जीव को समझाने से बहुत-से जीवों का क्लेश मिट जाता है। परन्तु छःकाय के घर में शान्ति करने के लिए उपदेश देना जैन धर्म का सिद्धान्त नहीं, अन्यतीर्थियों के धर्म का सिद्धान्त है। अतः वे भूले हुए हैं और उनके अशुभ कर्म का उदय है।'

इस विषय में भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १२० पर लिखते हैं—'श्री तीर्थंकर देव पोताना कर्म खपावा तथा अनेरा ने तारिवा ने अर्थे उपदेश देवे इम कह्यूं, पिण जीव बचावां उपदेश देवे इम कह्यो नहीं।'

इस प्रकार भ्रमविध्वंसनकार एवं उनके पूर्वाचार्य दोनों ने जीवरक्षा के लिए उपदेश देना भी जैन धर्म के विरुद्ध माना है। इसका उत्तर पीछे विस्तार से दे चुके हैं।
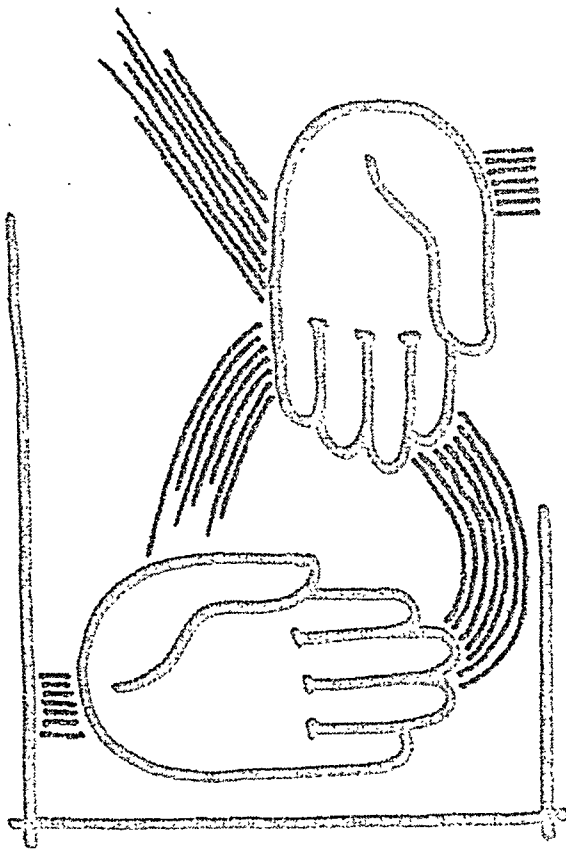
प्रायश्चित्त-अधिकार

प्रायश्चित्त क्यों?
भगवान् महावीर ने प्रमाद नहीं किया
भगवान् और उनके शिष्यों की साधना
गणधर गौतम की साधना
चौदह पूर्वधर नहीं चूकता
साधु का स्वप्न-दर्शन
तीर्थंकर कल्पातीत होते हैं
गोशालक को शिष्य वनाया
भगवान् ने पाप-सेवन नहीं किया

प्रायश्चित्त क्यों ?

जीव-रक्षा में धर्म मानने वाले मुनियों का कहना है—यदि गोशालक की रक्षा करने में भगवान् को पाप लगा होता, तो भगवान् उस पाप की निवृत्ति के लिए अवश्य ही प्रायश्चित्त लेते। परन्तु इसके लिए भगवान् के प्रायश्चित्त लेने का आगम में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। अतः शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की रक्षा करने में भगवान् पर पाप का आरोप लगाना नितान्त असत्य है। इस कथन का खण्डन करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १६६ पर लिखते हैं—

'अथ इहां सीहो अणगार ध्यान ध्यावतां मन में मानसिक दुःख अत्यन्त उपनो। मालुवा कच्छ में जाई मोटे-मोटे शब्दे रोयो, बांग पाडी एहवो कह्यो, पिण तेहनो प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं, पिण लियो इज होसी। तिम भगवान् लब्धी फोड़ी गोशाला ने बचायो। तेहनो पिण प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं, पिण लियो इज होसी।' इसी तरह पृष्ठ २०८ तक अतिमुक्त अणगार, रहनेमि, धर्मघोष के शिष्य सुमंगल अणगार और सेलक राजर्षि का उदाहरण देकर उन्होंने कहा है—'जैसे उक्त साधुओं ने प्रायश्चित्त के कार्य किए, परन्तु आगम में उनके प्रायश्चित्त करने का नहीं कहा, उसी तरह आगम में भगवान् महावीर के प्रायश्चित्त करने का भी उल्लेख नहीं किया। परन्तु जैसे इन साधुओं ने प्रायश्चित्त लिया होगा, उसी तरह भगवान् महावीर ने भी प्रायश्चित्त लिया ही होगा।'

आगम के विधिवाद में जिस कार्य के करने से पाप होना कहा है, उसके अनुष्ठान से पाप होता है और उसके लिए प्रायश्चित्त भी बताया है। परन्तु जिस कार्य के करने से आगमकार पाप नहीं बताते, उसके प्रायश्चित्त का विधान भी नहीं करते। जैसे शीतल लेश्या का प्रयोग करने से आगम में कहीं भी पाप होना नहीं कहा है और न इसके लिए प्रायश्चित्त का ही विधान है। ऐसी स्थिति में शीतल लेश्या का प्रयोग करने से भगवान् को पाप का लगना एवं उसकी निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त लेने की कल्पना करना केवल कपोलकल्पना मात्र है। क्योंकि जब शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की रक्षा करने से भगवान् को पाप नहीं, धर्म हुआ तब फिर वे प्रायश्चित्त क्यों लेते?

जिस साधु ने आगम के अनुसार दोष का सेवन किया था, यदि आगम में उसके प्रायश्चित्त सेवन का वर्णन नहीं है, तो उसकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु जिसने प्रायश्चित्त योग्य कार्य ही नहीं किया, उसके लिए दोष-सेवन एवं प्रायश्चित्त की असत्य कल्पना करना बिल्कुल निराधार एवं आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१० पर जो नियंठा की विचार-चर्चा की है, उसके अनुसार भगवान् महावीर दोष के अप्रतिसेवी सिद्ध होते हैं। क्योंकि कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मूल एवं उत्तर गुण का अप्रतिसेवी होता है। छद्मस्थ तीर्थंकर दीक्षा लेने के पश्चात् कषाय-कुशील ही होते हैं। अतः भगवान् महावीर को दोष का प्रतिसेवी बताना नितान्त असत्य है।

भगवान् महावीर की साधना

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१४ पर लिखते हैं—'ए कषाय-कुशील नियंठा ने अपडिसेवी कह्यो—ते अप्रमत्त तुल्य अपडिसेवी जणाय छै। कषाय-कुशील नियंठा में गुण-ठाणा ५ छै—छट्ठा थी दसवां तांई, तिहां सातमें, आठमें, नवमें, दशमें गुणठाणे अत्यन्त शुद्ध निर्मल चारित्र छै। ते अपडिसेवी छै। अनें छट्ठे गुणठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ठ निर्मल परिणाम नो धणी शुभ योग में प्रवर्ते छै। ते अपडिसेवी छै।' इत्यादि लिखकर भगवान् महावीर को अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामयुक्त मानकर भी दोष का प्रतिसेवी बताते हैं।

भ्रमविध्वंसनकार स्वयं षष्ठ गुणस्थानवर्ती कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को निर्मल परिणाम युक्त मानकर उसे दोष का अप्रतिसेवी बताते हैं। अस्तु, इनके उक्त विचारों से भी भगवान् महावीर दोष के अप्रतिसेवी सिद्ध होते हैं। क्योंकि आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर को छद्मस्थ अवस्था में अत्यन्त विशुद्ध परिणाम-युक्त कहा है।

तए णं समणे भगवं महावीरं वोसिट्ठचत्तंदेहे अणुत्तरेणं आलएणं, अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेण, पग्गहेणं, संवरेणं, तवेणं, बंभचेरवासेणं, खंतिए, मुत्तिए, सम्मीइए, गुत्तिए, तुट्ठीए, ठाणेणं, कम्मेणं सुचरियफल निव्वाण मुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। एवं विहरमाणस्स जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा, माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अणाउले अव्वहिए अदीणमाणसे तिविह मण-वयण-काय-गुत्ते सम्मं सहइ, खमइ, तितिक्खइ अहिआसेइ। तओणं समणस्स भगवओ महावीरस्स ए णं विहारेणं विहरमाणस्स बारसवासा

विइक्कंता तेरसमस्स य वासस्स परियाये वट्टमाणस्स।'

—आचारांगसूत्र, श्रुत. २, अ. १५

इसके अनन्तर अपने शरीर की ममता का त्याग किए हुए भगवान् महावीर अनुत्तर आलय—मकान से, अनुत्तर विहार से, अनुत्तर संयम से, अनुत्तर ग्रहण से, अनुत्तर संवर से, अनुत्तर तप से, अनुत्तर ब्रह्मचर्य से, अनुत्तर क्षमा से, अनुत्तर त्याग से, अनुत्तर समिति से, अनुत्तर गुप्ति से, अनुत्तर तुष्टि से, अनुत्तर स्थिति से, अनुत्तर गमन से, सम्यक् आचरण से, मोक्षफल की प्राप्ति कराने वाले मुक्ति मार्ग से अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए विचरते थे। इस प्रकार विचरण करते हुए भगवान् को यदि कोई देव, मनुष्य या तिर्यंच का उपसर्ग होता, तो वे उसे अनाकुल—घबराहट से रहित एवं अदीन मन से सह लेते थे। भगवान् को इस प्रकार विचरते हुए बारह वर्ष पूरे हो गए, उसके अनन्तर तेरहवें वर्ष के पर्याय में भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

प्रस्तुत पाठ में भगवान् महावीर के संयम, तप, ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि गुणों को अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ कहा है। इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर उच्च श्रेणी के कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ थे। अन्यथा इस पाठ में उनके तप, संयम आदि को अनुत्तर कैसे कहते। अतः भगवान् के षष्ठम गुणस्थान में भी अत्यन्त विशुद्ध एवं निर्मल परिणाम थे। इसलिए वे दोष के प्रतिसेवी नहीं, अप्रतिसेवी थे। तथापि गोशालक की रक्षा करने के कारण भ्रमविध्वंसनकार भगवान् को जो दोष का प्रतिसेवी कहते हैं, वह केवल जीव-रक्षा के साथ द्रोह रखने का परिणाम है।

भगवान् महावीर ने प्रमाद नहीं किया

भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में दोष का प्रतिसेवन नहीं किया, इस विषय में कोई प्रमाण हो तो बताइए?

आचारांगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में थोड़ा-सा पाप एवं एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया—

णच्चा णं से महावीरे णो विय पावगं सयमकासी।
अन्नेहिं वा न कारित्था करं तं वि नाणुजाणित्था।।

—आचारांग सूत्र १, ६, ४, ८

किं च ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीरः कर्म प्रेरणसहिष्णुः नाऽपि च पापकं कर्म स्वयमकार्षीत, नाप्यन्यैरचीकरत, न च क्रियमाणमपरैरनुज्ञातवान्।

हेय एवं उपादेय वस्तु के ज्ञाता, कर्म की प्रेरणा को सहन करने में समर्थ भगवान् महावीर ने न स्वयं पापकर्म किया, न दूसरे से कराया और न पापकर्म करने वाले को अच्छा समझा।

प्रस्तुत गाथा में स्पष्ट लिखा है—भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में कृत, कारित एवं अनुमोदित तीनों में से किसी भी करण से पाप का सेवन नहीं किया। अतः गोशालक की रक्षा करने से भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा करना मिथ्या है। यदि इसमें पाप लगता, तो आगम में यह कैसे कहा जाता—'भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में पाप का आसेवन नहीं किया।' इसी आगम में आगे चलकर लिखा है—

अकसाई विगयगेही य सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थोऽवि परक्कममाणो नप्पमायं सयं वि कुव्वीथा।।

—आचारांगसूत्र, १, ६, ४, १५

न कषायी अकषायी तदुदयापादित भ्रूकुट्यादि कार्य्याभावात्। तथा विगताः गृद्धिः गार्ध्यं यस्यासौ विगत गृद्धिः तथा शब्दरूपादिषु इन्द्रियार्थेषु

अमूर्च्छितो ध्यायति मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशगोऽभूत। तथा छद्मनि ज्ञान-दर्शनावरणीय मोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थः इत्येवं भूतोऽपि विविधमनेक प्रकारं सदनुष्ठाने पराक्रममाणो प्रमादं कषायादिकं सकृदपि न कृतवानिति।

जिसमें कषाय नहीं है, उसे अकषायी कहते हैं। भगवान् महावीर अकषायी थे, क्योंकि कषाय के उदय से उन्होंने कभी किसी पर भी अपनी भ्रूकुटी टेढ़ी नहीं की। वे न अनुकूल विषयों से राग करते थे और न प्रतिकूल विषयों से द्वेष। वे शब्द आदि विषयों में आसक्त होकर नहीं रहते थे। यद्यपि भगवान् छद्मस्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय एवं अन्तराय कर्म में स्थित थे, तथापि वे सदा विभिन्न प्रकार के सदनुष्ठान में प्रवृत्त रहते थे। उन्होंने एक बार भी कषाय आदि रूप प्रमाद का सेवन नहीं किया।

प्रस्तुत गाथा में स्पष्टतः कहा है कि भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया। अतः जो लोग भगवान् के द्वारा गोशालक की प्राण-रक्षा करने के कार्य को प्रमाद-सेवन बताते हैं, उनका कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

प्रशंसा नहीं, यथार्थ वर्णन

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३१ पर आचारांग की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अठे इहां गणधरां भगवान् रा गुण वर्णन कीधा। त्यां गुणां में अणगुणां ने किम कहे? गुणां में तो गुणो ने इज कहे।'

आचरांगसूत्र की पूर्वोक्त गाथाओं में भगवान् के गुणों का ही वर्णन नहीं, प्रत्युत स्वल्प भी पाप एवं एक बार भी प्रमाद-सेवन करने रूप दोष का भी निषेध किया है। अतः उक्त गाथा में गुण मात्र का वर्णन बताना मिथ्या है। यदि गोशालक की प्राण-रक्षा का कार्य पाप एवं प्रमाद-सेवन रूप आचरण होता, तो उक्त गाथाओं में उनके पापाचरण एवं प्रमाद-सेवन का निषेध कैसे करते?

यदि कोई यह कहे कि उक्त गाथाएँ भगवान् द्वारा नहीं, गणधरों द्वारा कही गई हैं, इसलिए प्रामाणिक नहीं है। तो उनका यह कथन भी सत्य नहीं है। क्योंकि गणधरों ने तीर्थंकरों द्वारा सुनकर ही द्वादशांगी रूप आगम की रचना की है। इसी कारण आगम को श्रुत कहते हैं। अतः आर्य सुधर्मा स्वामी ने भगवान् से जो-कुछ सुना, वही उक्त गाथाओं में कहा है। उक्त गाथाओं को प्रामाणिक नहीं मानना सर्वज्ञ वाणी को अप्रामाणिक कहकर उसका तिरस्कार करना है। आचारांग के नवम अध्ययन के प्रारंभ में ही लिखा है—

सुयं मे आउसं तेणं! भगवया एवमक्खायं।

हे आयुष्मन्! भगवान् महावीर ने ऐसा कहा था, यह मैंने सुना है।

प्रस्तुत अध्ययन के प्रारंभ में आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी के समक्ष यह प्रतिज्ञा करते हैं—

अहा सुयं वइस्सामि।

मैंने जैसा सुना है, वैसा ही कहूंगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर से जो सुना था, वही इस अध्ययन में कहा है, अपनी ओर से बनाकर कुछ नहीं कहा है। अतः आचारांगसूत्र की उक्त उभय गाथाओं में कथित विषय को प्रामाणिक नहीं मानना, सर्वज्ञ के वचनों का उल्लंघन करना है, वीतराग-वाणी का अपमान एवं तिरस्कार करना है।

भगवान् और उनके शिष्यों की साधना

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३२ पर उववाईसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'जे साधां मे गुण हुंता, ते बखाण्या। परं इम न जाणिये—जे वीर रा साधु रे कदेइ आर्त्तध्यान आवे इज नहीं, माठा परिणामे क्रोध आदि आवे इज नहीं, इम नथी। कदाचित उपयोग चूकां दोष लागे। परं गुण वर्णन में अवगुण किम कहे? तिम गणधरां भगवान् रा गुण किया, तिण में तो गुण इज वर्णव्या, जेतलो पाप न कीधो तेहिज आश्री कह्यो। परं गुण में अवगुण किम कहे?'

उववाईसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

तेणं कालेणं तेणं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अन्ते-वासी बहवे समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया, भोगपव्वइया, राइण्ण णाय कोरव्व खत्तिय पव्वइया, भडा जोहा सेणावइ पसत्थारो सेठी इब्भा अण्णेव बहवे एवमाइणो उत्तम जाति, कुल, रूव, विणय, विण्णाण, वण्ण, लावण्य, विक्कम पहाण सोभग्ग कंतिजुत्ता बहु धण-धाण्णणिचय परियालफडिया णरवइ गुणातिरेका इच्छिय-भोगा सुहसंपल्ललिया किंपागफलोपमं च मुणिय विसयसोक्खं जलबुब्बुअ समाणं, कुसग्ग जल बिन्दु चंचल जीवियं च णाउण अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणिताणं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइया अप्पेगइया अद्धमास परियाया, अप्पेगइया मास परियाया एवं दुमास, तिमास जाव एक्कारस, अप्पेगइया अनेक वास परियाया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

—उववाईसूत्र, १४

उस काल एवं उस समय भगवान् महावीर के पास बहुत-से शिष्य विद्यमान थे। जिनमें से कोई उग्रवंश में, कोई भोगवंश में, कोई राजन्य वंश में, कोई नाग वंश में, कोई कुरु वंश में, कोई क्षत्रिय वंश में, कोई चार, भट्ट, योद्धा वंश में, कोई सेनापति, धर्म-शास्त्र पाठी, सेठ इब्भसेठ—बड़े धनपति के कुल में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार उत्तम जाति, कुल, रूप, विनय, विज्ञान, वर्ण, लावण्य, विक्रम,

सौभाग्य और कांति से युक्त, धन-धान्य, परिवार, दास-दासी आदि से युक्त गृहवास काल में बड़े धनपतियों से भी श्रेष्ठ एवं वैभव-सुख में राजाओं से भी बढ़े-चढ़े इच्छानुरूप भोग भोगने वाले, विषय-सुख को विषवृक्ष के समान बुरा एवं कुश के अग्रभाग पर स्थित बिन्दु की तरह जीवन को अति चंचल जानकर, अनित्य विषय-सुख एवं धन-धान्य आदि को वस्त्र पर लगी हुई धूल के समान झाड़कर, हिरण्य-स्वर्ण आदि को छोड़कर प्रव्रजित हो गए। इन में से कुछ अर्द्धमास, एकमास, दो मास, तीन मास, यावत् ग्यारह महीनों की पर्याय वाले थे, कुछ अनेक वर्षों की पर्यायवाले थे। ये सब शिष्य संयम और तप की साधना से अपनी आत्मा को पवित्र करते हुए विचरते थे।

प्रस्तुत पाठ में यह नहीं कहा है—'भगवान् महावीर के ये सब शिष्य कभी भी प्रमाद का सेवन नहीं करते थे या इन शिष्यों ने कभी पाप का आसेवन नहीं किया।' अतः इनके जीवनकाल में प्रमाद एवं पाप का सेवन होना संभव है। परन्तु भगवान् महावीर के साधना-जीवन में पाप एवं प्रमाद के सेवन की संभावना ही नहीं हो सकती। क्योंकि भगवान् के सम्बन्ध में आचारांग की उक्त गाथाओं में प्रमाद एवं पाप-सेवन का निषेध किया है। अतः उववाईसूत्र के पाठ से आचारांग की उक्त गाथाओं की तुलना बताकर भगवान् महावीर को पाप एवं प्रमाद का सेवन करने वाला कहना आगम-ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट करना है।

यदि उववाईसूत्र में यह लिखा होता कि भगवान् महावीर के इन शिष्यों ने कभी भी पाप एवं प्रमाद का आसेवन नहीं किया, तो इस बात को मान सकते थे। परन्तु उसमें ऐसा नहीं लिखा है, अतः उनमें पाप एवं प्रमाद के सेवन का निषेध नहीं कर सकते। किन्तु आचारांग में भगवान् के विषय में स्पष्ट लिखा है—'भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में थोड़ा-सा भी पापाचरण नहीं किया और एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया।' अतः भगवान् महावीर के साधना-जीवन में प्रमाद एवं पाप का आसेवन करने की बिल्कुल संभावना नहीं है। उनकी संयम साधना पूर्णतः निर्दोष एवं विशुद्ध थी। उसमें पाप या प्रमाद के दोष की कल्पना करना नितान्त असत्य है।

कोणिक का विनय

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३३ पर लिखते हैं—

'अथ अठे कोणिक ने सर्व राजा ना गुण सहित कह्यो। माता-पिता नो विनीत कह्यो। अने निरयावलिया में कह्यो—जे कोणिक श्रेणिक ने बेड़ी-बन्धन देई, पोते राज्य बैठ्यो, तो जे श्रेणिक नें बेड़ी बन्धन बांध्यो ते विनीत पणो नहीं, ते तो अविनीत पणो इज छै। पिण उववाई में कोणिक ना गुण वर्णव्या। तिण में

जेतलो विनीत पणो ते हिज वर्णव्यो। अविनीत पणो गुण नहीं, ते भणी गुण कहिणे में तेहनो कथन कियो नहीं। तिम गणधरां भगवान् रा गुण किया, त्यां गुणा में जेतला गुण हुन्ता तेहिज गुण बखाण्या परं लब्धि फोड़ी ते गुण नहीं। ते अवगुण रो कथन गुण में किम करे?'

भ्रमविध्वंसनकार का यह कथन यथार्थ नहीं है। उववाईसूत्र में कोणिक राजा के चम्पा नगरी में निवास करने के समय का वर्णन है। कोणिक जब चम्पा में रहने लगा, तब वह माता-पिता का विनीत हो गया था। वह पितृशोक से संतप्त होकर राजगृह को छोड़ कर चम्पा में आया था। अतः उस समय के वर्णन में उसे विनीत कहना उपयुक्त ही था। परन्तु वहाँ यह नहीं कहा कि कोणिक ने कभी भी माता-पिता का अविनय नहीं किया। अतः उक्त पाठ से कोणिक के अविनीत होने का पूर्णतः निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु आचारांग की उक्त गाथाओं में भगवान् महावीर के छद्मस्थ अवस्था में प्रमाद या पाप-सेवन का पूर्णतः निषेध किया है।

श्रावक एक देश से निवृत्त होते हैं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३४ पर लिखते हैं—

'अथ अठे श्रावकों ने धर्म ना करणहार कह्या, तो ते स्यूं अधर्म न करे कांइ। वाणिज्य-व्यापार, संग्राम आदिक अधर्म छै। ते अधर्म ना करणहार छै। पिण ते श्रावकां रा गुण वर्णन में अवगुण किम कहे?' इसके आगे लिखते हैं—'तिम भगवान् रे गुण वर्णन में लब्धि फोड़ी ते अवगुण रो वर्णन किम करे?'

उववाईसूत्र में श्रावकों के सम्बन्ध में जो पाठ आया है, उसका उदाहरण देकर भगवान् महावीर में पाप एवं प्रमाद के सेवन की स्थापना करना नितान्त असत्य है। उववाई में श्रावकों से सम्बन्धित पाठ में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है—श्रावक अठारह पाप से ही एक देश से निवृत्त हुए हैं, एक देश से नहीं। अस्तु, उक्त पाठ से ही एक देश से पाप-सेवन करना सिद्ध होता है। परन्तु भगवान् के सम्बन्ध में आचारांग की गाथाओं में पाप एवं प्रमाद सेवन का पूर्णतः निषेध किया है।

दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर दीक्षा लेने के पश्चात् छद्मस्थ अवस्था में कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ थे। आगम में लिखा है कि कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ मूल एवं उत्तर गुण में दोष नहीं लगाते। अतः भगवान् ने शीतल लेश्या का प्रयोग करके गोशालक की जो प्राण-रक्षा की, उसमें उनको पाप या प्रमाद-सेवन का दोष नहीं लगा, यह आगमसम्मत सत्य है।

उपासक आनन्द के घर गए थे, उस समय उनमें चौदह पूर्व और चार ज्ञान नहीं थे। यदि भगवतीसूत्र में कहे जाने के कारण उक्त तीन विशेषणों का उपासकदशांग में कथन नहीं माना जाए तो भगवतीसूत्र के अन्य विशेषणों का भी यहाँ कथन नहीं होना चाहिए। परन्तु यहाँ उनका कथन किया गया है। अतः जो बातें पूर्व अंग में कह दी गई हैं, उन सबको उत्तर के अंगों में समझा जाए, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होने का वर्णन किया गया है, फिर भी प्रसंगवश भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक में भगवान् की छद्मस्थ अवस्था का वर्णन किया है। आचारांगसूत्र प्रथम अंग है और भगवतीसूत्र पंचम अंग। उसी तरह भगवतीसूत्र में गौतम स्वामी के चार ज्ञान एवं चौदह पूर्वधर होने का वर्णन होने पर भी प्रसंगवश उपासकदशांगसूत्र में उनके चौदह पूर्वधर एवं चार ज्ञान नहीं होने की बात कही गई है।

यदि भगवतीसूत्र में कथित सभी गुणों को उपासकदशांग सूत्र में बताना होता, तो 'जाव' शब्द का प्रयोग करके भगवती के पाठ का संकोच करते हुए उपासकदशांग में लिख देते—

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी इंदभूइ नामं अणगारे जाव विहरइ।

भगवती में कथित विशेषणों में से तीन विशेषणों को छोड़कर शेष को पुनः लिखने की क्या आवश्यकता थी? परन्तु यहाँ 'जाव' शब्द का प्रयोग करके भगवती के पाठ का संकोच नहीं किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आनन्द श्रावक को उत्तर देते समय गौतम स्वामी चौदह पूर्वधर एवं चार ज्ञान से युक्त नहीं थे। अतः गौतम स्वामी का उदाहरण देकर भगवान् महावीर को चूका—भूला हुआ या पथभ्रष्ट बताना नितान्त असत्य है।

चौदह पूर्वधर नहीं चूकता

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१३ पर दशवैकालिकसूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—दृष्टिवाद रो धणी पिण वचन में खलाय जाय तो साधु ने हंसणो नहीं। ए दृष्टिवाद रो जाण चूके, तिण में पिण कषाय कुशील नियंठो छै।'

भ्रमविध्वंसनकार ने दशवैकालिकसूत्र की गाथा का शुद्ध अर्थ नहीं किया है। अतः उक्त गाथा एवं उसकी टीका लिख कर उसका यथार्थ अर्थ कर रहे हैं—

आयार पन्नत्तिधरं, दिट्ठिवाय महिज्जगं।
वाय विक्खलियं नच्चा, न तं उवहसे मुणी।।

—दशवैकालिकसूत्र, ८, ५०

आयार त्ति सूत्रम् आचार प्रज्ञप्तिधरमित्ति आचारधरः स्त्री लिंगादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवं भूतं। तथा दृष्टिवादमधीयानं प्रकृति, प्रत्यय, लोपागम, वर्ण विकार, काल कारक वेदितं वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा विविधमनेकैः प्रकारैर्लिंगभेदादिभिः स्खलितं विज्ञाय न तमाचारादिधरमुपहसेन्मुनिः अहो नु खल्वाचारादिधरस्य वाचि कौशल्यमित्येवं, इह च दृष्टिवादमधीयानमित्युक्तमत इदं गम्यते नाधीत दृष्टिवादं तस्य ज्ञान प्रमादातिशयतः स्खलना संभवात्। यद्येवं भूतस्यापि स्खलितं संभवति न चैनमुपहसेदित्युपदेशः ततोऽन्यस्य सुतरां भवतीति नासौ हसितव्य इति सूत्रार्थः।

जो स्त्री लिंग आदि को जानता है, उसे आचारधर कहते हैं और जो विशिष्ट रूप से स्त्री लिंग आदि का ज्ञाता है, उसे प्रज्ञप्तिधर कहते हैं। जो मुनि आचारधर और प्रज्ञप्तिधर है और दृष्टिवाद का अध्ययन कर रहा है—प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्ण विकार, काल और कारक को जानता है, यदि वह बोलते समय लिंग आदि से अशुद्ध बोल दे, तो उसकी हंसी नहीं करनी चाहिए।

उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए—अरे! देखो आचारधरादि मुनियों का वाक् कौशल।

उक्त गाथा में प्रयुक्त वाक्य में वर्तमान काल का प्रयोग करके यह बताया है—'जिस मुनि ने अभी दृष्टिवाद का अध्ययन समाप्त नहीं किया है, किन्तु अभी अध्ययन कर रहा है, यदि उससे वाक्-स्खलन हो जाए, तो साधु को हंसना नहीं चाहिए, उसका उपहास नहीं करना चाहिए।' जिसने दृष्टिवाद को पढ़कर समाप्त कर दिया है, उससे वाक्-स्खलन होना असंभव है। क्योंकि उसमें ज्ञान और अप्रमाद का बहुत अधिक सद्भाव होता है, अतः वह भूल नहीं कर सकता। इस पाठ में उपदेश दिया गया है कि यदि दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाले मुनि से वाक्-स्खलन हो जाए, तो उसका उपहास नहीं करना चाहिए। इससे यह भी सिद्ध होता है जब आचारधर और प्रज्ञप्तिधर मुनि से भी वाक्-स्खलन हो सकता है, तब अन्य साधारण मुनि का वाक्-स्खलन होना एक साधारण बात है। अतः किसी मुनि के वाक्-स्खलन हो जाए, तो दूसरे साधुओं को उसका उपहास नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में वर्तमानकाल का प्रयोग देकर दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाले मुनि का वाक्-स्खलन होना बताया है, परन्तु जो दृष्टिवाद का अध्ययन कर चुका है, उसके वाक् का स्खलन होना नहीं कहा है। अतः उक्त गाथा का नाम लेकर चतुर्दश पूर्वधर को चूका हुआ सिद्ध करना भारी भूल है।

कषाय-कुशील अप्रतिसेवी है

भ्रमविध्वंसनकार का कथन है—'आगम में कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ में छः समुद्घात और पांच शरीर कहे हैं। वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करने वाले को बिना आलोचना किये मरने पर विराधक कहा है और वैक्रिय एवं आहारक लब्धि का प्रयोग करने से पांच क्रिया का लगना कहा है। कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ भी वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करते हुए दोष का प्रतिसेवी होता है। इसलिए सभी कषाय-कुशील निर्ग्रन्थों को दोष का अप्रतिसेवी नहीं कहना चाहिए।'

कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ में छः समुद्घात एवं पांच शरीर पाए जाते हैं, तथापि आगम में उसे दोष का अप्रतिसेवी बताया है—

कसाय कुसीलेणं पुच्छा?

गोयमा! नो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा।

—भगवतीसूत्र, २५, ६, प्रश्न ३४

हे भगवन्! कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी?

हे गौतम! वह दोष का प्रतिसेवी नहीं, अप्रतिसेवी होता है।

प्रस्तुत पाठ में कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को स्पष्टतः दोष का अप्रतिसेवी कहा है। यदि कोई यह कहे कि जब उसमें छः समुद्घात और पांच शरीर पाए जाते हैं, तब वह दोष का अप्रतिसेवी कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि दोष का प्रतिसेवन सिर्फ कार्य के अधीन नहीं, परिणाम के अधीन है। जैसे यदि वीतराग साधु के पैर के नीचे आकर कोई जानवर मर जाए तो उसे ईर्यापथिक क्रिया लगती है, उससे शुभ कर्म आते हैं। परन्तु यदि सरागी साधु के पैर के नीचे आकर कोई प्राणी मर जाए तो उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है। यहाँ पैर के नीचे आकर जानवर के मरने में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु दोनों के परिणामों में भेद होने के कारण वीतराग को ईर्यापथिक और सरागी साधु को साम्परायिकी क्रिया लगती है। इसका कारण इतना ही है कि वीतराग के परिणाम अति विशुद्ध एवं निर्मल हैं, परन्तु सरागी के परिणामों में इतनी विशुद्धता एवं निर्मलता नहीं है। उसी तरह कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ के परिणाम विशिष्ट एवं निर्मल होते हैं। इसलिए उसमें छः समुद्घात और पांच शरीर पाए जाते हैं, तब भी वे दोष-प्रतिसेवी नहीं होते। यदि छः समुद्घात और पांच शरीर के पाए जाने मात्र से कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी हो जाता, तो आगमकार बकुश एवं प्रतिसेवना-कुशील की तरह कषाय-कुशील को भी दोष का अप्रतिसेवी नहीं कह कर, प्रतिसेवी बताते। परन्तु आगम में स्पष्ट शब्दों में उसे दोष का अप्रतिसेवी बताया है। अतः कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का प्रतिसेवी कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु का स्वप्न-दर्शन

भ्रमविध्वंसनकार का कहना है—'भगवती, शतक १६, उद्देशा ६ में संवृत-साधु को यथार्थ स्वप्न आना कहा है और उसी को आवश्यकसूत्र में मिथ्या स्वप्न भी आना कहा है। जैसे—साधु दो तरह के होते हैं—१. सच्चा स्वप्न देखने वाला और २. झूठा स्वप्न देखने वाला। उसी तरह कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ भी दो तरह के होते हैं—१. दोष का प्रतिसेवी और २. दोष का अप्रतिसेवी।'

संवृत—साधु का दृष्टान्त देकर दो तरह के कषाय-कुशील के होने की प्ररूपणा करना सर्वथा असत्य है। जिस संवृत-साधु को भगवतीसूत्र में सत्य स्वप्नद्रष्टा कहा है, उसी को आवश्यकसूत्र में मिथ्या स्वप्नद्रष्टा भी कहा है। इस प्रकार आगम में संवृत—साधु दोनों प्रकार के कहे हैं। परन्तु आगम में कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को कहीं भी दो प्रकार का नहीं कहा है। भगवतीसूत्र में कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का अप्रतिसेवी कहा है। उस कषाय-कुशील को किसी भी आगम में दोष का प्रतिसेवी नहीं कहा। अतः संवृत—साधु की तरह उसे भी दो प्रकार का—प्रतिसेवी और अप्रतिसेवी मानने की कल्पना करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अनुत्तर विमान के देव

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१७ पर भगवतीसूत्र, शतक ५, उद्देशा ४ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—अनुत्तर विमान ना देवता उदीर्ण मोह नथी। अने क्षीण मोह नथी, उपशान्त मोह छै इम कह्यो। इहां मोहने उपशमायो कह्यो, अने उपशान्त मोह तो इग्यारवें गुणठाणे छै। अने देवता तो चौथे गुण ठाणे छै, तिहां तो मोह नो उदय छै। तेह थी समय-समय सात-सात कर्म लागे। मोह नो उदय तो दशवें गुणठाणे ताई छै। अने इहां तो देवता ने उपशान्त मोह कह्यो, ते उत्कट वेद मोहनी आश्री कह्यो। तिहां देवता ने परिचारणा नथी, ते माटे बहुल वेद मोहनी आश्री उपशान्त कह्यो। पिण सर्वथा मोह आश्री उपशान्त मोह नथी कह्यो।' इसके आगे लिखते हैं—'तिम कषाय कुशील ने अपडिसेवी कह्यो, ते पिण विशिष्ट

परिणाम ना धनी आश्री अपडिसेवी कह्यो। पिण सर्व कषाय कुशील चारित्रिया अपडिसेवी नहीं।'

अनुत्तर विमान के देवों के विषय में जो पाठ आया है, उसका उदाहरण देकर कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का प्रतिसेवी कहना सर्वथा अनुचित है। क्योंकि अनुत्तर विमान के देव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हैं। उनमें मोह का पूर्णतः उपशांत होना नितान्त असंभव है। अतः उन्हें उपशान्त मोहवाले कहने का यह अभिप्राय हो सकता है कि उनमें उत्कट वेद मोहनीय का अभाव है। परन्तु यह उदाहरण कषाय-कुशील के सम्बन्ध में घटित नहीं होता, क्योंकि उसको कहीं भी दोष का प्रतिसेवी नहीं कहा है। यदि आगम में कहीं पर भी उसे दोष का प्रतिसेवी कहा होता या किसी अन्य प्रमाण से कषाय-कुशील का प्रतिसेवी होना प्रमाणित होता, तो भगवती के पाठ का यह अभिप्राय माना जा सकता था कि उच्च कोटि के कषाय-कुशील की अपेक्षा से ही वहाँ उसे अप्रतिसेवी कहा है। परन्तु आगम में उसे प्रतिसेवी बताया हो, ऐसा न तो कहीं पाठ ही मिलता है और न किसी अन्य प्रमाण से ही उसका प्रतिसेवी होना सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति में अनुत्तर विमान के देवों का उदाहरण देकर कषाय-कुशील के सम्बन्ध में उल्लिखित पाठ का यह अभिप्राय बताना—'जो उच्चश्रेणी के कषाय-कुशील हैं, उन्हीं को दोष का अप्रतिसेवी कहा है', आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि सभी कषाय-कुशील दोष के अप्रतिसेवी नहीं होते, तो भगवतीसूत्र में कषाय-कुशील मात्र को दोष का अप्रतिसेवी नहीं कहते। किसी अन्य स्थान पर या अन्य आगम में इसको स्पष्ट कर देते या टीकाकार इस विषय को स्पष्ट कर देते, परन्तु आगम एवं टीका में कषाय-कुशील को कहीं भी दोष का प्रतिसेवी नहीं कहा है। अतः उसे विभिन्न कपोलकल्पनाओं से प्रतिसेवी बताने का प्रयत्न करना साम्प्रदायिक दुराग्रह का ही परिणाम है।

सभी छद्मस्थ दोष सेवी नहीं होते

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ १८९ पर स्थानांग के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ अठे पिण इम कह्यो—सात प्रकारे छद्मस्थ जाणिये। अने सात प्रकारे केवली जाणिये। केवली तो ए सातूं ही दोष न सेवे, ते भणी न चूके। अने छद्मस्थ सात दोष सेवे।'

स्थानांगसूत्र स्थान ७ के पाठ से भगवान् महावीर का दोषसेवन करना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वहाँ यह नियम नहीं बताया है कि सभी छद्मस्थ दोष के प्रतिसेवी होते ही हैं। उक्त पाठ का यही अभिप्राय है—'छद्मस्थ में सात दोषों का होना संभव है, केवलियों में नहीं।' सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान

तक के जीव छद्मस्थ ही होते हैं। परन्तु अत्यधिक निर्मल परिणामों के कारण वे दोषों का सेवन नहीं करते। उसी तरह षष्ठम गुणस्थानवर्ती, जो विशिष्ट निर्मल परिणाम वाले हैं, भी दोष के प्रतिसेवी नहीं होते। भ्रमविध्वंसनकार ने भी भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१४ पर इस सत्य को स्वीकार किया है—'अने छट्ठे गुणठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ट निर्मल परिणाम नो धणी शुभ योग में प्रवर्ते छै।'

भगवान् महावीर षष्ठम गुणस्थान में विशिष्ट निर्मल एवं विशुद्ध परिणाम वाले थे, इसलिए वे दोष के अप्रतिसेवी थे। आचारांग की गाथाओं का प्रमाण देकर हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भगवान् महावीर अति विशुद्ध परिणाम वाले थे। उन्होंने छद्मस्थ अवस्था में न तो स्वल्प भी पापाचरण किया और न एक बार भी प्रमाद का सेवन किया। अतः स्थानांगसूत्र के पाठ का प्रमाण देकर भगवान् महावीर के चूकने—पथभ्रष्ट होने की कल्पना करना पूर्णतः गलत है।

यदि कोई व्यक्ति दुराग्रहवश छद्मस्थ में सात दोषों का अवश्य ही सद्भाव बताए, तो उन्हें सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के निर्ग्रन्थों को भी दोष का प्रतिसेवी मानना चाहिए। क्योंकि वे भी छद्मस्थ ही होते हैं। फिर उन्हें प्रतिसेवी क्यों नहीं मानते? यदि यह कहें कि सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के साधु छद्मस्थ होने पर भी अति विशुद्ध परिणाम वाले हैं, इसलिए वे प्रतिसेवी नहीं होते। तो इसी सरल दृष्टि से यह भी समझना चाहिए कि अति विशुद्ध परिणाम वाले षष्ठम् गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ भी दोष का प्रतिसेवन नहीं करते। भगवान् महावीर षष्ठम् गुणस्थान में अत्यधिक विशुद्ध परिणाम वाले थे, अतः वे दोष के प्रतिसेवी नहीं थे। इसलिए गोशालक की प्राण-रक्षा करने के कारण भगवान् को चूका हुआ या पथभ्रष्ट बताना साम्प्रदायिक अभिनिवेश एवं दुराग्रह के कारण आगम में उल्लिखित सत्य को झुठलाना है।

गोशालक को तिल बताना, दोष नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१० पर लिखते हैं—

'गोशाला ने तिल बतायो, लेश्या सिखाई, दीक्षा दीधी, ए सर्व उपयोग चूक ने कार्य कीधा। जो उपयोग देवे अनें जाणे ए तिल उखेल नांखसी तो तिल बतावता इज क्यांने? पिण उपयोग दियां बिना ए कार्य किया छै।'

भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक को तिल बताया, दीक्षा दी और लेश्या सिखाई, यदि यह सब कार्य भगवान् के चूकने के हैं, तो केवलज्ञान होने पर भगवान् ने गोशालक की मृत्यु बताई, जमाली को दीक्षा दी और काली आदि दस रानियों को उनके पुत्रों का मरण बताया, इन सब कार्यों से उनका चूकना क्यों नहीं मानते? क्योंकि उक्त कार्यों का परिणाम भी बुरा हुआ था।

गोशालक अपने मरण का संभव जानकर भयभीत हुआ था। जमाली कुशिष्य हुआ, भगवान् का निन्दक बना और काली आदि दसों रानियाँ पुत्र-मरण की बात सुनकर भगवान् के समवसरण में ही मूर्च्छित होकर गिर गई थीं। इसी तरह भगवान् नेमिनाथ ने सर्वज्ञ होने के बाद संकेत के द्वारा सोमिल ब्राह्मण का मरण बताया था, जिसका फल यह हुआ कि कृष्णजी ने सोमिल के शव को सारे शहर में घसीटने की और घसीटने से पृथ्वी पर जो उसके निशान बने थे, उस पर पानी का छिड़काव करने की आज्ञा दी थी। इस कार्य से भगवान् नेमिनाथ का चूकना क्यों नहीं मानते?

यदि इस सम्बन्ध में यह कहें कि केवलज्ञानी अतीन्द्रियार्थदर्शी, अपरिमित ज्ञानी, कल्पातीत एवं आगम-व्यवहारी होते हैं। वे जो-कुछ करते हैं, उसका रहस्य वे ही जानते हैं। इसलिए आगम-व्यवहारी के कल्पानुसार उनके कार्य को गलत नहीं कहा जा सकता। उसी तरह छद्मस्थ तीर्थंकर भी आगम-व्यवहारी एवं कल्पातीत होते हैं। इसलिए श्रुत-व्यवहारी के कल्प का नाम लेकर उनके कार्य को गलत नहीं कहा जा सकता। अस्तु, गोशालक को तिल बताने, उसे दीक्षा देने आदि कार्यों का प्रमाण देकर उन्हें चूका कहना नितान्त असत्य है।

व्यवहार, ३. आज्ञा व्यवहार, ४. धारणा व्यवहार और ५. जीत व्यवहार। जहाँ केवलज्ञान आदि छः आगमों में से कोई आगम विद्यमान हो, वहाँ प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था आगम से ही दी जाती है, श्रुत आदि से नहीं। जहाँ आगम न हो वहाँ श्रुत व्यवहार से व्यवस्था की जाती है, आज्ञा आदि से नहीं। जहाँ श्रुत न हो वहाँ आज्ञा से; जहाँ आज्ञा न हो वहाँ धारणा से और जहाँ धारणा न हो वहाँ जीत व्यवहार से व्यवस्था करनी चाहिए। परन्तु आज्ञा के होने पर धारणा से और धारणा के होने पर जीत व्यवहार से प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में आगम व्यवहार छः प्रकार का बताया है—१. केवलज्ञान, २. मनःपर्यवज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. चतुर्दश पूर्वधर, ५. दश पूर्वधर और ६. नौ पूर्वधर। अस्तु, पूर्व-पूर्व के सद्भाव में उत्तर से व्यवस्था देने का निषेध किया है। जैसे—केवलज्ञान से सद्भाव में शेष पांच आगम व्यवहार से, मनःपर्यवज्ञान के सद्भाव में शेष चार से, अवधिज्ञान के सद्भाव में शेष तीन से, चतुर्दश पूर्वधर के सद्भाव में शेष दो से, दश पूर्वधर के सद्भाव में नौ पूर्वधर से और नौ पूर्वधर के सद्भाव में श्रुत—ग्यारह अंग से प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करने का निषेध किया है। छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहार से युक्त होते हैं, अतः उनमें श्रुत आदि के व्यवहार से दोष की स्थापना नहीं की जा सकती। भगवान् महावीर को दीक्षा ग्रहण करते ही मनःपर्यवज्ञान हो गया था। इसलिए उन्हें श्रुत आदि व्यवहारों को सामने रखकर आचरण करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उनके सभी व्यवहार आगम-व्यवहार के अनुरूप ही होते थे। अतः उनके आचरण एवं उनकी साधना की श्रुत आदि व्यवहारों के आधार पर आलोचना करना अनुचित है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी अपने 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' के १२३वें उत्तर में इस बात को स्वीकार किया है।

'प्रश्न—दश वर्ष पछे भगवती भणवी व्यवहार उद्देशा १० कह्यो, तो धनो नव मासे ११ अंग भण्यो किम?

उत्तर—वीर नी आज्ञाइं दोष नहीं, ते ठामे आगम व्यवहार प्रवर्ततो सूत्र व्यवहार रो काम नहीं। व्यवहार उद्देशे १० तथा ठाणांग ठाणे ५ कह्यो जिवारे आगम व्यवहार है, तिवारे आगम व्यवहार थापवो, अने आगम व्यवहार न है, तिवारे सूत्र-व्यवहार थापवो, इम कह्यो।'

भ्रमविध्वंसनकार ने उक्त प्रश्नोत्तर में आगम व्यवहार के होने पर श्रुत व्यवहार का उपयोग नहीं करना स्पष्ट शब्दों में लिखा है। भगवान् महावीर के समय में आगम-व्यवहार का उपयोग होना स्वीकार किया है। तथापि श्रुत व्यवहार के अनुसार भगवान् में दोष स्थापित करना आगम के साथ-साथ इनके अपने कथन से भी सर्वथा विरुद्ध है।

गोशालक को शिष्य बनाया

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २२४ पर भगवती, शतक १५ के पाठ की टीका की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ टीका में पिण कह्यो—ए अयोग्य ने भगवान् अंगीकार कीधो, ते अक्षीण राग पणे करी, तेहना परिचय करी, स्नेह अनुकम्पाना सद्भाव थी। अने छद्मस्थ छै, ते माटे आगमिया काल ना दोष ना अजाणवा थकी अंगीकार कीधो कह्यो। राग, परिचय, स्नेह, अनुकम्पा कही। ते स्नेह अनुकम्पा कहो, भावे मोह-अनुकम्पा कहो। जो ए कार्य करवा योग्य होवे तो इम क्यां ने कहता?'

भगवतीसूत्र, श. १५ की टीका से भगवान् महावीर का चूकना सिद्ध नहीं होता। वहाँ टीकाकार ने लिखा है—

अवश्यं भाविभावत्वाच्चैतस्यार्थस्येति विभावनीयम्।

गोशालक को, अवश्य होनहार होने से, भगवान् ने उसे शिष्य रूप में स्वीकार किया।

इस प्रकार टीकाकार ने भगवान् के चूकने का स्पष्टतः निषेध किया है। यदि कोई यह कहे कि टीका में गोशालक को स्वीकार करने का कारण उस पर स्नेहपूर्वक अनुकम्पा करना कहा है और साधु का किसी पर स्नेह करना गुण नहीं, दोष है। यह भ्रमविध्वंसनकार की असत्य कल्पना है। क्योंकि अनुकम्पा, दया, अपने धर्म, धर्माचार्य एवं अपने सहधर्मी भाइयों पर स्नेह करना दोष नहीं है, गुण है। आगम में चोरी, जारी, हिंसा, झूठ आदि दुष्कर्मों पर स्नेह एवं अनुराग रखना दोषरूप कहा है, न कि गुणों के प्रति अनुराग रखना। अतः भगवान् ने गोशालक पर जो स्नेहयुक्त भाव से अनुकम्पा की, उसे सावद्य कहना भारी भूल है।

यदि कोई यह कहे—'गोशालक अयोग्य व्यक्ति था, अतः उस पर स्नेह करना बुरा था।' इसका समाधान करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

छद्मस्थतया अनागत दोषा अनवगमात्।

भगवान् ने जिस समय गोशालक को शिष्य रूप में स्वीकार किया, उस समय वह अयोग्य नहीं था, किन्तु पीछे से अयोग्य हुआ। भगवान् छद्मस्थ होने के कारण इस अनागत दोष को नहीं जानते थे।

इस तरह टीकाकार ने गोशालक को स्वीकार करने के तीन हेतु दिए हैं और तीनों में भगवान् को दोष लगने का निषेध किया है। इसके लिए प्रथम हेतु यह दिया कि भगवान् ने उस पर स्नेहयुक्त अनुकम्पा करके उसे शिष्य रूप में स्वीकार किया। इसके लिए जब यह कहा गया—'गोशालक अयोग्य था, उस पर स्नेह क्यों किया'—इस आपत्ति का निवारण करने के लिए दूसरा कारण यह बताया—'भगवान् छद्मस्थ थे, इसलिए भविष्य में उसके अयोग्य होने की बात को नहीं जानते थे।' इसमें भी जब यह आपत्ति की गई—'भगवान् छद्मस्थ होकर भी भविष्य की बात जान सकते थे, जैसे उन्होंने गोशालक को बताया था कि इस तिल के पौधे में तिल के इतने दाने होंगे।' अतः टीकाकार ने पूर्व के दोनों हेतुओं से सन्तुष्ट न होकर तीसरा हेतु देकर स्पष्ट किया कि गोशालक को स्वीकार करना अवश्य होनहार था, इसलिए भगवान् ने उसे स्वीकार किया। इसमें भगवान् को कोई दोष नहीं लगा। इसके पूर्व के दोनों हेतुओं में भी भगवान् को दोष लगने का निषेध किया है, समर्थन नहीं। क्योंकि एक ही विषय में टीकाकार दो तरह के विचार व्यक्त नहीं कर सकता। यदि वह दो भिन्न राय दे, तो उसकी बात **स्थाणुर्वा पुरुषोवा** की तरह संशयात्मक होने से अप्रामाणिक होगी।

अस्तु, टीकाकार ने भगवान् के द्वारा गोशालक को स्वीकार करने के कार्य को दोषयुक्त नहीं कहा है। क्योंकि आगम–व्यवहारी पुरुष अनागत में होने वाली घटना को अपने ज्ञान के द्वारा जानकर उसका अनुष्ठान करते हैं, इसलिए उसमें उन्हें दोष नहीं लगता। जैसे केवलज्ञान होने पर भगवान् ने जमाली को दीक्षा दी, उसी तरह गोशालक के विषय में समझना चाहिए। अतः भगवती की टीका का नाम लेकर भगवान् को चूका कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

छद्मस्थ तीर्थकर का कल्प

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २२४ पर लिखते हैं—

'तथा छद्मस्थ तीर्थंकर दीक्षा लेवे जिण दिन कोई साथे दीक्षा लेवे ते तो ठीक छै। पिण तठा पछे केवल ज्ञान उपना पहेला और ने दीक्षा देवे नहीं। ठाणांग ठाणा नव अर्थ में एहवी गाथा कही छै।'

स्थानांग स्थान ६ के टब्बा अर्थ में उल्लिखित गाथा का नाम लेकर भगवान् को चूका कहना मिथ्या है। प्रथम तो उक्त गाथा आगम या किसी प्रामाणिक टीका में नहीं पाई जाती, इसलिए वह प्रमाण रूप से नहीं मानी जा

सकती। दूसरी बात यह है कि उक्त गाथा में **न य सीसवग्गं दिक्खंति** लिखा है—'छद्मस्थ तीर्थंकर शिष्य वर्ग को दीक्षा नहीं देते।' यहाँ शिष्य वर्ग को दीक्षा देने का निषेध किया है, किसी एक शिष्य को दीक्षा देने का नहीं। अतः इस गाथा से गोशालक को शिष्य रूप में स्वीकार करने से भगवान् का चूकना प्रमाणित नहीं होता। अतः किसी अज्ञात व्यक्ति द्वारा रचित गाथा का नाम लेकर भगवान् के पथभ्रष्ट होने की बात कहना भारी भूल है।

वस्तुत छद्मस्थ तीर्थंकर वीतराग तीर्थंकर के समान ही कल्पातीत होते हैं। इसलिए उनके कार्य को शास्त्रीय कल्प के अनुसार दोषयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आगमिक कल्प कल्पस्थित साधुओं पर ही लागू होता है, कल्पातीत पर नहीं। कल्पातीत साधु अपने ज्ञान में जैसा देखते हैं, वैसा करते हैं। यह उनका दोष नहीं, गुण है। स्थानांग के टब्बा अर्थ में उल्लिखित गाथा तीर्थंकर के कल्प को नहीं बताती है—'तीर्थंकर को अमुक कार्य करना कल्पता है और अमुक-अमुक कार्य करना नहीं कल्पता है।' कल्पातीत का कोई कल्प नहीं होता। अस्तु तीर्थंकर छद्मस्थ अवस्था में प्रायः जो कार्य करते हैं, इस गाथा में उसका वर्णन मात्र है। अतः उक्त गाथा का नाम लेकर तीर्थंकर को कल्प में कायम करके उनके चूकने—पथभ्रष्ट होने की कल्पना करना सर्वथा असत्य है।

भगवान् ने पाप-सेवन नहीं किया

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

'अने केई एक पाषंडी कहे—गौतम ने भगवान् कह्यो—हे गौतम! १२ वर्ष १३ पक्ष में मोंने किंचिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं। ते झूठ रा बोलणहार छै।'

भगवान् को बारह वर्ष एवं तेरह पक्ष में दोष नहीं लगने की बात भगवान् के द्वारा सुधर्मा स्वामी ने सुनकर आचारांगसूत्र में जम्बू स्वामी को बताई थी। क्योंकि आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के नवम अध्ययन के प्रारम्भ में ही सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

अहा सुयं वइस्सामि।

मैंने जैसा सुना है, उसी रूप में कहूँगा।

इससे यह ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामी ने भगवान् महावीर की छद्मस्थ अवस्था के वर्णन को उनके मुख से सुनकर ही जम्बू स्वामी से कहा था। आचारांग के प्रारम्भ में भी उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है—'हे आयुष्मन्! भगवान् महावीर ने ऐसा कहा था, यह मैंने सुना है'—

सुयं मे आउसं! ते णं भगवया एवमक्खायं।

इससे यह प्रमाणित होता है कि आचारांग में कथित सब बातें भगवान् द्वारा कही हुई हैं। अतः उसमें कथित बातों को सत्य नहीं मानना गणधरों की ही नहीं, तीर्थकर की वाणी को भी नहीं मानना है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—'भगवान् महावीर इन स्थानों पर निवास करते हुए तेरह वर्ष पर्यन्त रात-दिन संयम-साधना में प्रवृत्त रहते थे और प्रमादरहित होकर धर्म या शुक्ल ध्यान में संलग्न रहते थे—

ए-ए हिं मुणी सयणेहिं, समणे असिय तेरस वासे।
राइंदियं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाइ।।

—आचारांगसूत्र, १, ९, २, ४

प्रस्तुत पाठ में भगवान् को तेरह वर्ष पर्यन्त प्रमाद रहित होकर विचरने का लिखा है और इसी अध्ययन में आगे चलकर एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है।

अकसाई विगयगेही, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई।
छउमत्थो वि परक्कममाणो, न पमायं सइं वि कुव्वीथा।।

—आचारांगसूत्र, १, ६, ४, १५

प्रस्तुत गाथा में छद्मस्थ अवस्था में भगवान् के द्वारा एक बार भी प्रमाद-सेवन का निषेध किया है। यह कथन गणधरों का स्व-कल्पित नहीं, भगवान् के मुख से सुना हुआ है, यह हम पहले बता चुके हैं। अतः आचारांगसूत्र में कथित इस सत्य को आवृत्त करने के लिए भ्रमविध्वंसनकार ने यह असत्य कल्पना की कि भगवान् ने गौतम स्वामी से १२ वर्ष और १३ पक्ष तप पाप नहीं लगने की बात नहीं कही।

उक्त कथन में सत्यता का पूर्णतः अभाव है। क्योंकि भगवान् ने सुधर्मा स्वामी से छद्मस्थ अवस्था में पाप का आचरण एवं प्रमाद का सेवन नहीं करने का स्पष्ट शब्दों में आघोष किया है। भले ही गौतम को लक्ष्य करके कहा जाए या सुधर्मा को लक्ष्य करके, कथन तो भगवान् महावीर का ही है। फिर इसे सत्य क्यों नहीं मानते?

द्रव्य और भाव-निद्रा

भगवान् को छद्मस्थ अवस्था में दस स्वप्न आए थे। उस समय उन्हें अन्तर्मुहूर्त तक निद्रा आई थी। निद्रा लेना प्रमाद का सेवन करना है। अतः आचारांगसूत्र की गाथा में यह कैसे कहा गया कि भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था में एक बार भी प्रमाद का सेवन नहीं किया?

भगवान् महावीर को जब दस स्वप्न आए, उस समय उन्हें अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जो निद्रा आई थी, वह भाव-निद्रा नहीं द्रव्य-निद्रा थी। आगम में मिथ्यात्व एवं अज्ञान को भाव-निद्रा कहा है, सोने मात्र को नहीं। सिर्फ शयन करना द्रव्य- निद्रा है, उसे आगमिक विधानानुसार लेता हुआ साधु दोष एवं पाप का सेवन नहीं करता। भ्रमविध्वंसनकार को भी यह बात मान्य है। उन्होंने भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४०६ पर लिखा है—

'तिहां भाव-निद्रा थी तो पाप लागे छै। अनें द्रव्य-निद्रा थी तो जीव दबे छै।'

अतः द्रव्य-निद्रा आने मात्र से भगवान् को प्रमाद का सेवन करने वाला नहीं कह सकते। अतः आचारांग की पूर्वोक्त गाथा में जो भगवान् के द्वारा

छद्मस्थ अवस्था में एक बार भी प्रमाद-सेवन नहीं करने का उल्लेख है, वह अक्षरशः सत्य है, यथार्थ है। उसे न मानकर भगवान् के चूक जाने एवं प्रमाद-सेवन करने की प्ररूपणा करने का दुराग्रह रखना नितान्त असत्य है।
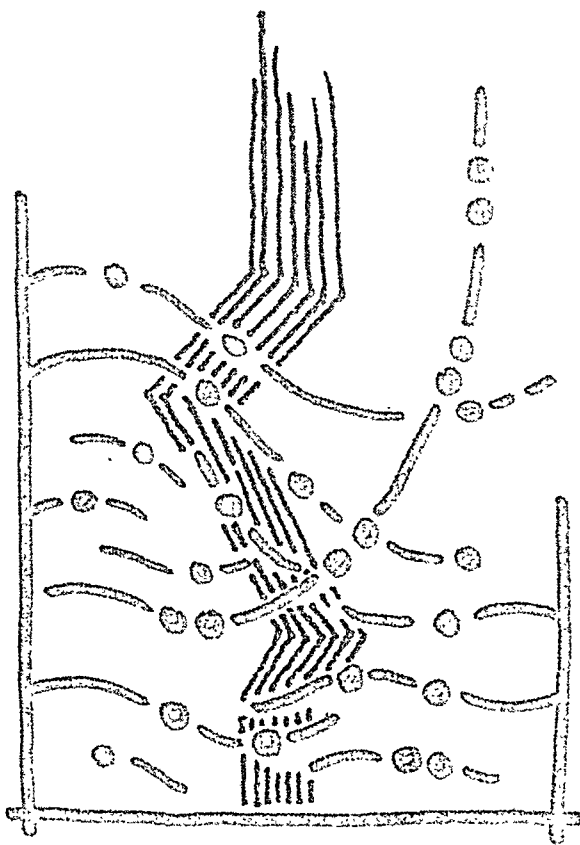
लेश्या-अधिकार

लेश्या
लेश्या के भेद
कषाय-कुशील और लेश्या
साधु में कृष्ण लेश्या नहीं होती
प्रतिसेवना और लेश्या
साधु में रौद्र ध्यान नहीं होता
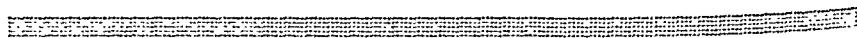
लेश्या

लेश्या किसे कहते हैं? संयमनिष्ठ साधु में कितनी लेश्याएँ होती हैं?

प्रज्ञापनासूत्र की टीका में आचार्यों ने लेश्या की परिभाषा इस प्रकार की है—

लिश्यते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या—कृष्णादि द्रव्य साचिव्यादात्मनः परिणाम विशेषः। यथा चोक्तम्—

कृष्णादि द्रव्य साचिव्यात्परिणामोयआत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते।।

जिसके द्वारा आत्मा का कर्मों के साथ सम्बन्ध होता है, उसे लेश्या कहते है। कृष्णादि द्रव्य के संसर्ग से स्फटिक मणि की तरह आत्मा का जो परिणाम-विशेष होता है, उसे लेश्या कहते हैं।

वह लेश्या दो प्रकार की है—द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या। भाव-लेश्या मुख्य रूप से द्रव्य के संसर्ग से पैदा होने वाला आत्मा का परिणाम है। द्रव्य-लेश्या मुख्य रूप से पुद्‌गल का परिणाम-पर्याय है।

संयमनिष्ठ साधु में तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन भाव-लेश्याएँ होती हैं, कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन भाव-लेश्याएँ नहीं होतीं। इस विषय में भगवतीसूत्र एवं उसकी टीका में स्पष्ट लिखा है—

सलेस्सा जहा ओहिया, किण्हलेसस्स, नीललेसस्स, काउलेसस्स जहा ओहिया, जीवा णवरं पमत्ता-अपमत्ता न भाणियव्वा। तेउलेसस्स, पद्मलेसस्स, सुक्कलेसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धा णो भाणियव्वा।

—भगवतीसूत्र, १, १, १७

सलेस्साणं भन्ते! जीवा कि आयारंभे, इत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थाने सलेश्या इति वाच्यं इत्ययमेको दण्डकः। कृष्णादि लेश्या भेदात् तदन्ये षट् तदेवमेते सप्त तत्र 'किण्हलेसस्स' इत्यादि कृष्ण

लेश्यस्स, नील लेश्यस्य, कापोत लेश्यस्य च जीवराशेर्दण्डको यथौधिक जीवदण्डकस्तथाऽध्येतव्यः प्रमत्ताप्रमत्त विशेषण वर्ज्यः कृष्णादिषु हि अप्रशस्त भावलेश्यासु संयतत्वं नास्ति यच्चोच्यते पुव्वं पडिवन्ना ओ पुण 'अनेरिए उ लेस्साए' त्ति तद् द्रव्यलेश्यां प्रतीत्येति मंतव्यम्। ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावः तत्र सूत्रोच्चारणमेवम्—

किण्हलेस्सा णं भन्ते! जीवा किं आयारंभा, परारंभा, तदुभयारंभा, अणारंभा?

गोयमा! आयारंभा वि जाव णो अणारंभा।

से केणट्ठे णं भन्ते! एवं वुच्चइ?

गोयमा! अविरयं पडुच्च।

एवं नील-कापोत लेश्या दण्डकावपीति। तथा तेजोलेश्यादेर्जीवराशेर्दण्डका यथौधिक जीवास्तथा वाच्याः नवरं तेषु सिद्धा न वाच्याः, सिद्धानामलेश्यत्वात्।

तेउ लेस्सा णं भन्ते! जीवा किं आयारंभा ४?

गोयमा! अत्थे गइया आयारंभा वि जाव णो अणारंभा। अत्थे गइया नो आयारंभा जाव अणारंभा।

से केणट्ठे णं भन्ते! एवं वुच्चइ?

गोयमा! दुविहा तेउलेस्सा पण्णत्ता—संजयाए, असंजयाए।

जीव दो प्रकार के होते हैं—१. सलेश्य और २. अलेश्य। सलेश्य जीवों का वर्णन सामान्य जीवों के वर्णन के समान समझना चाहिए। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों का वर्णन भी समुच्चय जीवों के समान समझना चाहिए, परन्तु इनमें प्रमादी और अप्रमादी के ये दो भेद नहीं होते। क्योंकि कृष्ण, नील और कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में संयतत्व—साधुत्व नहीं रहता। कहीं-कहीं साधुओं में छः लेश्याओं का भी उल्लेख मिलता है, वह द्रव्य-लेश्या की अपेक्षा से समझना चाहिए, भाव-लेश्या की अपेक्षा से नहीं। अतः कृष्ण, नील एवं कापोत इन तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में प्रमत्त और अप्रमत्त रूप दो भेद नहीं करने चाहिए।

हे भगवन्! कृष्ण लेश्या वाले जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी?

हे गौतम! कृष्ण लेश्या वाले जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नहीं।

हे भगवन्! ऐसा क्यों कहते हैं?

हे गौतम! कृष्ण लेश्या वाले जीव, अविरति की अपेक्षा से आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नहीं। इसी तरह नील और कापोत लेश्या वाले जीवों का भी समझना चाहिए।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवों को समुच्चय जीवों के समान समझना चाहिए, परन्तु इन में सिद्ध जीवों को नहीं कहना चाहिए। क्योंकि सिद्धों में लेश्या नहीं होती।

हे भगवन्! तेजोलेश्या वाले जीव आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं या अनारंभी?

हे गौतम! तेजोलेश्या वाले कुछ जीव आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नहीं और कुछ जीव आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी नहीं होते, अनारंभी होते हैं।

हे भगवन्! तेजोलेश्या वाले जीवों में ऐसा भेद क्यों होता है?

हे गौतम! तेजोलेश्या वाले जीव दो प्रकार के होते हैं—संयत और असंयत। संयत भी दो प्रकार के होते हैं—प्रमत्त और अप्रमत्त। अप्रमत्त संयत आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी नहीं, अनारंभी होते हैं। परन्तु अशुभ योगी प्रमत्त संयत आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी होते हैं, अनारंभी नहीं।

प्रस्तुत पाठ में बताया है कि कृष्ण, नील और कापोत लेश्या वाले जीवों को ओधिक दण्डक के समान समझना चाहिए। इसमें विशेष बात यह है कि उक्त लेश्याओं में प्रमादी, अप्रमादी के दो भेद नहीं होते। मूल पाठ का अभिप्राय बताते हुए टीकाकार ने लिखा है कि कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व नहीं होता, इसलिए इन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में प्रमत्त और अप्रमत्त के दो भेदों का निषेध किया है।

प्रस्तुत पाठ के भावों को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने साधु में कृष्ण, नील और कापोत—तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का निषेध किया है। अतः साधु में तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त भाव-लेश्याएँ ही होती हैं।

साधु में अप्रशस्त लेश्या नहीं होती

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २४२ पर लिखते हैं—

'अठ अठे ओधिक पाठ कह्यो—तिण में संयत रा दो भेद प्रमादी, अप्रमादी किया। अनें कृष्ण, नील कापोत लेश्या ने ओधिक नो पाठ कह्यो। तिम कहिवो।

पिण एतलो विशेष संयती रा प्रमादी, अप्रमादी ए दो भेद न करवा। ते किम? प्रमत में कृष्णादिक तीन लेश्या हुवे। अने अप्रमत्त में न हुवे, ते माटे दो भेद वर्ज्या।'

भगवती के उक्त पाठ में **पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा** का जो प्रयोग किया है, उसका टीका के अनुसार अर्थ होता है—कृष्ण, नील और कापोत—इन तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में प्रमादी, अप्रमादी दोनों ही प्रकार के साधु नहीं होते। परन्तु साधु से भिन्न जीव होते हैं। अतः कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में प्रमादी साधु का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि आगमकार को उक्त तीनों भाव-लेश्याओं में केवल अप्रमत्त संयत का निषेध करना इष्ट होता, तो वह **पमत्तापमत्ता न भाणियव्वा** ऐसा न लिखकर 'अपमत्ता न भाणियव्वा' इतना ही लिखते। यदि इस प्रकार का उल्लेख होता, तो कृष्णादि तीनों भाव-लेश्याओं में प्रमादी का होना एवं अप्रमादी का नहीं होना स्पष्ट हो जाता, परन्तु आगम में ऐसा न लिखकर स्पष्ट रूप से **पमतापमत्ता न भाणियव्वा** ऐसा लिखा है और इसका यही अर्थ होता है कि कृष्णादि तीनों भाव-लेश्याओं में प्रमादी-अप्रमादी दोनों प्रकार के साधु नहीं होते। टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है और टब्बा अर्थ में भी इसी को स्वीकार किया है।

एतलो विशेष प्रमत्त-अप्रमत्त वर्जित कहिवा। कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्या विषे संयत पणो नथी।

प्रस्तुत टब्बा अर्थ में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व नहीं होता। इसलिए इनमें प्रमादी एवं अप्रमादी दोनों तरह के संयतों का निषेध किया है। तथापि उक्त मूल पाठ, उसकी टीका एवं उसके टब्बा अर्थ—तीनों को न मानकर अपनी कपोलकल्पना से कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व होने की प्ररूपणा करना नितान्त असत्य है। जैसे उक्त पाठ, उसकी टीका एवं टब्बा अर्थ में कृष्णादि तीनों भाव-लेश्याओं में प्रमत्त एवं अप्रमत्त संयत के होने का निषेध किया है, उसी प्रकार भगवती, श. १, उ. २ में उक्त तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में सराग, वीतराग, प्रमत्त, अप्रमत्त—इन चारों प्रकार के संयतों का नहीं होना कहा है।

स लेस्सा णं भन्ते! नेरइया सव्वे समाहारगा?

ओहिया णं सलेस्साणं सुक्कलेस्साणं ए-ए सि णं तिन्नं तिव्हं एक्को गमो। कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं वि एक्को गमो। नवरं वेदणाए मायी-मिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगाय भाणियव्वा। मणुसा किरियासु सराग-वीयराग-पमत्तापमत्ता न

भाणियव्वा। काउलेस्सा णं वि एसेव गमो, नवरं नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा। तेउलेस्सा, पम्हलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा। नवरं मणुसा सराग-वीयराग न भाणियव्वा।

—भगवतीसूत्र, १, २, २२

हे भगवन्! क्या नारकी के सभी सलेशी जीवों का आहार एक समान है?

ओघिक, सलेशी और शुक्ललेशी इन तीनों के लिए एक समान पाठ कहना चाहिए और कृष्ण एवं नील लेश्या वाले जीवों के लिए भी एक-सा पाठ कहना चाहिए। परन्तु वेदना के विषय में यह अन्तर है—मायी-मिथ्यादृष्टि जीव महान् वेदना वाले होते हैं और अमायी-सम्यग्दृष्टि जीव अल्पवेदना वाले होते हैं। मनुष्य में क्रियासूत्र में यद्यपि ओघिक दण्डक में सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी कहे हैं, तथापि कृष्ण और नील लेश्या के दण्डक में इन्हें नहीं कहना चाहिए। कापोत लेश्या का दण्डक भी नील लेश्यावत् समझना चाहिए, इसमें विशेष बात यह है—कापोतलेशी नारकी जीवों को ओघिक दण्डक के समान कहना चाहिए। तेजो, पद्मलेश्या वाले जीवों को ओघिक दण्डक की तरह कहना, उसमें अन्तर इतना ही है—सरागी-वीतरागी नहीं कहना।'

उक्त पाठ में कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं में सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकार के साधुत्व का निषेध किया है। साधु में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ नहीं होतीं। इसलिए उक्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व होने की प्ररूपणा करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

लेश्या के भेद

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २४६ पर लिखते हैं—

'सरागी, वीतरागी, प्रमादी, अप्रमादी भेद कृष्ण, नील संयति मनुष्य रा नहीं हुवे। वीतरागी अने अप्रमादी में कृष्ण, नील लेश्या न हुवे ते माटे दो-दो भेद न हुवे। सरागी में तो कृष्ण, नील लेश्या हुवे, पर वीतरागी में न हुवे, ते माटे संयति रा दो भेद—सरागी, वीतरागी न करवा। अने प्रमादी में तो कृष्ण, नील लेश्या हुवे, परं अप्रमादी में न हुवे, ते माटे सरागी रा दो भेद—प्रमादी, अप्रमादी न करवा। इण न्याय कृष्ण-नील लेशी संयति रा सरागी, वीतरागी, प्रमादी, अप्रमादी भेद करवा वर्ज्या, परं संयति वर्ज्यो नहीं। संयति में कृष्ण, नील लेश्या छै। अने संयति में कृष्णादिक न हुवे तो इमि कहता **संजया न भाणियव्वा।**

कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में संयत नहीं होते। इसलिए भगवतीसूत्र के उक्त पाठ में सरागी, वीतरागी, प्रमादी, अप्रमादी चारों प्रकार के साधुओं का नहीं होने का उल्लेख किया है, केवल संयतियों के भेद का नहीं। अस्तु, इस पाठ का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रमादी और सरागी में कृष्णादि तीनों भाव-लेश्याएँ पाई जाती हैं और अप्रमादी एवं वीतरागी संयत में नहीं। क्योंकि इसी पाठ में आगे चलकर कहा है—तेज और पद्म लेश्याओं में सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के साधु नहीं होते। इसका तात्पर्य यही है कि सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के साधुओं में तेज और पद्म लेश्याएँ नहीं होतीं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सरागी में तेज और पद्म लेश्या पाई जाती है और वीतरागी में नहीं। क्योंकि अष्टम, नवम और दशम गुणस्थानवर्ती जीव सरागी ही होते हैं। परन्तु उनमें तेज और पद्म लेश्या नहीं, केवल शुक्ल लेश्या ही होती है। अस्तु जैसे सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के साधुओं में तेज और पद्म लेश्या का निषेध किया है, उसी प्रकार सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकार के साधुओं में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं के होने का निषेध किया है। यदि कोई व्यक्ति दुराग्रहवश सरागी और प्रमादी में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं के सद्भाव की प्ररूपणा करे, तो उसे सरागी में तेज और पद्म लेश्या भी माननी चाहिए। परन्तु सरागी में तेज और पद्म लेश्या क्यों

नहीं मानते? यदि वे तेज और पद्म लेश्या में सरागी का होना स्वीकार कर लें, तो उन्हें अष्टम, नवम और दशम गुणस्थान में भी तेज और पद्म लेश्या का सद्भाव मानना होगा। क्योंकि ये तीनों गुणस्थान सरागी हैं। परन्तु यह आगम-विरुद्ध मान्यता है। आगम में अष्टम, नवम, दशम गुणस्थान में केवल एक शुक्ल लेश्या का ही उल्लेख है। अतः जैसे सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के संयतों में तेज और पद्म लेश्या का निषेध किया है, उसी प्रकार सरागी, वीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकार के साधुओं में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का निषेध समझना चाहिए।

यदि कोई यह कहे कि तेज और पद्म लेश्या में सरागी और वीतरागी दोनों प्रकार के साधुओं का निषेध किया है, अतः संयमी पुरुषों में उक्त दोनों लेश्याएँ नहीं होनी चाहिए, ऐसा कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उक्त पाठ में चार प्रकार के संयति कहे हैं—प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। उनमें षष्ठम गुणस्थानवर्ती साधु प्रमादी, सप्तम गुणस्थानवर्ती साधु अप्रमादी, अष्टम से दशम गुणस्थानवर्ती साधु सरागी और एकादशादि गुणस्थान वाले वीतरागी माने गए हैं। इसलिए षष्ठम और सप्तम गुणस्थान वाले संयतियों में तेज और पद्म लेश्या का निषेध नहीं किया है। क्योंकि यहाँ सरागी शब्द से अष्टम से दशम गुणस्थान पर्यन्त के संयत पुरुषों को ही ग्रहण किया है, अतः षष्ठम और सप्तम गुणस्थान में तेज और पद्म लेश्या का निषेध नहीं किया जा सकता।

परन्तु जो व्यक्ति कृष्ण, नील लेश्या वाले भगवती के पाठ में कृष्णादि तीन भाव-लेश्याओं में केवल प्रमादी, अप्रमादी, सरागी, वीतरागी के भेद होने का निषेध मानते हैं, उनके मत में तेज, पद्म लेश्या में भी सरागी और वीतरागी के भेद का ही निषेध मानना चाहिए, परन्तु साधु में तेज और पद्म लेश्या होने का नहीं। जैसे वे कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में प्रमादी और सरागी का सद्भाव मानते हैं, उसी तरह तेज और पद्म लेश्या में अष्टमादि गुणस्थानवर्ती सरागी साधुओं को क्यों नहीं मानते? अतः जैसे अष्टमादि गुणस्थानवर्ती सरागी संयत में तेज, पद्म लेश्या नहीं होती, उसी तरह चारों प्रकार के संयति पुरुषों में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव नहीं मानना चाहिए।

यदि कोई यह कहे—कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में संयति मात्र का निषेध करना था, तो आगमकार ने पदलाघवात्—'संजया न भाणियव्वा' इतना ही क्यों नहीं लिखा? ऐसा लिखने से संयति मात्र का निषेध हो जाता और पद का भी लाघव होता।

वस्तुतः आगमकार वैयाकरणों की तरह पदलाघव के पक्षपाती नहीं थे। आगम की वर्णन शैली पदलाघव करके, संकोच करके लिखने की कम रही है।

जैसे जहाँ केवल पाणाणुकंपयाए इतने पाठ से काम चल सकता था, वहाँ उसके साथ भूयाणु कम्पयाए जीवांनुकम्पयाए, सत्तानुकम्पयाए, इत्यादि तीन शब्दों का और प्रयोग किया। उसी तरह यहाँ संजया न भाणियव्वा न लिखकर संयत के चारों भेदों का उल्लेख किया है। अस्तु, यह आगमकार की अपनी एक वर्णन शैली है, परन्तु ऐसा लिखने का यह अर्थ समझना भूल है कि आगम में संयत मात्र का नहीं, उसके भेदों का उल्लेख किया है।

लेश्या और साधना

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २४९ पर प्रज्ञापनासूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'इहां पिण कृष्णलेशी मनुष्य रा तीन भेद कह्या छै—संयति, असंयति, संयतासंयति—ते न्याय संयति में पिण कृष्णादिक हुवे।'

प्रज्ञापना सूत्र के पाठ का नाम लेकर संयति में कृष्णादि अप्रशस्त भाव लेश्याओं का सद्भाव बताना नितान्त असत्य है। भगवतीसूत्र अंग है और प्रज्ञापनासूत्र उपांग है। इसलिए उसमें भगवतीसूत्र के कथन के विरुद्ध साधु में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं के सद्भाव का उल्लेख नहीं हो सकता। अंगों में प्ररूपित सिद्धान्त का उपांगसूत्र समर्थन करते हैं, खण्डन नहीं।

कण्ह लेस्सा णं भन्ते! नेरइया सव्वे समाहारा, समसरीरा सव्वे व पुच्छा?

गोयमा! जहा ओहिया, नवरं नेरइया वेदणाए मायी-मिच्छादिट्ठी उववन्नगा य अमायी सम्मदिट्ठी उववन्नगा य भाणियव्वा, सेसं तहेव जहा ओहिया णं। असुरकुमारा जाव बाणमंतरा, एते जहा ओहिया। नवरं मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो जाव तत्थ णं जे ते सम्मदिट्ठी ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा—संजया, असंजया, संजयासंजया, जहा ओहिया णं।

—प्रज्ञापनासूत्र, १७, २१३

क्या कृष्ण लेश्यावाले नारकी सब समान आहार वाले एवं समान शरीर वाले होते हैं?

हे गौतम! जैसा औधिक दण्डक में कहा है, वैसा इसमें कहना चाहिए। यहाँ विशेष यह है—मायी-मिथ्यादृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे महान् वेदना वाले होते हैं और जो सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं, वे अल्प वेदना वाले होते हैं, शेष सबको औधिक दण्डक की तरह समझना चाहिए। असुरकुमार और वाणव्यन्तरों को भी औधिक दण्डकवत् कहना चाहिए। मनुष्यों में यह

अन्तर है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिविध होते हैं—संयत, असंयत और संयतासंयत। शेष सबको औधिक दण्डक की तरह कहना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में 'जहा ओहियाणं' का प्रयोग करके संयति जीवों का भेद औधिक दण्डक की तरह कहा है। औधिक दण्डक में संयति के चार भेद किए हैं—प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी। भगवतीसूत्र में उक्त चारों प्रकार के साधुओं में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का नहीं होना कहा है। इसलिए इस पाठ में भी वही बात समझनी चाहिए। यहाँ 'जहा ओहियाणं' का प्रयोग करके उक्त चारों प्रकार के साधुओं को कृष्ण लेश्या से अलग किया गया है, उनमें कृष्ण लेश्या का सद्भाव नहीं कहा है। अन्यथा अप्रमादी और वीतरागी में भी कृष्ण लेश्या माननी पड़ेगी। क्योंकि औधिक दण्डक में समुच्चय लेश्या के अंदर संयति के प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी चारों ही भेद कहे गये हैं। यदि इस पाठ से इनमें कृष्ण लेश्या का सद्भाव माना जाए, तो प्रमादी और सरागी की तरह अप्रमादी और वीतरागी में भी कृष्ण लेश्या का सद्भाव सिद्ध होगा। परन्तु अप्रमादी और वीतरागी में कृष्ण लेश्या मानना स्वयं भ्रमविध्वंसनकार को भी इष्ट नहीं है। इसलिए इससे यही सिद्ध होता है कि प्रज्ञापना-सूत्र में भगवती सूत्र के पूर्वोक्त पाठ की तरह कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में चारों प्रकार के साधुओं का निषेध किया गया है। अतः उक्त पाठ का प्रमाण देकर साधु में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

कषाय-कुशील और लेश्या

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३७ पर भगवती, श. २५, उ. ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे तीर्थकर में छद्मस्थ पणे कषाय-कुशील नियंठो कह्यो छै। तिणसूं भगवान् में कषाय-कुशील नियंठो हुन्तो अने कषाय-कुशील नियंठे छः लेश्या कही छै।' आगे चलकर लिखते हैं—'ते न्याय भगवान् में छः लेश्या हुवे।'

भगवती, श. २५, उ. ६ में कषाय-कुशील में समुच्चय रूप से छः लेश्याएँ कही हैं। परन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं किया कि इनमें द्रव्य रूप कौन-सी हैं और भाव रूप कौन-सी? अतः यहाँ यह देखना है कि कषाय-कुशील में जो छः लेश्याएँ कही हैं, वे द्रव्य रूप हैं या भाव रूप?

भगवती, श. १, उ. १ के मूल पाठ एवं उसकी टीका में टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व नहीं होता। इस प्रकार उक्त लेश्याओं में साधुत्व का निषेध किया है। अतः जहाँ कहीं साधु में कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याओं का कथन है, वहाँ द्रव्य-लेश्या की अपेक्षा से समझना चाहिए, भाव-लेश्या की अपेक्षा से नहीं।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती, श. २५, उ. ६ के पाठ में कषाय-कुशील में द्रव्य-लेश्याएँ कही हैं, भाव लेश्याएँ नहीं। अतः उक्त पाठ का प्रमाण देकर कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अप्रतिसेवी है

कषाय-कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष नहीं लगाता, इस सम्बन्ध में क्या प्रमाण है?

भगवतीसूत्र में कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ को दोष का अप्रतिसेवी कहा है।

कसाय कुसीले पुच्छा?

गोयमा! नो पडिसेविए होज्जा एवं नियंठेऽवि वउसेऽवि।

—भगवतीसूत्र, २५, ६, प्रश्न ३४

हे भगवन्! कषाय-कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या नहीं?

हे गौतम! कषाय-कुशील मूल और उत्तर गुण में दोष नहीं लगाता। इसी तरह निर्ग्रन्थ और स्नातक को भी समझना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में स्नातक और निर्ग्रन्थ की तरह कषाय-कुशील को भी दोष का अप्रतिसेवी कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ में कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ नहीं होतीं। क्योंकि जिसमें कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ होती हैं, वह अवश्यमेव दोष का सेवन करता है। कषाय-कुशील दोष का आसेवन नहीं करता, अतः उसमें कृष्णादि तीनों अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

कृष्ण लेश्या का स्वरूप

कृष्ण लेश्या का क्या लक्षण है? वह संयति पुरुष में क्यों नहीं होती? सप्रमाण बताएँ।

उत्तराध्ययनसूत्र में कृष्ण लेश्या का लक्षण इस प्रकार बताया है—

पंचासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरयोय।
तीव्वारंभ परिणओ खुद्दो साहसिओ नरो।।
निद्धंधस परिणामो नस्संसो अजिइन्दिओ।
एव जोग समाउत्तो किण्ह लेस्सं तु परिणमे।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, ३४, २१-२२

पंचाश्रवाः हिंसादयः तैः प्रमत्तः प्रमादवान् पंचाश्रवप्रमत्तः पाठान्तरतः पंचाश्रव प्रवृत्तो वाऽतस्त्रिभिः प्रस्तावान्मनोवाक्कायैर-गुप्तोऽनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादि रहित इत्यर्थः, तथा षट्सु पृथिवीकायादिषु अविरतः अनिवृतस्तदुपमर्दकत्वादेरितिगम्यते। अयं चातीव्रारंभोऽपि स्यादत आह तीव्र उत्कट स्वरूपतोऽध्यवसायतो वा आरंभा सर्वसावद्य व्यापारास्तत्परिणतः तत्प्रवृत्त्या तदात्मतांगतः तथा क्षुद्रः सर्वस्यैवाहितैषी कार्पण्य युक्तो वा सहसा अपर्य्यालोच्य गुण-दोषान् प्रवर्त्तत इति साहसिकः चौर्य्यादि कृदिति योऽर्थः नरः उपलक्षणत्वात् स्त्री आदिर्वा 'निद्धंधस' त्ति अत्यन्तमैहिकामुष्मिकापायशंका विकलोऽत्यन्तं जन्तुबाधनपेक्षो वा परिणामोऽध्यवसायो वा यस्य स तथा। नृसंसो निस्तृंशो जीवान् विहिंसन् मनागपि न शंकते। निःसंसो वा पर-प्रशंसा रहितः, अजितेन्द्रियः अनिगृहीतेन्द्रियः। अन्येसु पूर्वसूत्रोत्तरार्धस्थाने इदमभिधीयते तच्चेहेति

उपसंहारमाह एते च अनंतरोक्ता योगाश्च मनोवाक्काय व्यापाराः एतद्योगाः पंचाश्रव प्रमत्तत्वादयस्तै समिति भृशमाङ्इति अभिव्याप्त्या युक्तः अन्वितः एतद्योगा समायुक्तः कृष्णलेश्यां तुः अवधारणे कृष्णलेश्यामेवपरिणमेत् तद् द्रव्य साचिव्येन तथाविध द्रव्य संपर्कात् स्फटिकवत्तदुपरंजनात् तद्रूपतां भजेत्। उक्तं हि—

कृष्णादिः द्रव्यसाचिव्यात्परिणामोयमात्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते।।

हिंसा आदि पांच आश्रवों में प्रमत्त—मग्न एवं प्रवृत्त रहने वाला मन, वचन, काय से अगुप्त या मनगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से रहित, पृथ्वी आदि छः काय के जीवों के उपमर्दन से अनिवृत्त, तीव्र अध्यवसाययुक्त—उत्कट सावद्य व्यापार में प्रवृत्त होकर तद्रूपता को प्राप्त, क्षुद्र—सब का अहित करने वाला, कृपणता से युक्त, बिना विचारे झटपट चोरी आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने वाला, इहलोक-परलोक के बिगड़ने की थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला, जीव-हिंसा में थोड़ी भी शंका नहीं करने वाला, दूसरे की प्रशंसा से रहित, अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पंचाश्रव आदि योगों से युक्त पुरुष कृष्ण लेश्या के परिणाम वाला होता है। जैसे कृष्णादि द्रव्यों के संसर्ग से स्फटिक मणि तद्रूप कृष्ण दिखायी देती है, उसी तरह उक्त जीव भी कृष्णलेश्या का परिणामी होता है। कहा भी है—'कृष्णादि द्रव्य के संसर्ग से स्फटिक मणि की तरह जो आत्मा का कृष्णादि रूप परिणाम होता है, उसी में लेश्या शब्द का प्रयोग होता है।'

प्रस्तुत गाथाओं में जो कृष्ण लेश्या के लक्षण बताए हैं, साधु में उनमें से एक भी नहीं पाया जाता। कृष्ण लेश्या वाला जीव-हिंसा आदि पाँच आश्रवों में प्रमत्त या प्रवृत्त रहने वाला बताया है। परन्तु साधु आश्रवों में मग्न नहीं रहता। वह तो पाँच आश्रवों का त्यागी होता है। इसलिए साधु में कृष्ण लेश्या का लक्षण कथमपि घटित नहीं होता। यदि यह कहें कि प्रमादी साधु को आरम्भी कहा है और आरम्भ करना आश्रव का सेवन करना है, इसलिए प्रमत्त साधु में यह लक्षण घटित होता है। परन्तु यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि इस गाथा में सामान्य आरंभी पुरुष को ग्रहण नहीं किया है। किन्तु जो विशिष्ट रूप से हिंसा आदि आश्रवों में प्रवृत्त रहता है, उसको ग्रहण किया है। अतः उक्त गाथा में प्रयुक्त—तीव्वारंभ परिणयो का टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

अयं च अतीव्रारंभोऽपि स्यादतआह तीव्राः उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतो वा आरंभा सर्व सावद्य व्यापारास्तत्परिणतः तत्प्रवृत्त्या तदात्मतां गतः।

सामान्य आरंभ करने वाला व्यक्ति भी पाँच आश्रवों में प्रवृत्त मन, वचन और काय से अगुप्त और छः काय के उपमर्दन से अनिवृत्त कहा जा सकता है, परन्तु उसका विरोध करने के लिए इस गाथा में 'तीव्वारंभ परिणयो' का प्रयोग किया है। अतः जिस व्यक्ति का आरम्भ—स्वरूप और अध्यवसाय से उत्कट है और जो सदा पाँचों आश्रवों में प्रवृत्त होकर तद्रूप हो गया है, वही कृष्ण लेश्या का परिणामी है।

अतः जो कभी सामान्य रूप से आरम्भ करता है, वह कृष्ण लेश्या के परिणामवाला नहीं है। षष्ठम गुणस्थानवर्ती प्रमादी साधु यदा-कदा प्रमादवश आरंभ करता है, परन्तु उसका आरंभ तीव्र नहीं होता, अतः उसमें कृष्ण लेश्या के परिणाम नहीं होते। और जो मनगुप्ति आदि तीन गुप्तियों से गुप्त नहीं है, अजितेन्द्रिय है, चोरी आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहता है, वह कृष्ण लेश्या के परिणामों से युक्त है। उक्त गाथाओं में कथित कृष्ण लेश्या के लक्षण साधु में नहीं पाए जाते। अतः साधु में और विशेष करके कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ में कृष्ण लेश्या का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु में कृष्ण लेश्या नहीं होती

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३८ पर लिखते हैं—

'उत्तराध्ययन अ. ३४, गाथा २१ पंचासवप्पवत्तो इति वचनात् पांच आश्रव में प्रवर्ते ते कृष्ण लेश्या ना लक्षण कह्या, अने भगवान् शीतल-तेजो लेश्या लब्धि फोड़ी तिहां उत्कृष्टी पाँच क्रिया कही ते माटे ए कृष्ण लेश्या नो अंश जाणवो।'

उत्तराध्ययन की उक्त गाथा में पाँच आश्रव में प्रवृत्त रहना कृष्ण लेश्या का लक्षण कहा है। परन्तु जो व्यक्ति सामान्य रूप से यदा-कदा प्रमादवश मंद आरंभ करता है, वह भी पाँच आश्रवों में प्रवृत्त कहा जा सकता है। उसमें कृष्ण लेश्या का लक्षण न चला जाए, इसलिए आगम में कृष्णलेशी का 'तीव्वारंभ-परिणयो' यह विशेषण लगाया है। इस विशेषण का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि जो तीव्र आरंभ करता है उसी को कृष्ण लेश्या का परिणामी कहा है, मंद आरंभ करने वाले को नहीं। अतः इस विशेषण का सार्थक्य बताते हुए टीकाकार ने लिखा है—

'पाँच आश्रव में प्रवृत्त होना, मन, वचन और काय से गुप्त नहीं रहना और पृथ्वीकाय आदि का उपमर्दन करना—ये सब सामान्य आरंभ करने वाले में भी हो सकते हैं, परन्तु उसमें कृष्ण लेश्या का परिणाम नहीं होता। इसलिए कृष्ण लेश्या के परिणाम से युक्त व्यक्ति के लिए तीव्र आरंभ से युक्त विशेषण लगाया है। उत्कृष्ट हिंसा आदि आरंभ में प्रवृत्त व्यक्ति ही कृष्ण लेश्या का परिणामी है, सामान्य आरंभ करने वाला नहीं।'

सामान्य आरंभ करने वाला व्यक्ति भले ही गृहस्थ भी हो तब भी उसमें कृष्ण लेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता। साधु तो गृहस्थ की अपेक्षा अधिक विशुद्ध परिणाम वाला होता है, अतः उसमें भावरूप कृष्ण लेश्या का सद्भाव तो सर्वथा असंभव है। जब सामान्य साधु में गाथोक्त कृष्ण लेश्या का एक भी लक्षण नहीं पाया जाता, तब भगवान् महावीर में वे लक्षण कैसे घटित होंगे? वह तो सर्वोत्कृष्ट चारित्र के परिपालक, मूल और उत्तर गुण के अप्रतिसेवी कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ थे। अतः उनमें भावरूप कृष्णलेश्या का सद्भाव कैसे हो सकता है?

उत्तराध्ययन की उक्त गाथा का प्रथम चरण लिखकर भगवान् में कृष्ण लेश्या का लक्षण घटाना सत्य पर आवरण डालना है। क्योंकि उक्त अध्ययन में इसके बाद नील लेश्या का लक्षण बताया है, उसमें लिखा है—

इस्सा अमरिस अतवो अविज्जमाया अहीरिया।

—उत्तराध्ययनसूत्र, ३४, २२

ईर्ष्या—दूसरे के गुणों को सहन नहीं करना, अमर्ष—अत्यन्त आग्रह रखना, तप नहीं करना, कुशास्त्र रूप अविद्या, माया करना एवं निर्लज्जता, ये नील लेश्या के लक्षण हैं।

प्रस्तुत गाथा में माया करना नील लेश्या का लक्षण कहा है और माया दशम गुणस्थानपर्यन्त है। क्योंकि भगवतीसूत्र में अप्रमत्त साधु को माया प्रत्यया क्रिया लगने का उल्लेख है—

तत्थ णं जे ते अप्पमत्त संजया तेसि णं एगा मायावत्तिया किरिया कज्जइ।

—भगवतीसूत्र, १, २, २२

अप्रमादी साधु में एक माया प्रत्यया क्रिया होती है।

यहाँ अप्रमादी साधु को माया प्रत्यया क्रिया लगने का कहा है और माया करना नील लेश्या का लक्षण है। अतः भ्रमविध्वंसनकार एवं उनके अनुयायी अप्रमादी साधु में नील लेश्या क्यों नहीं मानते? यदि यह कहें कि उत्तराध्ययन-सूत्र की उक्त गाथा में विशिष्ट माया को ग्रहण किया है, सामान्य माया को नहीं। अप्रमादी साधु में विशिष्ट माया नहीं होती, इसलिए उसमें नील लेश्या नहीं है। इसी प्रकार *विशिष्ट आरम्भ करना कृष्ण लेश्या का लक्षण है, सामान्य आरम्भ* करना नहीं। साधु विशिष्ट रूप से आरम्भ नहीं करते। इसलिए साधु में भाव रूप कृष्ण लेश्या का सद्भाव नहीं होता।

भगवान् ने शीतल लेश्या का प्रयोग करके जो गोशालक की प्राण-रक्षा की, उससे भगवान् को पाँच क्रिया लगने की कल्पना करना मिथ्या है। लब्धि प्रकरण में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि शीतल लेश्या का प्रयोग करने में उत्कृष्ट पाँच क्रियाएँ नहीं लगतीं। अतः लब्धि का नाम लेकर भगवान् में पाँच क्रियाएँ बताना नितान्त असत्य है।

यदि यह कहें कि कृष्ण लेश्या के बिना लब्धि का प्रयोग नहीं किया जाता, इसलिए भगवान् में *कृष्ण लेश्या अवश्य थी*। परन्तु *उनके इस कथन में* सत्यांश नहीं है। क्योंकि पुलाक निर्ग्रन्थ जिस समय पुलाक लब्धि का प्रयोग करता है,

उस समय उसमें पुलाक नियंठा माना गया है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी भिक्खू यश–रसायन में लिखा है—

पुलाक नियंठो पीछाण ए, लब्धि फोड़यां कह्यो जिण जाण ए।
स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त थाय ए, लब्धि नी स्थिति तो अधिकाय ए।।
विरह उत्कृष्ट असंखेज्जवास ए, पछे तो अवश्य प्रकटे विमास ए।
या में चारित्र गुण स्वीकार ए, तिण सूं वन्दन जोग विचार ए।।

उक्त पुलाक निर्ग्रन्थ में तीन विशुद्ध भाव लेश्याएँ कहीं हैं, कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याएँ नहीं। इसके अतिरिक्त बकुस और प्रतिसेवना–कुशील मूल और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं, परन्तु उनमें भी तीन विशुद्ध लेश्याएँ बताई हैं। इसलिए कृष्ण लेश्या के बिना लब्धि का प्रयोग नहीं होता, यह कथन नितान्त असत्य है।

प्रतिसेवना और लेश्या

पुलाक, बकुस और प्रतिसेवना–कुशील में तीन विशुद्ध भाव–लेश्याएँ ही होती हैं, इसका क्या प्रमाण है?

इस विषय में भगवतीसूत्र में लिखा है—

पुलाए णं भन्ते! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा?

गोयमा! सलेस्से होज्जा, णो अलेस्से होज्जा।

जइ सलेस्से होज्जा से णं भन्ते! कतिसु लेस्सासु होज्जा?

गोयमा! तीसु विसुद्ध लेस्सासु होज्जा तं जहा—तेउ लेस्साए, पम्ह लेस्साए, सुक्क लेस्साए। एवं बउसे वि, एवं पडिसेवणा कुसीले वि।

—भगवतीसूत्र, २५, ६, ७६६

हे भगवन्! पुलाक निर्ग्रन्थ सलेशी होता है या अलेशी?

हे गौतम! पुलाक निर्ग्रन्थ सलेशी होता है, अलेशी नहीं।

हे भगवन्! यदि वह सलेशी होता है, तो उसमें कितनी लेश्याएँ होती हैं?

हे गौतम! उसमें तीन विशुद्ध लेश्याएँ होती हैं—१. तेज, २. पद्म और ३. शुक्ल लेश्या। इसी तरह बकुस एवं प्रतिसेवना कुशील में भी तीन विशुद्ध लेश्याएँ होती हैं।

प्रस्तुत पाठ में पुलाक, बकुस और प्रतिसेवना–कुशील में तीन विशुद्ध भाव–लेश्याएँ बताई हैं, कृष्णादि अप्रशस्त लेश्याएँ नहीं। तथापि पुलाक निर्ग्रन्थ लब्धि का प्रयोग करता है, और बकुस एवं प्रतिसेवना–कुशील मूल एवं उत्तर गुण में दोष लगाते हैं। इसलिए कृष्ण लेश्या के बिना लब्धि का प्रयोग नहीं होता, यह कहना नितान्त असत्य है।

पुलाक, बुकस और प्रतिसेवना–कुशील दोष के प्रतिसेवी हैं, इसका क्या प्रमाण है?

भगवतीसूत्र में इन्हें दोष का प्रतिसेवी बताया है—

पुलाए णं भन्ते! किं पडिसेवी होज्जा, अपडिसेवी होज्जा?

पडिसेवए होज्जा, नो अपडिसेवए होज्जा।

जइ पडिसेवए होज्जा, किं मूलगुण पडिसेवए वा होज्जा, उत्तर गुण पडिसेवए वा होज्जा?

मूलगुण पडिसेवमाणे पंचण्हं अणासवाणं अण्णयर पडिसेवएज्जा, उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवएज्जा।

वउसे णं पुच्छा?

पडिसेवए होज्जा, णो अपडिसेवए होज्जा।

जइ पडिसेवए होज्जा, किं मूलगुण पडिसेवए होज्जा, उत्तरगुण पडिसेवए होज्जा?

गोयमा! नो मूलगुण पडिसेवए होज्जा, उत्तरगुण पडिसेवए होज्जा। उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा।

पडिसेवणा कुसीले जहा पुलाए।

—भगवतीसूत्र, २५, ६, ७५५

हे भगवन्! पुलाक निर्ग्रन्थ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी?

हे गौतम! वह प्रतिसेवी होता है, अप्रतिसेवी नहीं।

यदि वह प्रतिसेवी होता है, तो मूल गुण का प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुण का।

हे गौतम! मूल और उत्तर गुण दोनों का प्रतिसेवी होता है। जब वह मूल गुण का प्रतिसेवी होता है, तब वह पाँच महाव्रतों में से किसी एक की विराधना करता है और जब उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है, तब दशविध प्रत्याख्यानों में से किसी एक की विराधना करता है।

हे भगवन्! क्या बकुस प्रतिसेवी है या अप्रतिसेवी?

हे गौतम! प्रतिसेवी है, अप्रतिसेवी नहीं।

वह मूल गुण का प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुण का?

वह मूल गुण का नहीं, उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है। जब वह उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है, तब दशाविध प्रत्याख्यानों में से किसी एक की विराधना करता है।

प्रतिसेवना–कुशील पुलाक की तरह मूल और उत्तर गुण दोनों का प्रतिसेवी होता है?

यहाँ पुलाक और प्रतिसेवना–कुशील को मूल और उत्तर गुण दोनों का प्रतिसेवी कहा है और बकुस को उत्तर गुण का प्रतिसेवी कहा है। तथापि इन में तीन विशुद्ध भाव–लेश्याएँ बताई हैं, कृष्णादि अप्रशस्त भाव–लेश्याएँ नहीं। अस्तु, कृष्णादि अप्रशस्त भाव–लेश्याओं के बिना दोष का सेवन नहीं होता, यह कथन नितान्त असत्य है।

कषाय–कुशील स्व–स्थान में अप्रतिसेवी है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २१२ पर भगवती, शतक २५, उ. ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'कषाय–कुशील छांडि ए छः ठिकाने आवतो कह्यो। कषाय–कुशील ने दोष लागे इज नहीं, तो संयमासंयम में किम आवे? ए तो साधुपणो भांगी श्रावक थयो ते तो मोटो दोष छै। ए तो साम्प्रत दोष लागे, तिवारे साधु रो श्रावक हुवे छै। दोष लागां बिना तो साधु रो श्रावक हुवे नहीं। जे कषाय–कुशील नियंठे तो साधु हुन्तो पछे साधु पणो पल्यो नहीं, तिवारे श्रावक रा व्रत आदरी श्रावक थयो। जे साधु रो श्रावक थयो यह निश्चय दोष लाग्यो।'

जैसे कषाय–कुशील स्व–स्थान को छोड़कर संयमासंयम में जाता है, उसी तरह निर्ग्रन्थ भी निर्ग्रन्थत्व का परित्याग करके असंयम में जाता है। यदि कषाय–कुशील कषाय–कुशीलत्व का त्याग करके संयमासंयम में जाने से दोष का प्रतिसेवी होता है, तब निर्ग्रन्थत्व का परित्याग करके असंयम में प्रविष्ट होने के कारण निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी क्यों नहीं होता? भ्रमविध्वंसनकार भी निर्ग्रन्थ को दोष का प्रतिसेवी नहीं मानते, तब ऐसी स्थिति में कषाय–कुशील को दोष का प्रतिसेवी मानना उचित नहीं है।

वास्तव में दोष का प्रतिसेवी वही कहलाता है, जो मूल गुण या उत्तर गुण में दोष लगाता हो। जो साधु मूल या उत्तर गुण में दोष नहीं लगाता, वह प्रतिसेवी नहीं है। कषाय–कुशील और निर्ग्रन्थ मूल या उत्तर गुण में दोष नहीं लगाते, इसलिए ये दोनों अप्रतिसेवी हैं। यदि स्व–स्थान से गिरने मात्र से दोष का प्रतिसेवी माना जाए, तो निर्ग्रन्थ को भी दोष का प्रतिसेवी मानना होगा, क्योंकि निर्ग्रन्थ भी असंयम में गिरता है। अतः संयम से गिरने और दोष प्रतिसेवन का एकान्त सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि गिरने मात्र से कोई दोष का प्रतिसेवी नहीं माना जाता। वह दोष का प्रतिसेवी तब गिना जाता है, जब स्व–स्थान में रहते हुए मूल या उत्तर गुण में दोष लगाए। यदि यह कहें कि आगम में कषाय–कुशील को

विराधक भी कहा है, फिर वह दोष का प्रतिसेवी क्यों नहीं होता? जैसे कषाय-कुशील को विराधक कहा है, उसी तरह आगम में निर्ग्रन्थ को भी विरोधक कहा है। फिर निर्ग्रन्थ को भी दोष का प्रतिसेवी क्यों नहीं मानते? भगवतीसूत्र में स्पष्ट लिखा है—

कसाय कुसीले पुच्छा?

गोयमा! अविराहणं पडुच्च इन्दत्ताए वा उववज्जेज्जा जाव अहमिन्दत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अन्नयरेसु उववज्जेज्जा।

नियंठे पुच्छा?

गोयमा! अविराहणं पडुच्च णो इन्दत्ताए उववज्जज्जा जाव णो लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिन्दत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अण्णयरेसु उववज्जेज्जा।

—भगवतीसूत्र, २५, ६, ७६३

हे भगवन्! कषाय-कुशील के सम्बन्ध में प्रश्न है?

हे गौतम! अविराधक कषाय-कुशील इन्द्र से लेकर यावत् अहमिन्द्र में उत्पन्न होता है और विराधक भवनपति आदि में जाता है।

हे भगवन्! निर्ग्रन्थ के विषय में प्रश्न है?

हे गौतम! अविराधक निर्ग्रन्थ इन्द्र एवं लोकपालादि में उत्पन्न नहीं होता, वह अहमिन्द्र होता है और विराधक भवनपति आदि में जाता है।

प्रस्तुत पाठ में कषाय-कुशील की तरह निर्ग्रन्थ को भी विराधक कहा है। अतः यदि विराधक होने से कषाय-कुशील को दोष का प्रतिसेवी माना जाए, तो निर्ग्रन्थ को भी दोष का प्रतिसेवी मानना होगा? परन्तु विराधक होने पर भी निर्ग्रन्थ दोष का प्रतिसेवी नहीं होता, उसी तरह कषाय-कुशील भी दोष का प्रतिसेवी नहीं होता। अतः संयम से गिरने एवं विराधक होने का नाम लेकर कषाय-कुशील को दोष का प्रतिसेवी कहना सर्वथा अनुचित है।

साधु में रौद्र ध्यान नहीं होता

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३६ पर आवश्यकसूत्र का प्रमाण देकर लिखते हैं—

'अथ इहां पिण छः लेश्या कही। जो अशुभ लेश्या में न वर्ते तो ए पाठ क्यूं कह्यो? तथा 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं अट्टेणं झाणेणं, रुद्देणं झाणेणं, धम्मेणं झाणेणं, सुक्केणं झाणेणं।' इहां साधु में चार ध्यान कह्या। जिम आर्त्त, रौद्र ध्यान पावे, तिम कृष्ण, नील, कापोत लेश्या पिण पावे।'

आवश्यकसूत्र का नाम लेकर साधु में कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएँ और रौद्रध्यान बताना अनुचित है। आगम में रौद्र ध्यान वाले व्यक्ति की नरक गति बताई है। और स्थानांगसूत्र की टीका में हिंसा आदि अति क्रूर कर्मो का आचरण करने के लिए दृढ़ निश्चय करने को रौद्र ध्यान कहा है—

ध्यानं दृढोऽध्यवसायः हिंसाद्यति क्रौर्य्यानुगतं रुद्रम्।

हिंसा आदि अति क्रूर कर्मों का आचरण करने का जो दृढ़ निश्चय है, वह रौद्र ध्यान है। वह चार प्रकार का होता है—१. हिंसानुबन्धी, २. मृषानुबन्धी, ३. स्तेनानुबन्धी और ४. संरक्षणानुबन्धी।

उक्त चारों ध्यान अति क्रूर कर्मो में संलग्न व्यक्ति के होते हैं, साधु के नहीं। क्योंकि साधु क्रूर कर्मो का आचरण करने वाला नहीं होता। आवश्यकसूत्र में 'पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं' का जो पाठ आया है, उससे साधु में रौद्र ध्यान का सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान में अविश्वास होने से साधु को अतिचार लगता है। उसकी निवृत्ति के लिए साधु उक्त पाठ का उच्चारण करके प्रतिक्रमण करता है। परन्तु उसमें चारों ध्यानों का सद्भाव होने से वह इनका प्रतिक्रमण करता है, ऐसी बात नहीं है। इस पाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

प्रतिक्रमामि चतुर्भिध्यानैः करणभूतैरश्रद्धेयादिना प्रकरेणयोऽतिचारः कृतः।

साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि आगम में कथित चार ध्यानों में अविश्वास होने से जो अतिचार लगा है, उससे मैं निवृत्त होता हूँ।

यहाँ टीकाकार ने आगम में उल्लिखित चार ध्यानों में अविश्वास रखने से लगने वाले अतिचार की निवृत्ति के लिए इनका प्रतिक्रमण करना कहा है, न कि साधु में इन ध्यानों का सद्भाव होने से। अतः साधु में रौद्र ध्यान का सद्भाव बताना नितान्त असत्य है। जैसे साधु में रौद्र ध्यान नहीं होता, उसी प्रकार उसमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ भी नहीं होतीं। तथापि यदि कोई व्यक्ति साम्प्रदायिक दुराग्रहवश प्रतिक्रमणसूत्र की टीका को न मानकर साधु में रौद्र ध्यानका सद्भाव बताए, तो यह उसका मिथ्या आग्रह है। क्योंकि आगम में प्रमादी साधु के लिए प्रतिक्रमण करना आवश्यक कार्य बताया है। और प्रतिक्रमण-सूत्र में साधु रौद्र ध्यान की तरह शुक्ल ध्यान का भी प्रतिक्रमण करता है। यदि प्रतिक्रमण करने से साधु में रौद्र ध्यान का सद्भाव माना जाए, तो आप प्रमादी साधु में शुक्ल ध्यान का सद्भाव क्यों नहीं मानते? अतः जैसे प्रमादी साधु में शुक्ल ध्यान का सद्भाव न होने पर भी उसमें अविश्वास से जो अतिचार लगता है, उसकी निवृत्ति के लिए वह उसका प्रतिक्रमण करता है, उसी तरह रौद्र ध्यान में अविश्वास होने से, जो अतिचार लगता है, उसके निवारणार्थ साधु उसका प्रतिक्रमण करता है।

प्रतिक्रमणसूत्र में जैसे चार ध्यान के प्रतिक्रमण का पाठ आया है, उसी तरह मिथ्यादर्शन शल्य के विषय में भी पाठ आया है—

पडिक्कमामि तीहिं सल्लेहिं—माया सल्लेणं, नियाण सल्लेणं, मिच्छादंसण सल्लेणं।

—आवश्यकसूत्र

साधु यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य इन तीनों से निवृत्त होता हूँ।

प्रस्तुत पाठ में साधु को मिथ्यादर्शन शल्य का भी प्रतिक्रमण करने को कहा है। परन्तु साधु में मिथ्यादर्शन शल्य नहीं होता। यदि रौद्र ध्यान का प्रतिक्रमण करने से उसमें रौद्र ध्यान का सद्भाव माना जाए, तो मिथ्यादर्शन शल्य का प्रतिक्रमण करने के कारण साधु में मिथ्यादर्शन शल्य का भी सद्भाव मानना होगा। परन्तु जैसे साधु में मिथ्यादर्शन शल्य नहीं होता, उसी तरह उसमें रौद्र ध्यान भी नहीं होता। किन्तु उनमें अविश्वास होने के कारण साधु उसका प्रतिक्रमण करता है।

मलयगिरि टीका

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २४० पर प्रज्ञापना सूत्र के पद १७ का पाठ लिखकर उसकी मलयगिरि टीका का प्रमाण देकर साधु में कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव बताते हैं।

मलयगिरि टीका में मनःपर्यायज्ञानी में कृष्ण लेश्या बताई है, परन्तु वह टीका भगवतीसूत्र, श. १, उ. २ के मूल पाठ एवं उसकी टीका के विरुद्ध है, इसलिए वह प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती है। भगवती का मूल पाठ एवं उसकी टीका का प्रमाण देकर हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं—प्रमादी, अप्रमादी, सरागी और वीतरागी चारों प्रकार के साधु कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में नहीं होते। वहाँ टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—

कृष्णादिषु हि अप्रशस्त भाव लेश्यासु संयतत्वं नास्ति।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि टीका स्वतःप्रमाण नहीं होती। टीका की प्रामाणिकता आगम के मूल पाठ पर निर्भर है। अतः जो टीका मूल आगम से प्रतिकूल है, वह प्रामाणिक नहीं होती है। मलयगिरि की उक्त टीका भगवतीसूत्र के मूल पाठ एवं उसकी प्राचीन टीका से विरुद्ध है, इसलिए वह प्रमाण रूप नहीं मानी जा सकती।

भ्रमविध्वंसनकार ने जो प्रज्ञापना का पाठ लिखा है, उसमें यह नहीं लिखा है कि मनःपर्यायज्ञानी में भाव-कृष्ण लेश्या होती है। वहाँ सामान्य रूप से कृष्ण लेश्या का होना लिखा है। अतः वह कृष्ण लेश्या द्रव्य रूप है, भाव रूप नहीं। क्योंकि भगवतीसूत्र में साधु में कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का निषेध किया है। अतः प्रज्ञापनासूत्र में उसके विरुद्ध संयति में कृष्ण लेश्या का सद्भाव कैसे बताया जा सकता है? भगवती अंगसूत्र है और प्रज्ञापना उपांगसूत्र है। अंगसूत्र स्वतःप्रमाण है और उपांग अंगों के आधार पर। अस्तु, प्रज्ञापना का प्रमाण देकर साधु में भाव-लेश्या का सद्भाव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उपसंहार

कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व नहीं होता। तेज, पद्म और शुक्ल—इन तीन प्रशस्त भाव-लेश्याओं में साधुत्व होता है। इन विशुद्ध भाव-लेश्याओं से युक्त, जो साधु संघ आदि की रक्षा के लिए वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करता है, उसे आगम में भावितात्मा अणगार कहा है—

से जहा नामए केइ पुरिसे असिचम्मपायं गाहाए गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा, असिचम्मपाय हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा?

हन्ता उप्पएज्जा।

—भगवतीसूत्र, ३. ५. १६१

हे भगवन्! जैसे कोई पुरुष तलवार और चर्म को धारण करके चलता है, उसी तरह भावितात्मा अणगार संघ आदि के कार्य के लिए असि-चर्म को धारण करके ऊपर आकाश में चल सकता है?

हाँ, गौतम, चल सकता है।

प्रस्तुत पाठ में संघ आदि के कार्य के लिए असि और चर्म को धारण करके ऊपर आकाश में चलने वाले साधु को 'भावितात्मा अणगार' कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि संघ आदि की रक्षा के लिए परिस्थितिवश मूल एवं उत्तर गुण में दोष लगाने पर भी साधु में संयम के श्रेष्ठ गुण विद्यमान रहते हैं। इसलिए उसमें तीन विशुद्ध लेश्याओं का ही सद्भाव होता है, अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का नहीं। अन्यथा असि और चर्म लेकर आकाश में गमन करने वाले साधु को आगम में भावितात्मा नहीं कहते। जिस साधक में प्रशस्त भाव-लेश्याएँ होती हैं, वही भावितात्मा हो सकता है, अप्रशस्त भाव-लेश्या वाला नहीं।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी भिक्खू जस-रसायन में लिखा है—

मूल गुण ने उत्तरगुण मांहिंए, दोष लगावे ते दुःखदाय ए,
पडिसेवणा कुशील पिछाण ए।
जघन्य दो सौ कोड़ ते जाण ए, नाहीं विरह ए थी ओछो नाहीं ए,
ए पिण छट्ठे गुणठाणे कहिवाय ए, यां में चारित्र गुण सीरीकार ए,
तिण सूँ वन्दवा जोग विचार ए।

उक्त पद्यों में भ्रमविध्वंसनकार ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रतिसेवन-कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाता है, तथापि उसमें षष्ठम गुणस्थान और चारित्र के श्रेष्ठ गुण विद्यमान रहते हैं, इसलिए वह वन्दनीय समझा जाता है।

इनके मतानुयायियों से पूछना चाहिए कि जब मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले साधु में भी श्रेष्ठ गुणों का सद्भाव रहता है, तब उनमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ कैसे हो सकती हैं? क्योंकि अप्रशस्त भाव-लेश्याओं में चारित्र के श्रेष्ठ गुण कदापि विद्यमान नहीं रहते। अतः साधु में चारित्र के श्रेष्ठ गुण एवं अशुभ भाव लेश्याओं का एक साथ सद्भाव होना असंभव है।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में भी दोष का प्रतिसेवन होता है। इसलिए दोष के प्रतिसेवन का नाम लेकर साधु में अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव बताना बिल्कुल गलत है। वैमानिक देवों में तेज, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएँ ही मानी हैं और उन्हें आत्मारंभी, परारंभी और तदुभयारंभी कहा है। इस प्रकार जब आत्मारंभी, परारंभी एवं तदुभयारंभी वैमानिक देवों में तीन विशुद्ध भाव

लेश्याएँ मानते हैं, तब महाव्रतों के परिपालक मुनियों में दोष लगाने पर भी तीन प्रशस्त भाव-लेश्याएँ मानने में सन्देह को अवकाश ही नहीं है।

छः लेश्याओं के स्वरूप को समझाने के लिए आवश्यक टीका में निम्न दृष्टान्त दिया है—

'एक दिन ६ व्यक्तियों ने परिपक्व जामुन के फलों के बोझ से पृथ्वी की ओर झुकी हुई शाखाओं से युक्त जामुन के वृक्ष को देखा। वे परस्पर कहने लगे कि हम इस जामुन के फल खाएंगे। उनमें से एक व्यक्ति ने फल प्राप्त करने का उपाय बताते हुए कहा कि वृक्ष के ऊपर चढ़ने से गिरने का भय है, अतः इस वृक्ष को जड़ से काटकर इसके फल खा लें। दूसरे ने कहा कि इतने बड़े वृक्ष को काटने से क्या लाभ होगा? अतः इसकी शाखाओं को काटकर, उसमें लगे हुए फलों को खा लें। तीसरे ने कहा कि शाखाओं का छेदन करना भी उपयुक्त नहीं है, इसलिए उसकी प्रशाखाओं-टहनियों को तोड़कर फल खा लें। चतुर्थ ने कहा कि अच्छा यह है कि हम इसके गुच्छों को तोड़कर उसमें लगे हुए फलों को खाकर अपने मन को तृप्त कर लें। पाँचवें ने कहा कि गुच्छों को तोड़ने की क्या आवश्यकता है, इसके पके फलों को तोड़कर खा लें। छट्ठे ने कहा कि जब फल गिरे हुए पड़े हैं, तो उन्हें खा लें। तोड़ने की क्या आवश्यकता है?'

'इनमें प्रथम पुरुष, जो वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने की सलाह देता है, उसमें कृष्ण लेश्या के परिणाम हैं। जो बड़ी-बड़ी शाखाओं को छेदन करने का परामर्श देता है, वह द्वितीय नील लेश्या के परिणामों से युक्त है। प्रशाखाओं को काटने की बात कहने वाला तृतीय पुरुष कापोतलेशी है। गुच्छों को तोड़ने की योजना बताने वाला चतुर्थ व्यक्ति तेजोलेश्या से युक्त है। परिपक्व फलों को तोड़कर खाने की राय देने वाला पंचम पुरुष पद्मलेशी है। और स्वभावतः नीचे गिरे हुए फलों को खाकर सन्तोष करने का विचार अभिव्यक्त करने वाला षष्ठम पुरुष शुक्ल लेश्या वाला है।'

इसमें बताया है—गुच्छों को तोड़ने का परामर्श देने वाला तेजोलेशी, पके फल तोड़ने एवं नीचे गिरे हुए फलों को खाने की बात कहने वाले क्रमशः पद्म और शुक्ललेशी हैं। यद्यपि ये तीनों पुरुष आरंभ के दोष से निवृत्त नहीं हैं तथापि प्रथम के तीन व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत ही अल्पारंभी है। अतः इन्हें तेज, पद्म एवं शुक्ललेशी कहा है। इसी तरह मूल और उत्तर गुण में दोष लगाने वाला साधु यद्यपि आरम्भ-दोष से मुक्त नहीं है, तथापि अव्रतियों की अपेक्षा से अति श्रेष्ठ एवं निर्मल चरित्र से सम्पन्न है, इसलिए उसमें विशुद्ध लेश्याएँ ही हैं। जैसे थोड़े-से फलों को प्राप्त करने के लिए प्रथम के तीन व्यक्तियों ने वृक्ष की जड़, शाखा एवं प्रशाखाओं को काटने की सलाह दी, उसी तरह जो व्यक्ति स्वल्प लाभ के

लिए महान् आरंभ करता है, वह कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्या वाला कहा गया है। परन्तु जो थोड़े-से फल को पाने के लिए महारंभ नहीं करता, वह अप्रशस्त भाव-लेश्याओं से युक्त नहीं है। साधु आरंभ का त्यागी, पंचमहाव्रत-धारी और विवेकसम्पन्न होता है, वह स्वल्प लाभ के लिए कदापि महारंभ नहीं करता, अतः उसमें अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ नहीं होतीं।

परन्तु उक्त दृष्टान्त से यह नहीं समझना चाहिए की तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले सब जीव आरम्भ करते ही हैं। जो साधु उत्कृष्ट परिणामों से युक्त है, वह बिलकुल आरंभ नहीं करता। शुक्ल लेश्या वाले पुरुष वीतरागी भी होते हैं। अतः उक्त दृष्टान्त में सामान्य श्रेणी के तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले व्यक्ति कहे गए हैं। अस्तु इस दृष्टान्त से सभी तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवों को आरंभी नहीं समझना चाहिए।

तेरापंथी साधु उक्त लेश्या के दृष्टान्त को चित्र के द्वारा दिखाकर लोगों को लेश्या का स्वरूप समझाते हैं। परन्तु जब साधु में लेश्या का प्रसंग आता है, तब वे उक्त दृष्टान्त के भावों को भूल जाते हैं और साधु में भी कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं का कथंचित् सद्भाव कहने लगते हैं। इतना ही नहीं, इससे भी एक कदम आगे बढ़कर पंचमहाव्रतधारी साधुओं को आश्रवों का आसेवन करने वाला कहने में भी संकोच नहीं करते। इसी तरह वे मरते हुए प्राणी की रक्षा करने, दुःखी पर दया करके उसे दान देने में अप्रशस्त भाव-लेश्याओं का सद्भाव बताकर एकान्त पाप कहते हैं। परन्तु उनका यह कथन आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

बुद्धिमान विचारकों को स्वयं सोचकर निर्णय करना चाहिए कि जब फल तोड़ने के परिणाम भी प्रशस्त और अप्रशस्त लेश्याओं से युक्त होते हैं, तब सद्भाव एवं निस्वार्थ बुद्धि से मरते हुए प्राणी की रक्षा करने एवं दुःखी के दुःख को दूर करने हेतु दान देने में अप्रशस्त लेश्याएँ कसे हो सकती हैं? अस्तु, गोशालक की रक्षा करते समय भगवान् महावीर में अप्रशस्त भाव-लेश्याएँ बताकर उन्हें चूका कहना नितान्त असत्य है।
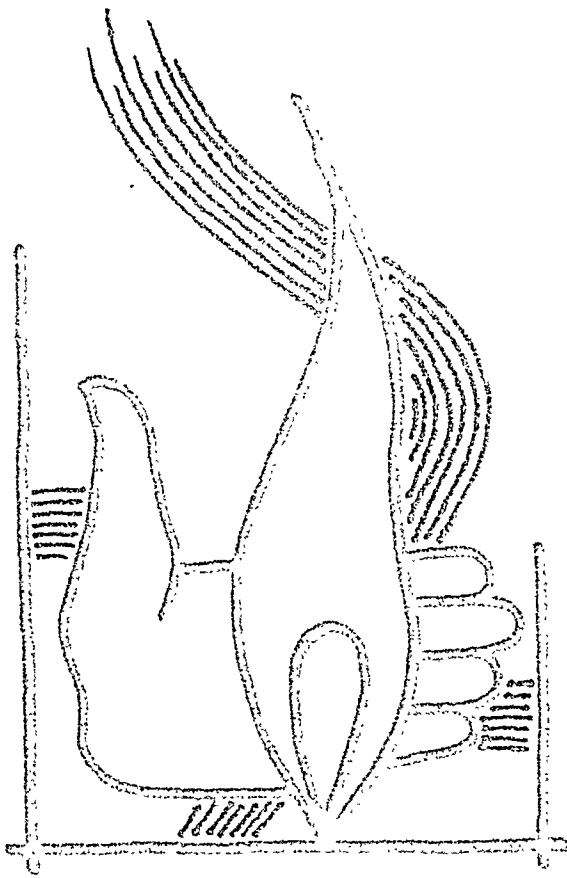
वैयावृत्य-अधिकार

प्रताड़न और सेवा
शान्ति पहुँचाना शुभ कार्य है
साधु और श्रावक का कल्प
वैयावृत्य : तप है
अपवाद : मार्ग है
साधु को बचाना धर्म है

प्रताड़न और सेवा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २४१ पर उत्तराध्ययनसूत्र, अ. १२, गा. ३२ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां हरिकेशी मुनि कह्यो—पूर्वे, हिंवडा अनें आगमिये काले म्हारो तो किंचित द्वेष नहीं। अने जे यक्षे ब्यावच कीधी ते माटे ए विप्र बालकों ने हण्या छै। ए पोतानी आशंका मेटवा अर्थे कह्यो। जे छात्रां ने हण्या ते यक्ष ब्यावच करी, पिण म्हारो द्वेष नथी। ए छात्रां ने हण्या ते पक्षपात रूप ब्यावच कही छै। आज्ञा बाहिरे छै।'

यक्ष ने मुनि का उपद्रव मिटाने के लिए, जो ब्राह्मण-कुमारों को प्रताड़ित किया, उसे मुनि का वैयावृत्य बताकर मुनि की वैयावृत्य को सावद्य बताना नितान्त असत्य है। क्योंकि मुनि की वैयावृत्य करने का कार्य एवं ब्राह्मण-कुमारों को प्रताड़ित करने का कार्य, दोनों एक नहीं, दो भिन्न कार्य हैं। जहाँ यक्ष के द्वारा ब्राह्मण-कुमारों को प्रताड़ित करने का उल्लेख है, वहाँ यह पाठ आया है—

इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयंति।

ऋषि की वैयावृत्य करने के लिए यक्ष ब्राह्मण-कुमारों का निवारण करने लगा।

प्रस्तुत पाठ में मुनि की वैयावृत्य के लिए ब्राह्मण-कुमारों को प्रताड़ित करना कहा है, परन्तु प्रताड़ित करने को मुनि की वैयावृत्य नहीं कहा है। इससे वैयावृत्य एवं प्रताड़न का कार्य एक नहीं, एक-दूसरे से भिन्न है। जैसे देवों ने भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार करने के निमित्त जहाँ वैक्रिय समुद्घात किया, वहाँ वन्दनवत्तियाए पाठ आया है, और यहाँ वेयावडियट्ठयाए यह पाठ आया है। जैसे वन्दनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्घात वन्दन स्वरूप नहीं, किन्तु उससे भिन्न है। उसी तरह वैयावृत्य के हेतु किया जाने वाला ब्राह्मण-कुमारों का प्रताड़न वैयावृत्य स्वरूप नहीं, बल्कि उससे भिन्न है। अतः जैसे वैक्रिय समुद्घात के सावद्य होने पर भी भगवान् का वंदन सावद्य नहीं होता, उसी तरह ब्राह्मण-कुमारों को ताड़न करने का कार्य सावद्य होने पर भी मुनि का वैयावृत्य सावद्य नहीं होता।[1]

---

१. इस विषय पर अनुकम्पा-अधिकार, पृष्ठ ३२८ पर विस्तार से लिख चुके हैं।

नाटक और भक्ति

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २४२ पर राजप्रश्नीयसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'इहां सूर्याभ नाटक ने भक्ति कही छै। ते भक्ति सावद्य छै। ते माटे भक्ति नी भगवन्ते आज्ञा न दीधी।'

राजप्रश्नीय का प्रमाण देकर आगमोक्त भक्ति को सावद्य बताना नितान्त असत्य है। उक्त पाठ में भक्ति को नाटकस्वरूप नहीं, नाटक से भिन्न कहा है।

यहाँ सूर्याभ ने भगवान् से भक्तिपूर्वक नाटक करने की आज्ञा मांगी, भक्ति-स्वरूप नाटक करने की नहीं। क्योंकि यहाँ **भत्तिपुव्वगं** शब्द आया है, **भत्तिरूव्वं** नहीं। इसलिए नाटक को ही भक्तिरूप मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

वीतराग में परमानुराग रखने का नाम वीतराग की भक्ति है। और वेश-भूषा एवं भाषा आदि के द्वारा किसी श्रेष्ठ पुरुष के जीवन का अनुकरण करना नाटक है। इसलिए नाटक और भक्ति दोनों एक नहीं, दो भिन्न विषय हैं। अस्तु, इन दोनों को एक बताना नितान्त असत्य है।[1]

---

१. इस विषय पर अनुकम्पा-अधिकार, पृष्ठ ३२५ पर विस्तार से लिखा है।

शान्ति पहुँचाना शुभ कार्य है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २५४ पर साधु के अतिरिक्त दूसरे जीवों को साता पहुँचाने में एकान्त पाप सिद्ध करते हुए लिखते हैं—

'कोई कहे सर्व जीवां ने साता उपजायां तीर्थकर गोत्र बांधे, इम कहे ते पिण झूठ छै। सूत्र में तो सर्व जीवां रो नाम चाल्यो नहीं।' इसके अनन्तर ज्ञातासूत्र के पाठ एवं उसकी टीका की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'इहां टीका में पिण *गुर्वादिक साधु इज कह्या। पिण गृहस्थ न कह्या। गृहस्थ नी ब्यावच करे,* ते तो अड्डाइसमो अणाचार छै। पिण आज्ञा में नहीं, इत्यादि।'

ज्ञातासूत्र में तीर्थंकर गोत्र बाँधने के बीस कारण बताए हैं। उनमें समाधि—चित्त में शान्ति उत्पन्न करना भी तीर्थंकर गोत्र बंधने का कारण कहा है। किसी व्यक्ति को समाधि—शान्ति पहुंचाना, इसके लिए आगम में किसी व्यक्ति-विशेष के नाम का उल्लेख नहीं किया है। ऐसी स्थिति में केवल साधु के चित्त में शान्ति उत्पन्न करना ही तीर्थंकर गोत्र बंधने का कारण है, अन्य प्राणियों को शान्ति देना नहीं, ऐसी कल्पना करना अप्रामाणिक एवं आगम-विरुद्ध है। उक्त पाठ की टीका से भी यह सिद्ध नहीं होता।

समाधौ च गुर्वादीनां कार्य्यकारणद्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने सति निर्घतितवान्।

—ज्ञातासूत्र टीका

गुरु आदि का कार्य करके उनके चित्त में शान्ति उत्पन्न करने से तीर्थकर गोत्र बंधता है।

यहाँ गुरु आदि से केवल साधु का ही ग्रहण बताना गलत है। क्योंकि माता-पिता, ज्येष्ठ बन्धु, चाचा एवं शिक्षक आदि भी गुरु कहलाते हैं। तथापि गुरु शब्द से उनका ग्रहण नहीं होकर, एकमात्र साधु का ही ग्रहण कैसे होगा? अतः उक्त टीका में गुरु शब्द से साधु के समान ही माता-पिता, ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरुजन भी गृहीत हैं। और आदि शब्द से जो लोग गुरु से भिन्न हैं, उनका भी ग्रहण किया गया है। अतः इस टीका का मनमाना अर्थ करके साधु से भिन्न व्यक्ति को सुख-

शान्ति देने से धर्म-पुण्य का निषेध करना अनुचित है। इस टीका से साधु से भिन्न व्यक्ति को शान्ति देना भी तीर्थंकर गोत्र बंधने का कारण सिद्ध होता है।

इसी तरह गृहस्थ का वैयावृत्य करने को अट्ठाइसवाँ अनाचार कहा है, उसका उदाहरण देकर साधु से भिन्न व्यक्ति को शान्ति पहुँचाने में एकान्त पाप कहना नितान्त असत्य है। गृहस्थ का वैयावृत्य करना साधु के लिए अनाचार है, परन्तु गृहस्थ के लिए गृहस्थ का वैयावृत्य करना अनाचार नहीं कहा है। यदि साधु से भिन्न को शान्ति देना, उसकी वैयावृत्य करना गृहस्थ के लिए भी अनाचार होता, तो माता-पिता की सेवा करने से उववाईसूत्र में स्वर्ग में जाना कैसे कहते? अस्तु ज्ञातासूत्र का नाम लेकर साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति को सुख-शान्ति पहुँचाने एवं उसकी सेवा-शुश्रूषा करने में पुण्य नहीं मानना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सेवा करना पाप नहीं है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २५७ पर सूत्रकृतांगश्रुत, स्कंध १, अ. ३, उ. ४ की ६-७ गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—साता दियां साता हुवे इम कहे ते आर्य मार्ग की अलगो कह्यो। समाधि मार्ग थी न्यारो कह्यो। जिणधर्म री हीलणा रो करणहार, अल्प सुख रे अर्थे घणा सुखां रो हारणहार, ए असत्य पक्ष अणछाड़वे करी मोक्ष नथी। लोहवाणियां नी परे घणो झूरसी। साता दियां साता परूपे तिण में एतला अवगुण कह्या। सावद्य साता में धर्म किम कहिए? तेहथी तीर्थंकर गोत्र किम बंधे?'

सूत्रकृतांगसूत्र की उक्त गाथाओं का नाम लेकर साधु से भिन्न व्यक्ति को साता देने में धर्म-पुण्य का निषेध करना सत्य को अस्वीकार करना है। उक्त गाथाओं में शाक्य आदि के मत का खण्डन किया है, परन्तु साधु से भिन्न व्यक्ति को साता देने का निषेध नहीं किया है।

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं)।।
मा ए यं अवमन्नंता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं।
एतस्स (उ) अमोक्खाए, अओ हारिव्व जूरइ।।

—सूत्रकृतांग, १, ३, ४, ६-७

मतान्तरं निराकर्तु पूर्व पक्षयितुमाह-इहेति मोक्षगमन विचार प्रस्तावे एके शाक्यादयः स्वयूथ्याः वा लोचादिनोपतप्ताः तु शब्दः पूर्व स्मात् शीतोदकादि-परिभोगाद्विशेषमाह-भाषंते ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठः।

किं तदित्याह—सातं सुखं सातेनैव विद्यते, भवतीति।' तथा च वक्तारौ भवन्ति—

सर्वाणि सत्वानि सुखेरतानि, सर्वाणि दुःखा च समुद्विजन्ते।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुख प्रदात्ता लभते सुखानि।।

युक्तिरप्येवमेवस्थिता, यतः कारणानुरूपं कार्य्यमुत्पद्यते तद्यथा शालिबीजाच्छाल्यंकुरोज्जायते न यवांकुर इत्येवमिहत्यात्सुखान्मुक्ति-सुखमुपजायते न तु लोचादिरूपात् दुःखादिति। तथाह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः—

मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणाऽऽसणं।
मणुण्णं सि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी।।

मृद्वीशय्या प्रातरुत्थायपेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराण्हे।
द्राक्षाखण्डं शर्कराचार्द्धरात्रौ, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः।।

इत्यतो मनोज्ञाहार विहारादेश्चित्त स्वास्थ्यमुत्पद्यते चित्त समाधे च मुक्त्य वाप्तिः। अतः स्थितमेवैतत् सुखेनैव सुखावाप्तिः। न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरितिस्थितम्। इत्येवं व्यामूढ़मतयो केचन् शाक्यादयस्तत्र तस्मिन् मोक्ष विचार प्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यातः सर्व हेय धर्मेभ्यः इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्र शासन प्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरंति तथा च परमं समाधिं ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तरवर्तिनः सदा भवन्ति। एनमार्य्य मार्गं जैनेन्द्र प्रवचनं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग प्रतिपादकं 'सुखं सुखेनैव विद्यते' इत्यादि मोहेन मोहिता अवमन्यमानाः परिहरन्तः अल्पेन वैषयिकेण सुखेन मा बहु परमार्थसुखं मोक्षसुखं मोक्षख्यं लुम्पथ, विध्वंसथ। तथाहि मनोज्ञाहारदिनाकामोद्रेकः। तदुद्रेकाच्च चित्तास्वास्थ्यं न पुनः समाधिरिति। अपि च एतस्यासत् पक्षाभ्युपगमस्यमोक्षेऽपरित्यागे सति 'अयो हारिव्व जूरइ' आत्मानं यूयं कदर्थयथ केवलं यथासौ अयसो-लोहस्याहर्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमिति कृत्वा नोज्झितवान् पश्चात् स्वस्थानावाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान् पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति।

मतान्तर का खण्डन करने के लिए छट्ठी गाथा में अन्य मतावलम्बियों की ओर से पूर्वपक्ष स्थापित किया गया है। वह इस प्रकार है—मोक्षप्राप्ति के विषय

में शाक्यादि एवं केशलुंचन से पीड़ित कुछ स्व-यूथिक भी यह कहते हैं कि सुख की प्राप्ति सुख से होती है। इन लोगों ने स्वमत को परिपुष्ट करने के लिए यह सिद्धान्त बनाया है—'सभी जीव सुख में अनुरक्त हैं और सब लोग दुःख से उद्विग्न होते हैं। इसलिए सुख के इच्छुक पुरुष को सुख देना चाहिए। क्योंकि सुख देने वाला सुख पाता है।' इस विषय में ये लोग यह तर्क देते हैं कि सभी कार्य अपने कारण के अनुरूप उत्पन्न होते हैं। शालि के बीज से शालि—चावल का अंकुर उत्पन्न होता है, यव—जौ का नहीं। इसी तरह इस लोक में सुख भोगने से ही परलोक में सुख मिलता है। परन्तु केवल केशलुंचनादि दुःख भोगने से नहीं। इनके आगम में यही लिखा है—'साधु को मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ घर में मनोज्ञ शय्या पर मनोज्ञ वस्तु का ध्यान करना चाहिए। कोमल शय्या पर शयन करना, सूर्योदय होते ही दूध आदि पौष्टिक पदार्थ का पान करना, दोपहर में स्वादिष्ट भात आदि का भोजन करना, दोपहर के बाद शर्बत आदि पीना और अर्द्ध रात्रि को द्राक्षा-शक्कर आदि मधुर पदार्थ खाना। शाक्य पुत्र का यह विश्वास है कि इन कार्यों के करने से अन्त में मोक्ष मिलता है।' संक्षेप में इनका सिद्धान्त यह है कि मनोज्ञ आहार-विहार से चित्त में समाधि उत्पन्न होती है और चित्त में समाधि उत्पन्न होने से मोक्ष-सुख मिलता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सुख से ही सुख मिलता है, केशलुंचनादि रूप दुःख भोगने से नहीं।

इस प्रकार के सिद्धान्त को मानने वाले शाक्यादि साधु सभी हेय धर्म से पृथक् रहने वाले जिन-प्रतिपादित आर्य धर्म का परित्याग करके ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप मोक्ष-मार्ग को छोड़ देते हैं। वे ज्ञानरहित हैं और चिरकाल तक संसार-चक्र में परिभ्रमण करते रहते हैं। उन पर कृपा करके आगमकार उन्हें उपदेश देते हैं—'सुख से ही सुख मिलता है'—इस मिथ्या सिद्धान्त का आश्रय लेकर तुम मोहवश सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्ररूप मोक्षधर्म के प्रतिपादक जैनागम को छोड़ रहे हो। तुम तुच्छ विषय-सुख के लोभ में पड़कर मोक्ष रूप वास्तविक सुख को मत छोड़ो। मनोज्ञ आहार आदि खाने से काम की वृद्धि होती है और काम-वासना के प्रबल होने पर चित्त में शान्ति नहीं रहती। इस प्रकार चित्त में समाधि उत्पन्न होना एकान्त असंभव है। अतः असत्पक्ष का आश्रय लेकर अपने को खराब कर रहे हो। जैसे कोई वणिक् पुत्र दूर से लोहा लिए हुए आता था, उसे रास्ते में चाँदी मिली, पर उसने सोचा कि मैं दूर से इस लोहे को लिए हुए आ रहा हूँ, अतः इसे छोड़कर चांदी कैसे लूँ। इस प्रकार आगे रास्ते में सोना भी मिला, उसे भी नहीं लिया। पीछे अपने स्वस्थान पर पहुँचने पर उसे सोने-चाँदी की अपेक्षा लोहे का बहुत कम मूल्य मिला, तब वह पछताने लगा। इसी तरह तुम्हें भी पीछे पछताना पड़ेगा।

यहाँ जो लोग विषय-सुख से मोक्ष मिलता है, यह सिद्धान्त बनाकर जिनेन्द्र-प्रवचन का त्याग करते हैं, उनके सिद्धांत का खण्डन करने के लिए कहा

है—'विषय-सुख भोगने से मोक्ष की आशा रखना मिथ्या है। विषय-सुख का त्याग करके जिन-धर्म को स्वीकार करना ही मोक्ष का साधन है।' परन्तु यह नहीं कहा है कि किसी को साता देना सावद्य है या किसी को साता पहुँचाने से धर्म या पुण्य नहीं होता। इसलिए उक्त गाथा का नाम लेकर साधु से भिन्न व्यक्ति को सुख-शान्ति देने में पाप बताना नितान्त असत्य है।

यदि कोई व्यक्ति दुराग्रहवश उक्त गाथाओं का यही अर्थ करे कि साता देने से लोह-वणिकवत् पश्चात्ताप करना पड़ता है या आर्य-मार्ग से दूर रहना पड़ता है, तो फिर उनके मत से साधु को साता देने में भी पाप होगा। यदि यह कहें कि साधु से भिन्न व्यक्ति को साता देने वाला लोह-वणिक की तरह पश्चात्ताप करता है। परन्तु यह कथन मिथ्या है। क्योंकि प्रस्तुत गाथा का अर्थ यह है कि साधु या गृहस्थ जो व्यक्ति यह मानता है—'विषय-सुख का सेवन करने से मोक्ष मिलता है, उस अधम-श्रद्धा रखने वाले को लोह-वणिकवत् पश्चात्ताप करना पड़ता है।' परन्तु अनुकम्पा करके किसी दीन-हीन प्राणी के दुःख को मिटाने वाले का यहाँ उल्लेख नहीं किया है। अतः उक्त गाथा का नाम लेकर दीन-हीन जीवों पर दया करके उन्हें साता देने वाले दयालु व्यक्ति को एकान्त पापी कहना सर्वथा गलत है।

साधु और श्रावक का कल्प

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २५७ पर लिखते हैं—

'दशवैकालिक, अ. ३ गृहस्थ नी साता पूछ्यां सोलमों अणाचार लागतो कह्यो। तथा गृहस्थ नी ब्यावच कीधां अठ्ठाइसमो अनाचार कह्यो। तथा निशीथ, उ. १३ गृहस्थ नी रक्षा निमित्ते भूतीकर्म कियां प्रायश्चित्त कह्यो, तो गृहस्थनी सावद्य साता वांछयां तीर्थंकर गोत्र किम बन्धे?'

यदि साधु गृहस्थ की साता पूछे या उसकी सेवा करे तो साधु को अनाचार लगता है, परन्तु गृहस्थ गृहस्थ की साता पूछे या उसकी सेवा करे तो उसके लिए आगम में अनाचार नहीं कहा है। क्योंकि आगम में अनाचारों का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है—

संजमे सुट्ठि अप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं।
तेसिमेय मणाइन्नं निग्गंथाण महेसिणं।।

—दशवैकालिकसूत्र, ३, १

अपनी आत्मा को संयम में स्थिर रखने वाले और वाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त तथा स्व-आत्मा के रक्षक, निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ये अनाचार आचरण करने योग्य नहीं हैं।

इस गाथा में स्पष्ट लिखा है कि आगे कहे जाने वाले बावन अनाचार श्रमण-निर्ग्रन्थों के लिए हैं, गृहस्थ के लिए नहीं। अतः गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ की साता पूछना, वैयावृत्य करना दशवैकालिकसूत्र के अनुसार एकान्त पाप नहीं है।

यदि कोई यह तर्क करे कि जब गृहस्थ की साता पूछने एवं वैयावृत्य करने से साधु को अनाचार लगता है, तब श्रावक को उस कार्य के करने में पाप क्यों नहीं लगेगा? इसके लिए उन्हें यह समझना चाहिए कि साधु और श्रावक का कल्प एक नहीं, भिन्न-भिन्न है।

उक्त कार्य साधु के कल्प के विरुद्ध होने के कारण साधु के लिए अनाचार है, परन्तु गृहस्थ कल्प के अनुसार होने से गृहस्थ के लिए अनाचार एवं पाप रूप

नहीं है। जैसे अपने सांभोगिक साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को उत्सर्ग मार्ग में आहार-पानी देना साधु के लिए प्रायश्चित्त का कारण बताया है, परन्तु श्रावक के लिए नहीं। वैसे श्रावक के लिए अपने आश्रित पशु-नौकर आदि को आहार-पानी नहीं देने से उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगना कहा है। उसी तरह साधु गृहस्थ की साता पूछता है, वैयावृत्य करता है, तो उसको अनाचार लगता है। परन्तु श्रावक को उक्त कार्य करने से पाप नहीं लगता। यदि कोई व्यक्ति उक्त कार्य को श्रावक के लिए भी अनाचार कहे, तो उनके मत से अपने आश्रित पशु एवं नौकर आदि को आहार-पानी देना भी श्रावक के लिए प्रायश्चित्त का कारण होना चाहिए। परन्तु आगम में ऐसा नहीं कहा है। वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि यदि श्रावक अपने अधीनस्थ व्यक्तियों को आहार-पानी न दे, तो उसके प्रथम व्रत में अतिचार लगता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

दशवैकालिक सूत्र में उद्दिष्ट आहार लेना साधु के लिए प्रथम अनाचार कहा है। इसलिए जो साधु उद्दिष्ट आहार लेता है, उसे प्रायश्चित्त आता है। परन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं को छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरों के साधु यदि उद्दिष्ट आहार लें, तो उन्हें अनाचार नहीं लगता। क्योंकि उद्दिष्ट आहार लेना उनके कल्प के विरुद्ध नहीं है। अतः जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए उद्दिष्ट आहार लेने का कल्प नहीं होने से अनाचार है और इनके अतिरिक्त बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए उद्दिष्ट आहार लेना कल्प में होने से आचार है, अनाचार नहीं। उसी तरह साधु के लिए गृहस्थ की साता पूछना, वैयावृत्य करना, कल्प नहीं होने से अनाचार है, परन्तु श्रावक का कल्प होने से यह कार्य उसके लिए अनाचार एवं पाप का कारण नहीं है।

भगवान् महावीर के साधु भगवान् पार्श्वनाथ के साधु को आहार-पानी नहीं देते, यदि उत्सर्ग मार्ग में दें तो प्रायश्चित्त आता है, क्योंकि यह उनका कल्प नहीं है। परन्तु श्रावक पार्श्वनाथ भगवान् के साधु-साध्वियों को आहार-पानी दें, तो उन्हें प्रायश्चित्त नहीं आता। उन्हें इस कार्य से पाप नहीं, धर्म एवं निर्जरा होती है। इसलिए जो कार्य साधु के लिए अनाचार है, वह गृहस्थ के लिए भी अनाचार है, यह कल्पना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

निशीथसूत्र, उ. १३ में साधु को जीव-रक्षा करने का निषेध नहीं किया है, किन्तु भूतिकर्म करने का निषेध किया है। इसलिए यदि साधु भूतिकर्म करता है, तो उसे अवश्य ही प्रायश्चित्त आता है, परन्तु यदि वह भूतिकर्म न करके अपने कल्प के अनुसार प्राणियों की रक्षा एवं दया करता है, तो उसे प्रायश्चित्त नहीं आता।'

अतः दशवैकालिक एवं निशीथ का नाम लेकर गृहस्थ के द्वारा गृहस्थ की सुख-साता पूछने एवं वैयावृत्य करने तथा मरते हुए जीवों की प्राण-रक्षा करने में श्रावक को अनाचार एवं एकान्त पाप लगने की प्ररूपणा करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।[१]

---

१. भूतिकर्म के सम्बन्ध में अनुकम्पा-अधिकार में पृष्ठ ३०१ पर विस्तार से लिखा है।

वैयावृत्य : तप है

श्रावक के द्वारा श्रावक की साता पूछना वैयावृत्य करना उसके लिए अनाचार नहीं है, यह ज्ञात हुआ। परन्तु क्या आगम में श्रावक के लिए श्रावक का वैयावृत्य करने का विधान है? यदि है तो बताएँ।

उववाईसूत्र में श्रावक को श्रावक का वैयावृत्य करने का विधान है—

से किं तं वेयावच्चे?

दसविहे पण्णत्ते तं जहा—आयरिय वेयावच्चे, उवज्झाय वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, तवस्सि वेयावच्चे, थेर वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे।

—उववाईसूत्र

वैयावृत्य कितने प्रकार की है?

वह दस प्रकार की है—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. नवदीक्षित शिष्य, ४. रोगी, ५. तपस्वी, ६. स्थविर, ७. साधर्मिक, ८. गण, ६. कुल एवं १०. संघ की वैयावृत्य करना।

इनमें साधर्मिक की वैयावृत्य करना भी कहा है। अतः श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करना साधर्मिक वैयावृत्य है। क्योंकि जैसे लिंग और प्रवचन के द्वारा साधु का साधर्मिक साधु होता है, उसी तरह प्रवचन के द्वारा श्रावक का साधर्मिक श्रावक भी होता है।

व्यवहारसूत्र के द्वितीय उद्देश्य के भाष्य की गाथा एवं उसकी टीका में श्रावक को प्रवचन के द्वारा साधर्मिक कहा है। हम दान-अधिकार के पृष्ठ २२० पर उक्त भाष्य की गाथा एवं उसकी टीका का प्रमाण देकर यह सिद्ध कर चुके हैं कि श्रावक श्रावक का साधर्मिक होता है। अस्तु, प्रस्तुत सूत्र में श्रावक को आपने साधर्मिक श्रावक की वैयावृत्य करने का स्पष्ट विधान किया है। इसलिए श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करना पाप नहीं, धर्म एवं उसका आचार-कल्प है।

उक्त पाठ में संघ के वैयावृत्य का भी उल्लेख है। संघ का अर्थ है—साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का समूह। इसलिए श्रावक के संघ में

अन्तर्भूत होने के कारण साधु की तरह वैयावृत्य करना भी संघ-वैयावृत्य गिना गया है। श्रावक के द्वारा श्रावक की सेवा-शुश्रूषा करना भी देश से संघ-वैयावृत्य है। इसलिए वह धर्म का कारण है, पाप का नहीं।

यदि कोई यह तर्क करे कि साधु के द्वादश विध तप के भेद में वैयावृत्य को गिना है, इसलिए उववाईसूत्रोक्त दशविध वैयावृत्य साधु का ही है, श्रावक का कैसे हो सकता है? यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि श्रावक के तप का वर्णन कहीं अलग नहीं करके साधुओं के साथ ही किया है। इसका कारण यह है कि तप के सम्बन्ध में साधु और श्रावक के तप में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए द्वादश विध तप साधु की तरह श्रावक के लिए भी है। इस विषय में भ्रमविध्वंसनकार का भी मतभेद नहीं है, क्योंकि उनके आद्य गुरु आचार्यश्री भीखणजी ने भी लिखा है—

साधां रे बारे भेद तपस्या करतां, ज्यां-ज्यां निरवद्य जोग संघायजी।
तिहां-तिहां संवर होय तपस्या रे लारे, तिण सूं पुण्य लगता मिट जायजी।।
इण तप मांहिलो तप श्रावक करतां, कटे अशुभ जोग संघायजी।
जब व्रत संवर हुवे तपस्या रे लारे, लागता पाप मिट जाय जी।।

—नव सद्भाव पदार्थ निर्णय, ४७-४८

प्रस्तुत पद्यों में आचार्यश्री भीखणजी ने भी साधु की तरह श्रावक का भी द्वादशविध तप स्वीकार किया है। अतः इस तप में प्रयुक्त वैयावृत्य भी श्रावक का तप सिद्ध होता है। पूर्वोक्त दशविध वैयावृत्य को श्रावक के लिए स्वीकार न करना मात्र साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

गुणानुवाद का फल

यह स्पष्ट हो चुका है कि आगमोक्त दशविध वैयावृत्य करना श्रावक का भी कर्तव्य है। अतः उसमें पाप एवं प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है? आगम में श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करना धर्म कहा है, पाप नहीं। स्थानांगसूत्र में लिखा है कि श्रावक के अवर्ण बोलने से जीव दुर्लभबोधी और वर्ण बोलने से सुलभबोधी होता है—

'पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—अरहंताणं अवन्नं वदमाणे, अरहंत पन्नत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरिय-उवज्झायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्णस्स संघस्स अवन्नं वदमाणे, विवक्क तव-बंभचेराणं अवन्नं वदमाणे। पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति—अरहंताणं वन्नं वदमाणे, जाव

विवक्क तव-बंभचेराणं वन्नं वदमाणे।

—स्थानांगसूत्र, ५, २, ४२६

जीव निम्नोक्त पाँचों स्थानों में दुर्लभबोधी होने के कारण कर्म का बंध करता है—१. अरिहन्त, २. अरिहन्त प्रणीत धर्म, ३. आचार्य-उपाध्याय, ४. चतुर्विध संघ, ५. परिपक्व तप एवं ब्रह्मचर्य, इन सबका अवर्ण बोलने से। इसी तरह उक्त पाँचों का वर्ण बोलने से जीव सुलभबोधित्व को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत पाठ में संघ का अवर्ण बोलने से दुर्लभबोधी कर्म एवं संघ का वर्ण बोलने से सुलभबोधी कर्म का बंध होना कहा है। श्रावक-श्राविका भी चतुर्विध संघ के अंग हैं। अतः उनका अवर्ण बोलना अवश्य ही दुर्लभबोधी कर्मबन्ध का हेतु है और उनका वर्ण बोलना सुलभबोधित्व का। इस तरह जब श्रावक-श्राविका द्वारा वर्ण—गुणानुवाद करने मात्र से जीव सुलभबोधी कर्म बांधता है, तब यदि कोई श्रावक उन्हें अन्न आदि के द्वारा धार्मिक सहयोग देने रूप वैयावृत्य करे, तो उसे उससे पापबन्ध कैसे होगा? उसे उस कार्य से वर्ण—गुणानुवाद करने की अपेक्षा अधिक धर्म ही होगा, पाप नहीं। अतः श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करने को एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सेवा का फल

भगवतीसूत्र में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि सनत्कुमार देवेन्द्र श्रावकों के केवल हित, सुख, पथ्य यावत् निःश्रेयस की अभिलाषा करने से भवसिद्धि से लेकर चरमशरीरी हो गया—

सणंकुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं, बहूणं समणीणं, बहूणं सावयाणं, बहूणं सावियाणं हिय-कामए, सुह-कामए, पत्थ-कामए अणुकम्पिए, निस्सेयसिए, हिय-सुह-निस्सेयस-कामए से तेणट्ठे णं, गोयमा! सणंकुमारेणं भवसिद्धिए णो अचरिमे।

—भगवतीसूत्र, ३, १, १४०

हे गौतम! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुत-से साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा एवं मोक्ष की कामना करते हैं, इसलिए वह भवसिद्धि से लेकर यावत् चरम है।[1]

---

१. प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त हित, सुख और पथ्य का टीकाकार ने क्रमशः सुख-साधक वस्तु, सुख और दुःख से त्राण-रक्षा रूप अर्थ किया है। उसका दान-अधिकार, पृष्ठ १६६ पर विस्तृत विवेचन किया है।

प्रस्तुत पाठ में श्रावक-श्राविकाओं के हित, सुख आदि की इच्छा करने मात्र से देवेन्द्र को भवसिद्धि से लेकर चरमशरीरी होना कहा है। ऐसी स्थिति में यदि कोई श्रावक प्रत्यक्ष रूप से श्रावक-श्राविकाओं के हित, सुख आदि की कामना करते हुए उनके धर्मकार्य में सहयोग देने रूप वैयावृत्य करे, तो उसे पाप कैसे होगा? उसे तो देवेन्द्र से भी अधिक धर्म होगा। अतः श्रावक के द्वारा श्रावक का वैयावृत्य करने में पाप कहना नितान्त असत्य है।

अपवाद : मार्ग है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २६२ पर आचार्यश्री भीखणजी के वार्तिक का प्रमाण देते हुए लिखते हैं—

'ते कहे छै, पड़िमाधारी साधु अग्निमांहि बलतां ने बांहि पकड़ने बाहिर काढ़े। अथवा सिंहादिक पकड़तां ने झाल राखे। तथा हर कोई साधु-साध्वी जिनकल्पी, स्थविरकल्पी त्यां ने बांहि पकड़ने बाहिर काढ़े इत्यादिक कार्य करीने साता उपजावे, अथवा जीवां ने बचावे। अथवा ऊंचा थी पड़तां ने झाल बचावे, अथवा आखड़ पड़तां ने झाल बचावे। अथवा ऊँचा थी पड़तां ने बैठो करे। अथवा आखड़ पड़तां ने बैठो करे। तिण गृहस्थ ने भगवान् अरिहन्त री पिण आज्ञा नहीं। अनन्ता साधु-साध्वी गये काले हुवा, त्यांरी पिण आज्ञा नहीं। जिण साधु ने बचायो तिण री पिण आज्ञा नहीं इत्यादि।' इनके कहने का तात्पर्य यह है—यदि मरणान्त कष्ट की अवस्था में भी पड़े हुए साधु की गृहस्थ रक्षा करे, तो उसे एकान्त पाप होता है।

मरणान्त कष्ट में पड़े हुए साधु की रक्षा करने से गृहस्थ को एकान्त पाप होता है, क्योंकि भगवान् ने इसकी आज्ञा नहीं दी है, ऐसा कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। व्यवहारसूत्र में स्थविरकल्पी साधु-साध्वी को सर्प के काटने पर गृहस्थ से झाड़ा दिलाने की स्पष्ट आज्ञा दी है—

निग्गंथं च णं राओ वा वियालेवा दीहपीट्ठे लूसेज्जा इत्थी पुरिसस्स पमज्जेज्जा, पुरिसो वा इत्थिए पमज्जेज्जा। एवं से चिट्ठति परिहारं च नो पाउणति, एस कप्पे थेरकप्पियाणं, एवं से नो कंपति एवं से नो चिट्ठति परिहारं च पाउणति, एस कप्पे जिण कप्पियाणं।

—व्यवहारसूत्र, ५, २१

सम्प्रति सूत्र व्याख्या क्रियते—निर्ग्रन्थं च शद्वान्निर्ग्रन्थी च रात्रौ वा विकाले वा दीर्घ पृष्ठः सर्पो लूषयेत् दंशेत्। तत्र स्त्री वा पुरुषस्य हस्तेन तं विषमपमार्जयेत्। पुरुषो वा स्त्रियाः हस्तेन एवं से तस्य स्थविरकल्पिकस्य कल्पते। स्थविरकल्पस्य अपवाद बहुलत्वात्। एवं चामुना

प्रकारेणापवादसेवमानस्य से तस्य तिष्ठति पर्य्यायः। न स्थविर कल्पात्परिभ्रश्यति येन छेदादयः प्रायश्चित्त विशेषास्तस्य न सन्ति। परिहारं च तपो न प्राप्नोति कारणे न यतनया प्रवृत्तेः। एष कल्पः स्थविरकल्पिकानाम्। एवममुना प्रकारेण सपक्षेण विपक्षेण वा वैयावृत्य करायणं 'से' तस्य जिनकल्पिकस्य न कल्पते केवलोत्सर्ग प्रवृत्तत्वात्तस्येति भावः। एवमपवाद सेवनेन 'से' तस्य जिनकल्पिकस्य जिनकल्प पर्य्यायो न तिष्ठति जिनकल्पात् पततीत्यर्थः। परिहारं च तपो विशेषं परिमालयति एष कल्पो जिनकल्पिकानाम्।

साधु-साध्वी को रात्रि या विकाल के समय यदि सर्प काट ले, तो स्त्री-साध्वी गृहस्थ पुरुष के हाथ से और पुरुष-साधु गृहस्थ स्त्री के हाथ से उस विष को उतारने का झाड़ा दिलाए, यह स्थविरकल्पी साधु का कल्प है। क्योंकि स्थविरकल्पी साधु के कल्प में अपवाद बहुत होता है। इसलिए उक्त कार्य करने पर भी स्थविरकल्पी का पर्याय रहता है। वह अपने कल्प से गिरता नहीं है। इसलिए इस कार्य को करने से स्थविरकल्पी मुनि को छेद आदि प्रायश्चित्त विशेष नहीं आता और प्रायश्चित्तस्वरूप तप भी नहीं करना पड़ता। क्योंकि स्थविरकल्पी कारण एवं परिस्थितिवश यतनापूर्वक उक्त कार्य करने में प्रवृत्त हुआ है। परन्तु इस प्रकार अपने या दूसरे पक्षवालों से वैयावृत्य कराना जिनकल्पी साधु का कल्प नहीं है, क्योंकि वह उत्सर्ग मार्ग से ही प्रवृत्त होता है। यदि वह इस प्रकार अपवाद मार्ग का आश्रय ले ले, तो उसका पर्याय स्थिर नहीं रहता। वह जिनकल्प से गिर जाता है और प्रायश्चित्त का अधिकारी होता है।

प्रस्तुत पाठ में स्थविरकल्पी साधु-साध्वी के लिए सर्प काटने पर गृहस्थ से झाड़ा दिलाने की स्पष्ट आज्ञा दी है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मरणान्त कष्ट में पड़े हुए साधु के प्राणों की रक्षा करना गृहस्थ के लिए जिन-आज्ञा से विरुद्ध नहीं है। ऐसी विकट परिस्थिति में स्थविरकल्पी के लिए गृहस्थ की सहायता लेकर अपने प्राणों की रक्षा करना, आज्ञा से बाहर एवं प्रायश्चित्त का कारण नहीं है। अतः मरणान्त कष्ट में पड़े हुए साधु की रक्षा करना गृहस्थ के लिए आज्ञा बाहर बताकर उसमें एकान्त पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि कभी गड्ढे आदि में गिरने की संभावना हो तो साधु गृहस्थ का हाथ पकड़कर उस मार्ग को पार कर सकता है। इस विषय में आचारांगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—

से भिक्खू वा गामाणुगामं दुइज्जमाणे अन्तरासे वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणानि वा अग्गलाणि वा अग्गल पासगाणि

वा गड्ढाओ वा दरीओ वा सइपरक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्जा। नो उज्जुयं गच्छेज्जा केवली बूया आयाणमेयं। से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ज वा २ से तत्थ पयलमाणे वा रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलम्बिय उत्तरिज्जा। जे तत्थ पडियहिया वा उवागच्छंति ते पाणीजाइज्जा तओ संजयामेव अवलम्बिय उत्तरिज्जा। तओ स गामानुगामं दुइज्जेज्जा।

—आचारांगसूत्र, २, ३, २, १२५

साधु-साध्वी को यदि एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाते हुए मार्ग में क्यारी, खाई, गड्ढा, तोरण, अर्गला, गर्त या खोह पड़े, तो दूसरा मार्ग होने पर साधु-साध्वी को उस मार्ग से नहीं जाना चाहिए। क्योंकि उस मार्ग से जाने पर केवली ने कर्म बन्ध होना कहा है। परन्तु दूसरा मार्ग नहीं होने पर उस मार्ग से जाने में दोष नहीं है। ऐसे विकट मार्ग से जाते हुए यदि साधु-साध्वी का पैर फिसल जाए तथा गिरने की स्थिति हो तो वृक्ष, लता, तृण या गहरी वनस्पतियों को पकड़कर उस मार्ग को पार करे। यदि उस पथ से कोई पथिक आता हो, तो उसके हाथ की सहायता लेकर यतनापूर्वक उस विकट मार्ग को पार करे। इसके पश्चात् ग्रामानुग्राम विहार करे।

प्रस्तुत पाठ की टीका में लिखा है—

अथ कारणिकस्तेनैव गछेत् कथंचित् पतितश्च गच्छतो वल्ल्यादिक-मवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयत एव गच्छेत्।

कारण पड़ने पर साधु उस विकट मार्ग से जाए और यदि किसी प्रकार गिरता हुआ स्थविरकल्पी साधु लतादि को पकड़ कर या सम्मुख आते हुए पथिक के हाथ का आश्रय लेकर यतनापूर्वक उस मार्ग को पार करे।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी अपने 'प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध' नामक ग्रन्थ के ६३वें प्रश्न के उत्तर में इस वात को स्वीकार करते हुए लिखा है—

'प्रश्न : विहार करतां मार्ग में पृथ्वी, हरी आयां तेणे इज मार्गे जावणो कि नहीं?

उत्तर : आचारांग, श्रुत. २, अ. ३, उ. २ कह्यो विहार करतां मार्ग मांई वीज, हरी, पानी, माटी होय तो छते रास्ते ते मार्गे जावणो नहीं। इण न्याय रास्तो न होय तो ते मार्ग रो दोष नहीं। ऊंची भूमि, खाई, गड्ढा ने मार्गे छते रस्ते न जावणो, रास्तो और न होय तो जावणो।'

इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि दूसरा रास्ता न होने पर साधु विकट मार्ग से भी जा सकता है और विकट परिस्थिति में पथिक का हाथ पकड़कर भी रास्ता पार कर सकता है। ऐसा करने पर स्थविरकल्पी साधु का कल्प नहीं टूटता, क्योंकि उक्त कार्य जिन-आज्ञा में है और विषय मार्ग में संकटग्रस्त साधु को अपने हाथ का सहारा देकर उस मार्ग से पार करने वाला पथिक भी आज्ञानुसार ही कार्य करता है, आज्ञा बाहर या एकान्त पाप का कार्य नहीं करता। अतः आग में प्रज्वलित साधु के हाथ को पकड़ उसे बाहर निकालने वाले गृहस्थ को पाप कैसे होगा? बुद्धिमान पाठक यह स्वयं सोच सकते हैं।

यदि मरणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी स्थविरकल्पी साधु को गृहस्थ के शरीर से सहायता लेना नहीं कल्पता और गृहस्थ को भी उस स्थिति में सहायता देने का निषेध किया होता, तो आचारांगसूत्र के उक्त पाठ में सामने से आने वाले पथिक के हाथ का सहारा लेकर कठिन मार्ग को पार करने तथा व्यवहारसूत्र में सर्प के काटने पर साधु-साध्वी को गृहस्थ स्त्री-पुरुष से झाड़ा लगाने का विधान कैसे करते? अतः साधु के लिए प्रत्येक अवस्था में गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेने का निषेध करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

साधु को बचाना धर्म है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २६५ पर आचार्यश्री भीखणजी के वार्तिक का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

'बली कइक इसड़ी कहे छै—सुभद्रा सती साधुरी आँख मांहि थी फांटो काढ्यो तिण में धर्म कहे छै।' इसके आगे पृष्ठ २६७ पर अपनी ओर से यह लिखते हैं—'केतला एक जिण आज्ञा ना अजाण छै, ते साधु अग्नि मांहि बलतां ने कोई गृहस्थ बांह पकड़ने बाहिर काढे, तथा साधुरी फांसी कोई गृहस्थ कापे तिण में धर्म कहे छै।' इनके कहने का अभिप्राय यह है कि सुभद्रा सती ने जिनकल्पी मुनि की आँख से तिनका निकाला था, इससे उसको पाप हुआ। किसी दुष्ट के द्वारा साधु के गले में लगाई गई फांसी को यदि कोई दयालु व्यक्ति काट दे, तथा आग में जलते हुए मुनि को कोई दयावान गृहस्थ उसकी बांह पकड़कर बाहर निकाल दे, तो उन सबको एकान्त पाप होता है।

सुभद्रा सती ने जिनकल्पी मुनि की आँख से जो तिनका निकाला उसे पाप-कार्य बताना आचार्यश्री भीखणजी की भारी भूल है, उसके अतिरिक्त साधु को अग्नि में से बाहर निकाल कर तथा उसके गले में लगी हुई फांसी को काटकर उसे बचाने वाले गृहस्थ को पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। आगम में साधु के नाक में लटकते हुए अर्श का छेदन करने वाले वैद्य को शुभ क्रिया से पुण्य का बन्ध होना कहा है—

अणगारस्स णं भन्ते! भावि अप्पणो छट्ठं-छट्ठेण अणिक्खित्तेणं जाव आयावेमाणस्स तस्स णं पुरच्छिमे णं अवड्ढं दिवसं णो कप्पइ हत्थं वा, पायं वा, बाहं वा, उरुं वा आउट्टावेत्तए वा पसारेत्तए वा पच्चच्छिमे णं से अवड्ढं दिवसं कप्पइ हत्थं वा पायं वा जाव उरुं वा आउट्टावेत्तए पसारेत्तए वा। तस्स णं अंसि आओ लंबइ तं चेव विज्जे अदक्खु इसिंपाडइ-पाडेइत्ता अंसिआओ छिंदेज्जा से नूणं भन्ते! जे छिंदेज्जा तस्स किरिया कज्जइ? जस्स छिंदइ णो तस्स किरिया कज्जइ णणत्थेगेणं धम्मंतराएणं?

हन्ता गोयमा! जे छिंदइ जाव धम्मंतराएणं, सेवं भन्ते-भन्ते ति।

—भगवतीसूत्र, १६, ३, ५७१

हे भगवन्! निरन्तर बेले-बेले का तप करते हुए यावत् आतापना लेते हुए भावितात्मा अनगार को दिन के पूर्वार्ध भाग में हाथ, पैर, उरु आदि अंगों को पसारना-संकोचना नहीं कल्पता परन्तु दिन के उत्तरार्ध भाग में उक्त अंगों को पसारना-संकोचना कल्पता है। यदि उक्त साधु के नाक में लटकते हुए अर्श को कोई वैद्य उस साधु को नीचे लेटाकर काट दे, तो उस वैद्य को क्रिया लगती है। परन्तु साधु को धर्मान्तराय के सिवाय और कोई क्रिया नहीं लगती, क्या यह सत्य है?

हाँ गौतम! यह सत्य है कि वैद्य को क्रिया लगती है और साधु को धर्मान्तराय से भिन्न अन्य कोई क्रिया नहीं लगती। यह बात यथार्थ है।

उक्त पाठ में वैद्य को क्रिया लगना कहा है। स्थानांगसूत्र में क्रिया दो प्रकार की कही है—शुभ और अशुभ। भगवतीसूत्र में शुभ या अशुभ किसी का नाम न लेकर समुच्चय क्रिया का उल्लेख किया है। परन्तु टीकाकार ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

तं च अनगारं कृत कायोत्सर्गं लम्बमानार्शसमद्राक्षीत। ततश्चार्श संछेदनार्थमनगारं भूम्यां पातयति। नापातितस्याश्छेदः कर्तुमशक्यत इति। तस्य वैद्यस्य क्रिया व्यापार रूपा सा च शुभा धर्मबुद्धया छिन्दानस्य। लोभादिनात्वशुभा क्रिया तस्य भवति। यस्य साधोरर्शांसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति निर्व्यापारत्वात्। किं सर्वथा क्रियाया अभावो? नैवमित्याह। नन्नत्त्थेत्यादि। न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्माद्धर्मान्तरायाद् धर्मान्तराय लक्षणा क्रिया तस्याऽपि भवतीति भावः। धर्मान्तरायश्च शुभध्यान विच्छेदादर्शन छेदानुमोदनाद्वा इति।

—भगवती सूत्र १६, ३, ५७१ टीका

यदि कायोत्सर्ग में स्थित साधु की नासिका में लटकते हुए अर्श को देखकर कोई वैद्य उसका छेदन करने के लिए साधु को पृथ्वी पर लेटाकर धर्मबुद्धि से उसके अर्श का छेदन करता है, तो उस वैद्य को शुभ क्रिया लगती है। यदि प्रलोभनवश अर्श का छेदन करता है, तो अशुभ क्रिया लगती है। परन्तु जिस का अर्श काटा जाता है उस मुनि को एक धर्मान्तराय के अतिरिक्त अन्य क्रिया नहीं लगती। क्योंकि वह मुनि व्यापाररहित है। वह धर्मान्तराय रूप क्रिया भी मुनि के शुभ ध्यान में विच्छेद होने और अर्श-छेदन का अनुमोदन करने के कारण लगती है, अन्यथा नहीं।

उक्त टीका में स्पष्ट लिखा है कि यदि वैद्य धर्मबुद्धि से अर्श का छेदन करता है, तो उसे शुभ क्रिया—पुण्य का बन्ध होता है। सुभद्रा सती ने धर्मबुद्धि से ही जिनकल्पी मुनि की आँख से तिनका निकाला था, अतः उसे पाप कैसे हो सकता है? इसी तरह आग में जलते हुए साधु का हाथ पकड़कर उसे बाहर निकालने वाले एवं साधु की फांसी को काटकर साधु के प्राणों की रक्षा करने वाले दयावान पुरुष को पाप क्यों लगेगा? यदि इन कार्यों में पाप होता, तो भगवतीसूत्र के पाठ एवं उसकी टीका में धर्मबुद्धि से साधु के अर्श का छेदन करने वाले वैद्य को शुभ क्रिया लगने का उल्लेख क्यों करते? अतः उक्त कार्यों के करने में गृहस्थ को पाप नहीं, धर्म ही होता है।

आपने भगवतीसूत्र के पाठ एवं उसकी टीका से यह सिद्ध किया कि साधु की नाक में लटकते हुए अर्श का धर्मबुद्धि से छेदन करने वाले वैद्य को शुभ क्रिया लगती है, परन्तु भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७० पर निशीथसूत्र के पाठ का प्रमाण देकर लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—साधु अन्य तीर्थी तथा गृहस्थ पासे अर्श छेदावे तथा कोई अनेरा साधु री अर्श छेदतां ने अनुमोदे तो मासिक प्रायश्चित्त आवे। अर्श छेदाव्यां पुण्य नी क्रिया होवे तो ए अर्श छेदवा वाला ने अनुमोदे तो दण्ड क्यूं कह्यो? पुण्य री करणी तो निरवद्य छै। निरवद्य करणी अनुमोद्यां तो दण्ड आवे नहीं। दण्ड तो पाप री कारणी अनुमोद्यां थी आवे।'

निशीथसूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पिलगं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरे णं तिक्खेणं सत्थजाएणं अच्छिंदावेज्ज वा विच्छिंदावेज्ज वा अच्छिंदावेंतं वा विच्छिंदावेंतं वा साइज्जइ।

—निशीथसूत्र, १५, ३१

जो साधु अन्ययूथिक या गृहस्थ से अपने शरीर के गंडमालादिक, मेद, फोड़ा, अर्श या भगन्दर इनका किसी तीक्ष्ण शस्त्र से छेदन कराए, विशेष रूप से छेदन कराए, इसका छेदन कराने वाले साधु का अनुमोदन करे, तो उसको प्रायश्चित्त आता है।

उक्त पाठ में गृहस्थ या अन्ययूथिक के द्वारा अर्श का छेदन कराने वाले तथा उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त बताया है, परन्तु धर्मबुद्धि से अर्श का छेदन करने वाले गृहस्थ को प्रायश्चित्त नहीं बताया है। क्योंकि

भगवतीसूत्र के पाठ एवं उसकी टीका में उसे शुभ क्रिया का लगना कहा है। अतः उस पाठ के विरुद्ध उसे यहाँ प्रायश्चित्त कैसे बताते? यदि यह तर्क करें कि अर्श का छेदन करने वाले पुरुष को पुण्य का बन्ध होता है, तब उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त लेने का क्यों कहा? परन्तु यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उक्त पाठ में गृहस्थ के अर्श छेदन के कार्य का अनुमोदन करने का प्रायश्चित्त नहीं बताया है, किन्तु गृहस्थ द्वारा अर्श का छेदन कराने वाले साधु के कार्य का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त बताया है।

यदि यह कहें—'जब अर्श का छेदन कराने वाले साधु को पाप लगता है, तब उसका छेदन करने वाले को पुण्य कैसे होगा?' इसका समाधान यह है कि साधु को गृहस्थ के द्वारा मान-सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखने का आगम में निषेध किया है। परन्तु श्रावक को साधु का मान-सम्मान करने का न तो आगम में निषेध किया है और न पाप ही कहा है।

नो सक्कइमिच्छइ न पूयं, नो विय वंदणं कुओ पसंसं।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १५, ५

साधु अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान एवं वन्दन-प्रशंसा की अभिलाषा न करे।

यदि कोई श्रावक भक्तिपूर्वक साधु का सम्मान करता है, उसे वन्दन करता है, उसकी प्रशंसा करता है, तो उसे इससे पाप नहीं, धर्म ही होता है। इसी तरह साधु गृहस्थ से अर्श का छेदन नहीं कराता, यदि वह छेदन कराता है या छेदन करने वाले साधु का अनुमोदन करता है, तो उसको प्रायश्चित्त आता है। परन्तु अर्श काटने वाले गृहस्थ को पाप नहीं होता।

निशीथसूत्र में जैसे गृहस्थ एवं अन्ययूथिक के हाथ से व्रण आदि का छेदन या शल्य चिकित्सा कराने से प्रायश्चित्त कहा है, उसी तरह यदि साधु अपने हाथ से या अन्य साधु के द्वारा शल्य चिकित्सा कराए तो उसे भी प्रायश्चित्त बताया है।

जे भिक्खू अप्पणो कायंसि गंडं वा पिलगं वा अरयइं वा असियं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं तिक्खेणं सत्थ-जाएणं अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा अच्छिंदंतं वा विच्छिंदंतं वा साइज्जइ।

जो साधु अपने शरीर में हुए फोड़े, मेद, अर्श, मस्सा, भगंदर एवं इस प्रकार के अन्य रोगों का तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा स्वयं अपने हाथ से छेदन करे, विशेष प्रकार से छेदन करे या दूसरे साधु से छेदन एवं विशेष प्रकार से छेदन कराए, तो उसे प्रायश्चित्त आता है।

प्रस्तुत पाठ में यह बताया है कि यदि साधु अपने व्रण आदि की स्वयं अपने हाथ से शल्य-चिकित्सा करता है, या अन्य साधु से शल्य-चिकित्सा कराता है, तो उसे प्रायश्चित्त आता है, तथापि तेरापंथी साधु अपनी एवं दूसरे साधु की शल्य-चिकित्सा करते हैं। उनके मत से साधु की शल्य-चिकित्सा करने वाले साधु को भी पाप लगना चाहिए। परन्तु वे उसमें पाप नहीं मानते। जैसे किसी साधु की शल्य-चिकित्सा करने वाले साधु को शल्य-चिकित्सा करके उसे रोग-मुक्त करने में पाप नहीं लगता, उसी तरह साधु को रोगमुक्त करने के विरुद्ध भाव से साधु की शल्य-चिकित्सा करने वाले गृहस्थ को भी पाप नहीं लगेगा।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७० पर आचारांगसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—जे साधु रे शरीरे व्रण ते गूमड़ो, फुणसी आदिक तेहने कोई पर अनेरो गृहस्थ शस्त्रे करी छेदे तो तेहने मन करी अनुमोदे नहीं, अनें वचन करी तथा काया ए करी करावे नहीं। जे कार्य ने साधु मन करी अनुमोदनाइं न करे ते कार्य करण वाला ने धर्म किम हुवे?'

उपरोक्त पंक्तियों में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि साधु गृहस्थ के द्वारा मान-प्रतिष्ठा एवं वन्दन-प्रशंसा आदि पाने की इच्छा नहीं रखता, परन्तु यदि कोई गृहस्थ उसे वन्दन आदि कार्य करे, तो उससे उसे पाप नहीं होता। जैसे उत्तराध्ययनसूत्र में साधु को मान-सम्मान प्राप्त करने की इच्छा रखने का निषेध किया है, उसी तरह आचारांगसूत्र में उसे व्रण आदि छेदन कराने की इच्छा नहीं रखने का कहा है। परन्तु व्रण का छेदन करने वाले गृहस्थ के कार्य को एकान्त पाप रूप नहीं कहा है।

सिया से परो कायंसि वणं अण्णयरेण सत्थ जाएणं अच्छिंदेज्ज वा विच्छिंदेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे।

—आचारांगसूत्र, श्रु. २, अध्य. १५

यदि कभी साधु के शरीर में व्रण उत्पन्न हुआ देखकर कोई गृहस्थ उसका छेदन करे तो साधु उसकी इच्छा न करे और न छेदन कराए।
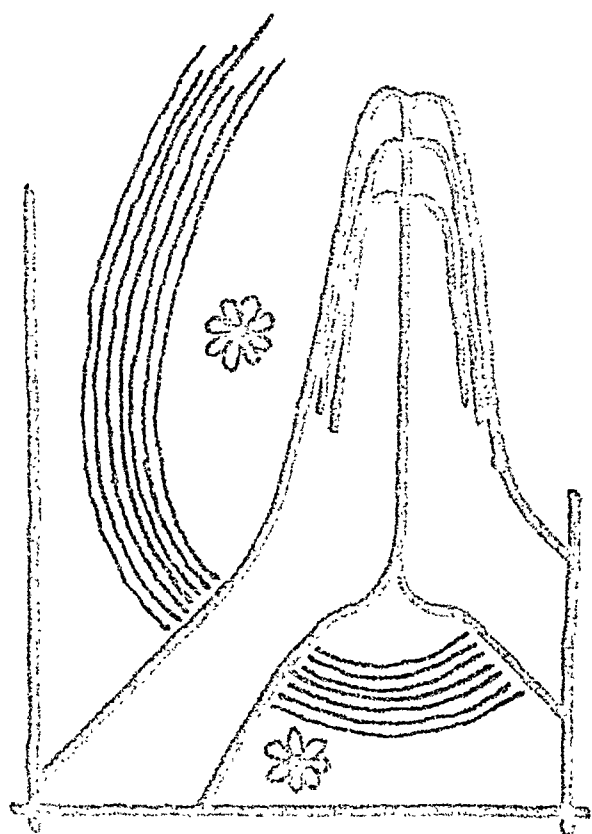
विनय-अधिकार

विनय का स्वरूप
शुश्रूषा विनय
अम्बड संन्यासी के शिष्य
सुलभवोधित्व की प्राप्ति के कारण
चक्र-रत्न और श्रावक
माहण का अर्थ
श्रमण-माहण का स्वरूप

विनय का स्वरूप

विनय किसे कहते हैं? उसके कितने भेद हैं?

विनय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—

विनीयते कर्मानेनेति विनयः। गुरु-शुश्रूषा विनयः। नीचैर्वृत्यनुत्सेके।

जिससे व्यक्ति कर्मबन्ध से निवृत्त होता है, उसे विनय कहते हैं। गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने का नाम विनय है और नम्रता को भी विनय कहते हैं।

आगम में विनय सात प्रकार का बताया है—

सत्त विहे विणए पण्णत्ते तं जहा—णाणविणए, दंसणविणए, चरित्तविणए, मणविणए, वत्तिविणए, कायविणए, लोगोवयार विणए।

—स्थानांगसूत्र, ७, ५८५, भगवतीसूत्र, २५, ७

विनय सात प्रकार का होता है—१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र विनय, ४. मन विनय, ५. वचन विनय, ६. काय विनय और ७. लोकोपचार विनय।

दर्शन विनय का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

दर्शनं सम्यक्त्वं तदेव विनयो दर्शन विनयः। दर्शनस्य वा तदव्यतिरेकाद्दर्शन गुणाधिकानां शुश्रूषाणाऽनासातनारूपो विनयो दर्शनविनयः। उक्तं च—

सुस्सुसणा अणासायणा य विणओ उ दंसण दुविहो।
दंसण गुणाहिएसुं कज्जइ सुस्सुसणा विणओ।।
सक्काराब्भुट्ठाणे सम्माणासण अभिग्गहो तहय।
आसणमणुप्पयाणं कीकम्मं अंजलि गहोय।।
इंतस्सणुगच्छाणया ठियस्सतह पज्जुवासणा भणिया।
गच्छंताणुव्वयणं एसो सुस्सुसणा विणओ।।

दर्शन का अर्थ सम्यक्त्व है। अतः तद्रूप जो विनय है, उसे दर्शन विनय कहते हैं। गुण-गुणी के अभेद से दर्शन रूप अधिक गुण वाले पुरुष की सेवा-शुश्रूषा करना तथा असातना नहीं करना भी दर्शन विनय है। कहा भी है—दर्शन विनय के दो भेद हैं—१. शुश्रूषा विनय और २. अनासातना विनय। दर्शन रूप अधिक गुण वाले साधक की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। शुश्रूषा विनय के भेद हैं—१. सत्कार करना, २. सम्मुख खड़े होना, ३. सम्मान करना, ४. सम्मुख जाना, ५. आसन देना, ६. वन्दन करना, ७. हाथ जोड़ना, ८. गुरु आते हों तो उनके सामने जाना, ९. बैठे हुए की सेवा करना और १०. जाने पर उन्हें पहुँचाने जाना।

भगवतीसूत्र में शुश्रूषा विनय के निम्न भेद बताए हैं—

सक्कारेइ वा, सम्माणेइ वा, किइकम्मेइ वा, अब्भुट्ठाणेइ वा, अंजलिप्पगाहेइ वा, आसणाभिगाहेइ वा, आसणाणुप्पदाणेइ वा इंतस्स पच्चुगच्छाणया, ठियस्स पज्जुवासणया, गच्छंतस्स पडिसंहाणया।

—भगवतीसूत्र, १४, ३, ५०७

सत्कारो विनयार्हेषु वंदनादिना आदरकरणं प्रवर वस्त्रादि दानं वा 'सक्कारो पवर वत्थादिहि' इति वचनात् सम्मानस्तथाविधि प्रतिपत्तिकरणम्। कृतिकर्म वन्दनं कार्य्य करणं च। अभ्युत्थानं गौरवार्ह दर्शने विष्टरत्यागः। अंजलि प्रग्रहः अंजलिकरणम्। आसनाभिग्रह तिष्ठत एव गोरव्यस्यासनानयनपूर्वकमुपविशेतेति भणनम्। गौरव्यमाश्रितस्यासनस्य स्थानांतर संचारणम्। आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमनं। तिष्ठतो गोरव्यस्य सेवेति, गच्छतोऽनुगमनमिति।

विनय करने योग्य पुरुष का वन्दन आदि के द्वारा आदर करना और उसको उत्तमोत्तम वस्त्र आदि प्रदान करना 'सत्कार विनय' कहलाता है। श्रेष्ठ पुरुष को स्वरूपानुरूप आदर देना 'सम्मान विनय' है। श्रेष्ठ पुरुष को वंदन करना एवं उनका कार्य करना 'कृति-कर्म विनय' है। गौरव के योग्य पुरुष को देखकर आसन त्याग कर के खड़े होना 'अभ्युत्थान विनय' है। गौरव के योग्य पुरुष को हाथ जोड़ना 'अंजलि प्रग्रह विनय' है। खड़े हुए श्रेष्ठ पुरुष को आसन देकर बैठने के लिए प्रार्थना करना 'आसनाभिग्रह विनय' है और उनके आसन को उनकी इच्छानुसार अन्य स्थान पर रखना 'आसनानुप्रदान विनय' है। श्रेष्ठ पुरुष के सम्मुख जाना, बैठे हुए की सेवा करना तथा जाने पर उन्हें पहुँचाने को जाना 'शुश्रूषा विनय' है।

सम्यग्दृष्टि, श्रावक एवं मुनिराज—ये सब दर्शन विनय के अधिकारी हैं। सम्यग्दृष्टि अपने से अधिक गुणसम्पन्न सम्यग्दृष्टि की, श्रावक अपने से अधिक

गुणसम्पन्न श्रावक की और ये सब मुनिराज की तथा कनिष्ठ मुनि अपने से दीक्षा एवं साधना में ज्येष्ठ और गुणसम्पन्न मुनिराज की, जो सेवा-शुश्रूषा करता है, वह उनका दर्शन विनय है। यह दर्शन विनय निर्जरा का हेतु है।

विनय से निर्जरा होती है

अपने से अधिक गुणसम्पन्न श्रावक का दर्शन विनय करना श्रावक के लिए निर्जरा का हेतु आपने बताया है। परन्तु किसी श्रावक के द्वारा श्रावक का दर्शन विनय करने का आगम में उदाहरण आया हो तो बताएँ।

आगम में श्रावकों के द्वारा श्रावक का विनय करने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

तए णं ते समणोवासगा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति-नमंसंति २ जेणेव इसिभद्दपुत्ते समणोवासए तेणेव उवागच्छंति-उवागच्छित्ता इसिभद्दपुत्तं समणोवासगं वंदंति-नमंसंति २ एयमट्ठं सम्मं विणएणं भुज्जो-भुज्जो खामेंति।

—भगवतीसूत्र, ११, १२, ४३५

इसके अनन्तर वे श्रावक श्रमण भगवान् महावीर से इस बात को सुनकर, भगवान् को वन्दन-नमस्कार करके ऋषिभद्र पुत्र श्रावक के पास गए और वहाँ जाकर उसको वन्दन-नमस्कार करके उनकी सच्ची बात नहीं मानने रूप अपराध के लिए विनयपूर्वक बार-बार क्षमा-प्रार्थना की।

प्रस्तुत पाठ में श्रावकों के द्वारा श्रावक का विनय करने का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया है। इसलिए अपने से उत्कृष्ट गुणवाले श्रावक का विनय करना श्रावक के लिए निर्जरा का कारण है।

इसी तरह भगवतीसूत्र में उत्पला श्राविका के द्वारा पोखली श्रावक का विनय करने का भी उल्लेख है—

तए णं सा उप्पला समणोवासिया पोक्खलिं समणोवासयं एज्जमाणं पासइ-पासइत्ता हट्ठ-तुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठइत्ता सत्तट्ठ पयाहिं अणुगच्छइ-अणुगच्छइत्ता पोक्खलिं समणोवासयं वंदइ-णमंसइ-णमंसइत्ता आसणेणं उवनिमंतइत्ता एवं वयासी।

—भगवतीसूत्र, १२, १, ४३७

जब उत्पला श्राविका ने पोखली श्रावक को आते हुए देखा, तो वह हृष्ट-तुष्ट हुई। वह अपने आसन से उठकर सात-आठ पैर तक उनके सामने गई। उन्हें वन्दन-नमस्कार कर आसन पर बैठने की प्रार्थना कर के इस प्रकार बोली।

इसी तरह आगम में पोखली श्रावक के द्वारा शंख श्रावक को वन्दन-नमस्कार करने का लिखा है—

तए णं से पोक्खली समणोवासए जेणेव पोसहसाला, जेणेव संखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ २ गमणागमणाए पडिक्कमइ २ संखं समणोवासयं वन्दइ-णमंसइ-णमंसइत्ता एवं वयासी।

—भगवतीसूत्र, १२, १, ४३८

इसके अनन्तर पोखली श्रावक ने पौषधशाला में स्थित शंख श्रावक के पास जाकर इर्यापथिक प्रतिक्रमण करके, शंख श्रावक को वन्दन-नमस्कार किया और इस प्रकार कहा।

प्रस्तुत पाठ में पोखली श्रावक के द्वारा शंख श्रावक को वन्दन-नमस्कार करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः उक्त सब पाठों में श्रावकों के द्वारा श्रावकों का विनय करने के ज्वलन्त उदाहरण मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक के द्वारा श्रावक का विनय करने से कर्मो की निर्जरा होती है।

शुश्रूषा विनय

आपने आगमों के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया कि श्रावक अपने से अधिक गुणसम्पन्न श्रावक को वन्दन-नमस्कार कर सकता है और वह उसक श्रावक के प्रति शुश्रूषा विनय है, अतः वह निर्जरा का हेतु है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार एवं आचार्यश्री भीषणजी एकमात्र साधु के शुश्रूषा विनय को ही निर्जरा का हेतु मानते हैं, श्रावक के विनय को नहीं। आचार्यश्री भीषणजी ने स्वरचित ढाल में लिखा है—

दर्शन विनय रा दोय भेद छै, शुश्रूषा ने अण असातना तेहजी।
शुश्रूषा तो बड़ा साधु री करनी, त्यां ने वंदना करणी शीश नमायजी।।

—आचार्यश्री भीषणीजी की ढाल, निर्जरा प्रकरण

भ्रमविध्वंसनकर ने इस विषय में भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७३ पर लिखा है—

'केई पाषंडी श्रावक रो सावद्य विनय कियां धर्म कहे छै। विनय मूल धर्म रो नाम लेकर श्रावक री शुश्रूषा तथा विनय करवो थापे।'

आचार्यश्री भीषणजी एवं भ्रमविध्वंसनकार का श्रावक के प्रति श्रावक के द्वारा शुश्रूषा विनय करने को सावद्य बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। हमने भगवतीसूत्र के कई प्रमाण देकर श्रावक के द्वारा श्रावक का विनय करना आगम-सम्मत एवं निर्जरा का हेतु सिद्ध किया है। यदि श्रावक का विनय करना सावद्य होता तो भगवान् महावीर की उपस्थिति में समवसरण में ही श्रावक लोग ऋषिभद्र पुत्र श्रावक का विनय क्यों करते? भगवान् ने उस विनय को सावद्य कहकर उन्हें क्यों नहीं रोका? इससे श्रावक के द्वारा श्रावक का विनय करने को सावद्य कहना सर्वथा अनुचित है।

इस सम्बन्ध में भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७६ पर यह तर्क दिया है—

'सामायक-पोषा में सावद्य रा त्याग छै। ते सामायक-पोषा में मांहो-मांही श्रावक नमस्कार करे नहीं, ते माटे ए विनय सावद्य छै। वली पोषली ने उत्पल नमस्कार कियो, ते पिण आवतां कियो। अने पोखली जातां वन्दना-नमस्कार

कियो। ते माटे धर्म हेतु नमस्कार न कियो। जे धर्म हेते नमस्कार किधो हुवे तो जातां पिण करता। बली शंख नो विनय पोषली कियो, ते पिण आवतां कियो। पिण पाछा जावतां विनय कियो चाल्यो नथी। इण न्याय संसार हेते विनय कियो, पिण धर्म हेते नहीं। जिम साधु रो विनय करे, ते श्रावक आवतां पिण करे अनें पाछा जावतां पिण करे। तिम पोषली नो विनय उत्पला पाछा जातां न कियो। तथा पोषली पिण शंख कना थी पाछा जातां विनय न कियो। ते माटे संसार नी रीते ए विनय कियो छै।'

भ्रमविध्वंसनकार का उक्त तर्क युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि भगवतीसूत्र में पोखली श्रावक को जाते समय उत्पला का नमस्कार करने का एवं शंख के पास से वापिस लौटते समय पोखली का शंख को नमस्कार करने का उल्लेख नहीं है, परन्तु इससे यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने जाते समय उन्हें वन्दन-नमस्कार नहीं किया। क्योंकि उपासकदशांग में गौतम स्वामी के आते समय आनन्द श्रावक के वन्दन-नमस्कार करने का उल्लेख है, उनके जाते समय वन्दन करने का उल्लेख नहीं है। इसी तरह रेवती श्राविका के सिंह अणगार के आते समय वन्दन करने का उल्लेख है, परन्तु जाते समय वन्दन करने का नहीं। जैसे यहाँ जाते समय वन्दन करने का आगम में उल्लेख न होने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि आनन्द ने गौतम स्वामी को और रेवती ने सिंह अणगार को जाते समय वन्दन नहीं किया था। अतः जाते समय वंदन का उल्लेख न होने मात्र से यह कल्पना करके कि उत्पला ने पोखली को एवं पोखली ने शंख को जाते समय वन्दन नहीं किया, इसलिए उनका विनय सांसारिक रीति का सावद्य विनय था, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उत्पला श्राविका ने पोखली श्रावक के आगमन पर पोखली को तथा पोखली श्रावक ने शंख श्रावक के पास जाते समय शंख को वंदन-नमस्कार किया, यह लौकिक रीति का पालन करने के लिए किया था, धर्म के लिए नहीं, इसका क्या प्रमाण है?

आगम में जैसे साधु को वन्दन-नमस्कार करने का उल्लेख मिलता है, उसी तरह यहाँ पोखली और शंख को वंदन करने का उल्लेख किया है। आगम में कहीं भी यह नहीं लिखा है कि साधु को वन्दन करना धर्मार्थ है और श्रावक को वन्दन करना लौकिक रीति पालनार्थ है। ऐसी स्थिति में यह कल्पना सत्य कैसे मानी जा सकती है—'उत्पला ने पोखली को और पोखली ने शंख को, जो वन्दन किया था, वह लौकिक रीति पालनार्थ था, धर्मार्थ नहीं?' आगम में श्रावक के लिए अपने से अधिक गुण वाले श्रांवक को वन्दन करने का कहीं भी निषेध नहीं है, परन्तु श्रेष्ठ श्रावक को वंदन करने की आगम में प्रशंसा की है। अतः अपने से

अधिक गुणसम्पन्न श्रावक के प्रति श्रावक के द्वारा किए जाने वाले विनय को सावद्य एवं सांसारिक कार्य बताना नितान्त असत्य है।

यदि सब तरह का शुश्रूषा विनय साधु का करने से ही धर्म होता है, तो यह प्रश्न होगा कि श्रावक कृतिकर्म, आसनानुप्रदान एवं आसनाभिग्रह रूप शुश्रूषा विनय किसका करेंगे? कृतिकर्म का अर्थ है—अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति का कार्य करना, आसनाभिग्रह का अर्थ है—श्रेष्ठ पुरुष के आने पर उन्हें बैठने के लिए आसन देना और आसनानुप्रदान का तात्पर्य है—श्रेष्ठ पुरुष के आसन को उनकी इच्छा के अनुसार अन्यत्र रखना। साधु न तो श्रावक से अपना काम कराते हैं, न श्रावक के घर जाने पर उसके आसन पर बैठते हैं और न अपना आसन गृहस्थ से दूसरे स्थान पर रखवाते हैं। ऐसी स्थिति में श्रावक उक्त विनयों का किसके साथ व्यवहार करेगा? उन्हें विवश होकर यही कहना पड़ेगा कि श्रावक उक्त विनय श्रावक के साथ ही करते हैं, साधु के साथ नहीं।

यदि यह कहें कि उक्त सभी शुश्रूषा विनय श्रावकों के लिए नहीं है, इसलिए श्रावक को कृतिकर्म, आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह रूप विनय करने का प्रसंग ही नहीं आता?

यह कथन भी सत्य नहीं। क्योंकि आगम में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह इन दो को छोड़कर शेष सब विनयों का तिर्यंच श्रावकों में भी सद्भाव बताया है। अतः मनुष्य श्रावकों में उनका सद्भाव नहीं मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

अत्थि णं भन्ते! पंचिन्दिय-तिरक्ख-जोणियाणं सक्कारेइ वा जाव पडिसंसाहणया?

हन्ता! अत्थि। णो चेव णं आसणाभिग्गहेइ वा आसणाणुप्पदाणेइ वा। मणुस्साणं जाव वेमाणियाणं जहा असुरकुमाराणं।

—भगवतीसूत्र, १४, ३, ५०७

हे भगवन्! क्या तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावकों में सत्कारादि शुश्रूषा विनय होते हैं?

हाँ, होते हैं। आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह को छोड़कर तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावक में शेष सब शुश्रूषा विनय होते हैं। मनुष्य और वैमानिक देवों में असुरकुमार की तरह सभी शुश्रूषा विनय होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में मनुष्य श्रावक में सभी शुश्रूषा विनयों के होने एवं तिर्यंच श्रावक में आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रह इन दो को छोड़कर शेष सबके होने का उल्लेख किया गया है। तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावक अढ़ाई द्वीप के बाहर ही रहते हैं

और वहाँ साधुओं का गमनागमन भी नहीं होता, फिर वे वहाँ किसका शुश्रूषा विनय करते हैं? यहाँ उन्हें विवश होकर यही कहना पड़ता है कि अढ़ाई द्वीप के बाहर रहने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय श्रावक अपने से श्रेष्ठ श्रावक का सत्कार-सम्मान करते हैं, वही उनका शुश्रूषा विनय है। अतः श्रावक के प्रति श्रावक के शुश्रूषा विनय को सावद्य बताना यथार्थ नहीं है।

यदि यह कहें—'श्रावक को वन्दन-नमस्कार करना सावद्य नहीं है, तो फिर सामायिक में स्थित श्रावक किसी श्रावक को वन्दन क्यों नहीं करता?'

सामायिक एवं पौषध व्रत में स्थित श्रावक सामायिक एवं पौषध से रहित खुले श्रावक से गुणों में श्रेष्ठ है, इसलिए वह अपने से कनिष्ठ गुण वाले श्रावक को वन्दन-नमस्कार नहीं करता, परन्तु वह उसके वन्दन-नमस्कार को सावद्य नहीं समझता। जैसे दीक्षा में ज्येष्ठ साधु अपने से दीक्षा में छोटे साधु को वन्दन नहीं करता, जिनकल्पी साधु स्थविरकल्पी साधु को वंदन नहीं करता। साधु साध्वी को वन्दन नहीं करता। क्योंकि वे उनसे साधना और गुणों की अपेक्षा बड़े हैं। परन्तु यदि कोई अन्य व्यक्ति पूर्वोक्त मुनियों एवं साध्वियों को वन्दन-नमस्कार करता है, तो उसके उस कार्य को सावद्य नहीं जानते। इसलिए सामायिक एवं पौषध में स्थित श्रावक गुणों में श्रेष्ठ होने के कारण दूसरे श्रावक को वन्दन नहीं करता, परन्तु उसके वन्दन को सावद्य नहीं मानता।

अम्बड संन्यासी के शिष्य

अम्बड संन्यासी के शिष्यों ने संथारा ग्रहण करते समय अम्बड संन्यासी को वन्दन किया था। उसे सावद्य बताते हुए भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७७ पर लिखते हैं—

'अथ इहां चेलां कह्यो—नमस्कार थाओ म्हारा धर्माचार्य, धर्मोपदेशक ने। इहां अम्बड परिव्राजक ने नमस्कार थाओ एहवूं कह्यो, अम्बड श्रमणोपासक ने नमस्कार थाओ इम न कह्यो। ए श्रमणोपासक पद छांडी परिव्राजक पद ग्रहण करी नमस्कार कीधो ते माटे परिव्राजक ना धर्म नो आचार्य अनें परिव्राजक ना धर्म नो उपदेशक छै। तिण ने आगे पिण वन्दना-नमस्कार करता हुन्ता। पछे जिनधर्म पिण तिण कने पाम्या। पिण आगलो गुरुपणो मिट्यो नहीं। ते माटे संन्यासी धर्म रो उपदेशक कह्यो छै।' इसके आगे लिखते हैं, 'आचार्य ना ३६ गुण कह्या छै, अनें अम्बड में तो ते गुण पावे नहीं। आचार्य पद पांच पद मांहि छै। अने अम्बड तो पांच पदां मांहि नहीं छै।'

अम्बड़ संन्यासी के शिष्यों ने संथारा ग्रहण करते समय अरिहन्त, सिद्ध और भगवान् महावीर के साथ ही अम्बड़ संन्यासी को भी नमस्कार किया। उन्होंने सिद्ध और भगवान् महावीर को मोक्षार्थ नमस्कार किया हो और अम्बड़ संन्यासी को मोक्षार्थ न किया हो, इसका आगम में कोई उल्लेख नहीं है। आगम में स्पष्ट लिखा है—हमने जिस अम्बड़ परिव्राजक से यावज्जीवन के लिए श्रावक के द्वादश व्रत धारण किए हैं, उनको नमस्कार हो। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन्होंने द्वादश व्रत धारण करने का उपकार मानकर ही अम्बड़ संन्यासी को वंदन किया था, अन्य किसी कारण से नहीं। अतः उक्त उदाहरण से बारह व्रत धारण करने वाले का अपने से श्रेष्ठ श्रावक को वंदना करना धर्म का ही कारण सिद्ध होता है।

अण्ण-मण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणंति। अण्ण-मण्णस्स अंतिए पडिसुणित्ता तिदण्डए य जाव एगंते एडेइ-एडेइत्ता गंगं महाणइं ओगाहेंति-ओगाहेइत्ता वेलुआ संथारयं संथरंति, वेलुया संथरयं दुरुहेंति-दुरुहिंइत्ता वा पुरत्थाभिमुहा संपलियंक निसन्ना करयल जाव कट्टु एवं वयासी-नमोत्थुणं अरहन्ताणं जाव संपत्ताणं, नमोत्थुणं

समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स, नमोत्थुणं अम्बडस्सपरिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स, धम्मोवदेसगस्स पुव्विं णं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अन्तिए थूलगे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलगे मुसावाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलगे अदिणा-दाने पच्चक्खाए जावज्जीवाए, सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए, थूलगे परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए।

—उववाईसूत्र, १३

अम्बड संन्यासी के शिष्यों ने परस्पर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा करके संन्यासी वेशोचित सम्पूर्ण त्रि-दण्ड आदि सामग्री को एकान्त स्थान में रखकर गंगा नदी के तट पर जाकर वहाँ बालू रेत का संथारा बनाया। उस पर स्थित होकर पूर्व दिशा की ओर मुँह करके पर्यंकासन बैठकर हाथ जोड़ कर कहने लगे—अरिहन्तों एवं मोक्ष में पहुंचे हुए सिद्धों को हमारा नमस्कार हो, भगवान् महावीर को—जो मोक्ष में जाने की इच्छा रखते हैं, हमारा नमस्कार हो। हमारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक अम्बड़ संन्यासी को हमारा नमस्कार हो, जिनके उपदेश से हमने स्थूल अहिंसा, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, सब प्रकार के मैथुन और स्थूल परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग किया है।

प्रस्तुत पाठ में अम्बड़जी के शिष्यों ने संथारा ग्रहण करते समय अरिहन्त, सिद्ध एवं भगवान् महावीर के समान ही अम्बड़जी को नमस्कार किया है। यदि अपने से श्रेष्ठ श्रावक को नमस्कार करना पाप होता, तो वे अम्बड़जी को नमस्कार क्यों करते? यदि यह कहें कि अरिहन्त, सिद्ध एवं भगवान् महावीर को तो उन्होंने मोक्षार्थ नमस्कार किया था और अम्बड़जी को लौकिक रीति के अनुसार। परन्तु इस कथन के पीछे कोई आगमिक प्रमाण नहीं होने से यह कथन सत्य एवं प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। क्योंकि अम्बड़जी को नमस्कार करने का पाठ सबके साथ होने से उनका नमस्कार भी मोक्षार्थ ही माना जाएगा, संसारार्थ नहीं। उस समय वे संथारे पर बैठे हुए थे, वहाँ लौकिक रीति का पालन करने का कोई प्रसंग ही नहीं था। उस समय केवल लोकोत्तर मर्यादा पालन करने का प्रसंग था। तदनुसार उन्होंने अरिहन्त, सिद्ध, भगवान् महावीर एवं अम्बड़जी को नमस्कार किया। अतः अरिहन्त आदि के नमस्कार को धर्म का अंग मानना और अम्बड़जी के नमस्कार को धर्म का अंग नहीं मानना, साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

उक्त पाठ में अम्बड़जी के लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग देखकर उन्हें संन्यास धर्म के नाते से नमस्कार करने की कल्पना करना गलत है। क्योंकि इस पाठ में उनके शिष्यों ने स्पष्ट कहा है कि जिनके पास हमने स्थूल प्राणातिपात, यावत् स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान किया था, उस अम्बड़ परिव्राजक को

नमस्कार हो। यदि संन्यास धर्म का सम्बन्ध होने से उन्होंने नमस्कार किया होता, तो वे यहाँ प्राणातिपात आदि के प्रत्याख्यान का उपकार न बताकर यह कहते कि जिस अम्बड़ संन्यासी से हमने संन्यास धर्म ग्रहण किया, उसे नमस्कार हो। परन्तु यहाँ स्थूल प्राणातिपात विरमण आदि व्रत धारण करने का उपकार मानकर शिष्यों द्वारा उन्हें वन्दन किए जाने का कथन है, परन्तु संन्यास धर्म का उपदेशक गुरु मानकर नमस्कार करने का नहीं।

यदि कोई यह तर्क करे—'यदि अम्बड़ संन्यासी के शिष्यों ने उसे संन्यास धर्म के सम्बन्धानुसार वन्दन नहीं किया था, तो प्रस्तुत पाठ में उन्होंने अम्बड़ संन्यासी के लिए 'श्रमणोपासक' विशेषण क्यों नहीं लगाया?' इसका समाधान यह है कि 'जिन-धर्म' की उदारता को प्रकट करने के लिए आगम में स्थान-स्थान पर अम्बड़जी के लिए 'श्रमणोपासक' विशेषण न लगाकर 'परिव्राजक' विशेषण लगाया है। इसी कारण प्रस्तुत पाठ में भी परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है। इस विशेषण से यह शीघ्र ही समझ में आ जाता है कि संन्यास धर्म की अपेक्षा, श्रमणोपासक का धर्म श्रेष्ठ है। इसलिए अम्बड़ संन्यासी ने संन्यास धर्म का त्याग करके श्रमणोपासक धर्म को स्वीकार किया। अन्यथा आगम में उनके लिए जो परिव्राजक का विशेषण लगाया है, वह सर्वथा असंगत रहेगा। क्योंकि जिस समय अम्बड़जी के शिष्य संथारा पर स्थित थे, उस समय उन्होंने अम्पड़जी को परिव्राजक कहा है, जब कि उन्होंने परिव्राजक कर्म का त्याग कर दिया था, उस समय वे परिव्राजक धर्म का आचरण नहीं करते थे। अतः उनके लिए परिव्राजक विशेषण लगाकर कहने का कोई अन्य कारण नहीं है। जैसे गृहस्थ गृहस्थाश्रम का त्याग करके जब साधु बन जाता है, तब उसके शिष्य 'गृहस्थ' विशेषण नहीं लगाते। क्योंकि उसने गृहस्थ जीवन का त्याग करके साधुत्व स्वीकार कर लिया है। उसी तरह अम्वड़ संन्यास धर्म का परित्याग करके श्रमणोपासक बन गए थे। अतः उनके लिए परिव्राजक विशेषण लगाकर उन्हें सम्बोधित करना उचित नहीं माना जा सकता। हमें यहाँ यह मानना होगा कि जिन-धर्म की उदारता को बताने के लिए ही उनके नाम के आगे श्रमणोपासक विशेषण न लगाकर पूर्व परिचय के रूप में परिव्राजक शब्द का प्रयोग किया है। अतः उनके लिए परिव्राजक शब्द का प्रयोग होने मात्र से परिव्राजक धर्म के सम्बन्ध से उनको वन्दन करने की प्ररूपणा करना सर्वथा गलत है।

अम्पड़जी के शिष्य श्रावक धर्म के अनुसार संथारा ग्रहण कर रहे थे। अतः उस समय कुप्रावचनिक धर्म का उपकार मानकर कुप्रावचनिक धर्माचार्य को वे कैसे नमस्कार कर सकते थे? क्योंकि इस कार्य में वही पुरुष वंदनीय-पूजनीय हो सकता है, जो इसका समर्थन करता हो, परन्तु संथारा ग्रहण करने के कार्य को बुरा बताने वाला कुप्रावचनिक धर्माचार्य संथारा स्वीकार करने वाले के लिए

वन्दनीय नहीं हो सकता। इसलिए अम्बड़जी के शिष्यों ने बारह व्रत ग्रहण कराने का उपकारक मानकर अम्बड़जी को वन्दन किया था, परिव्राजक धर्म का उपकारक मानकर नहीं।

यह मान्यता भी एकान्त रूप से संगत नहीं है कि छत्तीस गुणसम्पन्न व्यक्ति ही धर्माचार्य होता है। क्योंकि आगम में कई ऐसे आचार्यों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें छत्तीस गुण नहीं पाए जाते।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता तं जहा—पव्वायणायरिए नाममेगे नो उवट्ठावणायरिए, उवट्ठावणायरिए नाममेगे नो पव्वायणायरिए, एगे पव्वायणायरिए वि उवट्ठावणायरिए वि, एगे नो पव्वायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए धम्मायरिए।

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता तं जहा—उद्देसनायरिए नाममेगे नो वायणायरिए, धम्मायरिए।

चत्तारि अन्तेवासी पण्णत्ता तं जहा—पव्वयणान्तेवासी नाममेगे नो उवट्ठावणान्तेवासी, धम्मंतेवासी।

चत्तारि अन्तेवासी पण्णत्ता तं जहा—उद्देसणान्तेवासी नाममेगे नो वायणान्तेवासी, धम्मंतेवासी।'

—स्थानांगसूत्र, ४, ३, ३२०

आचार्य चार प्रकार के होते हैं—१. जो सामायिक चारित्र दीक्षा देते हैं, परन्तु छेदोपस्थापना चारित्र नहीं देते, वे प्रव्रजनाचार्य हैं, २. जो छेदोपस्थापना चारित्र देते हैं, परन्तु सामायिक चारित्र नहीं देते, वे उपस्थापनाचार्य हैं। ३. जो दोनों चारित्र देते हैं, वे उभयाचार्य हैं और ४. जो दोनों ही चारित्र नहीं देते, केवल धर्मोपदेश देते हैं, वे धर्माचार्य हैं।

दूसरी प्रकार से आचार्य चार प्रकार के होते हैं—१. जो शिष्य को अंग-शास्त्र पढ़ने के योग्य वना देते हैं, परन्तु पढ़ाते नहीं, वे उद्देशनाचार्य हैं। २. जो शिष्य को अंगशास्त्र पढ़ने योग्य नहीं वनाते, परन्तु अंगशास्त्र पढ़ाते हैं, वे वाचनाचार्य हैं। ३. जो दोनों कार्य करते हैं, वे उभयाचार्य हैं और ४. जो दोनों कार्य नहीं करते, किन्तु धर्मोपदेश देते हैं, वे धर्माचार्य हैं।

इसी प्रकार शिष्य भी चार प्रकार के होते हैं—१. जो एक आचार्य से दीक्षा मात्र ग्रहण करता है, छेदोपस्थापना चारित्र नहीं, वह प्रव्रजनान्तेवासी है, २. जो एक आचार्य से दीक्षा नहीं लेता, परन्तु छेदोपस्थापना चारित्र ग्रहण करता है, वह उपस्थापनान्तेवासी है, ३. जो एक आचार्य से दोनों चारित्र ग्रहण करता है, वह उभयान्तेवासी है और ४. जो एक आचार्य से दोनों चारित्र ग्रहण नहीं करता, किन्तु धर्मोपदेश मात्र ग्रहण करता है, वह धर्म-अन्तेवासी है।

अन्य तरह से भी शिष्य चार प्रकार के होते हैं—१. जो जिससे अंगशास्त्र पढ़ने की योग्यता प्राप्त करते हैं, पढ़ते नहीं, वह उद्देशनान्तेवासी हैं। २. जो जिससे अंगशास्त्र पढ़ने की योग्यता प्राप्त नहीं करते, परन्तु अंगशास्त्र पढ़ते हैं, वे वाचनान्तेवासी हैं, ३. जो जिससे दोनों प्राप्त करते है, वे उभयान्तेवासी हैं और ४. जो जिससे दोनों प्राप्त नहीं करके धर्मोपदेश मात्र श्रवण करते हैं, वे धर्म-अन्तेवासी है।

प्रस्तुत पाठ में जो न दीक्षा देता है, न छेदोपस्थापना चारित्र देता है और न अंगशास्त्र पढ़ाने के योग्य बनाता है और न अंगशास्त्र पढ़ाता है, केवल धर्मोपदेश देता है, उसे धर्माचार्य कहा है। प्रस्तुत पाठ की टीका में भी यही लिखा है—

आचार्य्य सूत्र चतुर्थ भंगे यो न प्रव्रजिनया न चोत्थापनयाचार्य्यः स कः ? इत्याह धर्माचार्य्यः इति प्रबोधकः। आह च—

धम्मो जणुवइट्ठो सो धम्मगुरु गिही व समणो वा।
कोवि तिहिं संय उत्तो दोहि वि एक्केक्कगेणेव।।

आचार्य सूत्र के चतुर्थ भंग में जो न दीक्षा देता है और न छेदोपस्थापना चारित्र ही देता है, वह कौन ? वह धर्म का प्रतिबोध देने वाला धर्माचार्य है। कहा भी है—जिसने धर्म का उपदेश दिया है, वह भले ही गृहस्थ हो या श्रावक हो, धर्माचार्य कहलाता है। इनमें से कोई दीक्षा, छेदोपस्थापना चारित्र और धर्म-प्रतिबोध, इन तीनों के आचार्य होते हैं, कोई दो के और कोई एक के आचार्य होते हैं।

इसमें यह स्पष्ट कर दिया कि धर्मोपदेशक भले ही श्रमण हो या श्रमणोपासक, वह धर्माचार्य कहलाता है। अम्बड़जी ने अपने शिष्यों को बारह व्रत रूप धर्म का उपदेश दिया था, अतः वे उनके धर्माचार्य थे। अम्बड़जी के शिष्यों ने उन्हें अपना धर्माचार्य बनाकर उनसे बारह व्रत धारण करने का कहा है, इससे यह निःसन्देह सिद्ध होता है कि अम्बड़जी के शिष्यों ने उन्हें लोकोत्तर समझकर ही वन्दन-नमस्कार किया था, संन्यास धर्म का उपदेशक समझकर नहीं। क्योंकि बारह व्रतधारी श्रावक कुप्रावचनिक धर्माचार्य को राजाभियोग आदि छः कारणों के बिना नमस्कार नहीं करता। जैसे शकडाल-पुत्र पहले गोशालक का शिष्य था, फिर भगवान् महावीर से बारह व्रत धारण किए, उसके पश्चात् उसने गोशालक को वंदन नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने से सम्यक्त्व में अतिचार लगता है। अतः अम्बड़जी के शिष्यों ने उन्हें कुप्रावचनिक समझकर नहीं, प्रत्युत बारह व्रत के धर्मोपदेशक, धर्माचार्य समझकर वन्दन-नमस्कार किया था। अतः अम्बड़जी के शिष्यों ने उनको कुप्रावचनिक धर्माचार्य के सम्बन्ध से वन्दन किया ऐसी मिथ्या प्ररूपणा करके अपने से अधिक गुणसम्पन्न श्रावक को वन्दन करने में पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

सुलभबोधित्व की प्राप्ति के कारण

स्थानांगसूत्र में जीव को पाँच कारणों से सुलभबोधी होना कहा है।

पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—अरहंताणं वन्नं वदमाणे, जाव विवक्क तव-बंभेचेराणं देवाणं वन्नं वदमाणे।

—स्थानांगसूत्र, ५, २, ४२६

पाँच कारणों से जीव सुलभबोधी होने का कर्म करता है—अरिहन्तों यावत् परिपक्व ब्रह्मचर्य वाले देवों का वर्ण—गुणानुवाद बोलने एवं प्रशंसा करने से।

यहाँ जिनका ब्रह्मचर्य एवं तप परिपक्व हो गया है, उन देवों का गुणानुवाद करने से सुलभबोधित्व प्राप्त करना कहा है। देव साधु नहीं हैं, फिर भी उनका गुणानुवाद करने से जीव सुलभबोधीकर्म क्यों बांधता है? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति का विनय करने से एकान्त पाप नहीं होता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष का विनय करने से सुलभबोधित्व की प्राप्ति होती है। अतः उसकी सेवा-भक्ति करने एवं उसको वन्दन करने से एकान्त पाप कैसे होगा? उससे तो और अधिक धर्म होगा।

जिस समय तीर्थंकर जन्म लेते हैं, उस समय वे साधु नहीं होते, तथापि इन्द्र आदि देव उनको अपने से अधिक सम्यक्त्व आदि गुणों से युक्त जानकर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार एवं स्तुति करते हैं। भ्रमविध्वंसनकार के मत से उनका वन्दन भी सावद्य ठहरेगा। परन्तु आगम में ऐसा नहीं कहा है। वहाँ उसे कल्याण का कारण बताया है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने से सम्यक्त्व एवं श्रावकत्व आदि गुणों में श्रेष्ठ पुरुषों को वन्दन-नमस्कार करना धर्म का कारण है, पाप का नहीं।

आगम में स्पष्ट लिखा है कि दिक्कुमारियों ने तीर्थंकर के जन्म के समय तीर्थंकर एवं उनकी माता का गुणानुवाद किया—

'जेणेव भगवं तित्थयरे तित्थयरमाया य तणेव उवागच्छंति—उवागच्छंत्ता भगवं तित्थयरं तिथ्थयरमायं च तिक्खुतो आयाहिणं पयाहिणं

करेंति २ त्ता पत्तेयं करयल परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी णमोऽत्थुणं ते रयणकुच्छिधारिए जगप्पई-वदइए सव्वजगमंगलस्स चक्खुणो अमुत्तस्स सव्वजगजीववच्छलस्स हियकारण मग्गदेसिय पागिद्धिविभुयभुस्स जिणस्स णाणिस्स नायगस्स बुहस्सा वोहगस्स सव्वलोगनाहसस्स निम्ममस्स पवरकुलसमुब्भवस्स जाईए खत्तियस्स जं सि लोगुत्तमस्स जणणी धन्नासि तं पुण्णासि कयत्थासि अम्हेणं देवाणुप्पिए अहे लोगवत्थव्वाओ अट्ठ दिसा कुमारी महत्तरिआओ भगवओ तित्थयरस्स जम्मण-महिमं करिस्सामो तण्णं तुब्भेहिं न भीइव्वं।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

दिक्कुमारियों ने भगवान्—तीर्थंकर और उनकी माता के पास जाकर तीन वार परिक्रमा देकर शिखर अंजलि बांधकर कहा—हे रत्न कुक्षिधारिके! तुम्हें हमारा नमस्कार है। हे देवी! संसार की समस्त वस्तुओं को दीपवत् प्रकाशित करने वाले तीर्थंकर देव को तुम जन्म देने वाली हो, जो जगत् के सम्पूर्ण पदार्थो का यथार्थ स्वरूप दिखलाने वाले नेत्र के समान हैं, जिनकी वाणी सब प्राणियों का उपकार करने वाली, सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र का उपदेश देने वाली, सर्वव्यापक तथा सबके हृदय में प्रविष्ट होने वाली है। जो तीर्थंकर देव राग-द्वेष के विजेता, उत्कृष्ट ज्ञान के स्वामी, संघ के नायक और वुद्ध—सव पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले होते हैं, जो सब प्राणियों के हृदय में वोधिवीज के संस्थापक, सवके रक्षक और सबके बोधक हैं, जो ममत्वरहित उत्तम कुल में जन्मे हुए क्षत्रिय वंशधर हैं। तुम ऐसे तीर्थंकर की जननी हो। इसलिए हे देवी! तुम धन्य हो, पुण्यवती हो, कृतार्थ हो। हे देवी! हम लोग अधोलोक में निवसित दिक्कुमारिकाएँ हैं। हम तीर्थंकर देव के जन्म की महिमा करेंगी। अतः आप किसी तरह से भयभीत न वनें।

प्रस्तुत पाठ में दिशा-कुमारियों द्वारा तीर्थंकर और उनकी माता को वन्दन-नमस्कार करने एवं उनके गुणानुवाद करने का लिखा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक के लिए अपने से अधिक गुणसम्पन्न सम्यक्त्वी एवं श्रावक को वन्दन-नमस्कार करना पाप नहीं, धर्म है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि के गुणानुवाद करने में धर्म और उसे वन्दन करने में पाप बताते हैं। यह उनका केवल साम्प्रदायिक व्यामोह एवं दुराग्रह है। जब अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि का गुणानुवाद करने से धर्म होता है, तब उसे वंदन करने से पाप कैसे हो सकता है? कदापि नहीं। अस्तु, अपने से अधिक गुण-सम्पन्न सम्यग्दृष्टि श्रावक को श्रावक के द्वारा वन्दन करने में पाप की कल्पना करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

तीर्थंकर जन्म और वन्दन

जन्म लेते समय तीर्थंकर को इन्द्र ने तथा तीर्थंकर एवं उनकी माता को दिशा-कुमारियों ने वन्दन-नमस्कार किया और उनके गुणानुवाद किए, इस आगमिक प्रमाण से आपने यह सिद्ध किया कि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि को वन्दन-नमस्कार करना धर्म है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करने के लिए भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८४ पर जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—तीर्थंकर जन्म्यां ते द्रव्य तीर्थंकर ने इन्द्र नमोत्थुणं गुणे, नमस्कार करे, ते पिण इन्द्र नी रीति हुन्ती ते साचवे, पिण धर्म जाणे नहीं। तीन ज्ञान सहित एकावतारी इन्द्र ने पिण परपूठे जन्म्यां छतां द्रव्य तीर्थंकर नों विनय करे। नमोत्थुणं गुणे ते लौकिक संसार ने हेते रीति सांचवे, पिण मोक्ष हेते नहीं।'

जन्म लेते समय तीर्थंकर को इन्द्र धर्म जानकर वन्दन-नमस्कार नहीं करता, ऐसा कहीं आगम में उल्लेख नहीं है। आगम में प्रयुक्त **जीयमेयं** इस पाठ से यदि यह कहें कि इन्द्र अपने पुरातन आचार का पालन करने के लिए जन्मते समय तीर्थंकर को वन्दन करता है, धर्म जानकर नहीं। परन्तु यह कथन सर्वथा अनुचित है। क्योंकि भगवान् को केवलज्ञान होने पर जब देव वन्दन करने आए, उस समय के प्रसंग में भी आगम में **जीयमेयं** पाठ आया है। इसका अर्थ है—'हे देव! तीर्थंकरों को वन्दन करना तुम्हारा पुराना आचार है।' भ्रमविध्वंसनकार के मत से केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थंकर को वन्दन करना धर्म नहीं, लौकिक आचार का पालन करना मात्र होना चाहिए। यदि तीर्थंकर को केवलज्ञान होने पर परंपरा के अनुसार वन्दन करने पर भी देवों को पाप नहीं, धर्म होता है, तब जन्म के समय तीर्थंकर को अपनी परंपरा के अनुसार वन्दन करने पर इन्द्र को पाप कैसे होगा? जैसे जन्म के समय इन्द्र आदि देव तीर्थंकर की महिमा करने के लिए आते हैं, उसी तरह केवलज्ञान उत्पन्न होने पर केवलज्ञान की महिमा करने के लिए भी वे भगवान् के पास आते हैं। आगम में जन्म-कल्याण के पाठ का संकोच करके पाँचों कल्याणों का पाठ आया है, उसमें जन्म के समय के वर्णन की तरह **जीयमेयं** का पाठ समझना चाहिए। अतः इन सब स्थानों में किए जाने वाले वन्दन और जब लोकान्तिक देव पुरानी परम्परा का पालन करने हेतु तीर्थंकरों को प्रतिबोध देते आते हैं, उसमें भी पाप मानना चाहिए। क्योंकि वहाँ भी **जीयमेयं** शब्द का प्रयोग हुआ है। वह पाठ यह है—

तत्तेणं तेसिं लोगंतियाणं देवाणं पत्तेयं २त्ता आसणाइं चलंति। तहेव जाव अरहंताणं निक्खममाणं संबोहणं करेतएत्ति तं गच्छामो णं अम्हेऽवि

मल्लिस्स अरहंतो संवोहणं करेमि त्ति कट्टु एवं संपेहेंति २त्ता उत्तरपुराच्छिमं दिसिभायं वेउव्विय समुग्घाएणं सम्मोहणंति २त्ता संखिज्जाइं जोयणाइं एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जणेव मल्लीअरहा तेणेव उवागच्छंति २त्ता अंतलिक्खपडिवन्ना संखिंविणियाइं जाववत्थातिं पवर परिहिया करयल ताहिं इट्ठा एवं वयासी बुज्झाहि भगवं लोगनाहा पवत्तेहिं धम्मतित्थं जीवाणं हिय-सुख-निस्सेसयकरं भविस्सतीत्ति कट्टु दोच्चंपि तच्चंपि एवं वयंति २त्ता मल्लिअरहं वंदंति-नमंसंति २त्ता जामेव दिसं पाउब्भुया तामेव दिसिं पडिगया।

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

इसमें जाव शब्द से जिस पूर्वपाठ का संकोच किया है, वह यह है—

तए णं लोगंतिया देवता आसणाइं चलिताइं पासंति-पासंतित्ता ओहिं पाउज्जंति२त्ता मल्लि अरहं ओहिणा ओभोऐंति २त्ता। इमेयारूवे अज्जत्थिए जाव समुप्पज्जित्था एवं खलु एवं जम्बूद्वीवे-दीवे भारए वासे मिहिलाए कुम्भगस्स मल्लीअरहा निक्खमिस्सामीत्ति मनं पहारेंति तं जीयमेयं तीय पच्चुप्पन्नमणागयाणं लोगंतियाणं।

'इसके अनन्तर प्रत्येक लोकान्तिक देवों के आसन डोलने लगे। यह देखकर देवों ने अवधिज्ञान का प्रयोग करके अरिहंत मल्लिनाथ को देखा। पश्चात् उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में मिथिला नगरी के राजा कुम्भ की पुत्री भगवान् मल्लिनाथ दीक्षा लेने का विचार कर रहे हैं। अतः हमारा भूत, भविष्य एवं वर्तमानकाल का जीत—आचार-परम्परा है कि तीर्थकर के पास जाकर हम उनको प्रतिवोधित करते हैं। इसलिए हमें भगवान् मल्लिनाथ के पास जाना चाहिए। यह सोचकर लोकान्तिक देवों ने ईशान कोण में जाकर वैक्रिय समुद्घात किया और संख्यात योजन का दण्ड निकाल कर उत्तर वैक्रिय शरीर वनाया और वे जृम्भक देवों की तरह मिथिला नगरी में कुम्भराजा के महल में भगवान् मल्लिनाथ के पास आए। वहाँ आकाश में स्थित होकर घुंघरू वजाते हुए हाथ जोड़कर मधुर शव्दों में कहने लगे—हे भगवन्! हे लोकनाथ!! प्रतिवोध प्राप्त करो और धर्मतीर्थ को प्रवृत्त करो, जिससे जीवों को हित, सुख एवं मुक्ति की प्राप्ति हो। इस प्रकार दो-तीन वार कह कर और वन्दन-नमस्कार करके लोकान्तिक देव जिस दिशा से आए थे, उसी ओर वापिस लौट गए।

प्रस्तुत पाठ में जीयमेयं शव्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ भी अपनी परंपरा के आचार का पालन करने के लिए लोकान्तिक देव भगवान् मल्लिनाथ को

प्रतिबोधित करने आए, ऐसा कहा है। अतः भ्रमविध्वंसनकार को इस कार्य को भी सावद्य समझना चाहिए। यदि **जीयमेयं** इस पाठ के होने पर भी देवों द्वारा प्रतिबोध देना सावद्य नहीं है, तो जन्म के समय भी इन्द्र आदि का वन्दन करना सावद्य नहीं होगा।

यदि यह कहें कि भगवान् के जन्म के समय देवता बहुत-सा आरंभ-समारंभ करते हैं। अतः जैसे वह सावद्य है, उसी तरह उस समय का वन्दन भी सावद्य है। परन्तु भगवान् को केवलज्ञान होने पर भी देव आते हैं और उस समय भी बहुत-सा आरंभ-समारंभ करते हैं। इस अपेक्षा से केवलज्ञान के समय किया जाने वाला वन्दन भी सावद्य समझना चाहिए। इसे सावद्य क्यों नहीं मानते? जैसे केवलज्ञान के समय देवों की आवागमन आदि सावद्य क्रिया होने पर भी उस समय का वन्दन सावद्य नहीं होता, उसी तरह जन्मोत्सव के समय आरंभ होने पर भी भगवान् को किया जाने वाला वन्दन सावद्य नहीं होता। क्योंकि वन्दन आरंभ-समारंभ की क्रिया से भिन्न है।

चक्र-रत्न और श्रावक

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २८१ पर लिखते हैं—

'इहां चक्र उपनों तिहां भरतजी इसो विनय कीधो। पछे चक्र कने आवी पूजा कीधी, ते संसार रीते पिण धर्म हेते नहीं। तिम अम्बड़ने चेलां पिण आपरो निज गुरु जाणी गुरुनी रीति साचवी, पिण धर्म न जाण्यो।'

भरत ने चक्ररत्न की पूजा की, उसकी अम्बड़जी के शिष्यों के साथ तुलना करना कथमपि उचित नहीं है। क्योंकि चक्ररत्न प्रत्यक्षतः स्थावर है, एकेन्द्रिय है और मिथ्यात्वी है। उसकी पूजा करना मिथ्यात्वी की पूजा करना है। अतः वह सम्यग्दृष्टि के लिए धर्म का कारण नहीं है। परन्तु अम्बड़जी सम्यग्दृष्टि एवं बारह व्रतधारी श्रावक थे। अतः उन्हें वन्दन-नमस्कार करना सम्यग्दृष्टि एवं श्रावक को वन्दना करना था और वह चक्र-पूजा की तरह लौकिक रीति के परिपालनार्थ नहीं, धर्मार्थ था। अतः चक्र-पूजा का दृष्टान्त देकर अम्बड़जी को किए गए वन्दन को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।

यह आगम-प्रमाण से बताएँ कि श्रावक की सेवा-भक्ति करने से किस फल की प्राप्ति होती है?

आगम में श्रावक की सेवा-भक्ति करने का फल शास्त्र-श्रवण से लेकर मोक्ष-पर्यन्त बताते हुए लिखा है—

तहारूवेणं भन्ते! समणं वा माहणं वा पज्जुवासमाणस्स किं फलं पज्जुवासणं?

गोयमा! सवण फला।

से णं भन्ते! सवणे किं फले?

णाण फले।

से णं भन्ते! णाणे किं फले?

विण्णाण फले।

से णं भन्ते! विण्णाणे किं फले?

पच्चक्खाण फले।

से णं भन्ते! पच्चक्खाणे किं फले?

संजम फले।

से णं भन्ते! संजमे किं फले?

अणण्हय फले। एवं अणण्हए तव फले। तवे वोदाण फले। वोदाणे अकिरिया फले।

से णं भन्ते! अकिरिया किं फला?

सिद्धिपज्जवसणा फला पण्णत्ता, गोयमा!'

—भगवतीसूत्र, २, ५, १११

हे भगवन्! तथारूप के श्रमण-माहन की सेवा करने से क्या फल होता है?

हे गौतम! आगम, वीतराग-वाणी-धर्म सुनने का फल होता है।

श्रवण करने का क्या फल होता है?

श्रवण करने से ज्ञान होता है, सैद्धान्तिक बोध होता है।

ज्ञान से क्या फल होता है?

विज्ञान—विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है, त्यागने योग्य और स्वीकार करने योग्य वस्तु का विवेक प्राप्त होता है।

विज्ञान से किस फल की प्राप्ति होती है?

विज्ञान से पाप का प्रत्याख्यान होता है।

प्रत्याख्यान का क्या फल है?

पापों का प्रत्याख्यान करने से संयम की प्राप्ति होती है।

संयम का क्या फल है?

संयम से आश्रव का निरोध होता है, आते हुए कर्म रुकते हैं। इसी तरह आश्रव-निरोध से तप की प्राप्ति होती है। तप से कर्मों की निर्जरा होती है और निर्जरा से योगों का निरोध होता है।

हे भगवन्! योग निरोध करने से क्या फल मिलता है?

हे गौतम! योग निरोध से सब कर्मों का अन्त होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रस्तुत पाठ में तथारूप के श्रमण-माहण की सेवा-भक्ति करने से धर्म-श्रवण से लेकर मोक्षपर्यन्त फल की प्राप्ति बताई है। प्रस्तुत पाठ की टीका में श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक किया है—

श्रमणः साधुः माहनः श्रावकः।

उक्त पाठ से श्रावक की सेवा–भक्ति करने में धर्म सिद्ध होता है। अतः श्रावक की सेवा–भक्ति करने एवं उन्हें वंदन–नमस्कार करने में एकान्त पाप वताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

यदि यह कहें कि प्रस्तुत पाठ में प्रयुक्त श्रमण–माहण शब्द केवल साधु का ही वोधक है, श्रावक का नहीं। तो यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि यह कथन टीकां से भी विरुद्ध है। टीका में माहण शब्द का अर्थ श्रावक किया है। इसके अतिरिक्त अन्यतीर्थियों के लिए भी श्रमण–माहण शब्द आया है। वहाँ उनका एक साधु ही अर्थ नहीं किया है। वहाँ श्रमण का अर्थशाक्य आदि भिक्षु और माहण का अर्थ व्राह्मण किया है। जैसे अन्यतीर्थियों के लिए प्रयुक्त श्रमण–माहण शव्द एक अर्थ के नहीं, भिन्न–भिन्न अर्थ के वोधक हैं, उसी तरह स्व–तीर्थी के लिए प्रयुक्त श्रमण–माहण शब्द भी एक साधु अर्थ में नहीं, भिन्न–भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

तत्थणं जे ते समणा–माहणा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हंतव्वा।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, २, ४१

जो श्रमण–माहण यह प्ररूपणा करते हैं कि सव प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का वध करना धर्म है, वे परमार्थ को नहीं जानते।

प्रस्तुत पाठ में अन्यतीर्थी के लिए श्रमण–माहण शव्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ टीकाकार ने श्रमण शब्द का अर्थ शाक्य आदि भिक्षु और माहण शब्द का अर्थ व्राह्मण किया है। भ्रमविध्वंसनकार ने भी इस वात को स्वीकार किया है। भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २६४ पर लिखा है—

'तिम अन्यतीर्थी ने श्रमण शाक्यादिक, माहण ते व्राह्मण ए अन्य तीर्थी ना श्रमण–माहण कह्या।'

अतः जैसे इस पाठ में श्रमण–माहण शब्द का अन्यतीर्थी का एक साधु अर्थ न होकर श्रमण का शाक्य आदि भिक्षु और माहण का व्राह्मण अर्थ किया है उसी तरह भगवतीसूत्र के पाठ में उल्लिखित श्रमण शब्द का अर्थ साधु और माहण शब्द का अर्थ श्रावक समझना चाहिए। अस्तु परतीर्थी के लिए दोनों शब्दों के दो भिन्न अर्थ मानना और स्वतीर्थी के लिए दोनों शब्दों का एक साधु ही अर्थ करना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

माहण का अर्थ

परतीर्थी धर्मोपदेशक दो प्रकार के होते हैं—श्रमण-शाक्य आदि भिक्षु और माहण—ब्राह्मण। इसलिए परतीर्थी धर्मोपदेशक के लिए प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ होना उपयुक्त है। परन्तु स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एकमात्र साधु ही होता है, श्रावक नहीं। इसलिए स्वतीर्थी धर्मोपदेशक के लिए प्रयुक्त श्रमण-माहण शब्द का एक साधु ही अर्थ होना चाहिए। परन्तु श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक नहीं होना चाहिए। इस विषय में आपका क्या अभिमत है?

परतीर्थी की तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो प्रकार के होते हैं— १. साधु और २. श्रावक। इसलिए श्रमण शब्द का अर्थ साधु और माहण शब्द का अर्थ श्रावक करना चाहिए। क्योंकि आगम में श्रावक को भी धर्मोपदेशक कहा है—

अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्सविभंगे एवमाहिज्जइ इह खलु पाईणं वा ४ संत्ते गतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा, अप्पारम्भा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया, धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई, धम्मप्पलोइया, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वितिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला, सुव्वया, सुप्पडियानंदा साहू।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, २, ३६

तीसरा स्थान मिश्रसंज्ञक है। उसका विभंग कहते हैं—इस संसार में पूर्व आदि दिशाओं में निवसित मनुष्य शुभकर्म करने वाले होते हैं। वे अल्पइच्छा रखने वाले, अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मिष्ठ—श्रुत-चारित्र धर्म के अनुगामी, धर्माख्यायी—भव्य जीवों के समक्ष धर्म का प्रतिपादन—उपदेश करने वाले, धर्म में अनुराग रखने वाले, प्रसन्नतापूर्वक धर्माचरण करने वाले, धर्मपूर्वक जीविका करने वाले, सुन्दर स्वभाव वाले, सुव्रती और आत्म-आनन्द में मग्न रहने वाले साधु के सदृश होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में श्रावक को धर्माख्यायी कहा है। धर्माख्यायी उसे कहते हैं, जो धर्म का उपदेश देता है। टीकाकार ने धर्माख्यायी शब्द का निम्न अर्थ किया है—

धर्ममाख्याति भव्यानां प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी।

जो भव्य लोगों के समक्ष धर्म का प्रतिपादन करता है, उसे धर्माख्यायी कहते हैं।

इस प्रकार इस पाठ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्म का उपदेश देता है। अतः परतीर्थी धर्मोपदेशक की तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो प्रकार के होते हैं—साधु और श्रावक। अतः भगवतीसूत्र में प्रयुक्त श्रमण शब्द का साधु और माहण शब्द का श्रावक अर्थ समझना चाहिए। माहण शब्द का भी साधु ही अर्थ करना कथमपि उचित नहीं।

सुवुद्धिप्रधान : धर्मोपदेशक था

किसी श्रावक ने धर्मोपदेश देकर किसी को धार्मिक वनाया हो, तो वताएँ?

अम्बड़ परिव्राजक ने ही अपने सात सौ शिष्यों को धर्मोपदेश देकर वारह व्रत स्वीकार कराए। भ्रमविध्वंसनकार ने भी स्वयं इसे स्वीकार किया है। दूसरा उदाहरण सुवुद्धिप्रधान श्रावक का है, उसने जितशत्रु राजा को धर्मोपदेश देकर वारह व्रतधारी श्रावक बनाया।

तत्तेणं सुबुद्धि जितसतुस्स विचित्तं केवली पण्णतं चाउज्जामं धम्मं परिकहेइ। तमाइक्खति जहा जीवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयाति। तत्तेणं जितसत्तू सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ–तुट्ठ सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासी—सद्दहामि णं देवाणुप्पिया! णिग्गंथं पावयणं ३ जाव से जहेयं तुब्भे वयह। तं इच्छामि णं तव अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए। अहा सुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह। तएणं से जितसत्तू सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं जाव दुवालस विहं सावयधम्मं पडिवज्जइ। तत्तेणं जितसत्तू समणोवासए अभिगय जीवाऽजीवे जाव पडिलभमाणे विहरइ।

—ज्ञातासूत्र, अध्ययन १२

इसके अनन्तर सुवुद्धिप्रधान ने जितशत्रु राजा को केवली–प्ररूपित चातुर्याम—चार महाव्रतयुक्त धर्म कहा और राजा को इस प्रकार समझाया जिससे जीव प्रतिवोधित होकर आराधक वन जाते हैं। उसने राजा को पाँच अणुव्रत रूप धर्म को विस्तार से समझाया। इसके अनन्तर जितशत्रु राजा ने सुवुद्धिप्रधान से कहा—'मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ और तुम्हारे उपदेश के अनुसार तुम से वारह व्रत स्वीकार करना चाहता हूँ।' यह सुनकर प्रधान ने कहा—हे देवानुप्रिय! जैसा सुख हो करो, परन्तु धर्मकार्य में विलम्ब मत करो।

तदनन्तर राजा ने प्रधान से श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए और वह श्रमणोपासक बन गया। वह जीव-अजीव को जानकर यावत् साधुओं को दान देता हुआ विचरने लगा।

प्रस्तुत पाठ में स्पष्ट कहा है कि सुबुद्धिप्रधान के धर्मोपदेश से जितशत्रु राजा ने बारह व्रत स्वीकार किए। अतः श्रावक भी धर्मोपदेशक होते हैं, यह आगम का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अतः स्वतीर्थी साधु एवं श्रावक दोनों धर्मोपदेशक होते हैं। तथापि भ्रमविध्वंसनकार स्वतीर्थी साधु को ही एकमात्र धर्मोपदेशक बताते हैं, श्रावक को नहीं। उनका यह कथन आगम से विरुद्ध सिद्ध होता है। भगवतीसूत्र में कथित श्रमण और माहण—श्रावक की सेवा-भक्ति करने से आगम-श्रवण से लेकर मोक्ष-प्राप्ति का फल मिलता है। अतः श्रावक की सेवा-भक्ति करने में एकान्त पाप बताना आगम के विपरीत है।

श्रमण-माहण का स्वरूप

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २६६ पर लिखते हैं—

'अनें किणहिक ठामे टीका में माहण ना अर्थ प्रथम तो साधु इज कियो, अने वीजो अर्थ 'अथवा श्रावक' इम कियो छै। पिण मूल अर्थ तो श्रमण-माहण नो साधु इज कियो।'

टीकाकार ने श्रमण-माहण शब्द का प्रथम साधु ही अर्थ किया है, परन्तु वाद में अथवा कहकर श्रावक अर्थ किया है, यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। भगवतीसूत्र की टीका में माहण शब्द का श्रावक अर्थ किया है।

माहणस्स त्ति माहनेत्येवमादिशति स्वयं स्थूल-प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहनः।

जो पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदि से निवृत्त होकर दूसरे को भी नहीं मारने का उपदेश देता है, वह माहण है।

यहाँ टीकाकार ने सर्वप्रथम माहण शब्द का श्रावक अर्थ किया है, और भगवती, श. २, उ. ५ की टीका में माहण शब्द का सर्वप्रथम साधु अर्थ ही किया है। वह टीका यह है—

तथारूपमुचितस्वभावं कञ्चन पुरुषं श्रमणं वा तपोयुक्तमुपलक्षणत्वादस्योत्तर गुणवन्तमित्यर्थः। माहनं वा स्वयं हनन निवृत्तत्वात्परं प्रति मा हन इति वादिनं उपलक्षणत्वादेव मूलगुण-युक्तमित्यर्थः। वा शब्दौ समुच्चये अथवा श्रमणः साधुर्माहनः श्रावकः।

जो पुरुष उचित स्वभाव, तप—उत्तरगुण से युक्त है, वह श्रमण कहलाता है और जो स्वयं हिंसा से निवृत्त होकर दूसरे को नहीं मारने का उपदेश देता है अर्थात् मूलगुण से युक्त है, वह 'माहण' कहलाता है। अथवा श्रमण नाम साधु का है और माहण नाम श्रावक का।

यहाँ टीकाकार ने प्रथम श्रमण शब्द का 'उत्तरगुण' और माहण शब्द का 'मूलगुणयुक्त' अर्थ किया है। साधु और श्रावक दोनों के मूल एवं उत्तरगुण होते

हैं, केवल साधु के नहीं। इसलिए प्रथम अर्थ में श्रमण-माहण शब्द से मूल एवं उत्तरगुण से युक्त साधु और श्रावक दोनों का ही ग्रहण होता है, केवल साधु का नहीं। दूसरे अर्थ में टीकाकार ने स्पष्ट लिख दिया—श्रमण का अर्थ साधु है और माहण का अर्थ श्रावक। अतः उक्त टीका का नाम लेकर माहण शब्द का श्रावक अर्थ करने में टीकाकार की अरुचि बताना सर्वथा गलत है।

कल्याणं, मंगलं आदि विशेषण

भ्रमविध्वसंनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २८७ पर भगवती, श. १५ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे सर्वानुभूति, सुनक्षत्र मुनि गोशालक ने कह्यो—हे गोशालक! जे तथारूप श्रमण-माहण कने एक वचन सीखे, तेहने पिण वांदे-नमस्कार करे। कल्याणिक, मांगलिक, देवयं, चेइयं, जाणिने घणी सेवा करे। इहां श्रमण-माहण कने सीखे तेहने वन्दना-नमस्कार करणी कही। पिण श्रमणोपासक कने सीखे तेहने वंदना-नमस्कार करणी, इम न कह्यो। श्रमण-माहण नी सेवा कही, पिण श्रमणोपासक री सेवा न कही। ए तो प्रत्यक्ष श्रावक ने टाल दियो, अने श्रमण-माहण ने वन्दना-नमस्कार करणो कह्यो। ते माटे श्रावक ने नमस्कार करे ते कार्य आज्ञा बाहिर छै।'

भगवती, शतक १५ के पाठ का प्रमाण देकर यह कहना 'श्रावक से सीखे, पर उसको वन्दन न करे' नितान्त असत्य है। उक्त पाठ में साधु एवं श्रावक दोनों से सीखना और दोनों को वन्दन-नमस्कार करने का कहा है। इसमें श्रावक को वन्दन करने का निषेध नहीं किया है। प्रस्तुत पाठ में भगवती, श. २, उ. ५ की तरह श्रमण और माहण दोनों से सीखने और वन्दन करने का विधान किया है। अतः यहाँ भी पूर्व की तरह श्रमण का अर्थ साधु और माहण का अर्थ श्रावक है। भगवतीसूत्र के इस पाठ से श्रावक से सीखना और उसे वन्दन करना स्पष्ट सिद्ध होता है। इतना तो साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी समझ सकता है कि यह कैसे हो सकता है कि श्रावक से सीखने का तो निषेध नहीं किया, परन्तु वन्दन करने का निषेध किया है? यदि यह कहें कि इस पाठ में श्रमण-माहण का विशेषण कल्याणं, मंगलं, देवयं, चेइयं आया है। ये विशेषण साधु एवं तीर्थकरों को किए जाने वाले वन्दन में ही आते हैं, श्रावक आदि में नहीं। इसलिए माहण शब्द का साधु ही अर्थ करना चाहिए, श्रावक नहीं। भ्रमविध्वंसनकार का यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि आगम में साधु से भिन्न व्यक्ति के लिए भी 'कल्लाणं' आदि विशेषण आए हैं।

बहु जणस्स आहस्स आहुणिज्जे, पाहुणिज्जे, अच्चाणिज्जे वंदणिज्जे, नमंसणिज्जे, पूयणिज्जे, सक्कारणिज्जे, सम्माणिज्जे, कल्लाणं, मंगलं, देवयं, चेइयं, विणएण पज्जुवासणिज्जे।

—उववाईसूत्र

प्रस्तुत पाठ पूर्णभद्र यक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसमें पूर्णभद्र यक्ष के लिए कल्याणं, मंगलं, देवयं, चेइयं विशेषणों का प्रयोग किया है। अतः उक्त विशेषण केवल साधु एवं तीर्थकरों के लिए ही आते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। उक्त विशेषणों का नाम लेकर भगवतीसूत्र के १५वें शतक के पाठ में प्रयुक्त 'माहण' शब्द का श्रावक अर्थ होने का निषेध करना आगम से सर्वथा विपरीत है।

श्रावक भी वन्दनीय है

भ्रमविध्वंसनकार उत्तराध्ययनसूत्र की बहुत-सी गाथाएँ लिखकर उनके प्रमाण से माहण शब्द का अर्थ एकमात्र साधु होना बताते हैं, श्रावक नहीं।

उत्तराध्ययनसूत्र की गाथाओं में जो माहण या ब्राह्मण का लक्षण बताया है, वह केवल साधु में ही मिलता है, श्रावक में नहीं, यह कथन न्यायसंगत नहीं है। उत्तराध्ययन की गाथा में बताया है—'सब जीवों पर समता रखने से श्रमण, ब्रह्मचर्य धारण करने से ब्राह्मण या माहण, ज्ञान से मुनि और तप करने से तापस होता है।'

समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होई, तवेणं होई तावसो।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २५, ३२

यहाँ ब्रह्मचर्य धारण करने से माहण—ब्राह्मण होना कहा है। श्रावक भी ब्रह्मचर्य धारण करता है। अतः अम्बड़जी एवं उनके शिष्यों ने श्रावक होने पर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया था। अन्य श्रावक भी देश से ब्रह्मचर्य का परिपालन करते हैं। इसलिए उक्त गाथा में प्ररूपित ब्राह्मण का लक्षण श्रावक में भी घटित होता है। उत्तराध्ययनसूत्र की गाथाओं का उदाहरण देकर एकमात्र साधु को ही माहण कहना और श्रावक के माहण होने का निषेध करना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २७७ पर लिखते हैं—

'इम जो धर्माचार्य हुवे तो पुत्र अने पिता श्रावक रा व्रत धारे, तो तिण रे लेखे पुत्र ने आचार्य कही जे, इम हिज स्त्री अने भर्तार श्रावक रा व्रत धारे, तो

तिण रे लेखे स्त्री ने पिण आचार्य कहीजे। तथा सासू बहू कने व्रत आदरे तथा सेठ गुमाश्ता कने व्रत आदरे, तो तिण ने पिण धर्माचार्य कहीजे'। इसके आगे लिखते हैं—'अनें जिण पासे धर्म सीख्या तिण ने वन्दना करणी कहे तिणरे पाछे कह्या ते सर्वने वन्दन-नमस्कार करणी।'

स्थानांगसूत्र के स्थान ६ में लिखा है—कारणवश पुरुष साध्वी से दीक्षा ग्रहण कर सकता है, परन्तु दीक्षा ग्रहण करने के बाद वह उक्त साध्वी को नमस्कार नहीं करता। क्योंकि साध्वी को वन्दन-नमस्कार करना साधु का कल्प नहीं है। उसी तरह पिता पुत्र से, पति पत्नी से, श्वश्रू पुत्रवधू से और सेठ अपने मुनीम या नौकर से धर्मोपदेश सुनकर श्रावक के व्रत ग्रहण कर सकता है। परन्तु पिता पुत्र को, पति पत्नी को, श्वश्रू पुत्रवधू को और सेठ नौकर को वन्दन करें यह लोक-व्यवहार के अनुकूल नहीं होने से, ये उन्हें वन्दन नहीं करते। परन्तु जिस श्रावक को वन्दन करने में लोक-व्यवहार का उल्लंघन नहीं होता है, उसे वन्दन करने में किसी तरह का दोष एवं पाप नहीं, बल्कि धर्म है। अतः धर्मोपदेशक पुत्र, पत्नी, पुत्र-वधू एवं नौकर को पिता, पति, श्वश्रू और सेठ नमस्कार नहीं करते—यह दृष्टान्त देकर सभी धर्मोपदेशक श्रावकों को वन्दन-नमस्कार करने में पाप बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि लोक-व्यवहार के कारण भले ही पुत्र आदि को वे नमस्कार नहीं करते, परन्तु उनका आदर-सम्मान एवं गुणानुवाद तो कर सकते हैं और गुणानुवाद करना भी विनय है। अस्तु श्रावक के द्वारा श्रावक को वन्दन करने का निषेध करना एवं उस वन्दन को सावद्य बताना नितान्त असत्य है।
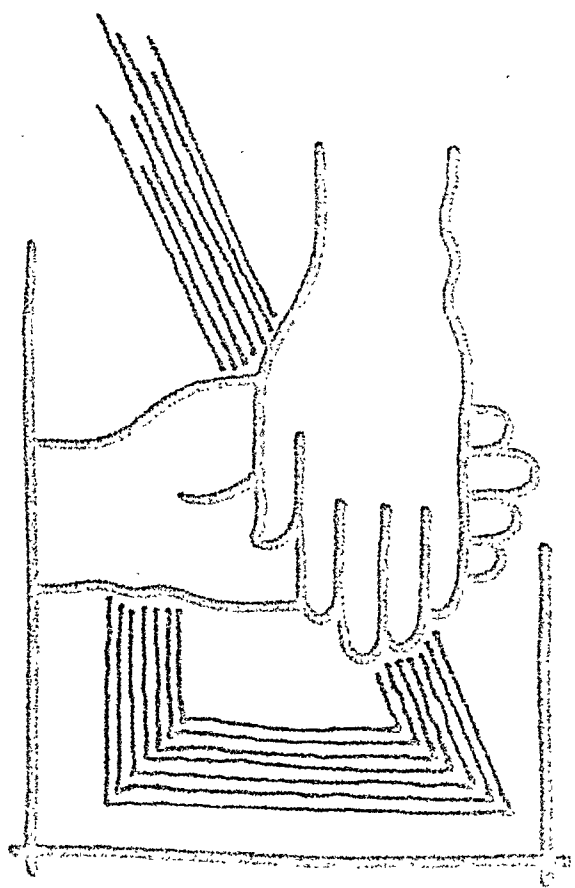
पुण्य-अधिकार

पुण्य का स्वरूप
शुभ अनुष्ठान और उसका फल
क्रिया-अधिकार
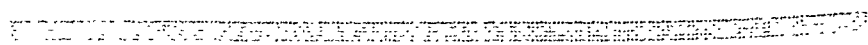
पुण्य का स्वरूप

पुण्य किसे कहते हैं? और उसके कितने भेद हैं?

जो आत्मा को पवित्र करता है, उसे पुण्य कहते हैं—

पुनाति पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।

स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार का पुण्य कहा है—१. अन्न, २. पानी, ३. वस्त्र, ४. मकान, ५. शय्या का देना, ६. गुणी पुरुषों के गुणों में मन को लगाना, ७. वचन से गुणीजनों की प्रशंसा करना, ८. शरीर से उनकी सेवा करना और ९. श्रेष्ठ पुरुषों को नमस्कार करना।

स्थानांगसूत्र की टीका एवं टब्बा अर्थ में लिखा है—'पात्र को अन्न आदि का दान देने से तीर्थंकर नाम गोत्र आदि विशिष्ट पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है और साधु से भिन्न व्यक्ति को अनुकम्पा बुद्धिपूर्वक दान देने से अन्य पुण्य प्रकृति का बन्ध होता है। इस प्रकार साधु एवं उनसे भिन्न व्यक्ति को दान देने से नौ प्रकार का पुण्य होता है।

नौ प्रकार से आबद्ध पुण्य का फल बयालीस प्रकार से मिलता है। अतः इन्हें भी कार्य और कारण से पुण्य कहते हैं। इस प्रकार शुभकरणी क्रिया का नाम भी पुण्य है और उसके फल का भी।

पुण्य आदरने योग्य है या त्यागने योग्य?

स्थानांगसूत्र के प्रथम स्थान की टीका में पुण्य के दो भेद किए हैं—१. पुण्यानुबन्धी पुण्य और २. पापानुबन्धी पुण्य। पुण्यानुबन्धी पुण्य साधक दशा में आदरने योग्य है और पापानुबन्धी पुण्य त्यागने योग्य है।

पुण्यानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है?

इस विषय में आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है—

गेहाद् गेहान्तरं कश्चिद् शोभनादधिकं नरः।
यातियद्वत् सधर्मेण तद्वदेव भवाद्भवम्।।

जैसे कोई मनुष्य सुन्दर मकान से निकलकर उससे भी सुन्दर मकान में प्रविष्ट होता है, उसी तरह जिस पुण्य के द्वारा जीव मनुष्य आदि उत्तम योनियों का त्याग करके उससे भी श्रेष्ठ देव आदि योनियों को प्राप्त करता है, उसे पुण्यानुबंधी पुण्य कहते हैं।

उसकी उत्पत्ति का कारण बताते हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है—

दया भूतेषु वैराग्यं, विधिवद् गुरु पूजनम्।
विशुद्धा शील वृत्तिश्च, पुण्यं पुण्यानुबन्ध्यदः।।

सब प्राणियों पर दया-अनुकम्पा रखना, वैराग्य, विधिवत् गुरु की सेवा करना एवं अहिंसा आदि व्रतों का अतिचाररहित पालन करना, ये सब पुण्यानुबन्धी पुण्य के कारण हैं।

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि मोक्षार्थी पुरुषों को पुण्य का आदर करना चाहिए—

शुभानुबन्ध्यतः पुण्यं कर्तव्यं सर्वथा नरैः।
यत्प्रभावादपातिन्यो जायन्ते सर्व-सम्पदः।।

मनुष्यों को पुण्यानुबन्धी पुण्य का आदर करना चाहिए, क्योंकि इसके प्रभाव से सर्व अविनश्वर सम्पत्तियाँ प्राप्ति होती हैं।

इसमें आचार्यश्री ने पुण्यानुबन्धी पुण्य को आदरणीय कहा है। अतः मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं।

पुण्य उपादेय भी है

मोक्षार्थियों के लिए पुण्य का फल आदरणीय है या नहीं?

साधक दशा में मोक्षार्थी पुरुषों के लिए पुण्य का फल भी उपादेय—आदरणीय है। आगम में मोक्ष-प्राप्ति के चार प्रमुख कारण कहे हैं—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं, सुई, सद्धा, संजमंमिय वीरियं।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, ३, १

मुक्ति के चार परम साधन हैं, जो जीवों के लिए दुर्लभ हैं—१. मनुष्यत्व, २. धर्म का सुनना, ३. धर्म पर श्रद्धा रखना और ४. संयम में पुरुषार्थ करना।

प्रस्तुत गाथा में मनुष्य-जन्म को मोक्षप्राप्ति का परम साधन कहा है और मनुष्य-जन्म पुण्य का ही फल है। इसलिए पुण्य-फल मोक्षार्थियों के लिए भी साधना की स्थिति में आदरणीय है।

आगम में पुण्य को आदरने योग्य कहाँ कहा है?

आगम में पुण्य को आदरणीय कहा है—

इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणे।
से सोयइ मच्चु मुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परम्मि लोए।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १३, २१

चित्त मुनि कहते हैं—हे ब्रह्मदत्त! मनुष्य की अशाश्वत—अनित्य आयु को पाकर, जो मनुष्य पुण्य का उपार्जन नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में प्रविष्ट होने पर धर्माचरण नहीं करने के कारण परलोक में पश्चात्ताप करता है।

प्रस्तुत गाथा में चित्त मुनि ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को मनुष्य की आयु या मानव जीवन प्राप्त करके पुण्य का उपार्जन करने की आवश्यकता बताई है। अतः साधक अवस्था में मोक्षार्थी पुरुषों के लिए भी पुण्य आदरने योग्य सिद्ध होता है।

शुभ अनुष्ठान और उसका फल

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३०१ पर उत्तराध्ययनसूत्र की उक्त गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां तो कह्यो—हे राजन्! अशाश्वत जीवितव्य ने विषे गाढ़ा पुण्य ना हेतु शुभ अनुष्ठान, शुभकरणी न करे ते मरणान्त ने विषे पश्चात्ताप करे। इहां पुण्य शब्दे पुण्य नो हेतु शुभ अनुष्ठान कह्यो।'

पुण्य के हेतुभूत शुभ अनुष्ठान को भ्रमविध्वंसनकार स्वयं आदरणीय मानते हैं। आगम में शुभ अनुष्ठान एवं पुण्य-फल—दोनों को पुण्य कहा है। इसलिए मोक्षार्थी के लिए पुण्य आदरणीय नहीं है, यह कथन उनकी मान्यता से भी विरुद्ध है। यदि वे यह कहें कि हम पुण्य-फल की अपेक्षा से पुण्य को अनादरणीय कहते हैं, शुभ अनुष्ठान की अपेक्षा से नहीं, यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र, अ. ३, गाथा १ में मनुष्य-जन्म को दुर्लभ बताकर मोक्षार्थियों के लिए आदरणीय बताया है। उत्तराध्ययन, अध्ययन २३, गाथा ७३ में मानव शरीर को संसार-सागर पार करने वाले प्राणियों के लिए नौका रूप बताया है—

संसार माहु नावत्ति, जीवो उच्चइ नाविओ।
संसारो अन्नवो उत्तो, जं तरंति महेसिणो।।

मनुष्य शरीर नौका है, जीव उसे चलाने वाला नाविक है। यह संसार समुद्र है, महर्षि लोग इसे पार करते हैं।

इस गाथा में मनुष्य शरीर को नौका बताकर संसार-सागर को पार करने वाले साधक के लिए इसकी परम आवश्यकता बताई है। मनुष्य शरीर पुण्य का फल है। अतः इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधक दशा में पुण्य-फल भी मोक्षार्थी के लिए आदरणीय है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति को दुर्लभ बताते हुए आगम में लिखा है—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्व पाणिणं।

—उत्तराध्ययनसूत्र, १०, ४

हे गौतम! प्राणियों को चिरकाल के अनन्तर भी मनुष्य-जन्म प्राप्त होना दुर्लभ है।

मनुष्य जीवन के महत्त्व को बताते हुए स्थानांगसूत्र, स्थान ३ में लिखा है—

ततो ठाणाइं देवेपीहेज्जा, तं जहा—माणुसं भवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुल पच्चायातिं।

देवता भी तीन बातों की अभिलाषा रखते हैं—१. मनुष्य योनि, २. आर्य क्षेत्र एवं ३. अच्छे कुल में जन्म लेना।

प्रस्तुत पाठ में मनुष्य-जन्म को देव-वांछनीय कहा है। यदि पुण्य का फल त्याज्य होता, तो उसकी प्रशंसा न करके निन्दा की जाती। परन्तु आगमकार ने मानव-जन्म की प्रशंसा की है, इसलिए वह साधक अवस्था में त्याज्य नहीं, ग्रहण करने योग्य है। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि पुण्य के कारणभूत शुभ अनुष्ठान की तरह पुण्य का फल भी आदरने योग्य है। अतः पुण्य-फल को एकान्त रूप से त्यागने योग्य बताना भारी भूल है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २६६ पर भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशा ७ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां नरक जाय ते जीवने, अर्थनो, राज्यनो, भोगनो, कामनो, कांक्षी (वांछणहार) श्री तीर्थंकर कह्यो। पिण अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वांछा करे, ते आज्ञा में नहीं। जिम अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वांछा ने सरावे नहीं। तिम पुण्यनी वांछा ने, स्वर्गनी वांछा ने पिण सरावे नहीं। 'पुण्ण कामए, सग्गकामए' ऐ पाठ कह्या माटे पुण्यनी वांछाने सराई कहे, तो तिणरे, लेखे स्वर्गनो कामी वांछक कह्यो। ते पिण स्वर्गनी वांछा सराई कहिणी।'

भगवतीसूत्र के उक्त पाठ का नाम लेकर पुण्य को त्याज्य बताना सर्वथा अनुचित है। भगवतीसूत्र में पुण्य को एकान्त त्याज्य नहीं कहा है। वह पाठ और उसकी टीका निम्न है—

तहारूवस्स समणस्स-माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म तओ भवइ संवेग जायसड्ढे तिव्व धम्माणुरागरत्ते। से णं जीवे धम्मकामए, पुण्णकामए, सग्गकामए, मोक्खकामए, धम्मकंखिए, पुण्णकंखिए, सग्गकंखिए, मोक्खकंखिए, धम्मपिपासिए, पुण्य-सग्ग-मोक्खपिपासिए, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तइप्पियकरणे, तब्भावणा-

भाविए एयंति णं अंतरंसि कालं करे देवलोगे उव्ववज्जइ से तेणट्ठे णं गोयमा!

—भगवतीसूत्र, १, ७, ६२

श्रमणस्य साधोः वा शब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमण-माहन वचनयोस्तुल्यत्व प्रकाशनार्थः। 'माहणस्स' त्ति मा हन इत्येवमादिशति स्वयं स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहनः। अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावत्। ब्राह्मणो देश विरतः तस्य वा अन्तिके समीपे एकमप्यास्तां तावदनेकं आर्य्यं आराद्यातं पापं कर्म इत्यार्य्यं अतएव धार्मिकं इति। तदनन्तरमेव, 'संवेग जाय सड्ढि' त्ति संवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा-श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तथा 'तीव्वधम्माणुरागरति' त्ति तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्म बहुमानस्तेन रक्त इव य स तथा। 'धम्मकामए' त्ति धर्मः श्रुतचारित्र लक्षणः। पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म इति।

हे गौतम! तथारूप के श्रमण-माहण के पास एक भी आर्य धर्म सम्बन्धी वचन सुनने से जीव को उसके बाद भी भवभय होने से धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त-सा हो जाता है। वह जीव धर्मकामी, पुण्यकामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्मपिपासु, पुण्यपिपासु, स्वर्गपिपासु, मोक्षपिपासु तथा उसमें चित्त, लेश्या, अध्यवसाय और तीव्र अध्यवसाय—प्रयत्न-विशेष वाला होता है। वह उक्त धर्मादि अर्थों में उपयोग रखता हुआ तथा उनमें अपनी इन्द्रियों को अर्पण करके, उनकी भावना से भावित-वासित होकर, यदि उस काल में मरता है, तो वह देवलोक में उत्पन्न होता है।

यहाँ तथारूप के श्रमण और माहण—श्रावक से आर्य धर्म सम्बन्धी एक भी सुवचन सुनने से जीव को वैराग्य, धर्मप्रेम तथा धर्म, पुण्य, स्वर्ग एवं मोक्ष में कामना आदि रखने से स्वर्ग प्राप्त करना बताया है। और तथारूप के श्रमण-माहण से धर्मवाक्य श्रवण करने से जीव को पुण्य-कामना का होना कहा है। यदि यह पुण्य-कामना अप्रशस्त है, तव तो तथारूप के श्रमण-माहण से सुवचन सुनना भी अप्रशस्त होगा। क्योंकि इस पाठ में उसके सुनने से ही जीव को पुण्य- कामना का होना कहा है। यदि तथारूप के श्रमण-माहण के सुवचन को सुनना प्रशस्त है, तव उस वाक्य के सुनने से उद्भूत होने वाली पुण्य-कामना भी अप्रशस्त नहीं, प्रशस्त ही होगी। टीकाकार ने पुण्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

'श्रुत और चारित्र को धर्म कहते हैं और उस श्रुत-चारित्र रूप धर्म का जो शुभकर्म रूप फल है, उसे पुण्य कहते हैं।'

धर्मः श्रुत–चारित्र लक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म।

जो व्यक्ति उस पुण्य को अप्रशस्त एवं एकान्त त्यागने योग्य बताता है, उसके मत से श्रुत–चारित्र धर्म भी अप्रशस्त सिद्ध होगा। क्योंकि यहाँ पुण्य को श्रुत–चारित्र रूप धर्म का फल कहा है। यदि वह पुण्य त्याज्य होगा, तो उसका कारण तथारूप के श्रमण–माहण से वचन का सुनना भी त्याज्य ठहरेगा। अतः उक्त पाठ का नाम लेकर पुण्य को सर्वथा त्याज्य बताना नितान्त असत्य है।

यदि यह कहें कि इस पाठ में आर्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनने से स्वर्ग–कामना होना भी लिखा है। अतः जैसे स्वर्ग–कामना प्रशस्त नहीं कही जा सकती, उसी तरह पुण्य–कामना को भी प्रशस्त नहीं कह सकते। यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि जो स्वर्ग–कामना मोक्ष की प्रतिबन्धक नहीं है, किन्तु उसमें सहायक है, उसी का यहाँ उल्लेख है, मोक्ष की प्रतिबन्धक स्वर्ग–कामना का नहीं। इस पाठ में पहले–पहल श्रमण–माहण के सुवाक्य को सुनने से जीव को वैराग्य उत्पन्न होना लिखा है। *तदनन्तर स्वर्ग–कामना का उल्लेख किया है। अतः यहाँ यह स्वर्ग–*कामना मोक्ष में सहायक समझनी चाहिए, विघ्नकारक नहीं। क्योंकि जिसे संसार से वैराग्य प्राप्त हो जाता है, वह मोक्षप्राप्ति में बाधक वस्तु की कामना नहीं करता। वह मोक्ष में सहायक वस्तु की अभिलाषा रखता है। अतः इस पाठ में जो स्वर्ग–कामना होने का कहा है, वह मोक्ष के अनुकूल होने से प्रशस्त है। वस्तुतः श्रमण–माहण का सुवचन सुनने से जो साधक के मन में वैराग्य उत्पन्न होता है, उससे उसके हृदय में धर्म–कामना, पुण्य–कामना स्वर्ग–कामना और मोक्ष–कामना होती है। वे सब प्रशस्त ही हैं, अप्रशस्त नहीं।

यहाँ टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रमण और माहण शब्दों के बाद, जो 'वा' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह विकल्प का बोधक नहीं है, किन्तु श्रमण से सुवाक्य सुना जाए या माहण से, दोनों से एक समान ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अस्तु, इस समानता को प्रकट करने के लिए यहाँ 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। श्रमण नाम साधु का है और स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त होकर जो दूसरे को नहीं मारने का उपदेश करता है, वह माहण कहलाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में टीकाकार ने जो यह लिखा है—श्रमण–माहण शब्द के साथ 'वा' शब्द जोड़ने का यह अभिप्राय रहा है कि भले ही धर्म सम्बन्धी वाक्य श्रमण से सुना जाए या माहण से, दोनों से एक समान मोक्ष–फल की प्राप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण और माहण दोनों एक नहीं, भिन्न–भिन्न हैं। इसलिए श्रमण और माहण दोनों का मात्र साधु अर्थ करना पूर्णतः गलत है।

भाविए एयंति णं अंतरंसि कालं करे देवलोगे उव्ववज्जइ से तेणट्ठे णं गोयमा!

—भगवतीसूत्र, १, ७, ६२

श्रमणस्य साधोः वा शब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रति श्रमण–माहन वचनयोस्तुल्यत्व प्रकाशनार्थः। 'माहणस्स' त्ति मा हन इत्येवमादिशति स्वयं स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्तत्वाद्यः स माहनः। अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावत्। ब्राह्मणो देश विरतः तस्य वा अन्तिके समीपे एकमप्यास्तां तावदनेकं आर्य्यं आराद्यातं पापं कर्म इत्यार्य्यं अतएव धार्मिकं इति। तदनन्तरमेव, 'संवेग जाय सड्ढि' त्ति संवेगेन भवभयेन जाता श्रद्धा–श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तथा 'तीव्वधम्माणुरागरति' त्ति तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्म बहुमानस्तेन रक्त इव य स तथा। 'धम्मकामए' त्ति धर्मः श्रुतचारित्र लक्षणः। पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म इति।

हे गौतम! तथारूप के श्रमण–माहण के पास एक भी आर्य धर्म सम्बन्धी वचन सुनने से जीव को उसके बाद भी भवभय होने से धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह तीव्र धर्मानुराग से अनुरक्त–सा हो जाता है। वह जीव धर्मकामी, पुण्यकामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकांक्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्मपिपासु, पुण्यपिपासु, स्वर्गपिपासु, मोक्षपिपासु तथा उसमें चित्त, लेश्या, अध्यवसाय और तीव्र अध्यवसाय—प्रयत्न–विशेष वाला होता है। वह उक्त धर्मादि अर्थों में उपयोग रखता हुआ तथा उनमें अपनी इन्द्रियों को अर्पण करके, उनकी भावना से भावित–वासित होकर, यदि उस काल में मरता है, तो वह देवलोक में उत्पन्न होता है।

यहाँ तथारूप के श्रमण और माहण—श्रावक से आर्य धर्म सम्बन्धी एक भी सुवचन सुनने से जीव को वैराग्य, धर्मप्रेम तथा धर्म, पुण्य, स्वर्ग एवं मोक्ष में कामना आदि रखने से स्वर्ग प्राप्त करना बताया है। और तथारूप के श्रमण–माहण से धर्मवाक्य श्रवण करने से जीव को पुण्य–कामना का होना कहा है। यदि यह पुण्य–कामना अप्रशस्त है, तब तो तथारूप के श्रमण–माहण से सुवचन सुनना भी अप्रशस्त होगा। क्योंकि इस पाठ में उसके सुनने से ही जीव को पुण्य– कामना का होना कहा है। यदि तथारूप के श्रमण–माहण के सुवचन को सुनना प्रशस्त है, तब उस वाक्य के सुनने से उद्भूत होने वाली पुण्य–कामना भी अप्रशस्त नहीं, प्रशस्त ही होगी। टीकाकार ने पुण्य शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—

'श्रुत और चारित्र को धर्म कहते हैं और उस श्रुत–चारित्र रूप धर्म का जो शुभकर्म रूप फल है, उसे पुण्य कहते हैं।'

धर्मः श्रुत–चारित्र लक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म।

जो व्यक्ति उस पुण्य को अप्रशस्त एवं एकान्त त्यागने योग्य बताता है, उसके मत से श्रुत–चारित्र धर्म भी अप्रशस्त सिद्ध होगा। क्योंकि यहाँ पुण्य को श्रुत–चारित्र रूप धर्म का फल कहा है। यदि वह पुण्य त्याज्य होगा, तो उसका कारण तथारूप के श्रमण–माहण से वचन का सुनना भी त्याज्य ठहरेगा। अतः उक्त पाठ का नाम लेकर पुण्य को सर्वथा त्याज्य बताना नितान्त असत्य है।

यदि यह कहें कि इस पाठ में आर्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनने से स्वर्ग–कामना होना भी लिखा है। अतः जैसे स्वर्ग–कामना प्रशस्त नहीं कही जा सकती, उसी तरह पुण्य–कामना को भी प्रशस्त नहीं कह सकते। यह कथन सत्य नहीं है। क्योंकि जो स्वर्ग–कामना मोक्ष की प्रतिबन्धक नहीं है, किन्तु उसमें सहायक है, उसी का यहाँ उल्लेख है, मोक्ष की प्रतिबन्धक स्वर्ग–कामना का नहीं। इस पाठ में पहले–पहल श्रमण–माहण के सुवाक्य को सुनने से जीव को वैराग्य उत्पन्न होना लिखा है। तदनन्तर स्वर्ग–कामना का उल्लेख किया है। अतः यहाँ यह स्वर्ग–कामना मोक्ष में सहायक समझनी चाहिए, विघ्नकारक नहीं। क्योंकि जिसे संसार से वैराग्य प्राप्त हो जाता है, वह मोक्षप्राप्ति में बाधक वस्तु की कामना नहीं करता। वह मोक्ष में सहायक वस्तु की अभिलाषा रखता है। अतः इस पाठ में जो स्वर्ग–कामना होने का कहा है, वह मोक्ष के अनुकूल होने से प्रशस्त है। वस्तुतः श्रमण–माहण का सुवचन सुनने से जो साधक के मन में वैराग्य उत्पन्न होता है, उससे उसके हृदय में धर्म–कामना, पुण्य–कामना स्वर्ग–कामना और मोक्ष–कामना होती है। वे सब प्रशस्त ही हैं, अप्रशस्त नहीं।

यहाँ टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रमण और माहण शब्दों के बाद, जो 'वा' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह विकल्प का बोधक नहीं है, किन्तु श्रमण से सुवाक्य सुना जाए या माहण से, दोनों से एक समान ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अस्तु, इस समानता को प्रकट करने के लिए यहाँ 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। श्रमण नाम साधु का है और स्थूल प्राणातिपात से निवृत्त होकर जो दूसरे को नहीं मारने का उपदेश करता है, वह माहण कहलाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में टीकाकार ने जो यह लिखा है—श्रमण–माहण शब्द के साथ 'वा' शब्द जोड़ने का यह अभिप्राय रहा है कि भले ही धर्म सम्बन्धी वाक्य श्रमण से सुना जाए या माहण से, दोनों से एक समान मोक्ष–फल की प्राप्ति होती है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण और माहण दोनों एक नहीं, भिन्न–भिन्न हैं। इसलिए श्रमण और माहण दोनों का मात्र साधु अर्थ करना पूर्णतः गलत है।

क्रिया-अधिकार

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३७४ पर आज्ञा-बाहर की करनी से पुण्य का निषेध करते हुए लिखते हैं—

'केतला एक अजाण आज्ञा बाहिरली करणी थी, पुण्य बन्धतो कहे, ते सूत्रना जाणणहार नहीं।'

आज्ञा-बाहिर की करणी से पुण्यबन्ध नहीं मानना आगम-ज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है। क्योंकि जो व्यक्ति जैन धर्म के निन्दक एवं मिथ्यादर्शन में श्रद्धा रखने वाले हैं, वे अपने माने हुए शास्त्रों के अनुसार अकाम निर्जरा आदि की क्रिया करते हैं, उनकी क्रिया जिन-आज्ञा में नहीं है, तथापि वे उस आज्ञा-बाहर की करनी से पुण्य बांधकर स्वर्ग में जाते हैं। यदि आज्ञा-बाहर की करनी से पुण्यबन्ध नहीं होता, तो वे स्वर्ग में कैसे जाते?

इस सम्बन्ध में भ्रमविध्वंसनकार मिथ्यादृष्टियों की अकाम निर्जरा को आज्ञा में बताते हैं और उसके आज्ञा में होने के कारण आज्ञा-बाहर की क्रिया से पुण्यबन्ध होने का निषेध करते हैं?

वीतराग-प्ररूपित धर्म में श्रद्धा न रखकर मिथ्यादर्शन में श्रद्धा रखने वाले अज्ञानी अकाम-निर्जरा आदि की जो करनी करते हैं, वह करनी यदि वीतराग-आज्ञा में हैं, तो फिर वे मिथ्यादृष्टि कैसे रह सकते हैं? क्योंकि जिन-आज्ञा का आराधक मिथ्यादृष्टि नहीं होता। अतः अकाम निर्जरा आदि की करनी करने वाले को मिथ्यादृष्टि मानना और उसकी करनी को जिन-आज्ञा में बताना परस्पर विरुद्ध एवं नितान्त असत्य है। अस्तु, आज्ञा-वाहर की करनी से पुण्य का वन्ध नहीं मानना, आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उववाईसूत्र में आज्ञा-वाहर की क्रिया करके स्वर्ग जाना कहा है—

से जे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु पव्वइया समणा भवंति, तं जहा—आयरिय पडिणिया, उवज्झाय पडिणिया, कुल पडिणिया, गण पडिणिया, आयरिय-उवज्झायाणं अजसकारगा, अवण्णकारगा, अकीत्ति कारगा, असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिणिवेसेहियं अप्पाणं च परं च

तदुभयं च वुग्गाहेमाणा बुप्पाएमाणा विहरित्ता बहुइं वासाइं सामण्ण परियागं पाउणंति तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा वा उक्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिव्विएसु देवकिव्विसियत्ताए उववत्तारो भवंति। तहिं तेसिं गती तेरससागरोवमाइं ठीति अणाराहगा सेसं तं चेव।

—उववाई सूत्र, ३८

आचार्य, उपाध्याय, कुल और गण के साथ वैरभाव रखने वाले, उनकी अवज्ञा, अकीर्ति तथा अपयश करने वाले कई नामधारी प्रव्रजित ग्राम यावत् सन्निवेश में रहते हैं। वे मिथ्यात्व के अभिनिवेश और असद्भाव की भावना से अपने-आप को, दूसरों को एवं दोनों को बुरे आग्रह में डालते हैं। वे असद्भावना के समर्थक वहुत काल तक अपनी प्रव्रज्या का पालन करके भी अपने दुष्कार्य की आलोचना नहीं करने से पापरहित नहीं होते। वे अपनी आयु समाप्त होने पर मरकर लंतक नामक देवलोक में किल्विषी देव होते हैं। वहाँ उनकी तेरह सागर की स्थिति होती है। वे परलोक सम्वन्धी भगवान् की आज्ञा के आराधक नहीं हैं।

प्रस्तुत पाठ में आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और संघ आदि की निन्दा करने वाले वीतराग-आज्ञा के अनाराधक अज्ञानी जीवों को आज्ञा-वाहर की क्रिया से स्वर्ग प्राप्त करना कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिन-आज्ञा के वाहर की क्रिया से पुण्य का वन्ध होता है। तथापि आज्ञा-वाहर की क्रिया से पुण्य-वन्ध होने का निषेध करके मिथ्यात्वी की अकाम निर्जरा आदि की क्रियाओं को जिन-आज्ञा में वताना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।

इस विषय का विस्तृत विवेचन मिथ्यात्व-अधिकार में पृष्ठ २५ से ३६ तक कर चुके हैं। अतः यहाँ पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते।

आस्रव-अधिकार
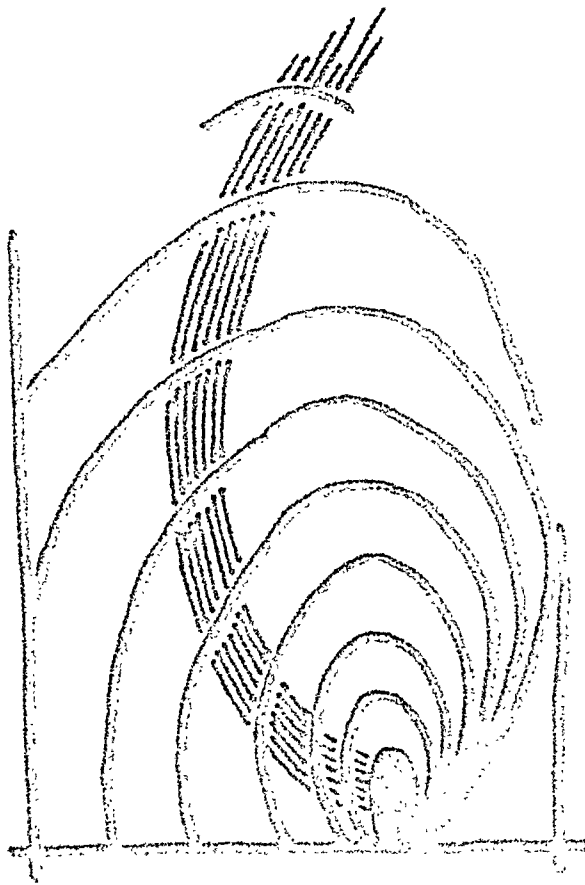
आस्रव का स्वरूप
जीव रूपी भी है
आस्रव रूपी-अरूपी दोनों है
जीव के परिणाम
द्रव्य और भाव
शरीर आत्मा से भिन्न है
जीवोदय-अजीवोदय-निष्पन्न
योग-प्रतिसंलीनता

आस्रव का स्वरूप

आस्रव किसे कहते हैं? वह जीव है या अजीव?

जिस क्रिया के द्वारा आत्मा रूपी तालाब में कर्म रूपी जल आता है, उसे आस्रव कहते हैं। वह जीव भी है और अजीव भी। स्थानांगसूत्र एवं उसकी टीका में टीकाकार ने आश्रव के लक्षण एवं भेद इस प्रकार बताए है—

एगे आसवे।

—स्थानांगसूत्र, स्थान १, १३

आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्मण्यात्मनीत्याश्रवः कर्मबन्धहेतुरितिभावः। स चेन्द्रियः कषायाव्रतक्रियायोगरूपः क्रमेण पंच चतुः पंच पञ्चविंशति त्रिभेदः। उक्तंच—

इंदिय कसाय अव्वय किरिया पण चउर पंच पणवीसा।
जोगा तिन्नेव भवे आसव भेआओ बायाला।।

इति तदेव मयं द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्य-भाव भेदात्। तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नावादौ तथाविधछिद्रैर्जलप्रवेशनम्। भावाश्रवस्तु यज्जीवनावीन्द्रियादि छिद्रतः कर्मजल संचय इति स चाश्रव सामान्यादेक एव।

जिसके द्वारा आत्मा में कर्म प्रविष्ट होते हैं, उसे आस्रव कहते हैं। अतः जो कर्मबन्ध का हेतु है, वह आस्रव है। पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच अव्रत, पचीस क्रिया, तीन योग—ये आस्रव के ४२ भेद हैं। छिद्रों के द्वारा नौका आदि में जल का प्रविष्ट होना, द्रव्य-आस्रव है। पूर्वोक्त ४२ भेदों के द्वारा जीव रूप नौका में कर्मरूपी जल का प्रविष्ट होना भाव-आस्रव है। सामान्यतः वह आस्रव एक प्रकार का है।

यहाँ टीकाकार ने भाव-आस्रव के ४२ भेद बताए हैं, इसमें २५ प्रकार की क्रियाएँ भी सम्मिलित हैं। ये क्रियाएँ केवल जीव की ही नहीं, अजीव की भी बताई हैं, इसलिए आस्रव अजीव भी है।

यहाँ इन्द्रियों को भी आस्रव बताया है। इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—द्रव्य और भाव-इन्द्रिय। द्रव्य-इन्द्रियाँ अजीव हैं और भाव-इन्द्रियाँ जीव। इसलिए भाव-इन्द्रिय रूप आस्रव भी जीव है। इस प्रकार आस्रव जीव और अजीव दोनों प्रकार का है।

आश्रव : एकान्त जीव नहीं है

स्थानांगसूत्र की टीका में आस्रव के भेदों में जो पचीस क्रियाएँ बताई हैं, वे कौन-सी हैं? वे अजीव की क्रियाएँ किस प्रकार मानी जाती हैं?

स्थानांगसूत्र में क्रिया के भेद बताते हुए लिखा है—

दो किरिआओ पण्णत्ताओ, तं जहा—जीव किरिया चेव, अजीव किरिया चेव।

तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारी जीव क्रिया, तथा अजीवस्य पुद्गल समुदायस्य यत्कर्मरूपतया परिणमनं सा अजीव क्रियेति।

क्रिया दो प्रकार की है—जीव की और अजीव की। जीव के व्यापार को जीव-क्रिया कहते हैं और पुद्गल समूह के कर्म रूप परिणमन होने को अजीव-क्रिया।

अजीव-क्रिया दो तरह की होती है—१. ऐर्यापथिकी और २. सांपरायिकी। प्रथम का कोई अवान्तर भेद नहीं होता, परन्तु दूसरी क्रिया के २४ भेद होते हैं। इस प्रकार ऐर्यापथिकी और २४ प्रकार की सांपरायिकी, ये २५ क्रियाएँ अजीव की कही हैं। स्थानांगसूत्र में क्रिया के भेद निम्न प्रकार से बताए हैं—

'पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काथिया, अहिगरणिया, पाओसिया, परितावणिया, पाणातिवाय किरिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—आरंभिया, परिग्गहिया, मायावत्तिया, अप्पच्चक्खाण किरिया, मिच्छादंसणवत्तिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाडुच्चिया, सामन्तोवणिवाइया, साहत्थिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—णेसत्थिया, आणवणिया वेयारणिया, अणाभोगवत्तिया, अणवकंखवत्तिया।

पंच किरियाओ पण्णत्ताओ, तं जहा—पेज्जवत्तिया, दोसवत्तिया, पयोगकिरिया, समदाणकिरिया, इरियावहिया।

—स्थानांगसूत्र, ५, २, ४१९

क्रिया पाँच प्रकार की है—१. कायिकी—शरीर से की जाने वाली, २. आधिकरणिकी—तलवार आदि शस्त्र से की जाने वाली, ३. प्राद्वेषिकी—मत्सर भाव से की जाने वाली ४. परितापनिकी—किसी जीव को परिताप देने से होने वाली, ५. प्राणातिपातिकी—हिंसा से होने वाली क्रिया।

क्रिया पाँच प्रकार की हैं—१. आरंभिकी—आरंभ से होने वाली, २. पारिग्रहिकी—परिग्रह से होने वाली, ३. मायाप्रत्यया—माया से होने वाली, ४. अप्रत्याख्यानिकी—प्रत्याख्यान नहीं करने से होने वाली, ५. मिथ्यादर्शन प्रत्यया—मिथ्यादर्शन से होने वाली।

क्रिया पाँच प्रकार की है—१. दिट्ठिया—घोड़े एवं चित्र आदि पदार्थों को देखने से उत्पन्न होने वाली क्रिया, २. पुट्ठिया—राग आदि के कारण किसी जीव या अजीव पदार्थ के स्पर्श करने एवं उसके संबंध में पूछने से होने वाली क्रिया, ३. पाडुच्चिया—किसी वस्तु के लिए की जाने वाली क्रिया, ४. सामन्तोवणिवाइया—अपने घोड़े आदि की प्रशंसा सुनकर हर्षवश की जाने वाली क्रिया, ५. साहत्थिया—अपने हाथ से किसी जीव को पकड़कर मारने से उत्पन्न होने वाली क्रिया।

क्रिया पाँच प्रकार की है—१. नेसत्थिया—किसी जीव को मंत्र आदि के द्वारा पीड़ित करने से होने वाली क्रिया, २. आणवणिया—किसी जीव या अजीव को किसी स्थान पर ले जाने से लगने वाली क्रिया, ३. वियारणिया—किसी जीव या अजीव को विदारण करने से लगने वाली क्रिया, ४. अणाभोगवत्तिया—उपकरणों को अविवेक से लेने-रखने से लगने वाली क्रिया, ५. अणवकंखवत्तिया—इहलोक या परलोक के बिगड़ने की अपेक्षा न रखने से लगने वाली क्रिया।

क्रिया पाँच प्रकार की होती है—१. राग प्रत्यया—राग से होने वाली क्रिया, २. द्वेष प्रत्यया—द्वेष से होने वाली क्रिया, ३. प्रयोग प्रत्यया—शरीर आदि के व्यापार से होने वाली क्रिया, ४. समुदान क्रिया—कर्मों के उपादान से होने वाली क्रिया और ५. ऐर्यापथिकी—योग से होने वाली क्रिया।

उक्त पचीस क्रियाओं में एक ऐर्यापथिकी और चौबीस सांपरायिकी है। ये सब आश्रव है। कर्मबन्ध के हेतु हैं। ये क्रियाएँ अजीव की कही है। अतः आश्रव अजीव है। यद्यपि उक्त सब क्रियाएँ जीव की सहायता से होती हैं। जीव के सहयोग के अभाव में कोई भी क्रिया नहीं होती। तथापि इनमें पुद्गलों के व्यापार की प्रमुखता होने के कारण इन्हें अजीव की क्रियाएँ कही हैं। इस सम्बन्ध में ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी क्रिया की व्याख्या करते हुए टीका में लिखा है—

इरणमीर्य्या गमनं तद्विशिष्टः पन्था इर्य्यापथस्तत्र भवा ऐर्य्यापथिकी। व्युत्पत्ति मात्रमिदं प्रवृत्ति निमित्तन्तु यत्केवल योग प्रत्ययमुपशान्त मोहादि त्रयस्य सातवेदनीय कर्मतया अजीवस्य पुद्गलराशेर्भवनं सा ऐर्य्यापथिकी। इह जीव व्यापारेऽपि अजीव प्रधानत्व विविक्षयाऽजीवक्रियेऽयमुक्ता तथा सम्परायाः कषायास्तेषुभवाः साम्परायिकी साह्यजीवस्य पुद्गलराशेः कर्मता परिणति रूपा जीव व्यापारस्या विवक्षणादजीव क्रियेति सा च सूक्ष्म संपरायान्तानां गुणस्थानक वर्त्ता भवतीति।

गमन करने की क्रिया को इर्या कहते हैं। इससे युक्त जो मार्ग है, वह इर्यापथ कहलाता है। उसमें जो क्रिया होती है उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। यह केवल व्युत्पत्ति मात्र है। प्रयोग की अपेक्षा से इसका अर्थ यह है—उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली, इन तीनों गुणस्थानों में योगों के कारण पुद्गल राशि का जो सात वेदनीय कर्म से परिणमन होता है, उसे ऐर्यापथिकी क्रिया कहते हैं। यह क्रिया भी जीव के व्यापार के बिना नहीं हो सकती, तथापि जीव के व्यापार की अपेक्षा इसमें पुद्गलों के व्यापार की प्रमुखता रहती है। इसलिए यहाँ जीव के व्यापार को गौण करके इसे अजीव की क्रिया कहा है। संपराय कषाय को कहते हैं, उससे जो क्रिया होती है, वह साम्परायिकी क्रिया है। इसमें भी जीव का व्यापार अवश्य होता है परन्तु अति अल्पता के कारण उस की विवक्षा न करके तथा पुद्गल की अधिकता होने से पुद्गलों के व्यापार की विवक्षा करके साम्परायिकी क्रिया को भी अजीव की क्रिया कहा है। यह क्रिया दशम गुणस्थान तक रहती है।

आगम एवं टीका में उक्त क्रियाओं को अजीव की क्रिया कहा है। इसलिए आश्रव एकान्त रूप से जीव नहीं है। इसके अतिरिक्त भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर ने अन्यतीर्थियों के मत का खण्डन करते हुए ६६ बोलों को और जीव को एक होना कहा है—

अण्णउत्थियाणं भन्ते! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति एवं खलु पाणाइवाए, मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। पाणाइवाय वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे, कोह विवेगे जाव मिच्छादंसणसल्ल विवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। उप्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। उप्पत्तियाए उग्गहे, इहा, अवाए, धारणाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया। उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमाणस्स जाव जीवाया। णेरइयत्ते, तिरिक्खि,

मणुस, देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया। णाणावरणिज्जे जाव अंतराए वट्टमाणस्स जाव जीवाया। एवं कण्ह लेस्साए जाव सुक्क लेस्साए, सम्मदिट्ठीए ३ एवं चक्खुदंसणे ४, अभिणिबोहियणाणे ५, मइ अण्णाणे ३, आहार सण्णाए ४, एवं ओरालिय सरीरे ५, एवं मण जोए ३, सागारोवयोगो, अणागारोवयोगो वट्टमाणस्स अण्णे जीवे, अण्णे जीवाया। से कहमेयं? भन्ते!

एवं गोयमा! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति जाव मिच्छं ते एवमाहंसु अहं पुन गोयमा! एवंमाइक्खामि जाव परुवेमि एवं खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादंसण सल्ले वट्टमाणस्स सचेवजीवे, सचेव जीवाया। जाव अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स सचेवजीवे, स चेव जीवाया।

—भगवतीसूत्र, १७, २, ५६६

हे भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं कि प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्यपर्यन्त बोलों में वर्तमान रहने वाले देहधारी का जीव भिन्न है और ये बोल उससे भिन्न हैं। इसी तरह १८ पापों के त्याग में, तीन शल्य, चार प्रकार की वुद्धि, अवग्रह आदि चार प्रकार की मति, उत्थान आदि ५ वीर्य के भेद, नरक आदि ४ गति, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, कृष्ण आदि ६ लेश्याएँ, चक्षुदर्शन आदि चार दर्शन, अभिनिबोधिक आदि ५ ज्ञान, मति अज्ञान आदि ३ अज्ञान, आहार आदि चार संज्ञाएँ, औदारिकी आदि पाँच शरीर, मन आदि तीन योग, साकार और अनाकार दो प्रकार के उपयोग, इन सवमें स्थित रहने वाले देहधारी का जीव भिन्न है और ये बोल उससे भिन्न हैं? हे भगवन्! आप इस विषय में क्या कहते हैं?

हे गौतम! अन्ययूथिकों का यह कथन मिथ्या है। ये ९६ बोल और जीव-आत्मा एक ही हैं, परन्तु एकान्त भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

प्रस्तुत पाठ में कथित ९६ बोलों को जीव कहा है। इनमें मन, वचन योग आदि आश्रव भी हैं। इस अपेक्षा से आस्रव कथंचित जीव भी हैं। स्थानांगसूत्र के पाठ में कथित क्रियाओं की अपेक्षा से आस्रव अजीव भी हैं। अतः आश्रव को एकान्त जीव मानना आगमसम्मत नहीं है।

पुण्य-पाप-बंध : एकान्त अजीव नहीं

भ्रमविध्वंसनकार और आचार्यश्री भीखणजी ने पुण्य, पाप और बन्ध को एकान्त रूपी और अजीव तथा आश्रव को एकान्त अरूपी और जीव कहा है। उन्होंने तेरह द्वार के छट्ठे द्वार में लिखा है—

'पुण्य ते शुभ कर्म, तेहने पुण्य कहीजे, तेहने अजीव कहीजे, तेहने बंध कहीजे। पाप ते अशुभ कर्म, तेहने पाप कहीजे, तेहने अजीव कहीजे, वन्ध कहीजे। कर्म ग्रह ते आस्रव कहीजे तेहने जीव कहीजे। जीव संघाते कर्म वंधाणा, ते बंध कहीजे, अजीव कहीजे।'

पुण्य, पाप एवं बंध को एकान्त अजीव कहना अनुचित है। क्योंकि ये तीनों तत्त्व जीव-आत्मा में दूध-पानी की तरह मिलकर एकाकार बने रहते हैं। इसलिए व्यवहार दशा में इन्हें जीव का लक्षण माना है और व्यवहारनय की अपेक्षा से इन तीनों को आगम में जीव कहा है। दूसरी बात यह है कि पुण्य, पाप एवं बन्ध रूप कर्म-प्रकृति से ही जीव को चार गति एवं पाँच जाति आदि की प्राप्ति होती है। इन्हें भगवतीसूत्र आदि में जीव कहकर संबोधित किया है। इसलिए शुभाशुभ कर्मों से आवृत आत्मा ही व्यवहार दशा में जीव कहलाता है। गति और जाति आदि जीव से भिन्न कहे जाते हों और जीव उनसे भिन्न कहा जाता हो, ऐसा नहीं है। अतः पुण्य, पाप एवं बंध व्यवहार दशा में जीव ही हैं, अजीव नहीं। इन्हें एकान्ततः अजीव कहना आगमसम्मत नहीं है।

जीव रूपी भी है

पुण्य, पाप एवं बन्ध रूपी हैं और जीव अरूपी अतः ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं?

व्यवहार दशा में जीव को भी रूपी कहा है। आगम में लिखा है—

देवे णं भन्ते! महिड्ढिए जाव महेस पुव्वामेव रूवी भवित्ता पभू, अरूवीं वि उ भवित्ताणं चिट्ठित्तए?

णो इणट्ठे–समट्ठे।

से केणट्ठे णं भन्ते! एवं वुच्चइ देवेणं जाव णो पभू अरूवीं वि उ अवित्ताणं चिट्ठित्तए?

गोयमा! अहमेयं जाणामि, अहमेयं पासामि, अहमेयं बुज्झामि अहमेयं अभिसमण्णागच्छामि। मए एयं णायं, मए एयं दिट्ठं, मए एयं बुद्धं, मए एयं अभिसमण्णागयं, जण्णं तहागयस्स जीवस्स सरूविस्स, सकम्मस्स, सरागस्स, सवेदणस्स, समोहस्स, सलेस्सस्स ससरीरस्स ताओ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पण्णायति, तं जहा—कालत्ते वा जाव सुक्किलत्ते वा, सुब्भिगंधत्ते वा, दुब्भिगंधत्ते वा, तित्तते वा जाव महुरत्ते वा, कक्खडत्ते वा, जाव लुक्खत्ते वा। से तेणट्ठे णं गोयमा! जाव चिट्ठित्तए।

—भगवतीसूत्र १७, २, ५६७

हे भगवन्! महेश नामक देव, जो विशाल समृद्धिशाली और शरीर आदि पुद्गलों के सम्बन्ध से रूपी है, वह अरूपी होकर रह सकता है या नहीं?

हे गौतम! यह संभव नहीं है।

इसका क्या कारण है?

हे गौतम! मैं इसे जानता हूँ, यावत् अनुभव करता हूँ। यह बात मेरे द्वारा जानी हुई यावत् अनुभव की हुई है। जो जीव मूर्तिमान है, सरागी है, सवेद है और जिसमें मोह तथा लेश्या विद्यमान है, जो शरीर से मुक्त नहीं हुआ है, उसमें ये बातें अवश्य पाई जाती हैं—यह काला है, यह शुक्ल है। इसमें दुर्गन्ध है या सुगन्ध

है। यह तिक्त है या मधुर है। यह कर्कश है या रुक्ष है इत्यादि। जिसमें उक्त बातें पाई जाती हैं, वह रूपी बना रहता है, अरूपी नहीं।

इस पाठ में भगवान् ने सराग, समोह एवं सलेशी जीव को रूपी कहा है। इसलिए व्यवहार दशा में सरागी जीव रूपी है। जब सरागी जीव रूपी है, तब पुण्य, पाप एवं बन्ध इन रूपी पदार्थों के साथ उनका अभेद व्यवहार होने में सन्देह को अवकाश ही नहीं है। जो व्यक्ति पुण्य, पाप एवं बन्ध को रूपी होने के कारण जीव से एकान्त भिन्न मानते हैं, वे आगम के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं।

इस पाठ से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आस्रव एकान्त अरूपी नहीं है। क्योंकि यहाँ सराग, समोह एवं सलेशी जीव को रूपी कहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि आश्रव भी रूपी है। जब जीव भी रूपी है, तब जीव स्वरूप आस्रव भी रूपी क्यों नहीं होगा? अतः आस्रव को एकान्ततः जीव मानकर, उसे एकान्ततः अरूपी कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

आस्रव अजीव भी है

क्या पुण्य, पाप एवं बन्ध अजीव नहीं हैं?

पुण्य, पाप और बन्ध व्यवहार दशा में जीव और निश्चयनय के अनुसार अजीव हैं। इसलिए इन्हें एकान्ततः जीव या अजीव कहना मिथ्या है। वस्तुतः ये कथंचित् जीव और कंथचित् अजीव हैं।

यदि भ्रमविध्वंसनकार का व्यवहारनय से नहीं, किन्तु निश्चयनय से पुण्य, पाप एवं बन्ध को अजीव कहने का अभिप्राय हो, तो इसमें क्या आपत्ति है?

यदि भ्रमविध्वंसनकार का यह अभिप्राय हो कि पुण्य, पाप एवं बन्ध निश्चय-नय से अजीव हैं, व्यवहारनय से नहीं, तो उनके कथन में कोई दोष नहीं है। परन्तु पुण्य, पाप एवं बन्ध को एकान्त अजीव कहना मिथ्या है। यही बात आस्रव के सम्बन्ध में भी है। यदि भ्रमविध्वंसनकार उसे एकान्त रूप से जीव और अरूपी न कहें, तो फिर कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु वे आस्रव को एकान्ततः अरूपी और जीव कहते हैं, जब कि आगम में आस्रव को न एकान्त जीव कहा है और न अजीव, किन्तु उसे जीव और अजीव दोनों प्रकार का कहा है।

मिथ्यात्व, कषाय और योग आस्रव माने जाते हैं। मिथ्यात्व, कषाय और मन, वचनयोग को चतुस्पर्शी और काययोग को अष्टस्पर्शी पुद्गल माना है। अतः मिथ्यात्व, कषाय एवं योग जीव नहीं है। इसलिए आस्रव एकान्ततः जीव नहीं हो सकता। यदि कोई व्यक्ति आस्रव को एकान्ततः अजीव कहता है, तो वह भी गलत है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि को भी आस्रव कहा है और वह मिथ्यादृष्टि अरूपी एवं जीव का परिणाम है। इससे आस्रव जीव भी सिद्ध होता है। अतः आश्रव को

एकान्त रूप से जीव या अजीव अथवा एकान्त रूप से रूपी या अरूपी कहना आगमसम्मत नहीं है।

आस्रव जीव भी है

भ्रमविध्वंसनकार ने स्थानांग स्थान ५ का पाठ लिखकर उसके आधार से आस्रव को एकान्त रूपी एवं एकान्त जीव सिद्ध किया है।

स्थानांगसूत्र के उक्त पाठ से आस्रव एकान्त जीव और एकान्त अरूपी सिद्ध नहीं होता—

पंच आसव दारा पण्णत्ता तं जहा—मिच्छत्त, अविरई, पमादो, कसाया, जोगा।

—स्थानांगसूत्र, ५, २, ४१८

आस्रव द्वार के पाँच भेद हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

प्रस्तुत पाठ में आस्रव द्वार के भेदों का वर्णन है। इसमें यह नहीं बताया कि आस्रव जीव है या अजीव। अतः इस पाठ का प्रमाण देकर आस्रव को एकान्त जीव या अरूपी कहना सर्वथा गलत है।

भगवतीसूत्र, श. १२, उ. ५ में मिथ्यात्व को चतुस्पर्शी पुद्गल कहा है। अतः मिथ्यात्व आस्रव एकान्त जीव कैसे हो सकता है? इस पाठ से तो आस्रव अजीव सिद्ध होता है। दूसरा आस्रव द्वार अव्रत है। अठारह पापों से बिल्कुल नहीं हटना अव्रत है। अठारह पापों को चतुस्पर्शी पुद्गल माना है। मोह से उत्पन्न हुई कर्म प्रकृतियाँ प्रमाद और कषाय आस्रव हैं। इसलिए ये भी चतुस्पर्शी पुद्गल हैं। पाँचवा आस्रव द्वार योग है। वह तीन प्रकार का है—मन, वचन और काययोग। मन और वचनयोग को चतुस्पर्शी और काययोग को अष्टस्पर्शी बताया है। इस तरह पाँचों आस्रव अजीव सिद्ध होते हैं। अतः स्थानांगसूत्र के उक्त पाठ का नाम लेकर आस्रव को एकान्त जीव या अरूपी बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

तीन दृष्टियाँ

भ्रमविध्वंसनकार ने तीन दृष्टियों का नाम लेकर मिथ्यात्व आस्रव को एकान्त जीव और अरूपी बताया है।

आगम में तीनों दृष्टियों को अरूपी और मिथ्यादर्शनशल्य को रूपी कहा है—

अह भन्ते! पेज्जे, दोसे, कलहे जाव मिच्छादंसणसल्ले एस णं कइ वण्णे ४?

जहेव कोहे तहव चउफासे।

—भगवतीसूत्र, १२, ५, ४४६

प्रस्तुत पाठ में मिथ्यादर्शनशल्य को चार स्पर्श वाला पुद्गल कहा है। अतः मिथ्यात्व आश्रव रूपी एवं अजीव भी है। इसलिए उसे एकान्त अरूपी एवं जीव कैसे कह सकते हैं?

भगवतीसूत्र के उक्त पाठ में मिथ्यादर्शन शल्य को रूपी एवं अजीव कहा है, परन्तु वह आश्रव नहीं है। आस्रव तो केवल मिथ्यादृष्टि है और वह अरूपी एवं जीव है। इसलिए मिथ्यादर्शन शल्य के रूपी होने पर, आस्रव रूपी कैसे होगा?

स्थानांगसूत्र में आस्रव द्वार के भेद बतलाते हुए, 'मिच्छते' शब्द का प्रयोग किया है, इसका अर्थ है मिथ्यात्व। मिथ्यात्व से मिथ्यादृष्टि एवं मिथ्यादर्शनशल्य दोनों का ग्रहण होता है। अतः इससे केवल मिथ्यादृष्टि का ग्रहण करना और मिथ्यादर्शनशल्य को ग्रहण नहीं करना अप्रामाणिक है। क्योंकि मिथ्यादर्शनशल्य भी आश्रव है और वह रूपी है, इसलिए मिथ्यात्व आश्रव को एकान्त अरूपी बताना गलत है।

आस्रव के सम्बन्ध में आचार्यश्री भीखणजी एवं भ्रमविध्वंसनकार ने कई बातें परस्पर विरुद्ध कही हैं। उन्होंने आस्रव को उदय भाव में माना है और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम भाव में। अतः इनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि आस्रव ही नहीं हो सकता। क्योंकि मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम भाव में है और आस्रव उदय भाव में। ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? अतः आचार्यश्री भीखणजी की यह प्ररूपणा पूर्वापर विरुद्ध है—

'आस्रव दोय—उदय और पारिणामिक। मोहनीय कर्म नो क्षयोपशम होय ते आठ बोल पामे—चार चारित्र, एक देश व्रत और तीन दृष्टि।' इस प्रकार आस्रव को उदय भाव में और मिथ्यादृष्टि को क्षयोपशम भाव में मान कर भी मिथ्यादृष्टि को आस्रव मानना इनके अविवेक का ज्वलन्त उदाहरण है। अस्तु इनकी अपनी मान्यता से भी आस्रव एकान्त जीव एवं अरूपी सिद्ध नहीं होता है।

आस्रव रूपी-अरूपी दोनों है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३०९ पर उत्तराध्ययनसूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां पाँच आस्रव ने कृष्ण लेश्या ना लक्षण कह्या, ते माटे जे कृष्ण लेश्या अरूपी, तो तेहना लक्षण पाँच आस्रव पिण अरूपी छै।'

कृष्ण लेश्या संसारी जीव का परिणाम है और संसारी जीव को भगवतीसूत्र श. १७, उ. २ में रूपी भी कहा है। इस अपेक्षा से कृष्ण लेश्या रूपी भी सिद्ध होती है। अतः इसके लक्षण पाँच आस्रव भी रूपी हो सकते हैं। संसारी जीव रूपी भी है, इस विषय में भगवतीसूत्र, श. १७, उ. २ के अतिरिक्त उक्त आगम में अन्य स्थान पर भी लिखा है—

जेऽविय ते खंदया! जाव सअंते जीवे, अणंते जीवे। तस्स वि य णं अयमट्ठे एवं खलु जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते। खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढ़े अत्थि पुण से अन्ते। कालओ णं जीवे न कयावि, न आसी जाव णिच्चे णत्थि पुण से अन्ते। भावओ णं जीवे अणंता णाण पज्जवा, अणंता दंसण पज्जवा, अणंता चरित्त पज्जवा, अणंता गुरु-लहु पज्जवा, अणंता अगुरुलहु पज्जवा णत्थि पुण से अन्ते। से तं दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ जीवे अणंते।

—भगवतीसूत्र, २, १, ९०

'हे स्कन्दक! जीव सान्त है या अनन्त? तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव द्रव्य से एक और सान्त है। क्षेत्र से असंख्य प्रदेशी और असंख्य आकाश प्रदेश को अवगाढ़ किए हुए है, अतः वह सान्त है। काल से जीव अनन्त है, क्योंकि वह सब काल में विद्यमान रहता है, उसका कभी भी अभाव नहीं होता। भाव से जीव अनन्त है, क्योंकि जीव के अनन्त ज्ञान पर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्र पर्याय, अनन्त गुरु-लघु पर्याय, अनन्त अगुरु-अलघु पर्याय होते

हैं, अतः भाव से जीव अनन्त है। निष्कर्ष यह है कि द्रव्य और क्षेत्र से जीव सान्त है और काल एवं भाव से अनन्त है।

इस पाठ में जीव के अनन्त गुरु–लघु पर्याय और अनन्त अगुरु–अलघु पर्याय होना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसारी जीव रूपी भी है। क्योंकि अरूपी पदार्थ के लघु–गुरु एवं अगुरु–अलघु पर्याय नहीं हो सकते। इस पाठ की टीका में भी इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है—

अनन्ता गुरुलघु पर्य्याया औदारिकादिशरीराण्याश्रित्य इतरे तु कार्मणादि द्रव्याणि जीव स्वरूपं चाश्रित्येति।

औदारिकादि शरीर की अपेक्षा से जीव के अनन्त गुरु–लघु पर्याय कहे हैं और कर्मणादि द्रव्य तथा जीव के स्वरूप की अपेक्षा अनन्त अगुरु–अलघु पर्याय कहे हैं।

इससे जीव का रूपी होना भी सिद्ध होता है। यद्यपि निश्चयनय से स्व–स्वरूपापन्न जीव रूपी नहीं, अरूपी है। तथापि इस पाठ में उसका वर्णन न करके संसारी जीव का वर्णन किया है। संसारी जीव औदारिक शरीर के साथ दूध–पानीवत् एकाकार हो रहा है, इसलिए इस पाठ में उसके अनन्त गुरु–लघु और अनन्त अगुरु–अलघु पर्यायों का वर्णन है। कृष्ण लेश्या भी संसारी जीवों का परिणाम है और संसारी जीवों को यहाँ रूपी भी कहा है। इसलिए कृष्ण लेश्या रूपी भी है, उसे एकान्त अरूपी कहना नितान्त असत्य है।

उक्त पाठ में संसारी जीव का औदारिक शरीर के साथ अभेद होना भी सिद्ध होता है। औदारिकादि शरीर पुण्य, पाप एवं बन्ध की प्रकृति माना गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पुण्य, पाप एवं बन्ध भी कथंचित जीव हैं। अतः इन्हें जीव से सर्वथा भिन्न मानना गलत है।

कर्म की शुभाशुभ प्रकृतियों को भी पुण्य, पाप एवं बन्ध कहते हैं। और वह कर्म प्रकृति चारस्पर्शी पौद्गलिक है, इसलिए वह रूपी है और जीव से कथंचित अभिन्न है। अतः उसे जीव से एकान्त भिन्न मानना उचित नहीं है।

मिथ्यात्व, कषाय और मन एवं वचनयोग को चारस्पर्शी और काययोग को आठस्पर्शी पुद्गल कहा है। इससे ये रूपी एवं अजीव भी सिद्ध होते हैं। वस्तुतः आस्रव एक अपेक्षा से जीव और अरूपी भी है और दूसरी अपेक्षा से अजीव एवं रूपी भी। अतः उसे एकान्ततः अरूपी और जीव मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

क्रियाएँ

मिथ्यात्व आस्रव को एकान्त जीव कहना भ्रमविध्वंसनकार का दुराग्रह मात्र

है। उनका यह कथन उनके सिद्धान्त के भी विपरीत है। हम स्थानांगसूत्र के पाठ से यह सिद्ध कर चुके हैं कि ऐर्यापथिकी एवं साम्परायिकी ये दोनों अजीव की क्रियाएँ हैं और साम्परायिकी क्रिया के भेदों में मिथ्यात्व एवं अव्रत भी सम्मिलित हैं, इसलिए मिथ्यात्व एवं अव्रत की क्रिया भी अजीव की क्रिया है। इन्हें एकान्त जीव की क्रिया मानना आगम के प्रतिकूल है।

आगम में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया को जीव की क्रिया भी कहा है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए टीका में लिखा है—

सम्यग्दर्शन-मिथ्यात्वयोः सतोर्यैभवतस्ते सम्यक्त्व-मिथ्यात्वक्रियेति।

—स्थानांगसूत्र, २, ६० टीका

सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन के होने पर जो क्रिया की जाती है, वह सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शन एवं मिथ्यादर्शन के होने पर जो क्रिया की जाती है—भले ही वह जीव की हो या पुद्गल की, दोनों को सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व की कहा है। परन्तु केवल जीव की क्रिया को ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया नहीं कहा है। वास्तव में ज्ञान एवं जीव को छोड़कर शेष सब क्रियाएँ जीव और पुद्गल दोनों के व्यापार से होती हैं, कोई भी इच्छा के व्यापार को छोड़कर नहीं हो सकतीं। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रिया में जीव के व्यापार की मुख्यता होती है, तो किसी में अजीव के व्यापार की। साम्परायिकी एवं एर्यापथिकी में अजीव के व्यापार की प्रमुखता होने से, उन्हें अजीव की क्रिया कहा है। इसी तरह सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व की क्रिया में भी अजीव का व्यापार रहता ही है। परन्तु उसमें उसकी अपेक्षा जीव के व्यापार की प्रधानता रहती है, इसलिए उन्हें जीव की क्रिया कहते हैं। ज्ञान एवं इच्छा के अतिरिक्त शेष सब क्रियाओं में जीव और पुद्गल दोनों का व्यापार होता है। आस्रव क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनों की है इसलिए आस्रव जीव भी है, और अजीव भी।

आस्रव : उदय भाव में है

भ्रमविध्वंसनकार स्थानांगसूत्र स्थान १० के पाठ का प्रमाण देकर आस्रव को एकान्त जीव बताते हैं।

स्थानांगसूत्र का उक्त पाठ लिखकर हम अपना अभिमत प्रकट कर रहे हैं—

अधम्मे धम्म सन्ना, धम्मे अधम्म सन्ना।

—स्थानांगसूत्र, १०, १, ७३४

अधर्म में धर्म का और धर्म में अधर्म का ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

यहाँ विपरीत ज्ञान के स्वरूप को समझाते हुए लिखा है—धर्म को अधर्म समझना एवं अधर्म को धर्म, यह अज्ञान है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि आस्रव जीव है। इस पाठ में कथित विपरीत ज्ञान क्षयोपशम भाव में है और आस्रव उदय भाव में। यह हम पहले बता चुके हैं कि आचार्यश्री भीखणजी ने भी आस्रव को उदय भाव में माना है। अतः उदय भाव में होने वाला आस्रव विपरीत ज्ञान या अज्ञान की तरह एकान्त रूप से जीव नहीं हो सकता। क्योंकि आस्रव मोहकर्म के उदय भाव में माना गया है। मोहकर्म चारस्पर्श वाला पुद्गल है। अतः आस्रव भी चारस्पर्शयुक्त पुद्गल है। उसे एकान्त जीव मानना गलत है।

भ्रमविध्वंसनकार भगवती, शतक १७, उद्देशा २ के पाठ के आधार पर आस्रव को एकान्तरूपेण जीव बताते हैं।

परन्तु उनका यह कथन आगम से विपरीत है। भगवतीसूत्र का उक्त पाठ इसी प्रकरण में पृष्ठ ४८२–४८३ पर लिखकर हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि आस्रव एकान्त जीव नहीं है। प्रस्तुत पाठ में ६६ बोलों का उल्लेख किया गया है। उसमें १८ पाप भी सम्मिलित हैं। उन्हें और जीव–आत्मा को कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न भी कहा है। अतः अठारह पाप कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं। उन्हें जीव से एकान्त भिन्न मानना आगम से सर्वथा विपरीत है।

जीव के परिणाम

आगम में कहीं रूपी अजीव को जीव का परिणाम कहा हो तो वताएँ?

स्थानांगसूत्र में रूपी अजीव को जीव का परिणाम कहा है—

दसविहे जीव परिणामे पण्णत्ते, तं जहा—गति परिणामे, इन्दिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सा परिणामे, जोग परिणामे, उवओग परिणामे, णाण परिणामे, दंसण परिणामे, चरित्त परिणामे, वेय परिणामे।

—स्थानांगसूत्र, १०, ७१३

जीव-परिणाम दस प्रकार के हैं—१. गति, २. इन्द्रिय, ३. कषाय, ४. लेश्या, ५. योग, ६. उपयोग, ७. ज्ञान, ८. दर्शन ६. चारित्र और १०. वेद परिणाम।

परिणमनं परिणामस्तद्भावगमनमित्यर्थः, यदाह—
परिणामोह्यर्थान्तर गमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्टः।।

स च प्रायोगिकः गतिरेव परिणामो गति परिणाम एवं सर्वत्र गतिश्चेह-गतिनामकर्मोदयान्नारकादि व्ययदेशहेतुः। तत्परिणामश्च भवक्षयादिति स च नरक गत्यादिश्चतुर्विधः गतिपरिणामे च सत्येवेन्द्रिय परिणामो भवतीति तमाह 'इन्द्रियपरिणामे' त्ति स च श्रोत्रादि भेदात्पंचधा इन्द्रियपरिणतौ चेष्टानिष्ट विषय सम्बन्धाद्रागद्वेष परिणतिरिति। तदनंतरं कषायपरिणाम उक्तः स च क्रोधादिभेदाश्चतुर्विधः। कषाय परिणामे च सति लेश्या परिणतिर्न तु लेश्या परिणतौ कषाय परिणतिः येन क्षीण कषायस्यापि शुक्ललेश्या परिणतिर्देशोन पूर्व कोटिं यावद् भवति मुहूर्तम्—

मुहुत्तद्धं तु जहन्ना, उक्कोसा होइ पुव्व कोडिओ।
अट्ठहिं वरिसेहिं उणा, नायव्वा सुक्कलेस्सा ए।।

शुक्ललेश्याया जघन्या स्थितिः मुहूर्त्तार्धं नववर्षोना पूर्व कोटि उत्कृष्टा ज्ञातव्या भवति अतो लेश्या परिणाम उक्तः। स च कृष्णादि भेदात् षोढेति। अयञ्च योग परिणामे सति भवति यस्मान्निरुद्धयोगस्य लेश्या परिणामोऽपैति यतः समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमलेश्यस्य भवतीति लेश्या परिणामानन्तरं योगपरिणाम उक्तः, स च मनोवाक्काय भेदात् त्रिधेति। संसारिणाञ्च योगपरिणतावुपयोग परिणतिर्भवतीति तदनन्तरमुपयोग परिणाम उक्तः स च साकारानाकार भेदात् द्विधेति। सति चोपयोग परिणामे ज्ञानपरिणामोऽतस्तदनंतरमसावुक्तः स चाभिनिबोधिकादि भेदात्पञ्चधा। तता मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमित्यज्ञान परिणामो—मत्यज्ञान–श्रुताज्ञान–विभंगज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेष ग्रहण साधर्म्याद् ज्ञान परिणाम ग्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्यः इति। ज्ञानाज्ञान परिणामे च सति सम्यक्त्वादि परिणतिरिति ततो दर्शनपरिणामः उक्तः स च त्रिधा सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, मिश्र भेदात्। सम्यक्त्वे सति चारित्रमिति ततस्तत्परिणाम उक्तः। स च सामायिकादि भेदात्पञ्चधेति। स्त्र्यादि वेद परिणामे चारित्र परिणामो न तु चारित्र परिणामे वेद परिणतिर्यस्मादवेदकस्य यथाख्यातचारित्र परिणतिर्दृष्टा इति चारित्र परिणामान्त्तरं वेद परिमाम उक्तः। स च स्त्र्यादि भेदात् त्रिविध इति।

—स्थानांगसूत्र, १०, ७१३ टीका

रूपान्तर प्राप्ति को परिणाम कहते हैं। कहा भी है कि न तो सर्वथा स्वरूप में स्थित रहना और न सर्वथा नाश होना, परन्तु अपने से भिन्न किसी अन्य रूप को प्राप्त करना परिणाम है। जीव की पर्यायों का दूसरे रूप में परिणित होना जीव–परिणाम है। वह गति आदि के भेद से दस प्रकार का है। गति रूप जो जीव का परिणाम है, वह गति–परिणाम है। इसी तरह अन्य सभी परिणामों में समझना चाहिए। गति नामकर्म के उदय से नरक आदि व्यवहार का कारण जो जीव का परिणाम होता है, वह गति–परिणाम है। यह परिणाम जब तक भव का क्षय नहीं होता, तब तक बना रहता है। यह नरक आदि के भेद से चार प्रकार का होता है। गति–परिण्णाम के बाद इन्द्रिय–परिणाम आता है। इसलिए उक्त पाठ में गति के बाद इन्द्रिय–परिणाम कहा है। श्रोत्र आदि के भेद से इन्द्रिय–परिणाम पाँच प्रकार का होता है। इन्द्रिय–परिणाम होने के बाद इष्ट और अनिष्ट वस्तु के सम्बन्ध से राग और द्वेष रूप परिणाम होता है। इसलिए इन्द्रिय के बाद कषाय–परिणाम को कहा है। यह क्रोध आदि के भेद से चार प्रकार का होता है। कषाय–परिणाम होने पर लेश्या–परिणाम होता है। अतः कषाय के बाद लेश्या–परिणाम कहा है।

क्योंकि जिसके योग रुक जाते हैं, उसे लेश्या नहीं होती। इसलिए लेश्या के बाद योग-परिणाम कहा है। वह मन, वचन और काययोग के भेद से तीन प्रकार का है। संसारी जीवों को योग-परिणाम होने पर उपयोग-परिणाम होता है। इसलिए इसके बाद उपयोग-परिणाम कहा है। वह साकार और अनाकार भेद से दो प्रकार का है। उपयोग-परिणाम होने के बाद ज्ञान-परिणाम होता है। इसलिए इसके बाद उसे कहा है। वह आभिनिबोधिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। मिथ्यादृष्टियों के मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान एवं विभंग ज्ञान भी ज्ञान-परिणाम से ग्रहण किए जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान रूप परिणाम होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि परिणाम होते हैं। इसलिए ज्ञान-परिणाम के बाद दर्शन-परिणाम कहा है, वह सम्यक्त्व, मिथ्यात्व एवं मिश्र के भेद से तीन प्रकार का है। सम्यक्त्व-परिणाम के बाद चारित्र-परिणाम होता है, इसलिए इसके बाद उसे कहा है। वह सामायिक आदि के भेद से पाँच प्रकार का है। वह चारित्र-परिणाम, वेद-परिणाम होने पर होता है, परन्तु चारित्र-परिणाम होने पर वेद-परिणाम होने का नियम नहीं है। क्योंकि वेदपरिणतिरहित जीव में यथाख्यात चारित्र देखा जाता है। अतः चारित्र-परिणाम के अनन्तर वेद-परिणाम कहा है। वेद-परिणाम स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद के भेद से तीन प्रकार का है।

यहाँ मूल पाठ एवं उसकी टीका में जीव के दस प्रकार के परिणाम कहे हैं। उनमें ज्ञान, दर्शन और चारित्र-परिणाम तो एकान्त अरूपी एवं जीव है। और गति, कषाय, योग एवं वेद परिणाम रूपी तथा अजीव हैं। गति, कषाय, योग और वेद आत्मा के साथ क्षीर-नीर न्यायवत् एकाकार-से दिखाई देते हैं। इसलिए उन्हें जीव का परिणाम कहा है। यहाँ जो गति-परिणाम है, वह गतिमान कर्म के उदय से प्राप्त होने वाली नरक आदि चार गति में समझना चाहिए। टीकाकार ने भी लिखा है—

गतिश्चेह गतिनामकर्मोदयान्नारकादि व्यपदेशहेतुः।

गति नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले नरक आदि व्यवहार का कारण यहाँ गति समझना चाहिए।

नरक आदि चार गति रूपी है और अजीव भी, तथापि उन्हें यहाँ जीव का परिणाम कहा है। इससे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि रूपी और अजीव भी जीव का परिणाम होता है।

द्रव्य और भाव

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३१४ पर स्थानांगसूत्र, स्थान १० के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'इहां तो गति परिणाम ने भावे गति ने जीव कही। भाव इन्द्रिय, भाव कषाय, भाव योग, भाव वेद, ये सर्व जीवना परिणाम छै।' इनके कहने का अभिप्राय यह है कि गति नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली नरक आदि चार गतियाँ अजीव हैं, वे जीव का परिणाम नहीं हो सकती। इसलिए स्थानांगसूत्र के पाठ में जो गति आदि परिणाम कहे हैं, वे भावरूप गति आदि समझने चाहिए, द्रव्य-रूप नहीं। इसी तरह द्रव्य-इन्द्रिय, द्रव्य-कषाय, द्रव्य-योग और द्रव्य-वेद भी अजीव हैं, वे कदापि जीव के परिणाम नहीं हो सकते। अतः वे भी भावरूप ही जीव के परिणाम समझने चाहिए, द्रव्यरूप नहीं।

स्थानांगसूत्र के स्थान १० के पाठ में गति, कषाय और इन्द्रिय आदि को जीव का परिणाम बताया है, इसका अभिप्राय भाव-गति, भाव-कषाय एवं भाव-इन्द्रिय बताकर द्रव्य-गति, द्रव्य-कषाय और द्रव्य-इन्द्रिय को जीव का परिणाम नहीं मानना आगम एवं उसकी टीका से सर्वथा विरुद्ध है।

टीकाकार ने नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली गति को जीव का परिणाम बताया है, अतः भाव-गति को जीव का परिणाम मानकर द्रव्य-गति को जीव का परिणाम नहीं मानना साम्प्रदायिक दुराग्रह मात्र है।[1]

दूसरी वात यह है कि रूपी-अरूपी सिद्ध करने के लिए द्रव्य और भाव की कल्पना व्यर्थ है। द्रव्य होने के कारण कोई वस्तु रूपी नहीं होती और भाव होने से अरूपी नहीं हो जाती। यदि द्रव्य होने से रूपी की कल्पना की जाए तो धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य और काल-द्रव्य भी रूपी मानने पड़ेंगे, क्योंकि ये सब द्रव्य हैं। यदि भाव होने मात्र से किसी को अरूपी माना जाए, तो यह भी उपयुक्त नहीं है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावरूप हैं। उन्हें औदयिक भावों में गिना गया है। परन्तु वे चार स्पर्श वाले रूपी हैं। निष्कर्ष यह रहा कि कई द्रव्य भी अरूपी हैं और

---

१. सद्धर्म मण्डनम् पृष्ठ ४६४ देखें।

कई भाव भी रूपी होते हैं। ऐसी स्थिति में भ्रमविध्वंसनकार अरूपी सिद्ध करने के लिए, जो भाव की कल्पना करते हैं, वह सर्वथा असंगत है एवं इससे यह स्पष्ट होता है कि वे आगम के यथार्थ अर्थ से अनभिज्ञ हैं।

पुद्गल और जीव के परिणाम

गति, कषाय और योग चार स्पर्श एवं आठ स्पर्श वाले पुद्गल हैं। पुद्गल जीव नहीं, अजीव हैं। फिर गति, कषाय और योग को जीव का परिणाम कैसे माना?

गुरु-लघु पर्याय अष्टस्पर्शी एवं अगुरु-अलघु पर्याय चार स्पर्शयुक्त पुद्गल हैं। तथापि जीव के साथ एकाकार होकर रहने से इन्हें भगवतीसूत्र, श. २, उ. १ में जीव का पर्याय कहा है। उसी तरह जीव के साथ संयुक्त होकर, एकाकार होकर रहने से स्थानांगसूत्र में गति आदि को जीव का परिणाम कहा है।

यहाँ भाव-जीव के अनन्त गुरु-लघु एवं अनन्त अगुरु-अलघु पर्याय बताए हैं। गुरु-लघु और अगुरु-अलघु क्रमशः अष्टस्पर्शी एवं चतुःस्पर्शी पुद्गल हैं। तथापि जीव के साथ तदाकार होकर रहने से, जैसे इन्हें भाव-जीव का पर्याय कहा है, उसी प्रकार दूध-पानीवत् जीव के साथ एकाकार होकर रहने से गति आदि को जीव का परिणाम कहा है। अतः गति आदि को भावरूप मान कर द्रव्य-गति को जीव का परिणाम नहीं मानना उचित नहीं है।

जीव की पर्याय

आगम में मनुष्य जीव के वर्ण, गंधादि पर्याय भी बताए हैं—

मणुस्सा णं भन्ते! केवइया पज्जवा पण्णत्ता?

गोयमा! अणन्ता पज्जवा पण्णत्ता।

से केणट्ठे, णं भन्ते! एवं वुच्चइ मणुस्सा णं अणंता पज्जवा पण्णत्ता?

गोयमा! मणुस्से मणुस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले, पएसट्ठयाए तुल्ले, ओगाहणट्ठयाए चउट्ठाणवडिए, ठीए चउट्ठाणवडिए, वन्न-गंध-रस-फास-आभिणिबोहियणाण, ओहिणाण, मनपज्जवणाण, केवल णाण पज्जवेहिं तुल्लेहिं, तिहिं दंसणेहिं छट्ठाण वडिए, केवल दंसण पज्जवेहिं तुल्ले।

—[illegible]

इस पाठ में मनुष्य जीव के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पर्याय कहे हैं, ये सब [illegible] एवं पौद्गलिक हैं। तथापि क्षीर-नीरवत् जीव के साथ मिश्रित होने से इन्हें

[illegible]

जीव का पर्याय कहा है। उसी तरह स्थानांगसूत्र में जीव के साथ मिले हुए होने से गति आदि को जीव का परिणाम कहा है।

आगम में आत्मा को रूपी-अरूपी उभय प्रकार का कहा है—

कइ विहा णं भन्ते! आया पण्णत्ता?

गोयमा! अट्ठ विहा आया पण्णत्ता, तं जहा—दविआया, कसायाया, जोगाया, उवयोगाया, णाणाया, दंसणाया, चरित्ताया, वीरियाया।

—भगवतीसूत्र, १२, १०, ४६७

हे भगवन्! आत्मा कितने प्रकार का है?

हे गौतम! आत्मा आठ प्रकार का है—१. द्रव्यात्मा, २. कषाय आत्मा, ३. योग आत्मा, ४. उपयोग आत्मा, ५. ज्ञान आत्मा, ६. दर्शन आत्मा, ७. चारित्र आत्मा, ८. वीर्य आत्मा।

यहाँ आत्मा को आठ प्रकार का कहा है। इसमें कषाय और योग क्रमशः चार एवं आठ स्पर्श वाले पुद्गल हैं। दोनों रूपी हैं। इसलिए इस अपेक्षा से आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। कषाय और योग रूपी है, इसलिए कषाय आश्रव एवं योग आस्रव भी रूपी है।

कषाय और योग-आत्मा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३१५ पर लिखते हैं—

'ते माटे कषाय अने योग आत्मा कही ते भाव कषाय, भाव योग ने कह्या छै। भाव कषाय तो आश्रव छै।'

भगवती, श. १२, उ. १० के पाठ में सामान्य रूप से कषाय एवं योग-आत्मा का उल्लेख किया है। वहाँ भाव-कषाय एवं भाव-योग आत्मा का उल्लेख नहीं किया है। अतः भाव-कषाय और भाव-योग को आत्मा मानकर द्रव्य-कषाय और द्रव्य-योग को आत्मा नहीं मानना भ्रमविध्वंसनकार का दुराग्रह मात्र है। उक्त पाठ की टीका एवं टब्बा अर्थ में यह नहीं लिखा है कि भाव-कषाय एवं भाव-योग ही आत्मा है। और अन्य किसी स्थान पर भी कषाय और योग-आत्मा का द्रव्य एवं भाव भेद नहीं किया है। अतः इन्हें केवल भावरूप मानना युक्तिसंगत नहीं है।

शरीर आत्मा से भिन्न है

भगवतीसूत्र, श. १२, उ. १० में भाव-आत्मा के आठ भेद कहे हैं, द्रव्य-आत्मा के नहीं। भाव-आत्मा अरूपी है, इसलिए कषाय और योग भी भावरूप से ही आत्मा के भेद हैं, द्रव्य-कषाय योग नहीं। भावरूप कषाय और योग अरूपी है, इसलिए कषाय-आश्रव और योग-आस्रव भी रूपी नहीं, अरूपी है। अतः भ्रमविध्वंसनकार ने भावरूप कषाय और योग को जो आत्मा के भेद माने हैं, उसे यथार्थ मानने में क्या आपत्ति है?

भगवतीसूत्र, श. १२, उ. १० में आत्मा मात्र के आठ भेद कहे हैं, केवल भाव-आत्मा के नहीं। वहाँ द्रव्य और भाव का कोई उल्लेख नहीं है। अतः आत्मा के आगमोक्त आठ भेद भाव-आत्मा के हैं, यह कल्पना निर्मूल है। यदि आपके मतानुसार भगवतीसूत्र-कथित आत्मा के आठ भेद भाव-आत्मा के मान लें, तो योग नामक तीसरा भेद व्यर्थ सिद्ध होगा। क्योंकि तेरापंथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्यश्री भीखणजी ने योग को वीर्यरूप माना है—

योग वीर्य तणो व्यापार, तिणसूं अरूपी छै भाव जीव।

भ्रमविध्वंसनकार ने भी भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३१६ पर लिखा है—'अने उत्थान, कर्म, बल-वीर्य, पुरुषाकार-पराक्रम फोडवे, तेहिज भाव योग छै।'

इस प्रकार इन्होंने भाव-योग को वीर्यस्वरूप माना है। वीर्य-आत्मा को आत्मा का आठवाँ भेद माना है। अतः जब आत्मा का वीर्य-आत्मा भेद कह दिया गया, तब पुनः योग नामक भेद करने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि वीर्य में भाव-योग भी गतार्थ हो जाता है। अस्तु इनका भाव-योग को आत्मा का अलग से भेद मानना और द्रव्य-योग को नहीं मानना आगम से सर्वथा विपरीत है। क्योंकि आगम में संसारी आत्मा का शरीर के साथ कथंचित् अभेद बताया है—

आया भन्ते! काया, अण्णे काया?

गोयमा! आया वि काए, अण्णे वि काए।

रूवी भन्ते! काए, अरूवी काए?

गोयमा! रूवी वि काए, अरूवी वि काए।।

—भगवतीसूत्र, १३, ७, ४९५

हे भगवन्! आत्मा शरीर से भिन्न है या शरीरस्वरूप?

हे गौतम! वह कथंचित् शरीरस्वरूप भी है और उससे भिन्न भी।

हे भगवन्! काया रूपी है या अरूपी?

हे गौतम! वह रूपी भी है और अरूपी भी।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

आया भन्ते! काए' इत्यादि। आत्मा कायः कायेन कृतस्यानुभवनान्नह्यनेनकृतमन्योऽनुभवत्यकृताभ्यागमप्रसंगात्। अथान्य आत्मनः कायः कायैकदेशच्छेदेऽपि संवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः! उत्तरन्तु आत्माऽपिकायः कथंचित्तदव्यतिरेकात् क्षीर-नीरवत्, अग्नययःपिण्डवत्, काञ्चनौपलवद्वा अतएव कायस्पर्शे सत्यात्मनः संवेदनं भवति। अतएव कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यते अत्यन्त भेदे वाऽकृताभ्यागम प्रसंग इति। 'अण्णे वि काए' त्ति अत्यन्ता भेदे हि शरीरांशच्छेदे जीवांशच्छेदे प्रसंगः तथा च संवेदनस्यासंपूर्णतास्यात् तथा शरीर दाहे आत्मनोऽपि दाहेन परलोकाभाव प्रसंग इत्यतः कथंचिदन्योऽप्यात्मानः काय इति। अन्यैस्तु कार्मण कायमाश्रित्यात्मा काय इति व्याख्यातम्। कार्मण कायस्य संसार्य्यात्मनश्च परस्परा-व्यभिचारित्वेनैकरूपत्वात्। 'अण्णे वि काए' त्ति औदारिकादिकायापेक्षया जीवादन्यः कायः तद्विमोचण्णेन तद्भेदसिद्धेरिति। 'रूवी काए' त्ति रूप्यपि कायः औदारिकादि कायस्थूल रूपापेक्षया। अरूप्यपि कायः कार्मण कायस्याति सूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्व विवक्षणात्।

आत्मा शरीर रूप है, क्योंकि शरीर से कृतकार्य का आत्मा को अनुभव होता है। यदि आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न होता, तो उसे शरीर के द्वारा कृत-कार्य का बोध ही नहीं होता। क्योंकि स्व से सर्वथा भिन्न अन्य के द्वारा कृतकार्य का उसे अनुभव नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा शरीरस्वरूप है।

आत्मा शरीर से भिन्न है, क्योंकि शरीर के किसी अवयव का विच्छेद होने पर भी ज्ञान का विच्छेद नहीं होता। यदि आत्मा और शरीर में भिन्नता नहीं होती, तो शरीर के किसी अवयव के नष्ट होने पर, ज्ञान का भी पूर्ण रूप से उदय नहीं होता। अतः आत्मा शरीर से भिन्न भी है। ये दो परस्पर विरोधी विचार देखकर आत्मा और शरीर के भेद-अभेद का प्रश्न पूछा गया है। इसका समाधान

यह है कि आत्मा किसी अपेक्षा से शरीर स्वरूप भी है। क्योंकि दूध और जल, आग और लोहपिंड एवं मिट्टी और स्वर्ण की तरह आत्मा शरीर के साथ एकाकार होकर रहता है। अतः शरीर का स्पर्श होने पर आत्मा को उसका ज्ञान होता है और शरीर द्वारा कृतकार्य का आत्मा को जन्मान्तर में फल मिलता है। यदि शरीर के साथ आत्मा का अत्यन्त भेद हो, तो शरीर के कर्म का फल आत्मा को कदापि नहीं मिल सकता। क्योंकि दूसरे के कृतकर्म का फल अन्य को नहीं मिलता। अतः आत्मा कथंचित् शरीर से भिन्न है।

यदि आत्मा के साथ शरीर का सर्वथा अभेद सम्बन्ध माना जाए, तो शरीर के किसी अवयव के नष्ट होने पर आत्मा का भी अंशरूप से नाश होना मानना पड़ेगा। आत्मा का अंशरूप से नाश होना मानने पर ज्ञान का पूर्ण रूप में उदय नहीं हो सकता। और शरीर के जलने पर आत्मा का भी जलकर भस्म होना मानना पड़ेगा। इससे आत्मा के परलोक का अभाव होगा। अतः आत्मा कथंचित् शरीर से भिन्न भी है।

किसी अन्य टीकाकार ने आत्मा का कार्मण शरीर के साथ अभेद मानकर 'आया वि काए' इस सूत्र की व्याख्या की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है—'संसारी आत्मा और कार्मण शरीर क्षीर-नीरवत् मिले हुए होने से अभिन्न-से प्रतीत होते हैं, इसलिए यहाँ आत्मा को शरीर-स्वरूप कहा है। आत्मा औदारिकादि शरीर का त्याग कर देता है, इसलिए उसे उक्त शरीर से पृथक् मानकर आत्मा को शरीर से भिन्न कहा है।' औदारिकादि शरीर रूपी है, इस अपेक्षा से काया रूपी कहा है। कार्मण शरीर का रूप अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए उस रूप की अविवक्षा करके काया को अरूपी कहा है।

प्रस्तुत पाठ एवं उसकी टीका में आत्मा को शरीर से कथंचित् अभिन्न भी स्वीकार किया है। इस अपेक्षा से संसारी आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। जब संसारी आत्मा अपेक्षा विशेष से रूपी है, तब रूपयुक्त कषाय एवं योग उसके भेद क्यों नहीं हो सकते? अतः भाव-कषाय एवं योग को आत्मा का भेद मानकर द्रव्य-कषाय एवं योग को आत्मा का भेद स्वीकार नहीं करना आगम की मान्यता को अस्वीकार करना है।

अनुयोगद्वारसूत्र में कषाय एवं योग की उत्पत्ति कर्मोदय से बताई है। अतः कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले पदार्थ न एकांत जीव हैं और न एकान्त अजीव। वे कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव उभय प्रकार के होते हैं। अतः कषाय एवं योग को एकान्त जीव या एकान्त अजीव बताना आगम सम्मत नहीं है।

आगम में मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय एवं योग को कहीं जीव और कहीं अजीव कहा है। जहाँ जीवांश की प्रधानता है, वहाँ जीव और जहाँ पुद्गलांश की मुख्यता है, वहाँ अजीव कहा है। परन्तु उसे एकान्त रूप से जीव या अजीव नहीं कहा है।

जीवोदय-अजीवोदय-निष्पन्न

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३१७ पर अनुयोगद्वारसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां उदय रा तो भेद कह्या—उदय अने उदयनिष्पन्न। उदय ते आठ कर्म प्रकृतिनो उदय। अने उदय निष्पन्न रा दोय भेद—जीव उदय निष्पन्न अने अजीव उदय निष्पन्न।' इसके आगे लिखते हैं—'इहाँ तो चौड़े चार कषाय, मिथ्यादृष्टि, अव्रत, योग या सर्वा ने जीव कह्या छै, ते माटे सर्व आस्रव छै। इण न्याय आस्रव जीव छै।'

अनुयोगद्वार में जीवांश की मुख्यता की अपेक्षा से मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत एवं योग को जीवोदय-निष्पन्न कहा है। परन्तु आगमकार के कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि ये एकान्त जीव ही हैं। इनमें पुद्‌गलों का सर्वथा अभाव है। क्योंकि कार्य कारण के अनुरूप ही होता है। मिट्टी से मिट्टी का ही घड़ा बनेगा, स्वर्ण का नहीं। आठ प्रकार की कर्म प्रकृतियों का उदय चतुःस्पर्शी पौद्‌गलिक माना गया है। अतः उनसे उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी चार स्पर्श वाले होंगे, न कि उनसे सर्वथा भिन्न एकान्त अरूपी एवं अपौद्‌गलिक। मिथ्यात्व, कषाय, अव्रत एवं योग अष्टकर्म-प्रकृतियों के उदय से उत्पन्न होते हैं। अतः वे अपने कारण के अनुरूप चतुःस्पर्शी पौद्‌गलिक एवं रूपी हैं। तथापि जीवांश की प्रमुखता की अपेक्षा से आगम में इन्हें जीवोदय-निष्पन्न भी कहा है। इसलिए इन्हें एकान्ततः अरूपी एवं जीव मानना गलत है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

ननु यथा नरकत्वादयः पर्य्यायाः जीवे भवन्तीति जीवोदय-निष्पन्ने औदयिके पठ्यन्ते एवं शरीराण्यपि जीवे एव भवन्तीति तान्यपि तत्रैव पठनीययानिस्युः किमिति अजीवोदय-निष्पन्ने अधीयन्ते? अस्त्येतत् किन्त्वौदारिकादि शरीरनामकर्मोदयस्य मुख्यतया शरीर पुद्‌गलष्वेव विपाक दर्शनात् तन्निष्पन्न औदयिको भावः शरीर लक्षणेऽजीवे एव प्राधान्य दर्शित इत्यदोषः।

जैसे जीव में नरक आदि पर्याय होते हैं। इसलिए वे जीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव में कहे गए हैं। उसी तरह शरीर भी जीव में ही उत्पन्न होता है, इसलिए उसे भी जीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव में बताना चाहिए। उसे अजीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव में क्यों कहा?

यह कथन युक्तिसंगत है। परन्तु औदारिक आदि शरीर नामकर्म के उदय का विपाक मुख्य रूप से शरीर पुद्‌गलों में देखा जाता है, इसलिए शरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए भाव को भी पौद्‌गलिक प्रधानता के कारण शरीर को अजीव में बताया है। इसलिए इसमें कोई दोष नहीं है।

यहाँ टीकाकार ने शरीर को अजीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव में कहने का कारण यह बताया है—'यद्यपि शरीर भी जीवोदय-निष्पन्न औदयिक भाव कहा जा सकता है, तथापि उसमें पुद्‌गलांश की प्रधानता होने से उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा है।'

इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगम में जीवांश की प्रधानता की अपेक्षा से जीवोदय-निष्पन्न और पुद्‌गलांश की प्रमुखता के कारण अजीवोदय-निष्पन्न कहा है। परन्तु इन्हें एकान्त जीव या अजीव नहीं कहा है। अस्तु जीवोदय-निष्पन्न पदार्थों में जीवांश की एवं अजीवोदय-निष्पन्न में पुद्‌गलांश की प्रधानता समझनी चाहिए। परन्तु जीवोदय-निष्पन्न में पुद्‌गलांश का और अजीवोदय-निष्पन्न में जीवांश का सर्वथा अभाव नहीं है। अतः जीवोदय-निष्पन्न को एकान्त अजीव बताना सर्वथा अनुचित है।

ज्ञान अरूपी है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३२० पर अनुयोगद्वारसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अने भाव संयोग जे ज्ञानादिकनां भला भाव ने संयोगे तथा क्रोधादिक मोह भाव ने संयोग नाम ते भावसंयोग कह्या। तिहां भाव क्रोधादिक नें संयोगे क्रोधी, मानी, मायी, लोभी कह्यो। ते माटे ए ज्ञानादिक ने भाव कह्या ते जीव छै। तिम भाव क्रोधादिक पिण जीव छै। एतले भाव क्रोधादिक चार कह्या। ते जीव ना भाव छै, ते कषाय आस्रव छै। ते माटे कषाय आस्रव ने जीव कही जे।'

यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ को भावरूप कहा है, तथापि ये सिर्फ आत्मा के ही धर्म नहीं हैं। क्योंकि सिद्ध आत्मा में इनका सर्वथा अभाव है। ये केवल पुद्‌गलों के भी धर्म नहीं हैं। क्योंकि आत्म-संसर्ग से रहित पुद्‌गलों में भी इनका सद्भाव नहीं पाया जाता। अतः ये पुद्‌गल संसर्ग विशिष्ट आत्मा के धर्म हैं। पुद्‌गल संसर्ग विशिष्ट आत्मा रूपी, संसारी, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि

से युक्त माना गया है। इसलिए उसके धर्म क्रोधादि भाव भी एकान्त अरूपी नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि क्रोधादि भावकर्मो के उदय से उत्पन्न होते हैं। कर्म रूपवान है, इसलिए उनसे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव भी रूपवान हैं, एकान्त अरूपी नहीं।

यदि कोई ज्ञानादि गुण का दृष्टान्त देकर क्रोधादि भाव को एकान्त अरूपी कहे, तो उसका यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञानादि गुण कर्मोदय से नहीं, किन्तु कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से प्रकट होते हैं और सिद्ध जीवों में भी पाए जाते हैं। इसलिए ज्ञानादि गुण रूपी एवं आत्मा के मौलिक गुण हैं। परन्तु क्रोधादि भाव ऐसे नहीं हैं। वे कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं और सिद्ध आत्मा में नहीं होते। इसलिए वे ज्ञानादि गुण के समान एकान्त अरूपी नहीं हो सकते।

यदि भावरूप कहे जाने के कारण क्रोधादि भाव को एकान्त अरूपी कहें, तो यह कथन सत्य नहीं है। हम इसी प्रकरण में पृष्ठ ४९६ पर यह स्पष्ट कर चुके हैं कि कोई भी पदार्थ भावरूप होने मात्र से एकान्ततः अरूपी नहीं होता और द्रव्य- रूप होने मात्र से वह एकान्ततः रूपी नहीं हो जाता है।

सावद्य-योग

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३२१ पर अनुयोगद्वारसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ भाव लाभ रा दोय भेद कह्या—प्रशस्त भाव नो लाभ ते ज्ञान, दर्शन, चरित्र नो, अने अप्रशस्त माठा भाव नो लाभ—क्रोध, मान, माया, लोभ नो लाभ। इहां क्रोधादि ने भाव लाभ कह्या। ते माटे ए भाव क्रोधादि ने भाव कषाय कहीजे। ते भाव कषाय ने कषाय आस्रव कहीजे। तथा अनुयोगद्वारसूत्र में इम कह्यो—सावज जोग विरइ ते सावद्य योग निवर्ते ते सामायक। इहां योगों ने सावद्य कह्या। अने अजीव ने तो सावद्य पिण न कहीजे, निरवद्य पिण न कहीजे। सावद्य-निरवद्य तो जीव ने इज कहीजे। इहां योगों ने सावद्य कह्या ते माटे ए भावयोग जीव छै। अने योग आस्रव छै। इण न्याय योग आश्रव ने जीव कहीजे।'

अनुयोगद्वारसूत्र में क्रोध, मान, माया और लोभ के लाभ को अप्रशस्त भाव का लाभ कहा है। जिसके कारण भ्रमविध्वंसनकार इन्हें अरूपी बताते हैं, परन्तु हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि भावरूप होने से कोई पदार्थ अरूपी एवं द्रव्यरूप होने से रूपी नहीं हो जाता है। किन्तु अपने कारण के अनुरूप उसका कार्य होता है। क्रोध, मान, माया एवं लोभ कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं, इसलिए अपने कारण के अनुरूप से रूपी एवं पौद्गलिक हैं। यदि ये एकान्त रूप से रूपी एवं पौद्गलिक

नहीं है, तो फिर इन्हें आत्मा का मूलगुण मानना होगा एवं सिद्धों में भी इनका सद्भाव मानना होगा। क्योंकि आत्मा के मौलिक गुणों का कभी नाश नहीं होता। जैसे ज्ञानादिगुण आत्मा के मौलिक गुण हैं। अतः जीव के सिद्ध होने पर भी आत्मा में विद्यमान रहते हैं। उसी तरह क्रोधादि को भी सिद्ध आत्मा में मानना होगा। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार को भी यह मान्य नहीं है। अतः कर्मोदय से उत्पन्न क्रोध आदि भाव पौद्गलिक हैं, एकान्त अरूपी नहीं। इन्हें जो आत्मा का गुण कहा है, वह पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्मा का गुण कहा है, शुद्ध आत्मा का नहीं। क्योंकि क्रोधादि भाव आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं। ये पुद्गल और आत्मा के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले वैभाविक गुण हैं। इसलिए ये एकान्त जीव एवं एकान्त अरूपी नहीं हो सकते। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं और ये पुद्गल के संसर्ग से उत्पन्न नहीं होते। इनके प्रकट होने का कारण कर्मों का क्षय, उपशम एवं क्षयोपशम होना है, कर्मोदय नहीं। अतः ज्ञानादि गुण एकान्त जीव एवं अरूपी हैं। परन्तु इनका दृष्टान्त देकर कर्मोदय से उत्पन्न क्रोधादि भावों को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

इसी तरह सावद्य को एकान्त अरूपी और जीव बताना भी गलत है। सूत्रकृतांगसूत्र में १२ प्रकार की सांपरायिकी एवं ऐर्यापथिकी, इन १३ क्रियाओं को अजीव कहा है और भ्रमविध्वंसनकार ने भी भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३१० पर स्थानांगसूत्र के पाठ का प्रमाण देकर इन क्रियाओं को अजीव क्रिया स्वीकार किया है। ये तेरह क्रियाएँ सावद्य मानी गई हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि अजीव भी सावद्य होता है। आगम में उक्त क्रियाओं को सावद्य बताया है—

एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिए।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, १२, २८

साम्परायिकी क्रिया के लिए भी यह पाठ आया है। इसमें साम्परायिकी एवं ऐर्यापथिकी क्रिया को सावद्य बताया है। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि सावद्य रूपी एवं अजीव भी है। उसे एकान्त अरूपी एवं जीव मानना आगमसम्मत नहीं है।

योग-प्रतिसंलीनता

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३२२ पर उववाईसूत्र के मूल पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ अकुशल मन ते माठा मन ने रुंधवो कह्यो। कुशल मन प्रवर्ताववो कह्यो। इम वचन पिण कह्यो। अकुशल मन रुंधवो कह्यो, ते अजीव ने किम रुंधे? पिण ए तो जीव छै।' इनके कहने का भाव यह है कि योग-प्रतिसंलीनता नामक तप में प्रयुक्त योग एकान्त अरूपी और जीव है, इसलिए आस्रव एकान्त अरूपी और जीव है।

उववाईसूत्र के पाठ में मन, वचन के समान काय-योग का भी उल्लेख किया है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने काय-योग के पाठ को छोड़ दिया है। क्योंकि काय-योग प्रत्यक्षतः रूपी एवं अजीव है और वह भी योग-प्रतिसंलीनता नामक तप में कहा गया है। अतः इसमें प्रयुक्त योग को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना गलत है। इसके सम्बन्ध में उववाई में लिखा है—

से किं तं मणजोग पडिसंलीनया?

अकुसलस्स मण णिरोहो वा कुसलमण उदीरणं वा से तं मण जोग पडिसंलीणया।

से किं तं वययोग पडिसंलीनया?

अकुशल वय णिरोहो वा कुशल वय उदीरणं वा से तं वयजोग पडिसंलीणया।

से किं तं काय जोग पडिसंलीनया?

जण्णं सुसमाहिय पाणिए कुम्मो इव गुत्तिंदिए सव्वगाय-पडिसंलीने चिट्ठइ से तं कायजोग पडिसंलीणया।

—उववाईसूत्र

हे भगवन्! मनयोग-प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?

अकुशल मन को रोकना और कुशल मन को प्रवृत्त करना मनयोग-प्रतिसंलीनता है।

वचनयोग-प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?

अकुशल वचन को रोकना और कुशल वचन को प्रवृत्त करना, वचनयोग-प्रतिसंलीनता है।

काययोग-प्रतिसंलीनता किसे कहते हैं?

हाथ-पैर आदि अवयवों को सुसमाहित रखना तथा कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों एवं अवयवों को रोककर रखना, काययोग-प्रतिसंलीनता है।

यहाँ अकुशल मन, वचन एवं काय-योग का निरोध करना—रोकना और कुशल मन आदि योग को प्रवृत्त करने को योग-प्रतिसंलीनता तप कहा है। परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने लिखा है—'अजीव ने किम रुंधे? पिण ए जीव छै।' यदि अजीव को नहीं रोका जा सकता, तो इस पाठ में अकुशल काय-योग का निरोध करना क्यों कहा? क्योंकि शरीर एवं इन्द्रियों को तो भ्रमविध्वंसनकार भी एकान्त रूप से रूपी एवं अजीव मानते हैं। यदि अजीव होने पर भी शरीर एवं इन्द्रियों का निरोध किया जा सकता है, तो फिर मन एवं वचन-योग भी अजीव होने मात्र से क्यों नहीं रोके जा सकते?

दूसरी बात यह है कि आगम में वचन-योग को रूपी एवं अजीव कहा है—

आया भन्ते! भासा, अण्णा भासा?
गोयमा! णो आया भासा, अण्णा भासा।
रूवी भन्ते! भासा, अरूवी भासा?
गोयमा! रूवी भासा, णो अरूवी भासा।

—भगवतीसूत्र, १३, ७, ४९३

हे भगवन्! भाषा—वचन आत्मा है या अन्य है?

हे गौतम! वह आत्मा नहीं, आत्मा से भिन्न है।

हे भगवन्! भाषा रूपी है या अरूपी?

हे गौतम! वह रूपी है, अरूपी नहीं।

इसी तरह मन के विषय में लिखा है—

आया भन्ते! मणे, अण्णे मणे?
णो आया मणे, अण्णे मणे।

—भगवतीसूत्र, १३, ७, [illegible]

हे भगवन्! मन आत्मा है या उससे भिन्न है?

हे गौतम! वह आत्मा नहीं, आत्मा से भिन्न है।

इस प्रकार प्रस्तुत पाठ में मन और वचन को आत्मा से भिन्न एवं रूपी कहा है। अतः उनके योग भी रूपी एवं अजीव हैं। मन, वचन और काय-योग को एकान्त अरूपी एवं जीव मानकर आस्रव को एकान्त अरूपी एवं जीव कहना बिलकुल गलत है। भाव-मन एवं भाव-वचन की युक्ति लगाकर भी आस्रव को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना सत्य नहीं है।

नौ पदार्थ

आश्रव को जीव और अजीव उभयरूप कहीं कहा हो तो बताएँ?

स्थानांगसूत्र की टीका में आस्रव को जीव और अजीव दोनों माना है—

'नव सब्भावे' त्यादि सद्भावेन परमार्थेनानुपचाररेणेत्यर्थः पदार्थाः वस्तूनि नवसद्भावपदार्थास्तद्यथा जीवाः सुख-दुःख ज्ञानोपयोग लक्षणाः। अजीवास्तद्विपरीताः। पुण्यं शुभप्रकृतिरूपं कर्म, पापं तद्विपरीतं कर्मैव। आश्रूयते गृह्यते कर्माऽनेनेत्याश्रवः शुभाऽशुभकर्मादानहेतुरिती भावः। संवर आश्रव निरोधो गुप्त्यादिभिः। निर्जरा विपाकात्तपसा वा कर्मणां देशतः क्षपणा। बन्धः आश्रवैरात्तस्य कर्मणः आत्मना संयोगः। मोक्षः कृत्स्न कर्मक्षयादात्मनः स्वात्मान्य-धिष्ठानम्। ननु जीवाजीवा व्यतिरिक्ता पुण्यादयो न संत्ति तथा युज्यमानत्वात् तथाहि पुण्य-पापे कर्मणी बन्धोऽपि तदात्मक एव। कर्म च पुद्गल परिणामः पुद्गलांश्चाजीवा इति। आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामोजीवस्य स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्यकोऽन्यः। संवरोऽपि आश्रव निरोधलक्षणो देशसर्वभेदादात्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः। निर्जरा तु कर्म परिशाटो जीवः, कर्मणां यत्पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या। मोक्षोऽप्यात्मा समस्त कर्म विरहित इति। तस्माज्जीवाजीवौ सद्भाव पदार्था इति वक्तव्यम् अतएवोक्तमिहैव—'यदत्थिं च णं लोए तं सव्वं दुप्पडोयारं तं जहा—जीवच्चेव, अजीवच्चेव' अथोच्यते सत्यमेतत्, किन्तु द्वावेव जीवाजीव पदार्थों सामान्येनोवतौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्ताविति।

—स्थानांगसूत्र, ६, ६६५ टीका

पदार्थ नौ प्रकार के हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. निर्जरा, ८. बन्ध और ६. मोक्ष। सुख-दुःख, ज्ञान और

उपयोग लक्षण वाले पदार्थ को जीव कहते हैं और उससे भिन्न को अजीव। शुभ प्रकृतिरूप कर्म को पुण्य और अशुभ प्रकृतिरूप कर्म को पाप कहते हैं। जिससे शुभ-अशुभ उभय प्रकार के कर्मों का ग्रहण होता है, उसे आस्रव कहते हैं। गुप्ति आदि के द्वारा आस्रव को रोकना संवर है। विपाक या तप से कर्मों को एक देश से क्षय करना निर्जरा है। आस्रव के द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा के साथ संयुक्त होना बन्ध है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्मा का निज स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है।

जब उक्त नौ पदार्थ जीव और अजीव इन दो पदार्थों में शामिल हो जाते हैं, तब उन्हें अलग से क्यों कहा? पुण्य-पाप कर्मस्वरूप हैं और बन्ध भी कर्म-रूप हैं। कर्म पुद्गलों का परिणाम है और पुद्गल अजीव है। अतः पुण्य, पाप एवं बन्ध तीनों अजीव में समाविष्ट हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन और आस्रव जीव का परिणाम है, वह जीव है। वह आत्मा और पुद्गलों के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है? आस्रव जीव का परिणाम भी है और पुद्गल का भी, अतः वह जीव-अजीव दोनों के अन्तर्गत आ जाता है। देश और सर्व से आस्रव को रोकने वाला निवृत्तिरूप संवर भी जीव का ही परिणाम है। कर्मों का एक देश से क्षय करने रूप निर्जरा भी जीवरूप है। क्योंकि जीव अपनी शक्ति से कर्मों को अपनी आत्मा से हटा देता है। मोक्ष भी जीवस्वरूप ही है, क्योंकि समस्त कर्मों से रहित होने वाला मुक्त माना जाता है। इस प्रकार उक्त नौ पदार्थ जीव-अजीव इन दो पदार्थों में समाविष्ट हो सकते हैं। कहा भी है—'लोक में जो-कुछ देखा जाता है, उसमें कुछ जीव हैं और कुछ अजीव। यह कथन सत्य है। परन्तु सामान्य रूप से बताए हुए जीव और अजीव पदार्थों का ही यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करके उनको विस्तार से समझाया है। इसलिए यहाँ पदार्थों के जो नौ भेद किए हैं, उसमें कोई दोष नहीं है। वस्तुतः मूल पदार्थ दो ही हैं—जीव और अजीव।

आस्रव के सम्बन्ध में यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—

स च आत्मानं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः।

वह आस्रव आत्मा और पुद्गल के अतिरिक्त अन्य क्या है? कुछ भी नहीं है।

टीकाकार का यह आशय है कि आस्रव आत्मा और पुद्गल इन दोनों का परिणामस्वरूप है। इसलिए आस्रव को एकान्त जीव मानना उक्त टीका से विरुद्ध है।

यद्यपि टीका में आस्रव के सम्बन्ध में पहले आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादि रूप परिणामोजीवस्य लिखा है, तथापि इस वाक्य में परिणामोजीवस्य में दो पदों का सन्धि-छेद है—परिणामः जीवस्य और परिणामः अजीवस्य। अतः

हे भगवन्! मन आत्मा है या उससे भिन्न है?

हे गौतम! वह आत्मा नहीं, आत्मा से भिन्न है।

इस प्रकार प्रस्तुत पाठ में मन और वचन को आत्मा से भिन्न एवं रूपी कहा है। अतः उनके योग भी रूपी एवं अजीव हैं। मन, वचन और काय-योग को एकान्त अरूपी एवं जीव मानकर आस्रव को एकान्त अरूपी एवं जीव कहना बिलकुल गलत है। भाव-मन एवं भाव-वचन की युक्ति लगाकर भी आस्रव को एकान्त अरूपी एवं जीव बताना सत्य नहीं है।

नौ पदार्थ

आश्रव को जीव और अजीव उभयरूप कहीं कहा हो तो बताएँ?

स्थानांगसूत्र की टीका में आस्रव को जीव और अजीव दोनों माना है—

'नव सब्भावे' त्यादि सद्भावेन परमार्थेनानुपचाररेणेत्यर्थः पदार्थाः वस्तूनि नवसद्भावपदार्थास्तद्यथा जीवाः सुख-दुःख ज्ञानोपयोग लक्षणाः। अजीवास्तद्विपरीताः। पुण्यं शुभप्रकृतिरूपं कर्म, पापं तद्विपरीतं कर्मैव। आश्रूयते गृह्यते कर्माऽनेनेत्याश्रवः शुभाऽशुभकर्मादानहेतुरिती भावः। संवर आश्रव निरोधो गुप्त्यादिभिः। निर्जरा विपाकात्तपसा वा कर्मणां देशतः क्षपणा। बन्धः आश्रवैरात्तस्य कर्मणः आत्मना संयोगः। मोक्षः कृत्स्न कर्मक्षयादात्मनः स्वात्मान्य-धिष्ठानम्। ननु जीवाजीवा व्यतिरिक्ता पुण्यादयो न संति तथा युज्यमानत्वात् तथाहि पुण्य-पापे कर्मणी बन्धोऽपि तदात्मक एव। कर्म च पुद्गल परिणामः पुद्गलांश्चाजीवा इति। आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामोजीवस्य स चात्मानं पुद्गलांश्च विरहय्यकोऽन्यः। संवरोऽपि आश्रव निरोधलक्षणो देशसर्वभेदादात्मनः परिणामो निवृत्तिरूपः। निर्जरा तु कर्म परिशाटो जीवः, कर्मणां यत्पार्थक्यमापादयति स्वशक्त्या। मोक्षोऽप्यात्मा समस्त कर्म विरहित इति। तस्माज्जीवाजीवौ सद्भाव पदार्था इति वक्तव्यम् अतएवोक्तमिहैव—'यदत्थिं च णं लोए तं सव्वं दुप्पडोयारं तं जहा—जीवच्चेव, अजीवच्चेव' अथोच्यते सत्यमेतत्, किन्तु द्वावेव जीवाजीव पदार्थों सामान्येनोक्तौ तावेवेह विशेषतो नवधोक्ताविति।

—स्थानांगसूत्र, ६, ६६५ टीका

पदार्थ नौ प्रकार के हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. पुण्य, ४. पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. निर्जरा, ८. बन्ध और ६. मोक्ष। सुख-दुःख, ज्ञान और

उपयोग लक्षण वाले पदार्थ को जीव कहते हैं और उससे भिन्न को अजीव। शुभ प्रकृतिरूप कर्म को पुण्य और अशुभ प्रकृतिरूप कर्म को पाप कहते हैं। जिससे शुभ-अशुभ उभय प्रकार के कर्मों का ग्रहण होता है, उसे आस्रव कहते हैं। गुप्ति आदि के द्वारा आस्रव को रोकना संवर है। विपाक या तप से कर्मों को एक देश से क्षय करना निर्जरा है। आस्रव के द्वारा गृहीत कर्मों का आत्मा के साथ संयुक्त होना बन्ध है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर आत्मा का निज स्वरूप में स्थित होना मोक्ष है।

जब उक्त नौ पदार्थ जीव और अजीव इन दो पदार्थों में शामिल हो जाते हैं, तव उन्हें अलग से क्यों कहा? पुण्य-पाप कर्मस्वरूप हैं और बन्ध भी कर्म-रूप हैं। कर्म पुद्‌गलों का परिणाम है और पुद्‌गल अजीव है। अतः पुण्य, पाप एवं बन्ध तीनों अजीव में समाविष्ट हो जाते हैं। मिथ्यादर्शन और आस्रव जीव का परिणाम है, वह जीव है। वह आत्मा और पुद्‌गलों के अतिरिक्त अन्य क्या हो सकता है? आस्रव जीव का परिणाम भी है और पुद्‌गल का भी, अतः वह जीव-अजीव दोनों के अन्तर्गत आ जाता है। देश और सर्व से आस्रव को रोकने वाला निवृत्तिरूप संवर भी जीव का ही परिणाम है। कर्मों का एक देश से क्षय करने रूप निर्जरा भी जीवरूप है। क्योंकि जीव अपनी शक्ति से कर्मों को अपनी आत्मा से हटा देता है। मोक्ष भी जीवस्वरूप ही है, क्योंकि समस्त कर्मों से रहित होने वाला मुक्त माना जाता है। इस प्रकार उक्त नौ पदार्थ जीव-अजीव इन दो पदार्थों में समाविष्ट हो सकते हैं। कहा भी है—'लोक में जो-कुछ देखा जाता है, उसमें कुछ जीव हैं और कुछ अजीव। यह कथन सत्य है। परन्तु सामान्य रूप से बताए हुए जीव और अजीव पदार्थों का ही यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करके उनको विस्तार से समझाया है। इसलिए यहाँ पदार्थों के जो नौ भेद किए हैं, उसमें कोई दोष नहीं है। वस्तुतः मूल पदार्थ दो ही हैं—जीव और अजीव।

आस्रव के सम्बन्ध में यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है—

स च आत्मानं पुद्‌गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः।

वह आस्रव आत्मा और पुद्‌गल के अतिरिक्त अन्य क्या है? कुछ भी नहीं है।

टीकाकार का यह आशय है कि आस्रव आत्मा और पुद्‌गल इन दोनों का परिणामस्वरूप है। इसलिए आस्रव को एकान्त जीव मानना उक्त टीका से विरुद्ध है।

यद्यपि टीका में आस्रव के सम्बन्ध में पहले **आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादि रूप परिणामोजीवस्य** लिखा है, तथापि इस वाक्य में **परिणामोजीवस्य** में दो तरह का सन्धि-छेद है—**परिणामः जीवस्य** और **परिणामः अजीवस्य**। अतः

उभय प्रकार से सन्धि छेद करके आस्रव को जीव और अजीव दोनों का परिणाम बताना ही टीकाकार को इष्ट है। यदि टीकाकार को आश्रव को केवल जीव का परिणाम बताना ही इष्ट होता, तो वह इसके साथ ऐसा क्यों लिखते—स च आत्मनं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः। अतः यहाँ टीकाकार का परिणामोजीवस्य में पूर्वोक्त तरीके से द्विविध सन्धि छेद करने का अभिप्राय रहा हुआ है।

परन्तु भ्रमविध्वंसनकार ने भोले लोगों को भ्रम में डालने के लिए स च आत्मनं पुद्गलांश्च विरहय्य कोऽन्यः का अर्थ ही नहीं किया। उन्होंने केवल इसी आस्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामोजीवस्य का अर्थ करके छोड़ दिया। और वह अर्थ भी परिणामः जीवस्य इस संधि-छेद के द्वारा किया है, परन्तु इसके दूसरे रूप परिणामः अजीवस्य के द्वारा नहीं। अतः इस प्रकार टीका का गलत अर्थ करके आस्रव को एकान्त जीव कहना नितान्त असत्य है।

उपसंहार

आगम में बताया है—

दुक्खी दुक्खेण फुडे, नो अदुक्खी दुक्खेण फुडे।

—भगवतीसूत्र, ७, १

कर्म से संयुक्त पुरुष ही कर्म का स्पर्श करता है, कर्म से रहित आत्मा कर्म का स्पर्श नहीं करता।

यदि कर्म से रहित आत्मा को भी कर्म का स्पर्श हो, तो सिद्ध आत्मा में भी कर्म का स्पर्श मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म को ग्रहण करने में कर्म ही कारण है, अतः वह आस्रव है। क्योंकि आगम में स्पष्ट लिखा है—

दुक्खी दुक्खं परियायइ।

—भगवतीसूत्र, ७, १

कर्म से युक्त पुरुष ही कर्म हो ग्रहण करता है।

इस पाठ से कर्म का आस्रव होना प्रमाणित होता है। कर्म पौद्गलिक है, अजीव है। इस अपेक्षा से आस्रव भी पौद्गलिक एवं अजीव सिद्ध होता है। अतः उसे एकान्त जीव मानना अनुचित है।

पूर्व के प्रकरण में स्थानांगसूत्र की टीका में—पाप, पुण्य एवं बन्ध को अजीव में, संवर, निर्जरा और मोक्ष को जीव में तथा आस्रव को जीव-अजीव में गिना है, वह निश्चय की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि आगम में व्यवहार-नय की अपेक्षा से पाप, पुण्य एवं बन्ध को आत्मा का परिणाम भी कहा है।

अह भन्ते! पाणाइवाए, मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, पाणाइवाय वेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्ल विवेगे, उप्पत्तिया जाव परिणामिया, उग्गहे जाव धारणा, उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरए, पुरिसक्कार-परक्कमे, णेरइयत्ते, असुरकुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते, णाणावरणिज्जे जाव अन्तराइए, कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा, सम्मदिट्ठी ३, चक्खुदंसणे ४, अभिणिबोहियणाणे ५, विभंगणाणे ३, आहारसन्ना ४, ओरालिय सरीरे ५, मणजोगे ३, सागारोवयोगे २, जे या वण्णे तहप्पगारा सव्वे ते णणत्थ अत्ताए परिणमन्ति?

हन्ता, गोयमा! पाणाइवाए जाव सव्वे ते णणत्थ अत्ताए परिणमन्ति।

—भगवतीसूत्र, २०, ३, ६६५

हे भगवन्! प्राणातिपात, मृषावाद से लेकर मिथ्यादर्शनशल्यपर्यन्त अठारह पाप का त्याग, औत्पातिकी यावत् पारिणामिकी चार बुद्धि, अवग्रह आदि मतिज्ञान के चार भेद उत्थान, बल, वीर्य, कर्म, पुरुषाकार-पराक्रम, नैरयिकत्व, असुरकुमारत्व यावत् वैमानिकत्व, ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, कृष्णादि छः लेश्या, सम्यग्दृष्टि आदि ३ दृष्टि, चक्षु-दर्शनादि ४ दर्शन, आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञान, मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान, आहार आदि चार संज्ञाएँ, औदारिक आदि पाँच शरीर, मन, वचन एवं काय-योग, साकार और अनाकार उपयोग, क्या ये सब पदार्थ आत्मा के परिणाम हैं?

हाँ, गौतम! प्राणातिपात से लेकर अनाकार उपयोग तक कहे गए ये सब पदार्थ आत्मा के परिणाम हैं, अन्य के नहीं।

प्रस्तुत पाठ में प्राणातिपात से लेकर अनाकार उपयोगपर्यन्त प्रयुक्त सब बोलों को आत्मा के परिणाम कहे हैं। अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से पुण्य, पाप एवं बन्ध भी जीव हैं। इन्हें एकान्त रूप से अजीव कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।
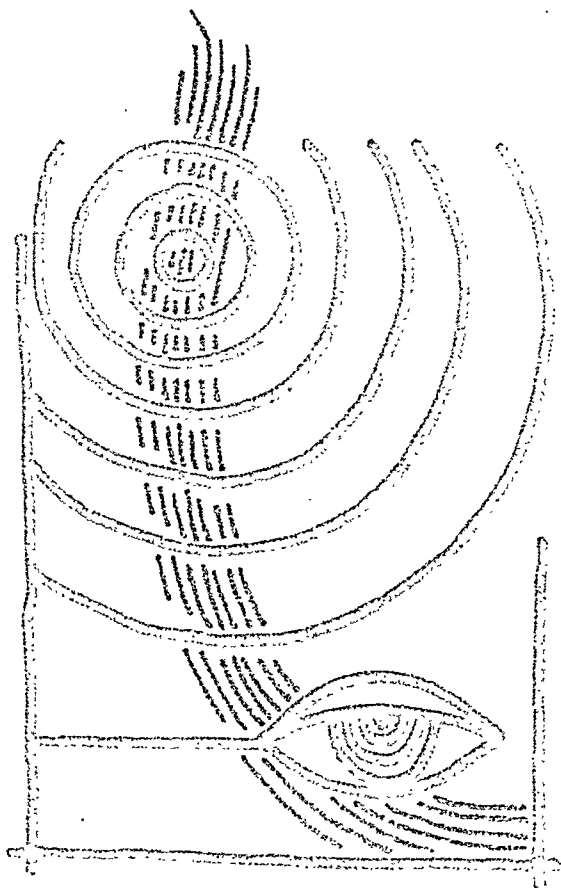
तत्त्व-अधिकार

नौ तत्त्व : रूपी-अरूपी
जीव-अजीव
जीव के भेद

नौ तत्त्व : रूपी-अरूपी

जैनागम में जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, ये नौ तत्त्व माने हैं। ये नौ तत्त्व एक अपेक्षा से रूपी भी हैं और एक अपेक्षा से अरूपी भी। इसलिए इन्हें एकान्त रूपी या अरूपी कहना उचित नहीं है।

निश्चयनय की अपेक्षा से जीव अरूपी है और व्यवहारनय की दृष्टि से रूपी। कौए, बगुले आदि शरीरधारी प्राणियों को व्यवहार में जीव कहते हैं, इसलिए व्यवहारनय से जीव रूपी है। सिद्ध रूपरहित है, इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से जीव निरंजन एवं रूपरहित है। स्थानांगसूत्र, स्थान २ में जीव दो प्रकार के बताए हैं—संसारी और सिद्ध। संसारी जीव रूपी भी हैं और सिद्ध अरूपी भी।

अजीव भी दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, ये अरूपी हैं और पुद्‌गल रूपी।

पुण्य-पाप भी दो तरह के हैं—रूपी और अरूपी। अन्न आदि का दान करने के लिए आत्मा का जो शुभ अध्यवसाय होता है, वह पुण्य है और हिंसा आदि करने का जो अशुभ अध्यवसाय होता है, वह पाप है। शुभ या अशुभ अध्यवसाय अरूपी हैं, इसलिए पुण्य एवं पाप अरूपी हैं। ४२ प्रकार की पुण्य प्रकृतियाँ अनन्त पुद्‌गलों के स्कंध से उत्पन्न होती हैं और पाप की ८२ प्रकृतियाँ भी अनन्त पुद्‌गलों के स्कंध से बनी हैं। इसलिए शुभ क्रिया से उत्पन्न पुण्य-फल एवं अशुभ क्रिया से उत्पन्न पाप-फल को भी क्रमशः पुण्य और पाप कहते हैं। इस अपेक्षा से पुण्य-पाप रूपी भी हैं।

आस्रव भी रूपी एवं अरूपी दोनों प्रकार का है। शुभाशुभ अध्यवसाय, ६ भावलेश्याएँ, मिथ्यात्व आदि जीव के परिणाम कर्मबन्ध के हेतु होने से आस्रव कहलाते हैं। ये सब रूपवान नहीं हैं, इसलिए आस्रव अरूपी है। कर्म, अजीव की २५ क्रियाएँ, मिथ्यात्व आदि कर्म प्रकृतियाँ, ये सब कर्मबन्ध के हेतु होने से आस्रव हैं। ये सब रूपवान हैं, इस अपेक्षा से आस्रव रूपी भी है।

संवर भी उभयरूप है—रूपी और अरूपी। सम्यक्त्व, व्रत, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—ये सब संवर कहलाते हैं। ये जीव के गुण हैं और रूपरहित

हैं, इस अपेक्षा से संवर अरूपी है। जीवरूपी तालाब में आने वाले कर्मरूप पानी को रोकना संवर है। अवरुद्ध किए हुए कर्म रूपी हैं, इसलिए संवर भी रूपी है।

निर्जरा भी रूपी-अरूपी दोनों प्रकार की है। आत्म-परिणामों के द्वारा आत्मा के किसी एक देश से कर्मों का नष्ट होना और जिन परिणामों से कर्मों का एक देश आत्मा से हटता है, उससे आत्मप्रदेश का निर्मल होना निर्जरा है। वे परिणाम अरूपी हैं, इसलिए निर्जरा भी अरूपी है। आत्मप्रदेश से हटे हुए कर्म भी निर्जरा कहलाते हैं। वे कर्म रूपी हैं, इस अपेक्षा से निर्जरा भी रूपी है।

बन्ध भी रूपी-अरूपी उभयरूप है। शुभ और अशुभ कर्मों के बन्ध का हेतु, जो शुभ-अशुभ आत्म-परिणाम हैं, उसे बन्ध कहते हैं, वह आत्म-परिणाम अरूपी है, इस अपेक्षा से बन्ध भी अरूपी है। शुभ-अशुभ कर्म-प्रकृतियों के बन्धन को भी बन्ध कहते हैं। कर्म-प्रकृतियाँ रूपवान हैं, इस अपेक्षा से बन्ध रूपी भी है।

मोक्ष भी दो प्रकार का है—रूपी और अरूपी। आत्मा का कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर अपने शुद्ध एवं स्वाभाविक रूप में स्थित होना मोक्ष है। वह आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप है। आत्मा अरूपी है, इसलिए मोक्ष भी अरूपी है। जो कर्म आत्मा से अलग किए जाते हैं, वे भी मुक्त कहलाते हैं। कर्म रूपी हैं, इस अपेक्षा से मोक्ष भी रूपी है।

इस प्रकार ये नौ ही पदार्थ एकान्ततः न रूपी हैं और न अरूपी। एक अपेक्षा से वे रूपवान भी हैं, तो दूसरी अपेक्षा से रूपरहित भी।

भगवती, श. १२, उ. ५ में आठ कर्म, अठारह पापस्थानक, दो योग, कार्मण शरीर, सूक्ष्म स्कंध, इन तीस बोलों में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्श बताए हैं। घनोदधि, घनवात, तनुवात, चार शरीर, बादर स्कंध, ६ द्रव्य-लेश्याएँ और काय-योग इनमें पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श कहे हैं। अठारह पापों से विरमण, बारह उपयोग, ६ भाव-लेश्याएँ, चार संज्ञाएँ, औत्पादिकी आदि चार बुद्धि, चार प्रकार का मतिज्ञान, उत्थान आदि पाँच वीर्य, तीन दृष्टि, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल—इनको वर्ण, रस, गन्ध, एवं स्पर्श से रहित होने से अरूपी कहा है।

अतः निश्चयनय की अपेक्षा से पुण्य, पाप एवं बन्ध—ये तीनों कर्म स्वरूप होने से रूपी हैं। छः द्रव्य-लेश्याएँ, तीन योग, पाँच शरीर, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये सब रूपी हैं और आस्रव हैं, इसलिए आस्रव भी रूपी है। यद्यपि छः भाव-लेश्याएँ, मिथ्यादृष्टि और चार संज्ञाएँ आदि भी आस्रव हैं और वे अरूपी हैं, तथापि निश्चयनय की अपेक्षा ये रूपी माने जाते हैं। क्योंकि आस्रव को

त्यागने योग्य कहा है। और त्याग रूपी पदार्थ का ही होता है। आस्रव उदय भाव में गिना गया है, इसलिए पर-गुण होने से वह रूपी है। मन और वचन को चारस्पर्शी और काय को अष्टस्पर्शी माना है और वे भी आस्रव हैं। इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से आस्रव रूपी है, अरूपी नहीं।

अठारह पापों से निवृत्त होना संवर है और वह अरूपी है। निर्जरा और मोक्ष, आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं, इसलिए अरूपी हैं। जीव निश्चयनय से रूपरहित है। इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से जीव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष अरूपी हैं।

अजीव पदार्थ में धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति-काय और काल—ये चार अरूपी और पुद्गल रूपी हैं। इसलिए निश्चयनय की अपेक्षा से अजीव तत्त्व रूपी-अरूपी उभयरूप है।

जीव-अजीव

उक्त नौ पदार्थ एक अपेक्षा से जीव हैं। एक अपेक्षा से एक जीव और आठ अजीव हैं। एक अपेक्षा से एक अजीव और आठ जीव हैं। एक अपेक्षा से चार जीव और पाँच अजीव हैं। परन्तु निश्चयनय की अपेक्षा से एक जीव, एक अजीव और सात पदार्थ जीव और अजीव दोनों की पर्याय हैं।

नौ तत्त्व जीव हैं

जीव और अजीव आदि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को 'तत्त्व' कहते हैं और उसके ज्ञान का नाम 'तत्त्वज्ञान' है। वह तत्त्वज्ञान जीवरूप है। अतः तत्त्वज्ञान की अपेक्षा से नौ ही पदार्थ जीव माने गए हैं। जैसे अनुयोगद्वारसूत्र में शब्दादि तीन नय के मत में आत्मा के उपयोग को 'पायली' कहा है और आत्मा का उपयोग आत्मस्वरूप है। इसलिए 'पायली' को भी आत्मा कहा है। उसी तरह नौ तत्त्वों का जो उपयोग है, वही नौ तत्त्व है और वह उपयोग जीव है। इसलिए शब्दादि त्रि-नय के विचार से नौ ही तत्त्व जीव हैं।

एक जीव और आठ अजीव

अजीव तत्त्व अजीव स्वतःसिद्ध हैं। शेष सात पदार्थों का द्रव्य पुद्गल-स्वरूप है, इसलिए वे भी अजीव हैं। इस अपेक्षा से एक जीव और आठ पदार्थ अजीव हैं।

एक अजीव और आठ जीव

उक्त नौ तत्त्वों में एक जीव स्वतःसिद्ध है। शेष आठ पदार्थों में अजीव के अतिरिक्त अन्य सब जीव हैं। क्योंकि प्रज्ञापनासूत्र के पाँचवें पद में ३६ बोलों को आत्मा का पर्याय कहा है। भगवती, श. १३, उ. ७ में काय को आत्मा, सचेतन एवं सचित्त कहा है। भगवती, श. २०, उ. २ में ११६ बोलों को जीव-आत्मा कहा है—अठारह पाप, अठारह पाप का त्याग, चार बुद्धि, मतिज्ञान के चार भेद, पाँच वीर्य, चौबीस दण्डक, आठ कर्म, छः लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार संज्ञा, पाँच शरीर, तीन योग और दो उपयोग। इनमें पुण्य,

पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष सब शामिल हैं, इसलिए ये आठ जीव हैं।

स्थानांगसूत्र के दूसरे स्थान में काल को जीव-अजीव उभयरूप माना है। टीकाकार ने जीव के साथ सम्बन्ध रखने वाले काल, धूप, छाया, भवन, विमान आदि को एक अपेक्षा से जीव कहा है और अजीव से सम्बन्धित काल आदि उपरोक्त पदार्थों को अजीव। संसारी जीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष से आठ पदार्थ, कर्म और काया के साथ रहते हैं। इस अपेक्षा से कहा है—आठ पदार्थ जीव हैं और एक अजीव।

चार जीव और पाँच अजीव

पुण्य, पाप, आस्रव एवं बन्ध जीव के स्वगुण नहीं हैं, किन्तु कर्म के परिणामरूप होने से परगुण है। अतः निश्चयनय की अपेक्षा से चारों अजीव हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा के स्वगुण हैं, अतः गुण-गुणी के अभेद न्याय से निश्चयनय की अपेक्षा से ये जीव हैं। आगम में भी कहा है—

जीवगुणप्पमाणे तिविहे पण्णत्ते, तं जहा—नाणगुणप्पमाणे, दंसणगुणप्पमाणे, चरित्तगुणप्पमाणे।

—अनुयोगद्वारसूत्र

ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीनों आत्मा के स्वगुण हैं। अतः गुण-गुणी का अभेद होने से ये भी जीव हैं।

जीव का लक्षण बताते हुए आगम में कहा है—

जीव उवओग लक्खणं।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २८, ११

जीव का उपयोग लक्षण है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग, ये जीव के लक्षण हैं। अतः गुण-गुणी का अभेद होने से ये भी जीव हैं।

जे आया से विन्नाया।

—आचारांगसूत्र, १, ५

जो आत्मा है, वही विज्ञान है। इसलिए विज्ञान भी आत्मा है।

आयाणं अज्जो! सामाइए। आयाणं अज्जो! सामाइयस्स अट्ठो।

—भगवतीसूत्र, १, ६

हे आर्यो! आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का प्रयोजन है।

इसी तरह आगम में संयम, प्रत्याख्यान, चारित्र और व्युत्सर्ग को भी आत्मा कहा है। इस अपेक्षा से संवर, निर्जरा और मोक्ष आत्मा के अपने गुण होने से जीव हैं। निश्चयनय की अपेक्षा से आगम में पुण्य, पाप, आश्रव और बन्ध को कहीं भी आत्मा का निज गुण नहीं बताया हैं, परन्तु कर्मसापेक्ष होने के कारण ये वैभाविक गुण कहे जाते हैं। अतः जीव, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष—ये चार जीव और अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव एवं बन्ध, ये पाँच अजीव हैं। इस अपेक्षा से नौ तत्त्व में से चार जीव एवं पाँच अजीव हैं।

एक जीव, एक अजीव और सात दोनों के पर्याय

प्रज्ञापनासूत्र के पाँचवें पद में कहा है—'द्रव्य, प्रदेश, पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, बारह उपयोग, पुद्गलजनित शरीर का अवगाहन और आयुष्य की स्थिति—ये ३६ बोल जीव के पर्याय हैं। किसी में जीव की और किसी में अजीव की प्रधानता होने के कारण किसी को जीव और किसी को अजीव कहा है। इनमें कुछ संवर, निर्जरा एवं मोक्षस्वरूप हैं और कुछ पुण्य, पाप, आस्रव एवं बन्ध रूप हैं। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि जीव और अजीव के अतिरिक्त शेष सातों पदार्थ जीव और अजीव दोनों के पर्याय हैं।

प्रस्तुत प्रकरण में कई नयों का आश्रय लेकर संक्षेप से तत्त्वों का विचार किया है। क्योंकि किसी एक नय का आश्रय लेकर शेष नयों की अवहेलना करना आगम से विरुद्ध है। एकान्तवाद की स्थिति में वह नय सम्यक् नहीं, मिथ्यानय, या नयाभास मानी गई है। अतः किसी नय को मुख्य और किसी को गौण मानकर पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करना जैन धर्म का उद्देश्य रहा है। इसलिए बुद्धिमान विचारकों को साम्प्रदायिक पक्षपात को त्याग कर अनेकान्त दृष्टि से, नय की अपेक्षा से इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का बोध करना चाहिए। यदि किसी मन्द बुद्धि वाले व्यक्ति को उक्त तत्त्व समझ में न आएँ, तो उसे निष्पक्ष भाव से आगम-आज्ञा के अनुसार अपनी आत्मा को श्रद्धानिष्ठ बनाना चाहिए—

तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

—भगवतीसूत्र

जिनेश्वर भगवान ने जो कहा है, वही सत्य है, उसमें थोड़ी भी शंका नहीं है।

ऐसी भावना रखने से भी व्यक्ति भगवान् की आज्ञा का आराधक हो सकता है।

जीव के भेद

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३३६ पर लिखते हैं—

'केतला एक अज्ञानी भवनपति, बाणव्यन्तर में अने प्रथम नरक में जीवरा तीन भेद कहे।' इनके कहने का अभिप्राय यह है—प्रथम नारकी, भवनपति और व्यन्तर देवों में जीव के दो ही भेद होते हैं, असन्नी का अपर्याप्त नामक तीसरा भेद नहीं होता।

आगम में भवनपति, व्यन्तर एवं प्रथम नारकी में जीव के तीन भेद बताए हैं—

जीवा णं भन्ते! किं सन्नी, असन्नी, नो सन्नी नो असन्नी?

गोयमा! जीवा सन्नी वि, असन्नी वि, नो सन्नी नो असन्नी वि।

नेरइयाणं पुच्छा?

गोयमा! नेरइया सन्नी वि, असन्नी वि, नो सन्नी नो असन्नी वि।

—प्रज्ञापनासूत्र, ३१, ३१५

हे भगवन्? जीव सन्नी होते हैं, असन्नी होते हैं, या सन्नी-असन्नी से भिन्न?

हे गौतम! जीव सन्नी भी होते हैं, असन्नी भी होते हैं और इनसे भिन्न भी होते हैं।

हे भगवन्। नारकी के विषय में प्रश्न है?

हे गौतम! नारकी के जीव सन्नी-असन्नी दो प्रकार के होते हैं, इनसे भिन्न नहीं होते।

इस पाठ के आगे व्यन्तर और असुरकुमार से लेकर स्तनितकुमार पर्यन्त भवनपति देवों के सम्बन्ध में भी यही बात कही है। इससे भवनपति, व्यन्तर एवं प्रथम नरक में असन्नी का भेद आगम से सिद्ध होता है, तथापि उस भेद को नहीं मानना आगम की आज्ञा को ठुकराना है।

भगवतीसूत्र में इस विषय में लिखा है—

गोयमा! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए णिरयावास-सय सहस्सेसु संखेज्जावित्थडेसु नरयेसु संखेज्जा णेरया पण्णत्ता, संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता एवं जाव संखेज्जा सन्नी पण्णत्ता, असन्नी सिय अत्थि, सिय नत्थि। जइ अत्थि एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं संखेज्जा पण्णत्ता।

—भगवतीसूत्र, १३, १, ४७०

हे गौतम! रत्नप्रभा नामक पृथ्वी में कुल तीस लाख नारकी जीवों के निवास-स्थान हैं। उनमें कुछ संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन विस्तृत हैं। संख्यात योजन विस्तृत नरकावासों में संख्यात नारकी एवं कापोतलेशी जीव रहते हैं। संख्यात नारकी जीव सन्नी होते हैं। इनमें असन्नी जीव कभी होते हैं और कभी नहीं होते। यदि होते हैं, तो १, २, ३ और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में प्रथम नरक के जीवों में जघन्य १, २, ३ और उत्कृष्ट संख्यात असन्नी जीव बताए हैं और असंख्यात योजन वाले नरकावास में असंख्यात असन्नी जीव माने हैं। भगवती, श. १३, उ. २ में भवनपति एवं व्यन्तर देवों के लिए भी ऐसा ही पाठ आया है। इसलिए प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असन्नी का अपर्याप्त भेद नहीं मानना उपयुक्त नहीं है। उक्त पाठ में प्रयुक्त 'सिय अत्थि सिय नत्थि' शब्द असन्नी के विषय में कहे हैं। इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

असंज्ञिभ्य उद्धृत्य ये नारकत्वेनोत्पन्नास्तेऽपर्य्याप्ता-वस्थायामसंज्ञिनो भूतभावत्वात्तेचाल्पा इति कृत्वा 'सिय अत्थि' इत्याद्युक्तम्।

जो जीव असंज्ञी से निकलकर नरक में जाते हैं, वे अपर्याप्त अवस्था में असंज्ञी ही रहते हैं, वे जीव बहुत अल्प संख्या में होते हैं।

यहाँ टीकाकार ने मूल पाठ के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए बताया है कि नारकी जीवों में असंज्ञी का अपर्याप्त भेद पाया जाता है। अतः उसमें असंज्ञी का अपर्याप्त भेद नहीं मानना आगम एवं टीका से विरुद्ध है।

भगवती, श. १, उ. ४ में संज्ञी नारकी और देवता में काल-देश के ६ भंग बताए हैं और जीवाभिगमसूत्र में प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में संज्ञी-असंज्ञी दोनों भेदों का उल्लेख किया है—

तेसि णं अन्ने जीवा किं सन्नी-असन्नी?
गोयमा! सन्नी वि असन्नी वि।

—जीवाभिगमसूत्र

प्रस्तुत पाठ में प्रथम नरक के जीवों को संज्ञी–असंज्ञी उभयरूप कहा है। इसी आगम में नारकियों के ज्ञान के सम्बन्ध में पूछे गए प्रश्न के उत्तर में लिखा है—

जे अन्नाणी ते अत्थे गइया दु अण्णाणी, अत्थे गइया ती अण्णाणी।
जेय दु अण्णाणी ते णियमा मइ अण्णाणी, सुय अण्णाणी।

—जीवाभिगमसूत्र

ये नारका असंज्ञीनस्तेऽपर्याप्तावस्थायां द्वि अज्ञानिनः पर्याप्तावस्थायान्तु त्रि–अज्ञानिनः।

नरक के जो जीव असंज्ञी हैं, वे अपर्याप्त अवस्था में दो अज्ञानयुक्त और पर्याप्त अवस्था में तीन अज्ञानयुक्त होते हैं। दो अज्ञान वाले निश्चित रूप से मति और श्रुत अज्ञान वाले होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में नारकी जीव को दो अज्ञानयुक्त भी कहा है। टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि असंज्ञी नारकी अपर्याप्त अवस्था में दो अज्ञान वाले होते हैं। यहाँ पर टीकाकार ने नारकी जीवों में असंज्ञी के अपर्याप्त भेद का प्रतिपादन किया है।

प्रस्तुत पाठ के आगे भवनपति एवं व्यन्तर देवों के लिए भी ऐसा ही पाठ आया है। इसलिए उनमें भी असंज्ञी के अपर्याप्त भेद का होना सिद्ध होता है। तथापि प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असंज्ञी को नहीं मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

संज्ञी–असंज्ञी

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३३७ पर प्रज्ञापना, पद १५, उद्देशक १ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'इहाँ कह्यो—मनुष्य ना दो भेद, सन्नीभूत ते विशिष्ट अवधिज्ञान सहित।' इत्यादि लिखकर इसके आगे लिखते हैं—'ते अवधिज्ञान रहित ने असन्नीभूत कह्यो। पिण असन्नी रो भेद नहीं पावे, तिम नेरइया ने असन्नी भूत कह्या, पिण असन्नी रो भेद नहीं पावे। ए नेरइया अनें देवता नें असंज्ञी कह्या। ते संज्ञा वाची छै। जे अवधि–विभंग रहित नेरइया नो नाम असंज्ञी छै, जिम विशिष्ट अवधि रहित मनुष्य निर्जर्या पुद्‌गल न देखे। तेहने पिण असन्नी भूत कह्यो।'

आगम में स्थान–स्थान पर गर्भज मनुष्य को संज्ञीभूत कहा है, परन्तु प्रज्ञापनासूत्र में उसे असंज्ञीभूत कहा है। इससे यह संशय होना स्वाभाविक है कि जब आगम में सर्वत्र गर्भज मनुष्यों को संज्ञीभूत कहा है, तब प्रज्ञापनासूत्र में उसे

असंज्ञीभूत क्यों कहा? इसका समाधान यह है कि प्रज्ञापना में जो गर्भज मनुष्य को असंज्ञीभूत कहा है, उसका अभिप्राय अवधिज्ञान से रहित होना है, परन्तु संज्ञी के विरोधी असंज्ञी से नहीं। क्योंकि ऐसा मानने से प्रज्ञापनासूत्र एवं अन्य आगमों के कथन में विरोध पड़ता है। अतः विशिष्ट अवधिज्ञान से रहित होने की अपेक्षा से प्रज्ञापनासूत्र में गर्भज मनुष्य को असंज्ञीभूत कहा है। परन्तु यह दृष्टान्त असंज्ञी से मरकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों में घटित नहीं होता। क्योंकि उन जीवों को आगम में सर्वत्र असंज्ञी ही कहा, उन्हें कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है। यदि आगम में कहीं पर भी उन्हें संज्ञी कहा होता, तो मनुष्य के विषय में कथित प्रज्ञापनासूत्र के उक्त पाठ का दृष्टान्त देकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असंज्ञी के भेद का निषेध कर सकते थे। परन्तु असंज्ञी से मरकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में उत्पन्न होने वाले जीवों को कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है। अतः प्रज्ञापना का प्रमाण देकर उनमें असंज्ञी के अपर्याप्त भेद को नहीं मानना आगम से सर्वथा विपरीत है।

बालक-बालिका

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३३६ पर प्रज्ञापनासूत्र, पद ११ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे पिण कह्यो—न्हाना बालक-बालिका मन पटुता न पाम्या। विशिष्ट ज्ञान रहित ने सन्नी न कह्यो। पिण जीव रो भेद तेरमो छै। तिण में असन्नी रो भेद नथी। तिम नेरइया ने असन्नी भूत कह्या। पिण असन्नी रो भेद नथी।'

बालक-बालिका मनयुक्त होते हैं, मन से रहित नहीं। इसलिए वस्तुतः वे संज्ञी ही हैं, असंज्ञी नहीं। परन्तु प्रज्ञापनासूत्र में विशिष्ट ज्ञान से रहित होने की अपेक्षा में उन्हें असंज्ञी कहा है। अतः आगम में नन्हे बालक-बालिकाओं को संज्ञी कहा है। परन्तु असंज्ञी से मरकर नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में उत्पन्न हुए जीवों को आगम में कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है, अतः छोटे बालक-वालिका का दृष्टान्त देकर उक्त जीवों में असंज्ञी के भेद का निषेध करना अनुचित है।

यदि आगम में कहीं भी असंज्ञी से मरकर नरकादि में उत्पन्न होने वाले जीव के लिए संज्ञी होने का उल्लेख किया होता, तो बालक-वालिका के विषय में प्रयुक्त प्रज्ञापना के पाठ का प्रमाण देकर उक्त जीवों में असंज्ञी के भेद का निषेध कर सकते थे। परन्तु आगम में कहीं भी असंज्ञी से मरकर नरक आदि में जन्म लेने वाले जीवों को संज्ञी नहीं कहा है, अतः उनमें असंज्ञी के भेद का निषेध करना आगम से सर्वथा विपरीत है।

आठ प्रकार के सूक्ष्म

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३४० पर दशवैकालिकसूत्र, अध्ययन ८, गाथा ५ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ आठ सूक्ष्म कह्या—१. धुंवर प्रमुखनी सूक्ष्म स्नेह, २. न्हाना फल, ३. कुंथुआ, ४. उत्तिंग—कीडी नगरा, ५. नीलण-फूलण, ६. बीज—खसखस आदिकना, ७. न्हाना अंकुर, ८. कीड़ी प्रमुखना अण्डा। ते न्हाना माटे सूक्ष्म छै। पिण सूक्ष्म रो जीव रो भेद नहीं। तिम नेरइया अने देवता ने असन्नी कह्या, पिण असन्नी रो भेद नहीं।'

आगम में चींटी आदि को सर्वत्र त्रस जीव में गिना है, सूक्ष्म के भेद में नहीं। इसलिए छोटा होने के कारण दशवैकालिकसूत्र में उन्हें सूक्ष्म कहा है। परन्तु यह दृष्टान्त असंज्ञी से मरकर प्रथम नरकादि में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी जीवों में घटित नहीं होता। क्योंकि असंज्ञी से मरकर नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में जन्म ग्रहण करने वाले जीव को कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है। उसे आगम में सर्वत्र असंज्ञी कहा है। अतः दशवैकालिकसूत्र का प्रमाण देकर नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असंज्ञी के अपर्याप्त भेद को स्वीकार नहीं करना सर्वथा अनुचित है।

पर्याप्त-अपर्याप्त

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३४२ पर अनुयोगद्वारसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ विशेष-अविशेष ए बेनाम कह्या। तिण में अविशेष थी तो मनुष्य, विशेष थी समूर्च्छिम, गर्भज। अने अविशेष थी तो समूर्च्छिम मनुष्य, अने विशेष थी पर्याप्तो, अपर्याप्तो कह्यो। इहाँ समूर्च्छिम मनुष्य ने पर्याप्त-अपर्याप्तो कह्यो। ते केतलीक पर्याय बांधी ते पर्याय आश्री पर्याप्तो कह्यो। अने सम्पूर्ण न बांधी ते न्याय अपर्याप्तो कह्यो। समूर्च्छिम मनुष्य ने पर्याप्तो कह्यो। पिण पर्याप्ता में जीव रा सात भेद पावे, ते मांहिलो भेद नथी। जेव देवता ने असन्नी कह्या माटे असन्नी रो जीव रो भेद कहे तिण रे लेखे समूर्च्छिम मनुष्य ने पिण पर्याप्त कह्या माटे पर्याप्त रो भेद कहिणो। अने समूर्च्छिम मनुष्य में पर्याप्त रो भेद नथी कहे, तो देवता में पिण असन्नी रो भेद न कहिणो।'

समूर्च्छिम मनुष्य का दृष्टान्त देकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असंज्ञी के भेद का निषेध करना युक्तिसंगत नहीं है। आगम में सर्वत्र समूर्च्छिम मनुष्य में पर्याप्तपने का निषेध किया है, उसमें पर्याप्त का भेद नहीं माना जा सकता। नरक में असंज्ञी के अपर्याप्त भेद का कहीं निषेध नहीं किया है। अतः असंज्ञी के अपर्याप्त भेद का निषेध करना गलत है।

यदि यह कहें कि जब आगम में समूर्च्छिम मनुष्य में पर्याप्त के भेद का निषेध किया है, तब अनुयोगद्वार में उसे पर्याप्त कैसे कहा? इसका समाधान यह है कि जैसे अनुयोगद्वार में उदयादि भावों के २६ विकल्प मात्र दिखाने के लिए किए हैं, परन्तु सब विकल्पों के उदाहरण नहीं मिलते, उसी तरह समूर्च्छिम मनुष्यों के दो भेद भी संभावना मात्र से किए हैं, परन्तु समूर्च्छिम जीवों में पर्याप्त भेद के होने से नहीं। परन्तु यह बात प्रथम नारकी, भवनपति और व्यन्तर देवों के सम्बन्ध में घटित नहीं होती। क्योंकि आगम में कहीं भी उनमें असंज्ञी के भेद का निषेध नहीं किया है।

भगवती, श. १३, उ. २ के पाठ में लिखा है—'असुरकुमार देव में नपुंसकवेद नहीं पाया जाता है।' यदि भवनपति में असंज्ञी का अपर्याप्त भेद होता है, तब नपुंसकवेद भी पाया जाना चाहिए। परन्तु यह बात भगवतीसूत्र के उक्त पाठ से विरुद्ध है। इसलिए भवनपति और व्यन्तर देवों में असंज्ञी के अपर्याप्त भेद को मानना अनुचित है।'

प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असंज्ञी का अपर्याप्त भेद का आगम में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसलिए उनमें असंज्ञी का अपर्याप्त भेद है और इसका सद्भाव होने से उनमें नपुंसक वेद भी पाया जाता है। परन्तु वह अवस्था अन्तर्मुहूर्त की होती है। इसलिए उसकी विवक्षा न करके भगवती सूत्र में असुरकुमार में नपुंसकवेद का निषेध किया है। जैसे भगवतीसूत्र, श. ३०, उ. १ में सम्यग्दृष्टि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव को विशिष्ट सम्यक्त्व का अभाव होने से क्रियावादी एवं विनयवादी होने का निषेध किया है; परन्तु सम्यक्त्व का सर्वथा अभाव होने से नहीं। उसी तरह भगवतीसूत्र में भवनपति एवं व्यन्तर देवों में विशिष्ट असंज्ञी का अपर्याप्त भेद नहीं होने से उसमें नपुंसकवेद का निषेध किया है, परन्तु असंज्ञी के अपर्याप्त का सर्वथा अभाव होने से नहीं।

असंज्ञी से मरकर प्रथम नरकादि में जन्म लेने वाले जीवों में असंज्ञी का अपर्याप्त भेद होता है। क्योंकि आगम में सर्वत्र उन्हें असंज्ञी कहा है। यदि आगमकार को उनमें असंज्ञी का भेद मानना इष्ट नहीं होता, तो जैसे छोटे बालक-बालिका को असंज्ञी कहकर भी संज्ञी कहा है, उसी तरह असंज्ञी से मरकर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में जन्म लेने वाले जीवों को अवश्य ही संज्ञी कहते। परन्तु आगम में उन्हें कहीं भी संज्ञी नहीं कहा है। कुछ टीकाकारों ने तो स्पष्ट रूप से उनमें असंज्ञी के भेद का उल्लेख किया है। इसलिए पूर्वोक्त दृष्टान्तों के आधार पर प्रथम नरक, भवनपति एवं व्यन्तर देवों में असंज्ञी के अपर्याप्त भेद के होने का निषेध करना आगम-ज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

आगम-अध्ययन-अधिकार
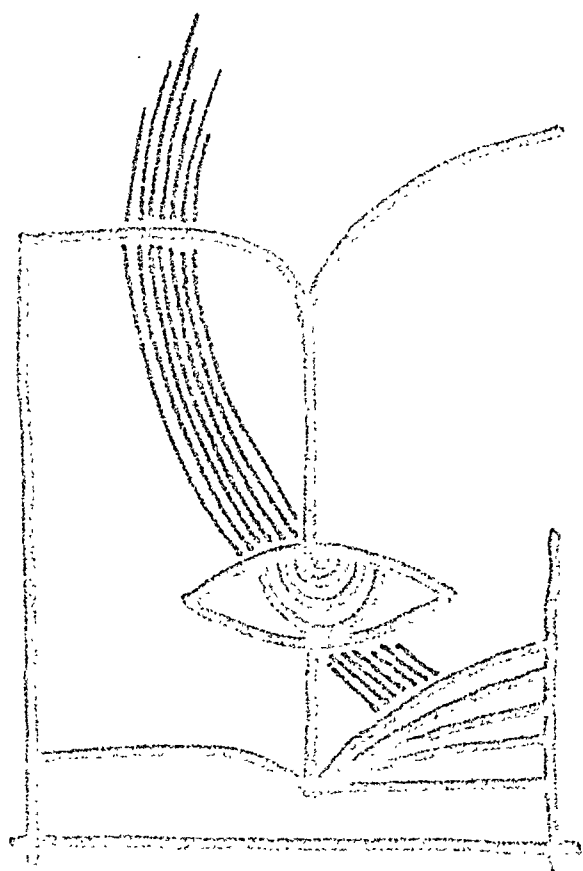
स्वाध्याय के अतिचार
श्रावक आगम पढ़ सकता है
आगम-वाचना का क्रम
श्रावक अधिकारी है
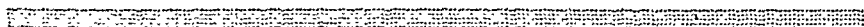
स्वाध्याय के अतिचार

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६१ पर लिखते हैं—

'केतला एक कहे—गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा छै, ते सूत्रना अजाण छै। अने भगवन्त नी आज्ञा तो साधु ने इज छै। पिण सूत्र भणवा री गृहस्थ ने आज्ञा दीधी नथी।'

समुच्चय गृहस्थ का नाम लेकर श्रावक को भी आगम का अध्ययन एवं वाचन करने का निषेध करना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि आगम में साधु एवं श्रावक दोनों के लिए आगम स्वाध्याय के चवदह अतिचार कहे हैं। यदि श्रावक को आगम पढ़ने का अधिकार ही नहीं है, तो फिर उसके लिए आगम वाचन के अतिचारों का उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी? आगम में शास्त्रों के भेद करके उनके चवदह अतिचार बताए हैं—

अहवा तं समासओ दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—अंग पविट्ठं, अंग बाहिरं च।

से किं तं अंग बाहिरं?

अंग बाहिरं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—आवस्सयं च, आवस्सय वइरितं च।

से किं तं आवस्सय?

आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं तं जहा—सामाइयं जाव पच्चक्खाणं से तं आवस्सयं।

से किं तं आवस्सय वइरित्तं?

आवस्सय वइरित्तं दुविहं पण्णत्तं तं जहा—कालियं च उक्कालियं च।

—नन्दीसूत्र

प्रकारान्तर से आगम के दो भेद हैं—अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य।

अंग वाह्य क्या है?

अंग वाह्य भी दो प्रकार का है—आवश्यक और आवश्यक से भिन्न।

आवश्यक क्या है?

आवश्यक के ६ भेद हैं—सामायिक से लेकर प्रत्याख्यान पर्यन्त।

आवश्यक से भिन्न क्या है?

वह भी दो प्रकार का है—कालिक और उत्कालिक।

जो आगम प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या काल एवं अर्धरात्रि के दो घड़ी—४८ मिनट के समय को छोड़कर शेष सब समय में पढ़े जा सकते हैं, वे उत्कालिक और जो दिन एवं रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में ही पढ़े जाते हैं, वे कालिक सूत्र कहलाते हैं। अतः आगम में इन सबका स्वाध्याय करने में चवदह प्रकार के अतिचारों का त्याग करने का कहा है—

जं वाइद्धं, वच्चामेलियं, हीणक्खरियं, अच्चक्खरियं, पयहीणं, विणयहीणं, घोसहीणं, जोगहीणं, सुट्ठवदिन्नं, दुट्ठपडिच्छियं, अकाले कओ सज्झाओ, काले न कओ सज्झाओ, असज्झाए सज्झाइयं, सज्झाए न सज्झायं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

—आवश्यकसूत्र

आगम स्वाध्याय के चवदह अतिचार होते हैं—१. व्याविद्ध—विपरीत गुंथी हुई रत्नमाला की तरह क्रम का त्याग करके व्युत्क्रम से स्वाध्याय करना, २. व्यत्याम्रेडित—बार-बार पुनरुक्ति करके पढ़ना, ३. हीनाक्षर—अक्षरों को कम करके पढ़ना, ४. अत्यक्षर—अक्षर वढ़ाकर पढ़ना ५. पदहीन—किसी पद को छोड़कर पढ़ना, ६. विनयहीन—विनय का त्याग करके स्वाध्याय करना, ७. घोषहीन—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि घोष से रहित स्वाध्याय करना, ८. योगहीन—अच्छी तरह योगोपचार करके नहीं पढ़ना, ९. सुष्ट्रवदत्त—गुरु से पाठ लिए विना पढ़ना, १०. दुष्टु प्रतीच्छित्त—दुष्ट अन्तःकरण से पाठ का स्वाध्याय करना, ११. अकाले कृत स्वाध्याय—जिस आगम को पढ़ने का जो काल नहीं है, उसमें उसे पढ़ना, १२. काले न कृत स्वाध्याय—जिस समय में जिस आगम को पढ़ने का काल है, उसमें उसे नहीं पढ़ना, १३. अस्वाध्याये स्वाध्यायित—अनाध्याय-अस्वाध्याय के समय में स्वाध्याय करना और १४. स्वाध्याये न स्वाध्यायित—स्वाध्याय के समय में स्वाध्याय नहीं करना।

उक्त चवदह अतिचार साधु की तरह श्रावक के भी कहे हैं, श्रावक के कुल ९९ अतिचार होते हैं, उनमें उक्त चवदह भी सम्मिलित हैं। आचार्य भीषणजी ने भी वारह व्रत की ढ़ाल में लिखा है—

चौदह अतिचार ज्ञान रा पांच समकित ना जाण।

इसमें आचार्य भीषणजी ने आगम स्वाध्याय के चवदह अतिचार श्रावकों के भी स्वीकार किए हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को भी आगम पढ़ने एवं उसका स्वाध्याय करने का अधिकार है। यदि उन्हें आगम पढ़ने का अधिकार नहीं होता, तो उनके उक्त चवदह अतिचार क्यों कहते? क्योंकि ये अतिचार आगम का स्वाध्याय करने वाले व्यक्ति को ही लग सकते हैं और उसे ही इनसे बचने के लिए कहा गया है। अस्तु श्रावक के लिए आगम पढ़ने का सर्वथा निषेध करना आगमसम्मत नहीं है।

श्रावक आगम पढ़ सकता है

भ्रमविध्वंसनकार का मत है कि श्रावकों को प्रतिक्रमण सूत्र पढ़ने का अधिकार है, परन्तु अन्य आगम पढ़ने का अधिकार नहीं है। इसलिए ये चवदह ज्ञान के अतिचार श्रावकों के कहे हैं।

भ्रमविध्वंसनकार का उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उक्त चवदह अतिचारों में काल में स्वाध्याय न करने और अकाल में स्वाध्याय करने का भी उल्लेख है। ये अतिचार आवश्यकसूत्र के पढ़ने में नहीं लगते। क्योंकि वह कालिक और उत्कालिक से भिन्न है, इसलिए उसके पढ़ने में काल-विशेष का नियम नहीं है। अतः जिनका स्वाध्याय करने में काल-विशेष का नियम है, उनके स्वाध्याय में ही ये अतिचार लगते हैं। यदि श्रावक को आवश्यक से भिन्न आगमों का स्वाध्याय करने का अधिकार ही नहीं है, तो उसे उक्त अतिचार कैसे लगेंगे? आचार्य भीषणजी ने भी श्रावक के लिए अकाल में स्वाध्याय करने और काल में न करने रूप अतिचार को स्वीकार करते हुए लिखा है—

अकाले करें सज्झाय हो श्रावक, काले सज्झाय करे नहीं।
असज्झाय में करें सज्झाय हो श्रावक, सज्झाय वेला आलस करे।
जव ज्ञान थारो मेलो थाय हो श्रावक, अतिचार लागे ज्ञान ने।

—बारह व्रत की ढाल

आचार्यश्री भीषणजी के उक्त कथन से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को काल-विशेष में पढ़े जाने वाले आवश्यक से भिन्न आगमों का स्वाध्याय करने का अधिकार है। अन्यथा श्रावक को अकाल में स्वाध्याय करने और काल में स्वाध्याय न करने रूप अतिचार कैसे होगा? नन्दी और समवायांगसूत्र एवं उसकी टीका में श्रावक के लिए लिखा है—

सुय परिग्गहा तपोवहाणाइं।
श्रुत परिग्रहास्तप उपधानानि प्रतीतानि।

श्रावक आगम का अध्ययन करने वाले एवं उपधान तप करने वाले होते हैं।

प्रस्तुत पाठ एवं टीका में श्रावक को 'आगम पढ़ने वाला' कहा है। यदि श्रावक को आगम पढ़ने का अधिकार ही नहीं है, तो वह श्रुत परिग्रही कैसे हो सकता है? अतः आगम के प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को आवश्यक से भिन्न आगम पढ़ने का भी अधिकार है। अतः उक्त बात को नहीं मानना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

आगम-प्रमाण

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६६ पर लिखते हैं—

'जे नन्दी, समवायांग साधां ने 'सुय परिग्गहिया' कह्या ते तो सूत्र श्रुत अनें अर्थ श्रुत बिहूंना ग्रहण करवा थकी कह्या छै। अने श्रावकों ने 'सुय परिग्गहा' कह्या ते अर्थ श्रुत ना हिज ग्रहण करणहार माटे जाणवा।'

नन्दी और समवायांग सूत्र में साधु और श्रावक दोनों के लिए एक समान **सुय परिग्गहा** पाठ आया है। अतः यह कदापि नहीं हो सकता कि साधु के लिए इसका भिन्न अर्थ हो और श्रावक के लिए भिन्न। उक्त पाठ की टीका एवं टब्बा अर्थ में भी यह नहीं लिखा है कि साधु तो सूत्र और अर्थ दोनों पढ़ता है और श्रावक केवल अर्थ ही पढ़ता है। अतः इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक को सूत्र और अर्थ दोनों पढ़ने का अधिकार है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—'पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन—आगम का कोविद—विद्वान् या पण्डित था।'

निग्गंथे पावयणे सावए से वि कोविए।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २१, २

यदि श्रावक को आगम पढ़ने का अधिकार ही नहीं होता, तो पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन का विद्वान् कैसे हो सकता था। और उत्तराध्ययन में राजमती के लिए लिखा है—'राजकन्या राजमती बड़ी शीलवती और बहुश्रुत थी।'

सीलवंता बहुस्सुया।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २२, ३२

इस विषय में बुद्धिमान विचारक स्वयं सोचे कि जब श्रावक को आगम पढ़ने का निषेध है, तब राजमती बहुश्रुत कैसे बनी? उववाई एवं सूत्रकृतांगसूत्र में श्रावकों के वर्णन में यह पाठ आया है—

आस्सव, संवर, निज्जर किरिया अहिगरण बन्ध-मोक्ख कुसला।

प्रस्तुत पाठ में श्रावक को द्वादशविध निर्जरा में कुशल होना कहा है, निर्जरा का दसवाँ भेद स्वाध्याय है। और स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—१. वाचना,

२. पुच्छणा, ३. पर्यटना, ४. अनुप्रेक्षा और ५. धर्मकथा। इन पाँच प्रकार के स्वाध्याय में वही व्यक्ति कुशल हो सकता है, जो सूत्र और अर्थ दोनों का ज्ञाता हो। परन्तु जो सूत्र पढ़ने का अधिकारी नहीं है, वह पाँच प्रकार के स्वाध्याय में कुशल नहीं हो सकता। स्वाध्याय में अकुशल होने से वह द्वादशविध निर्जरा में भी कुशल नहीं हो सकता। परन्तु श्रावक को द्वादशविध निर्जरा में कुशल कहा है। इसलिए वह पंचविध स्वाध्याय में कुशल होता है। अतः वह आगम पढ़ने का अधिकारी है।

ज्ञाता सूत्र में बताया है—'सुबुद्धि प्रधान ने जित्तशत्रु राजा को विचित्र प्रकार से केवली-प्रणीत धर्म का उपदेश दिया।' यदि श्रावक आगम नहीं पढ़ते, तो सुबुद्धि प्रधान बिना आगम सीखे राजा को जिन-प्ररूपित धर्म का उपदेश कैसे दे सकता था? आगम में स्थान-स्थान पर श्रावक को 'धमक्खाइ'—धर्म का यथार्थ प्रतिपादन करने वाला कहा है। आगम का बोध प्राप्त किए बिना वह धर्माख्यायी कैसे कहा जाता। इसलिए श्रावक को आगम पढ़ने का निषेध करना भारी भूल है।

सत्य की प्रशंसा

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६१ पर प्रश्नव्याकरणसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ कह्यो—उत्तम महर्षि साधु ने इज सूत्र भणवारी आज्ञा दीधी, ते साधु सिद्धान्त भणी ने सत्य वचन जाणे भाषे। अने देवेन्द्र-नरेन्द्रादिक ने भाष्या अर्थ ते सांभली सत्य वचन जाणे। ए तो प्रत्यक्ष साधु ने इज सूत्र भणवारी आज्ञा करी। पिण गृहस्थ ने सूत्र भणवारी आज्ञा नहीं। ते माटे श्रावक सूत्र भणे ते आपरे छांदे, पिण जिन आज्ञा मांही नहीं।'

प्रश्नव्याकरणसूत्र उक्त पाठ एवं उसकी टीका लिखकर समाधान कर रहे हैं—

तं सच्चं भगवं तित्थयर सुभासियं दसविहं चोद्दस पूव्वीहिं पाउडत्थ विदितं महरिसीणयसमयप्पादिन्नं देविन्द-नरिन्द भासियत्थं वेमाणियसाहियं महत्थं मंतोसहि विज्जासाहणत्थं।

—प्रश्नव्याकरणसूत्र, दूसरा संवर द्वार

तमिति यस्मादेवं सत्यं द्वितीयं महाव्रतं भगवद् भट्टारक तीर्थंकर सुभाषितं जिनैः सुष्टूक्तं दशविधं दशप्रकारं जनपदसम्मत सत्यादि भेदेन दशवैकालिकादि प्रसिद्धं चतुर्दशपूर्विभिः प्राभृतार्थ वेदितं पूर्वगत्तांश-

विशेषाभिधेयतया ज्ञातं, महर्षीणां च समयेन सिद्धान्तेन 'पइन्नं' त्ति प्रदत्तं समय प्रतिज्ञा वा समाचाराभ्युपगमः। पाठान्तरे 'महरिसी समय पइन्न चिन्न' त्ति महर्षिभिः समय प्रतिज्ञा सिद्धान्ताभ्युपगमः। समाचाराभ्युपगमोवेति चरितं यत् तत्तथा। अथवा देवेन्द्र-नरेन्द्रैः भासितः प्रतिभासितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा। अथवा देवेन्द्रादीनां भाषिताः अर्थाः जीवादयो जिनवचनरूपेण येन तत्तथा। तथा वैमानिकानां साधितं प्रतिपादितमुपादेयतया जिनादिभिर्यत्तत्तथा। वैमानिकैर्वा साधितं कृतमासेवितं समर्थितं वा यत्तत्तथा। महार्थं महाप्रयोजनं एतदेवाह मन्त्रौषधि विद्यानां साधनमर्थः प्रयोजनं यस्य तद्विना तस्याभावात्तत्तथा।

सत्य दूसरा महाव्रत है। तीर्थंकरों ने इसे दस प्रकार का कहा है। जनपद-सम्मत सत्यादि के भेद से दस प्रकार का सत्य दशवैकालिकादि आगमों में प्रसिद्ध है। चतुर्दश पूर्वधरों ने इसको पूर्वान्तरगत प्राभृत श्रुत-विशेष से जाना है। महर्षियों के सिद्धान्त से यह सत्य दिया गया है, या महर्षियों ने सत्यभाषण की प्रतिज्ञा की है। अथवा पाठान्तर के अनुसार महर्षियों ने सत्यभाषण की प्रतिज्ञा की या सत्यभाषण किया। देवेन्द्र और नरेन्द्रों ने सत्यभाषण का धर्मादि रूप प्रयोजन मनुष्यों को बताया। उनके द्वारा सत्यभाषण का प्रयोजन प्रतिभासित हुआ। सत्य ने ही उनको जिन-वचन रूप से जीवादि पदार्थों का बोध कराया। वैमानिक देवों ने इस सत्य को स्वीकार किया। उन्होंने सत्य का सेवन एवं समर्थन किया। यह सत्य महान् प्रयोजनों को सिद्ध करता है। सत्य के अभाव में मंत्र, औषधि एवं विद्याएँ सिद्ध नहीं होतीं।

प्रस्तुत पाठ में सत्य महाव्रत के महत्त्व को बताया है, इसमें आगम के पढ़ने, न पढ़ने की कहीं चर्चा ही नहीं है। इसलिए इस पाठ का नाम लेकर श्रावक को आगम पढ़ने का निषेध करना गलत है। यहाँ सत्य की प्रशंसा करते हुए महरिसीणय समय पइन्नं देविन्दनरिन्दभासियत्थं जो पाठ दिया है, इसका टीकाकार ने यह अर्थ किया है—

महर्षीणां च समयेन सिद्धान्तेन प्रदत्तं, देवेन्द्र-नरेन्द्राणां भासितोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथा।

प्रस्तुत पाठ एवं उसकी टीका में सत्य महाव्रत की प्रशंसा है। परन्तु इसमें आगम पढ़ने के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। तथापि भ्रमविध्वंसनकार यह बताते हैं—'उत्तम ऋषि-महर्षियों को ही शास्त्र पढ़ने का अधिकार है, देवेन्द्र एवं नरेन्द्रों को सूत्र का अर्थ जानने का ही अधिकार है।' परन्तु टीकाकार ने महर्षीणां

समयेन प्रदत्तं ऐसा तृतीया तत्पुरुष समास दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया कि सत्य वचन महर्षियों के सिद्धान्त से प्रदत्त है। अतः इसका 'महर्षियों को ही सिद्धान्त दिया गया' अर्थ करना सर्वथा गलत एवं व्युत्पत्ति से विरुद्ध है। इसी तरह दूसरे विशेषण का यह अभिप्राय बताना भी उपयुक्त नहीं है कि देवेन्द्र और नरेन्द्र को सिर्फ अर्थ जानने का ही अधिकार है। क्योंकि टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ अर्थ शब्द का प्रयोजन अर्थ है, शब्द का या सूत्र का अर्थ नहीं। अतः उक्त दोनों विशेषणों का व्युत्पत्ति-विरुद्ध अर्थ करके श्रावक को आगम पढ़ने का निषेध करना नितान्त असत्य है।

आगम-वाचना का क्रम

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६२ पर व्यवहारसूत्र का प्रमाण देकर लिखते हैं—

'दस वर्ष दीक्षा लियां साधु ने कल्पे भगवतीसूत्र भणिवो। ए साधु ने पिण मर्यादा सूत्र भणवारी कही। जे तीन वर्ष दीक्षा लिया पछे निशीथसूत्र भणवो कल्पे। अने तीन वर्ष दीक्षा लियां पहिला तो साधु ने पिण निशीथसूत्र भणवो न कल्पे। अने तीन वर्ष पहिलां साधु निशीथसूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा नहीं। ते गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी आज्ञा किम देवे?'

व्यवहारसूत्र में दीक्षा लेने के तीन वर्ष बाद निशीथ और दस वर्ष बाद भगवती-सूत्र पढ़ने का विधान है। परन्तु यह सबके लिए नहीं। क्योंकि इसी आगम में विशिष्ट योग्यता वाले मुनि को तीन वर्ष की दीक्षा के बाद ही आगम में जघन्य आचारांग, निशीथसूत्र और उत्कृष्ट द्वादशांग का अध्ययन करने वाला बहुश्रुत कहा है।

तिवासपज्जाए समणे-निग्गंथे आयारकुसले, संजमकुसले, पवयणकुसले, पण्णत्तिकुसले, संग्गहकुसले, उवग्गहकुसले, अक्खयायारे, असबलायारे, अभिन्नायारे, असंकिलिट्ठायारचरित्ते, बहुस्सुए, बब्भागमे जहण्णेणं आयारकप्पधरे कप्पइ उवज्झायत्ताए उद्दिसित्तए।

—व्यवहारसूत्र, ३

तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला श्रमण—निर्ग्रन्थ, जो आचार-कुशल, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह एवं उपग्रह कुशल, अक्षताचार—अखण्डित आचार वाला, असवलाचार, अभिन्नाचार, असंक्लिष्टाचार, वहुश्रुत और वह्नागम है, जघन्य आचारांग, निशीथ और उत्कृष्ट द्वादशांगधर है, उसे उपाध्याय पद देना कल्पता है।

वहुश्रुत की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है—

तथा बहुश्रुतं सूत्रं यस्यासौ बहुश्रुतः तथा वहुरागमोऽर्थरूपोयस्स स वह्नागमः। जघन्येनाचारकल्पधरो-निशीथाध्ययनसूत्रार्थधर इत्यर्थ। जघन्यतः आचार-कल्पग्रहणात् उत्कृष्टतो द्वादशांग विदिति।

जिसने बहुत आगमों का अध्ययन किया है, वह बहुश्रुत है और जो बहुत अर्थरूप आगम का ज्ञाता है, वह बह्वागम कहलाता है। तात्पर्य यह है कि तीन वर्ष की दीक्षा पर्यायवाला, जो साधु जघन्य आचारांग, निशीथसूत्र का अर्थ जानता हो और उत्कृष्ट द्वादशांगी का ज्ञाता हो, वह उपाध्याय बनाया जा सकता है।

प्रस्तुत पाठ एवं टीका में तीन वर्ष की दीक्षा वाले साधु को उत्कृष्ट द्वादशांग का ज्ञाता कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहारसूत्र में तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय के बाद निशीथ और दस वर्ष के बाद भगवतीसूत्र पढ़ने का विधान किया है, वह एकान्त नियम नहीं है। विशेष योग्यता वाला साधु तीन वर्ष में द्वादशांग का भी अध्ययन कर सकता है। अतः व्यवहारसूत्र का नाम लेकर श्रावक को आगम पढ़ने का निषेध करना नितान्त असत्य है।

श्रावक वाचना ले सकता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६४ पर निशीथसूत्र, उ. १९ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'जे आचार्य, उपाध्याय नी अणदीधी वांचणी आचरे, तथा आचरतां ने अनुमोदे, तो चौमासी दण्ड आवे। तो गृहस्थ आपरे मते सूत्र भणे, ते तो आचार्य नी अणदीधी वाचणी छै। तेहनी अनुमोदना कियां दंड आवे, तो जे अणदीधां वांचणी गृहस्थ आचरे तेहने धर्म किम कहिए?'

गुरु से अध्ययन किए बिना अपने मन से आगम का वाचन करने पर 'सुष्ठवदिन्नं' ज्ञान का अतिचार लगता है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए निरतिचार शास्त्र अध्ययन करने वाले श्रावक को गुरु से अध्ययन करने के बाद स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि 'सुष्ठवदिन्नं' नामक अतिचार साधु की तरह श्रावक का भी कहा है। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि श्रावकों को गुरु से आगम पढ़ने का अधिकार है। यदि श्रावक को आगम पढ़ने का अधिकार ही नहीं होता, तो उसे 'सुष्ठवदिन्नं' अतिचार कैसे लगता? अतः निशीथसूत्र में गुरु से वांचना लिए बिना आगम अध्ययन करने से प्रायश्चित्त बताया है। अतः जो श्रावक गुरु से वाचना लेकर आगम का स्वाध्याय करता है, उसके स्वाध्याय का अनुमोदन करने से प्रायश्चित्त नहीं आता। अतः निशीथसूत्र का नाम लेकर श्रावक को आगम पढ़ने का अनधिकारी बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

श्रावक सूत्र पढ़ सकता है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६५ पर स्थानांगसूत्र स्थान ३, उ. ४ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

इहाँ कह्यो—ए तीन वांचणी देवा योग्य नहीं—१. अविनीत, २. विगेना

लोलपी, ३. क्रोधी खमावी बली-बली उदेरे। ए तीन साधु ने पिण वांचणी देनी नहीं, तो गृहस्थ तो क्रोधी, मानी पिण हुवे, अविनीत पिण हुवे। विगे नो गृद्ध, स्त्री आदिक नो गृद्ध पिण हुवे। ते माटे श्रावक ने वांचणी देणी नहीं।'

स्थानांग, स्थान तीन का नाम लेकर सभी श्रावकों को अविनीत, लोलुप और क्रोधी आदि बताकर उन्हें आगम पढ़ने का अनधिकारी बताना गलत है। जैसे साधुओं में कोई साधु अविनीत, लोभी और क्रोधी होता है, उसी तरह श्रावकों में भी कोई श्रावक अविनीत, लोलुपी एवं क्रोधी हो सकता है। अतः स्थानांगसूत्र में ऐसे साधु एवं श्रावक को आगम पढ़ने का निषेध किया है। परन्तु जो श्रावक अविनीत, लोलुपी एवं क्रोधी नहीं है, उसको आगम पढ़ने का निषेध नहीं है।

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६६ पर उववाई और सूत्रकृतांगसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहाँ कह्यो—अर्थ लाधा छै, अर्थ ग्रह्या छै, अर्थ पूछ्या छै, अर्थ जाण्या छै, इहाँ श्रावकों ने अर्थां रा जाण कह्या। पिण इम न कह्यो 'लद्ध सुत्ता' जे लाधा भण्या छै सूत्र इम न कह्यो। ते माटे सिद्धान्त भणवा नी आज्ञा साधु ने इज छै, पिण श्रावक ने नहीं।'

जैसे उववाई एवं सूत्रकृतांगसूत्र में श्रावक को अर्थ का ज्ञाता कहा है, उसी तरह समवायांग एवं नन्दीसूत्र में उसे सूत्र का भी ज्ञाता कहा है—

सुय परिग्गहिया तवोवहाणाइं।

श्रावक सूत्र का अध्ययन और उपधान नामक तप करने वाले होते हैं।

प्रस्तुत पाठ में श्रावक को आगम का अध्ययन करने वाला कहा है। अस्तु, उववाई एवं सूत्रकृतांगसूत्र में श्रावक को जो अर्थ का ज्ञाता कहा है, उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह अर्थ जानने का ही अधिकारी है, सूत्र पढ़ने का नहीं। क्योंकि समवायांगसूत्र से श्रावक सूत्र पढ़ने का और सूत्रकृतांगसूत्र से अर्थ जानने का अधिकारी सिद्ध होता है।

इसी तरह सूत्रकृतांग, अ. ११, गाथा २४ का प्रमाण देकर भ्रमविध्वंसनकार ने जो यह लिखा है—'आत्मगुप्त साधु इज धर्मनो प्ररूपणहार छै' वह भी सर्वथा गलत है। क्योंकि उक्त गाथा में श्रावक के धर्मोपदेशक होने का निषेध नहीं किया है। उववाईसूत्र में श्रावक को **धम्माक्खाई**—'धर्मोपदेष्टा' कहा है। और भ्रमविध्वंसनकार ने भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ २३४ पर श्रावक को धर्मोपदेशक स्वीकार किया है—'श्रुत-चारित्र रूप धर्म संभलावे ते—धर्माख्याता कही जे' तथापि सूत्रकृतांगसूत्र की गाथा का नाम लेकर श्रावक के धर्मोपदेशक होने का निषेध करना आगम एवं स्व-कथन से विरुद्ध है।

श्रावक अधिकारी है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ३६८ पर सूर्यप्रज्ञप्ति पाहुड़ २०, गाथा तीन–चार की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ इहां कह्यो—ए सूत्र अभाजन ने सिखावे ते कुल, गण, संघ बाहिरे ज्ञानादिक रहित कह्यो। अरिहन्त, गणधर, स्थविर नी मर्यादा नो लोपनहार कह्यो। जो साधु अभाजन ने पिण न सिखावणो तो गृहस्थ तो प्रत्यक्ष पंच आश्रव नो सेवणहार अभाजन इज छै। तेहने सिखायां धर्म किम हुवे?'

सूर्यप्रज्ञप्ति में अभाजन को आगम पढ़ाने का निषेध किया है। वहाँ यह नहीं बताया है कि श्रावक अभाजन होता है, इसलिए उसे आगम नहीं पढ़ना चाहिए। अतः सूर्यप्रज्ञप्ति की गाथा का नाम लेकर श्रावक को आगम पढ़ने का अनधिकारी बताना भारी भूल है। वस्तुतः श्रावक अभाजन नहीं है। क्योंकि वह चतुर्विध तीर्थ में सम्मिलित है। आगम में श्रावक को गुणरूपी रत्न का पात्र कहा है। इसलिए श्रावक अभाजन नहीं, भाजन है। जैसे कई साधु आगम में आगम पढ़ने के अभाजन—अयोग्य कहे गए हैं, वैसे कतिपय श्रावक भी अयोग्य हो सकते हैं। ऐसे अयोग्य साधु एवं श्रावक को आगम पढ़ाने का निषेध किया है। परन्तु यहाँ सभी श्रावकों को अयोग्य बताकर आगम पढ़ने का निषेध नहीं किया है।

स्थानांगसूत्र के स्थान दो में धर्म के दो भेद—श्रुत और चारित्र धर्म बताकर श्रावक को श्रुत धर्म एवं देश चारित्र वाला बताया है, तथा साधु को श्रुतवान एवं सम्पूर्ण चारित्र वाला। इससे स्पष्ट होता है कि श्रावक भी आगम पढ़ने का अधिकारी है। क्योंकि आगम पढ़े विना वह श्रुतसम्पन्न कैसे होगा। स्थानांगसूत्र स्थान चार में लिखा है—

सुय सम्पन्ने नाममेगे, नो चरित्त सम्पन्ने।

—स्थानांगसूत्र, ४, ३, ३२०

कोई पुरुष श्रुतसम्पन्न होता है, चारित्रसम्पन्न नहीं होता। चारित्रसम्पन्न होता है, श्रुतसम्पन्न नहीं होता। कोई श्रुत और चारित्र उभयसम्पन्न होता है। कोई श्रुत और चारित्र उभयसम्पन्न नहीं होता।

यहाँ चारित्ररहित पुरुष को श्रुतसम्पन्न कहा है। यदि साधु से भिन्न व्यक्ति को आगम पढ़ने का अधिकार नहीं है, तो चारित्ररहित पुरुष श्रुतसम्पन्न कैसे हो सकता है?

प्रस्तुत पाठ में शीलरहित को श्रुतसम्पन्न कहा है। यदि साधु के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति आगम पढ़ने का अधिकारी नहीं है, तब शीलरहित पुरुष श्रुतसम्पन्न कैसे होगा? अतः श्रावक को आगम पढ़ने का अनधिकारी बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

पार्श्वस्थ को वाचना न दे

निशीथसूत्र, उ. १६ में लिखा है—

जे भिक्खू पासत्थं वायइ-वायं तं वा साइज्जइ।
जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ-पडिच्छं तं वा साइज्जइ।

जो साधु पासत्था को पढ़ाता है या पढ़ाते हुए को अच्छा समझता है और जो पासत्थ से पढ़ता है, या पढ़ते हुए को अच्छा समझता है, उसे प्रायश्चित्त आता है।

इसी तरह उसन्न, कुशील आदि के लिए भी पाठ आया है। इन पाठों के अनुसार जब परिग्रहरहित, स्त्री आदि के त्यागी पासत्थ आदि को भी आगम पढ़ने का निषेध है, तब फिर श्रावक तो परिग्रही हैं, स्त्री को रखता है, वह आगम पढ़ने का अधिकारी कैसे हो सकता है?

पार्श्वस्थ, उसन्न, कुशील आदि केवल साधु ही नहीं, श्रावक भी होते हैं। अतः निशीथसूत्र के उक्त पाठों में जो श्रावक पार्श्वस्थ आदि हैं, उन्हें आगम पढ़ने का निषेध किया है, सभी श्रावकों को नहीं। भगवतीसूत्र में श्रावक को भी पार्श्वस्थ, कुशील आदि कहा है—

तए णं ते तायतिसं सहाया गाहावइ समणोवासगा पुव्विं उग्गा-उग्गविहारी, संविग्ग-संविग्गविहारी भवित्ता तओपच्छा पासत्था-पासत्थविहारी, ओसन्ना-ओसन्नविहारी, कुसीला-कुसीलविहारी, अहाच्छंदा-अहाच्छन्दविहारी बहूइं वासाइं समणोवासग परियायं पाउणंति।

—भगवतीसूत्र, १०, ४, ४०४

इसके अनन्तर सहयोगी वे त्रासतीस कुटुम्ब नामक श्रावक पहले उग्र-उग्र विहारी, संविग्न-संविग्न विहारी होकर पीछे पार्श्वस्थ-पार्श्वस्थ विहारी,

उसन्न-उसन्न विहारी, कुशील-कुशील विहारी, यथाच्छन्द-यथाच्छन्द विहारी होकर रहने लगे और बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करते रहे।

प्रस्तुत पाठ में श्रावक को भी पार्श्वस्थ, उसन्न, कुशील आदि कहा है। इसलिए जो श्रावक पार्श्वस्थ आदि हैं, उन्हें आगम पढ़ने का निशीथसूत्र में निषेध किया है। अतः निशीथ का नाम लेकर श्रावक मात्र को आगम पढ़ने का निषेध बताना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

पार्श्वस्व का स्वरूप

पार्श्वस्थ किसे कहते हैं?

आगम में ज्ञानादि आचार के आठ भेद बताए हैं। उनमें दोष लगाने वाले को पार्श्वस्थ कहा है।

काले, विणए, बहुमाणे, तहय अनिह्णवणे।
वंजन अत्थ तदुभये, अट्ठविहो नाणमायारो।।

—आचारांग सूत्र टीका

१. यथाकाल कालिक आगमों का स्वाध्याय करना, २. विनयपूर्वक अध्ययन करना, ३. बहुमान के साथ अध्ययन करना, ४. उपधान तप करते हुए अध्ययन करना, ५. आगम की वांचना देने वाले के नाम को नहीं छुपाना, ६. सूत्र, ७. अर्थ और ८. उन दोनों का अध्ययन करना।

उक्त ज्ञानाचारों में दोष लगाने वाले को पार्श्वस्थ कहते हैं। भगवतीसूत्र में श्रावकों को भी पार्श्वस्थ कहा है। यदि श्रावक को आगम पढ़ने का अधिकार ही नहीं है, तब वह ज्ञानाचार में दोष लगाकर पार्श्वस्थ कैसे होगा? अतः इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी आगम पढ़ने का अधिकारी है।

उत्तराध्ययनसूत्र में लिखा है—'जो व्यक्ति आगम का स्वाध्याय करते हुए आचारांग आदि अंग और अंगबाह्य—उत्तराध्ययन आदि के द्वारा सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करता है उसे 'सूत्ररुचि' कहते हैं'—

जे सुत्त महिज्जंतो, सुएण ओगाहइउ संमत्तं।
अंगेण बाहिरेण य सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २८, २१

प्रस्तुत गाथा में बताया है—जो पुरुष साधु नहीं है, परन्तु आगमों को पढ़कर सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करता, वह 'सूत्ररुचि' है। इससे स्पष्टतः सिद्ध होता है कि साधु से भिन्न व्यक्ति को भी आगम पढ़ने का अधिकार है। अतः साधु के अतिरिक्त सबको आगम पढ़ने का अनधिकारी बताना नितान्त असत्य है।
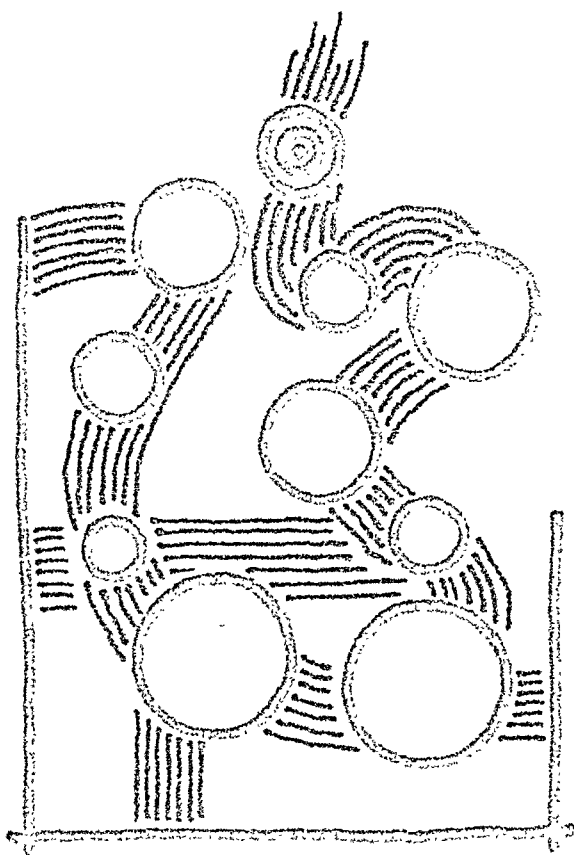
अल्प-पाप और बहु-निर्जरा

अल्प-पाप और बहु-निर्जरा

भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६ में साधु को अप्रासुक एवं अनेषणिय आहार देने से अल्पतर पाप और वहुतर निर्जरा होना लिखा है, उसकी व्याख्या करते हुए भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४४६ पर लिखते हैं—'तेहने अल्प पाप, ते पाप तो नहिंज छै। अने हर्ष थी दीधां वहुत घणी निर्जरा हुवे।'

भगवतीसूत्र का उक्त पाठ एवं उसकी टीका लिखकर इसका समाधान कर रहे हैं—

समणोवासए णं भन्ते! तहारूवं समणं वा माहणं वा असासुएणं, अणेसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिलाभेमाणस्स किं कज्जइ?

गोयमा! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ, अप्पतराए से पाव कम्मे कज्जइ।

—भगवतीसूत्र, ८, ६, २३२

हे भगवन्! तथाविध के श्रमण-माहण को अप्रासुक, अनेषणीय आहार देने वाले श्रमणोपासक को क्या फल होता है?

हे गौतम! वहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है।

बहुतरिया त्ति पापकर्मापेक्षया 'अप्पतराए' त्ति अल्पतरं निर्जरापेक्षया। अयमर्थो गुणवते पात्रायाप्रासुकादि द्रव्यदाने चारित्रकायोपष्टंभो, जीवघातो व्यवहारतस्तच्चारित्रवाधा च भवति। ततश्च चारित्रकायोपष्टंभान्निर्जरा जीवघातादेश्च पापं कर्म 'तत्र च स्वहेतुसामर्थ्यात् पापापेक्षया वहुतरा निर्जरा, निर्जरापेक्षया चाल्पतरं पापं भवति। इह च विवेचकाः मन्यन्ते असंस्तरणादि कारणतए वा प्रासुकादि दाने वहुतरा निर्जरा भवति। नाकारणे, यदुक्तं—

संथरणम्मि असुद्धं दोण्ह, विगेण्हंत दिंतयाण हियं।
आउर दिट्ठं तेणं, तं चेव हियं असंथरणेत्ति।।

अन्येत्वाहुरकारणेऽपि गुणवत्पात्राया प्रासुकादि दाने परिणामवशात् बहुतरा निर्जरा भवति, अल्पतरं च पापं कर्मेति निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य परिणामस्य च प्रमाणत्वात्। आह च—

परम रहस्समिसीणं समत्तगणि पिडग किरियं साराणं।
परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं।।

यच्चोच्यते 'संथरणंमि असुद्धं' इत्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि दातृग्रहीत्रोरहित्तायेति तद् ग्राहकस्य व्यवहारतः संयमविराधनाद्दायकस्य च लुब्धक दृष्टान्त भावित्वेन वा ददतः शुभाल्पायुष्कता निमित्तत्वात्। शुभमपि चायुरल्पमहितं विवक्षया, शुभाल्पायुष्कता निमित्तं चाप्रासुकादि दानस्य अल्पायुष्कताफल प्रतिपादक सूत्रे प्राक् चर्चितम्। यत्पुनरहितत्वं तत्केवलिगम्यम्।

पापकर्म की अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होती है और निर्जरा की अपेक्षा पापकर्म बहुत थोड़ा होता है। इसका अभिप्राय यह है कि गुणवान पात्र को अप्रासुक अन्नादि का दान देने से उनके चारित्र एवं शरीर को सहायता मिलती है। और व्यवहार से चारित्र में विघ्न एवं जीवों की विराधना होती है। अतः चारित्र एवं शरीर की सहायता होने से निर्जरा होती है और जीव विराधना आदि होने से पाप होता है। चारित्र एवं शरीर की सहायता बहुत अधिक होती है और जीव विराधना बहुत थोड़ी, इसलिए अपने कारण के अनुरूप बहुत निर्जरा और निर्जरा की अपेक्षा से अल्पतर पाप होता है। इस विषय में विवेचक विचारकों का कहना है—'निर्वाह नहीं होने आदि कारणों से अप्रासुक वस्तु का दान करना बहुत निर्जरा का हेतु होता है, अन्यथा नहीं।' जैसे एक आचार्य का मत है—'निर्वाह होने पर अशुद्ध आहार देना और लेना, दाता एवं साधु दोनों के लिए अहितकर है। परन्तु रोगी की अपेक्षा से निर्वाह न होने पर—प्रासुक वस्तु न मिलने पर वह दान दोनों के लिए हितकर होता है।' इस विषय में अन्य विचारकों का कहना है—'कारण नहीं होने पर भी गुणवान पात्र को अप्रासुकादि आहार देने से बहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है। क्योंकि मूल सूत्र में कारण विशेष का उल्लेख नहीं किया है तथा गुणवान पात्र को श्रद्धापूर्वक अप्रासुक आहार देने वाले श्रमणोपासक का परिणाम शुद्ध है। इस परिणाम की शुद्धि के कारण बहुत निर्जरा और अन्न अशुद्ध होने के कारण अल्पतर पाप होता है।' जैसे आचार्यों ने कहा—'परम रहस्य के ज्ञाता, सम्पूर्ण द्वादशांग के सार के ज्ञाता, निश्चयनय का अवलम्बन करने वाले ऋषियों ने पुण्य-पाप आदि के विषय में परिणाम को ही प्रमाण माना है। अतः बिना कारण भी गुणवान पात्र को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से बहुत निर्जरा एवं अल्पतर पाप होता है। ऐसा समझना चाहिए।'

'संथरणाम्मि असुद्धं' गाथा में अप्रासुक दान देने एवं लेने वाले, दोनों के लिए जो अहित कहा है, वह इसलिए कहा है कि अशुद्ध आहार लेने से व्यावहारिक रूप से संयम की विराधना होती है। और लुब्धक के दृष्टान्तवत् दाता की शुभ अल्प आयु वन्धती है। यद्यपि वह आयु शुभ है, तथापि थोड़ी होने से उसके लिए अहितकर कही है। उक्त सूत्र में यह पहले ही वता दिया है कि अप्रासुक आदि का दान शुभ आयुबन्ध का कारण होता है। इस विषय में जो तत्त्व—यथार्थ वात है, वह केवलीगम्य है।

प्रस्तुत टीका में अल्पतर पाप शब्द का अर्थ—निर्जरा की अपेक्षा थोड़ा पाप और वहुतर निर्जरा का अर्थ—पाप की अपेक्षा वहुत अधिक निर्जरा होना किया है। परन्तु अल्पतर पाप का अर्थ—पाप का अभाव या विल्कुल पाप नहीं होना, नहीं कहा है। अतः अल्पतर पाप का अर्थ—पाप का अभाव वताना गलत है।

प्रस्तुत टीका में विवेचक एवं अन्य विचारकों के विचार से उक्त पाठ के दो अभिप्राय वताए हैं—प्रथम मत के अनुसार—सकारण अप्रासुक आहार के दान का फल अल्पतर पाप एवं वहुतर निर्जरा होती है और दूसरे विचारकों के अनुसार—अकारण भी अप्रासुक आहारादि का दान देने से अल्प पाप एवं वहुत निर्जरा का फल होता है। परन्तु उभय विचारकों का अल्पतर पाप शब्द के अर्थ में कोई मतभेद नहीं है। दोनों ने इसका अर्थ—निर्जरा की अपेक्षा से अल्प पाप होना स्वीकार किया है। अतः अल्पतर पाप शब्द का पाप का अभाव अर्थ करना नितान्त असत्य है।

अल्प पाप का अर्थ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४४८ पर 'यत्पुनरिहतत्त्वं तत्केवलिगम्यम्' का प्रमाण देकर लिखते हैं—

'अथ इहाँ पिण टीका में ए पाठ नो न्याय केवली ने भलायो, ते माटे अशुद्ध लेवारी थाप करणी नहीं।'

'अल्पतर पाप एवं वहुतर निर्जरा' शब्द के अर्थ के विषय में टीकाकार ने केवली पर न्याय करना नहीं छोड़ा है। टीकाकार ने उक्त शब्दों का स्पष्ट अर्थ किया है—निर्जरा की अपेक्षा अल्प पाप होना 'अल्पतर पाप' और पाप की अपेक्षा वहुत अधिक निर्जरा होना 'वहुतर निर्जरा' है। अतः अल्पतर पाप का अर्थ—पाप का अभाव नहीं, वल्कि निर्जरा की अपेक्षा थोड़ा पाप होना है। परन्तु उक्त टीका में टीकाकार ने जो दो तरह के विचारकों के परस्पर भिन्न विचारों को उद्धृत किया है—१. सकारण अप्रासुक आहार का दान देने से अल्प पाप और

बहुत निर्जरा होती है और २. बिना कारण अप्रासुक आहार का दान देने पर भी अल्प पाप और बहुत निर्जरा होती है। इन दोनों में से कौन-सा मत उपयुक्त है? इसका निर्णय टीकाकार ने स्वयं न करके यह लिख दिया—"यत्पुनरिहतत्त्वं तत्केवलीगम्यम्—उक्त दोनों में से कौन-सा मत श्रेष्ठ है, यह बात केवली जाने।

परन्तु टीकाकार को अल्पतर पाप शब्द के अर्थ के विषय में किसी तरह का संशय नहीं है। अतः इस टीका का प्रमाण देकर अल्पतर पाप शब्द का अर्थ—पाप का अभाव करना, टीका के अर्थ को नहीं समझने का परिणाम है।

अल्प का अर्थ : अभाव नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४४६ पर उक्त पाठ का
अभिप्राय बताते हुए लिखते हैं—'जो आहार असूझता हो गया है, परन्तु श्र
और साधु को इसका ज्ञान नहीं है। साधु सूझता समझकर ले रहा है और श्र
उसे सूझता समझकर दे रहा है, इस पाठ में उस दान का फल अल्पतर पाप
बहुतर निर्जरा होना बताया है। क्योंकि श्रावक उस आहार को सूझता समझ
देता है, इसलिए इसमें उसका कोई दोष नहीं है। इसलिए श्रावक को उस दा
अल्प पाप—थोड़ा भी पाप नहीं होता और बहुत निर्जरा होती है।'

श्रावक जिस आहार को असूझता—अकल्पनीय नहीं, कल्पनीय जा
साधु को देता है, वह आहार अप्रासुक नहीं, प्रासुक ही है। अतः इस दान का
उक्त पाठ के पूर्व के पाठ में एकान्त निर्जरा और थोड़ा भी पाप नहीं होना ब
है। उस बात को उक्त पाठ में पुनः दोहराना अनावश्यक है। अतः उक्त पा
अप्रासुक आहार देने का फल बताया है। टीकाकार ने भी स्पष्ट लिखा है कि
के चारित्र और शरीर की सहायता होती है, इसलिए अप्रासुक आहार दे
श्रावक को बहुत निर्जरा होती है और व्यवहार से चारित्र में विघ्न एवं हिंसा
है, इसलिए अप्रासुक आहार देने से थोड़ा-सा पाप भी होता है। यदि श्र
प्रासुक समझकर ही साधु को दे, तो टीकाकार ऐसा क्यों लिखते? सब
अप्रासुक आहार देने का फल अल्पतर पाप एवं बहुतर निर्जरा तथा अन्य विच
के अनुसार बिना कारण देने पर भी उक्त फल है, ऐसा लिखने का क्या प्रय
था? अतः यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि उक्त पाठ एवं उसकी टीक
साधु को अप्रासुक आहार देने का ही फल बताया है, प्रासुक आहार देने का न

भ्रमविध्वंसनकार ने अल्पतर पाप शब्द का गलत अर्थ किया है। टीक
ने इसका अर्थ—निर्जरा की अपेक्षा अल्प—थोड़ा पाप किया है, परन्तु पाप
अभाव नहीं। आगमों में अन्य स्थानों पर भी अल्प और बहुत शब्दों का प्र
हुआ है, वहाँ अल्प का अर्थ निषेध या अभाव न होकर थोड़ा होता है।

बहुपएसगओ, अप्पपएसगओ पकरेइ।

—उत्तराध्यय

अप्पपएसगाओ, बहुपएसगाओ।

—भगवतीसूत्र, १, ६

अप्पं वा बहुं वा।

—दशवैकालिकसूत्र

चउव्विहे अप्पा-बहुए पण्णत्ते।

—स्थानांगसूत्र, स्थान ४

कयरे कयरेहिं तो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा।

—भगवतीसूत्र, १६, ३; २५, ३

अप्पा वा बहुया वा।

—पन्नवणासूत्र, ३, ५७

अप्पतरो वा भुज्जतरो वा।

—उववाईसूत्र

इस तरह आगमों में अनेक स्थानों पर 'बहु' शब्द के साथ 'अल्प' शब्द का प्रयोग हुआ है और सर्वत्र उसका अर्थ—'थोड़ा' ही होता है, अभाव या निषेध नहीं। परन्तु जहाँ अल्प शब्द बहु के साथ नहीं, स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त हुआ है, वहाँ कहीं-कहीं उसका अभाव अर्थ भी होता है, सर्वत्र नहीं। किन्तु बहु शब्द के साथ प्रयुक्त अल्प शब्द का कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होता है। भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६ में बहु शब्द के साथ अल्प शब्द प्रयुक्त हुआ है और उस पर भी उसके उत्तर में तरप् प्रत्यय लगा है। अतः उक्त पाठ में प्रयुक्त अल्प शब्द का पाप का अभाव अर्थ करना नितान्त असत्य है।

भ्रमविध्वंसनकार ने अल्प-पाप—बहु-निर्जरा प्रकरण के प्रथम बोल में अप्रासुक-अनेषणीय का अर्थ सचित्त—जीव वाले पदार्थ किया है। यह अर्थ करके लोगों को यह बताने का प्रयत्न किया है कि श्रावक साधु को सचित्त वस्तु अर्थात् कच्चा पानी आदि कैसे दे सकता है?

भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६ के मूल पाठ में **अफासुयं अणेसणिज्जं** शब्द प्रयुक्त हुआ है। यहाँ अकल्पनीय पदार्थ को अप्रासुक एवं अनेषणीय कहा है, परन्तु सचित्त पदार्थ को नहीं। अतः यहाँ अप्रासुक-अनेषणीय का सचित्त अर्थ करना गलत है। क्योंकि भ्रमविध्वंसनकार अन्य जगह अप्रासुक का अकल्पनीय अर्थ करते हैं। भ्रमविध्वंसनकार ने आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के टब्बा अर्थ में **अफासुअं** *का यह अर्थ किया है—'अप्रासुक ए अण कल्पनिक माटे सचित्त तुल्य,* जिम उत्तराध्ययन अ. १, गाथा ५ अवनीत ने कह्यो—'दुसीले रम्मइ मिए' भूंडा-

आचार ने विषे रमे, मिए कहिता मृग सरीखो अजाण ते माटे मृग कह्यो। तिम सचित्त पिण अकल्पनिक छै अने जिहां वीजो आहार-वस्त्रादिक सचित्त तेहने अफासुक कह्यो अकल्पता माटे सचित्त सरीखो। इमहीज 'अणेसणिज्जं' ते अकल्पता माटे असूझता सरीखो जाणवो।'

भ्रमविध्वंसनकार ने प्रस्तुत टब्बा में अफासुअं का सचित्ततुल्य अकल्पनीय अर्थ किया है। अतः उक्त पाठ में प्रयुक्त अप्रासुक का सचित्त अर्थ करना अपने द्वारा कृत अर्थ से भी विरुद्ध है। वस्तुतः इस पाठ में अकल्पनीय को ही अप्रासुक-अनेषणीय कहा है, सचित्त पदार्थ को नहीं।

अल्प-आयुष्य का अर्थ

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४४४ पर भगवतीसूत्र, श. ५, उ. ६ के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ इहाँ तो साधु ने अप्रासुक-अनेषणीक आहार दीधां अल्पायुष बांधे कह्यो। इहां तो जे असूजतो देवे ते जीव हिंसा अनें झूठ रे बरोबर कह्यो छै। अल्प आऊखो तो निगोद रो छै। ते जीव हण्या, झूठ बोल्याँ, साधु ने अशुद्ध अशनादिक दीधां बंधतो कह्यो। इमहिज ठाणांग ठाणा ३ अशुद्ध दियां अल्प आयुष बंधतो कह्यो। तो अशुद्ध दियां थोड़ो पाप, घणी निर्जरा किम हुवे?'

भगवती, श. ५, उ. ६ के पाठ में साधु को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से अल्प आयु का बंध होना लिखा है। वहाँ दीर्घ आयु की अपेक्षा से उसे अल्प आयु कहा है, परन्तु क्षुल्लक भवग्रहण रूप निगोद की आयु नहीं। अतः भगवतीसूत्र के उक्त पाठ का नाम लेकर साधु को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से निगोद का आयुबन्ध बताना गलत है। क्योंकि इससे यहाँ शुभ अल्प आयु का बंध होना लिखा है और भगवतीसूत्र की टीका में भी यही लिखा है—

शुभाल्पायुष्कतानिमित्तत्वं चाप्रासुकादिदानस्याल्पायुष्कता फलप्रतिपादक सूत्रे प्राक् चर्चितम्।

—भगवतीसूत्र, ८, ६, ३३१ टीका

साधु को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से शुभ अल्प आयु का वन्ध होता है, यह पहले वता दिया है।

अथवेहापेक्षिकी अल्पायुष्कता ग्राह्या, यतः किल जिनागमाभि संस्कृतमतयो मुनयः प्रथमवयसं भोगिनं कंचन मृतं दृष्टवा वक्तारो भवन्ति-नूनमनेन भवान्तरे किंचिदशुभं प्राणिघातादिचारसेवितं अकल्पयं वा मुनिभ्यो दत्तं येनायं भोग्यप्यल्पायुः संवृत इति।

—भगवतीसूत्र, ५, ६, २०४ टीका

मुनि को अप्रासुक-अनेषणीय आहार देने से जो अल्प आयुष्य प्राप्त होना कहा है, वह दीर्घ आयु की अपेक्षा से अल्प समझना चाहिए। क्योंकि जिनागम से

संस्कृत—बुद्धिमान मुनि, किसी भोगी पुरुष को पहली अवस्था—छोटी उम्र में मरा हुआ देखकर कहते हैं कि इसने जन्मान्तर में प्राणिवध आदि दुष्कर्म का आचरण किया था या मुनियों को अकल्पनीय आहार दिया था, जिससे भोगी होकर—सम्पन्न घर में जन्म लेकर भी अल्प आयु का बन्ध किया।

कण्हं भन्ते! जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति?

गोयमा! तीहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति, तं जहा—पाणे अइवाइत्ता, मुसं वदित्ता, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं-अणेसणिज्जेणं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, पडिलाभित्ता भवइ। एवं खलु जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पकरेंति।

—भगवतीसूत्र, ५, ६, २०४

हे भगवन्! जीव अल्प आयु कैसे बांधता है?

हे गौतम! तीन कारणों से जीव को अल्प आयु का बन्ध होता है—१. जीव-हिंसा करने से, २. झूठ बोलने से और ३. मुनि को अप्रासुक-अनेषनीय आहार देने से।

यहाँ जो अल्प आयु का बन्ध होना कहा है, वह क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नहीं, बल्कि दीर्घ आयु की अपेक्षा अल्प है। यहाँ जो प्राणातिपात एवं मृषावाद है, वह सब प्रकार से नहीं लिया है। किन्तु मुनियों को आहार देने के लिए जो आधाकर्मी आहार बनाया जाता है, उसमें जो प्राणातिपात होता है, उस प्राणातिपात को और उस सदोष आहार को देने के लिए जो मिथ्या भाषण किया जाता है, उस मृषावाद को यहाँ ग्रहण किया है। स्थानांगसूत्र की टीका में इसका स्पष्टीकरण किया है—

तथाहि-प्राणानतिपात्याद्या कर्मादिकरणतो मृषोक्त्वा यथा—अहो साधो! स्वार्थसिद्धमिदं भक्तादि कल्पनीयं वो न शंका कार्येत्यादि।

—स्थानांगसूत्र, १, १२५ टीका

प्राणियों का नाश करके आधाकर्मी आहार बनाकर झूठ बोलकर साधु को देना। जैसे—हे साधुओ! हमने यह आहार अपने लिए बनाया है, अतः यह आपके कल्प के योग्य है। इस प्रकार जो झूठ बोलता है और आधाकर्मी आहार बनाने हेतु हिंसा करता है, उसी से शुभ अल्प आयु का बन्ध होता है।

यदि कोई यह कहे कि उक्त पाठ में सामान्य रूप से प्राणातिपात एवं मृषावाद का फल अल्प आयु का बन्ध होना लिखा है। आधाकर्मी आहार बनाने में होने वाले प्राणातिपात एवं उसे साधु को देने के लिए जो झूठ बोला जाता है, उससे अल्प आयु का बन्ध होना नहीं लिखा है। अतः आप यह किस प्रमाण से

कहते हैं? इसका समाधान यह है कि भगवतीसूत्र में उक्त पाठ के निकटवर्ती पाठ में लिखा है—'प्राणातिपात एवं मृषावाद से अशुभ दीर्घ आयु का बन्ध होता है।' परन्तु एक ही कारण से परस्पर विरुद्ध दो कार्य नहीं हो सकते हैं। अतः टीकाकार ने इसे स्पष्ट कर दिया कि आधाकर्मी आहार बनाने में होने वाली हिंसा एवं उसे देने के लिए बोले जाने वाले झूठ से शुभ अल्प आयु का बन्ध होता है।

यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजनार्थं पृथिव्याद्यारंभेण स्वभाण्डासत्योत्कर्षणादिनाऽधाकर्मादि करणेन च प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य वधादि विरति निरवद्यदाननिमित्तायुष्का पेक्षयेयमल्पायुष्कतासमवसेया। अथ नैवं निर्विशेषणत्वात्सूत्रस्य अल्पायुष्कत्वस्य च क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादि हेतुतो युज्यमानत्वादतः कथमभिधीयते सविशेषण प्राणातिपातादिवतो जीवस्य आपेक्षिकी चाल्पायुष्कतेति? उच्यते—अविशेषणत्वेऽपि सूत्रस्य प्राणातिपातादेर्विशेषणमवश्यं वाच्यम्। यत इतस्तृतीय सूत्रे प्राणातिपातादितएव अशुभ दीर्घायुष्कतां वक्ष्यति नहि सामान्य हेतौ कार्य्य वैषम्यं युज्यते सर्वत्रानाश्वास प्रसंगात तथा—'समणोवासएणं भन्ते! तहारूवं समणं-माहणं वा अफासुएणं असणं ४ पडिलाभ माणस्स किं कज्जइ? बहुतरिया निज्जरा कज्जइ, अप्पतरे से पावकम्मे कज्जइ।' इति वक्ष्यमाण वचनादवसीयते नैवेयं क्षुल्लक भव ग्रहणरूपा अल्पायुष्कता नहिस्वल्पपाप बहुनिर्जरा निबन्धनस्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहण निमित्तता संभाव्यते।

—भगवतीसूत्र ५, ६, २०४ टीका

जो व्यक्ति जैन साधु के गुण के पक्षपात से उनकी पूजा-सत्कार करने के लिए पृथ्वीकाय आदि का आरंभ करके, अपने पात्र आदि को अयत्नापूर्वक रखकर और उठाकर आधाकर्मी आहार बनाता है। जो आधाकर्मी आहार बनाकर प्राणातिपात करता है, उस पुरुष की प्राणातिपातरहित निरवद्य दान से बन्ध होने वाली आयु की अपेक्षा अल्प आयु बंधती है। यदि यह कहें कि इस सूत्र में प्राणातिपात एवं मिथ्या भाषण से अल्प आयु का बन्ध होना कहा है। परन्तु यह नहीं कहा कि अमुक प्राणातिपात एवं अमुक मृषावाद से अल्प आयु का बन्ध होता है। तथा यह भी नहीं कहा कि दीर्घ आयु की अपेक्षा अल्प आयु बंधता है, क्षुल्लक भवग्रहण रूप अल्प आयु नहीं। यद्यपि इस सूत्र में सामान्यतः प्राणातिपात एवं मृषावाद से अल्प आयु का बन्ध कहा है। तथापि आधाकर्मी आहार बनाने के लिए की जाने वाली हिंसा एवं आधाकर्मी आहार देने के लिए बोले जाने वाले झूठ से अल्प आयु बंधने का विशेषण लगाना होगा। क्योंकि उक्त उद्देशक के तृतीय सूत्र में प्राणातिपात एवं मृषावाद से अशुभ दीर्घ आयु का बन्ध होना कहा है। और एक ही कारण से परस्पर विरुद्ध दो कार्य हों, यह संभव नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वत्र अव्यवस्था हो जाएगी। भगवतीसूत्र, श. ८, उ. ६ के पाठ में इसी

अकल्पनीय आहार के दान से अल्पतर पाप एवं वहुतर निर्जरा होना कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि उक्त पाठ में कथित अल्प आयु का वन्ध क्षुल्लक भव ग्रहण रूप नहीं है। क्योंकि जिस कार्य से अल्पतर पाप और वहुतर निर्जरा होती है, उस कार्य से क्षुल्लक भव ग्रहण रूप अल्प आयु का वन्ध होना संभव नहीं है।

प्रस्तुत टीका में यह स्पष्ट कर दिया है कि आधाकर्मी आहार बनाने में जो प्राणातिपात होता है और उस आहार के देने के लिए जो मृषावाद बोला जाता है, उस प्राणातिपात एवं मृषावाद से अल्प आयु का बन्ध होना कहा है, सव तरह के प्राणातिपात एवं मृषावाद से नहीं। अतः इस पाठ से सब तरह के प्राणातिपात, मृषावाद ग्रहण करना, अल्प आयु से निगोद की आयु का बन्ध बताना तथा अल्पतर पाप का अर्थ पाप का अभाव करना आगम से विरुद्ध है।

आधाकर्मी : एकान्त अभक्ष्य नहीं

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४४६ पर भगवती, श. १८, उ. १
के पाठ का प्रमाण देकर लिखते हैं—'ते अभक्ष्य आहार साधु ने दीधां बहु
निर्जरा किम हुवे?'

भगवती, श. १८, उ. १० के पाठ में उत्सर्ग मार्ग में साधु के लिए अनेषणी
आहार अभक्ष्य कहा है, अपवाद मार्ग में नहीं। इसलिए सूत्रकृतांग सूत्र में आधाक
आहार खाने वाले साधु को एकान्त पापी कहने का निषेध किया है—

अहा कम्माणि भुंजंति, अण्ण-मण्णे सकम्मुणा।
उवलित्तेति जाणिज्जा, अणुवलित्तेति वा पुणो।।
ए-एहिं दो हिं ठाणेहिं, ववहारो न विज्जइ।
ए-ए हिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, २, ५, ८-

साधुं च प्रधानकारणमाश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि तानि
वस्त्रभोजन-वसत्यादीनि उच्यन्ते। एतान्याधाकर्माणि ये भुंज
एतैरुपयोगं ये कुर्वन्ति अन्योऽन्यं परस्परं तान् स्वकीयेन कर्म
उपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नो वदेत् तथा अनुपलिप्तानिति वा
वदेत्। एतदुक्तं भवति—आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत
भुंजानः कर्मणा नोपलिप्यते, तदाधाकर्मोपभोगेनावश्यं कर्मबन्
भवतीत्येवं नो वदेत्। तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहारगृद्धयाऽऽधाकर्मभुंजानस
तन्निमित्त कर्मबन्ध सद्भावात् अतोऽनुपलिप्तानपि नो वदेत्
यथावस्थित मौनेन्द्रागमज्ञस्य त्वेवं युज्यते वक्तुम—आधाकर्मोपभोगे
स्यात्कर्मबन्धः स्यान्नेत्ति। यदुक्तम्—

किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं वा स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या-वस्त्रं-पात्रं वा भेषजाद्यं वा।।

तथाऽन्यैरप्याभिहितम्—

उत्पद्यतेहि साऽवस्था, देशकालमयान् प्रति।
यस्यामकार्य्यं कार्य्यं स्यात्कर्म, कार्य्यं च वर्जयेत्।।

किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यते इत्याह—आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामश्रिताभ्यामनयोर्वा स्थानयोराधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभावा-भावभूतयोर्व्यवहारो न विद्यते। तथाहि यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते एवं चाहार भावेनापि क्वचित्सुतरामनर्थोदयः स्यात्। तथाहि क्षुत्पीडितो न सम्यग् इर्यापथं शोधयेत् ततश्च व्रजन् प्राण्युपमर्दमपि कुर्य्यात्। मूर्च्छादि सद्भावतया च देहपाते सत्यवश्यम्भावी त्रसादि व्याघातोऽकालमरणे चाविरतिरङ्गीकृता भवत्यार्त्तध्यानापत्तौ च तिर्य्यग्गतिरिति। आगमश्च—'सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा' इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मबंधाऽभाव इति। तथाहि आधाकर्मण्यापि निष्पाद्यमाने षड्जीवनिकायवधः तद्वधे च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यनयोः स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणयोर्व्यवहरणं व्यवहारो न युज्यते तथाऽऽभ्यामेव स्थानाभ्यां समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादितिस्थितम्।

मुख्य रूप से साधु के निमित्त जो कर्म किया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं, साधु के निमित्त वस्त्र, भोजन, मकान आदि जो बनाए जाते हैं, वे सब आधाकर्मी कहलाते हैं। जो साधु इनका उपभोग करता है, उसे एकान्त रूप से कर्म से उपलिप्त अथवा एकान्त रूप से कर्म से अनुपलिप्त नहीं कहना चाहिए। इसका कारण यह है कि जो साधु शास्त्रोक्त रीति से आधाकर्म का उपभोग करता है, उसको कर्मबन्ध नहीं होता। जो शास्त्र विधि का उल्लंघन करके आहार के लोभ से आधाकर्म का उपभोग करता है, उसको कर्मबन्ध होता है। इस विषय में जैनागम के तत्त्व को जानने वाले पुरुषों को यह कहना चाहिए कि आधाकर्म के उपभोग से कथंचित् कर्मबन्ध होता है और कथंचित् नहीं भी होता है।

पूर्वाचार्यो ने कहा है—पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भोजन आदि शुद्ध और कल्पनीय होकर भी कदाचित् अशुद्ध और अकल्पनीय हो जाते हैं तथा अशुद्ध और अकल्पनीय होकर भी कदाचित् शुद्ध और कल्पनीय हो जाते हैं।

एक आचार्य का यह भी कथन है—कभी ऐसी अवस्था आ जाती है, जिसमें कार्य तो अकार्य और अकार्य ही कार्य हो जाता है। अतः हरएक दशा में आधाकर्म आहार करना वर्जित नहीं है।

यदि सभी समय में आधाकर्मी आहार करना अनुचित माना जाए तो, महान् अनर्थ हो सकता है। क्योंकि क्षुधा से पीड़ित साधु यदि मूर्च्छित होकर गिर पड़े, तो उससे अवश्य ही त्रस आदि प्राणियों की घात हो सकती है और आर्त ध्यानवश उसकी तिर्यंच गति होती है। अतः सब अवस्थाओं में आधाकर्मी आहार करने का निषेध करना अनुचित है।

आगम में कहा है—'साधु को सर्वत्र संयम की रक्षा करनी चाहिए और संयम से भी अपनी आत्मा की रक्षा करनी चाहिए।' इसलिए आगम भी कारणवश आधाकर्मी आहार करने पर कर्मबंध का अभाव बताता है। यद्यपि आधाकर्मी आहार बनाने में छःकाय का आरंभ होता है। आरंभ होने से कर्मबन्ध होना भी प्रसिद्ध है। अतः आधाकर्मी आहार करने से कर्मबन्ध नहीं होता—एकान्त रूप से यह कहना भी अनुचित है, और कर्मबन्ध होता है, एकान्ततः ऐसा कहना भी अनुचित है। इसी तरह अन्य सब अनाचारों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

प्रस्तुत गाथाओं एवं उनकी टीका में आधाकर्मी आहार करने वाले को एकान्ततः कर्मों से लिप्त या अलिप्त कहने का निषेध किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवतीसूत्र, श. १८, उ. १० में अनेषणीय आहार को जो अभक्ष्य कहा है, वह उत्सर्ग मार्ग में कहा है, अपवाद में नहीं। क्योंकि आगम में सदोष आहार को एकान्ततः अभक्ष्य नहीं कहा है।

निग्गंथेण वा गाहावइ कुलं पिण्डवाय पडियाए अणुप्पविट्ठेणं अण्णयरे, अचित्ते, अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिगाहित्तए सिया। अत्थिया इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठावित्तए कप्पइ से तस्स दाऊं वा अणुप्पदाऊं वा णत्थि या इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठाविए सिया तं णो अप्पणा भुंजेज्जा, णो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा एगंते बहु फासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया।

—बृहत्कल्पसूत्र, ४, १३

यदि भिक्षार्थ गए हुए साधु को कोई गृहस्थ अचित्त अनेषणिक आहार लाकर दे, तो साधु उसे नवदीक्षित शिष्य—सामायिक चारित्र वाले को खाने के लिए दे दे। यदि नवदीक्षित साधु न हो, तो वह उस अन्न को न स्वयं खाए, न अन्य को दे, किन्तु एकान्त स्थान पर भूमि का प्रतिलेखन करके उसे परठ दे।

प्रस्तुत पाठ में सदोष आहार नवदीक्षित साधु के खाने योग्य कहा है। अतः उसे एकान्ततः अभक्ष्य कहना गलत है। जब सदोष आहार एकान्ततः अभक्ष्य नहीं है, तब उस आहार को देने से श्रावक को एकान्त पाप कैसे होगा? भ्रमविध्वंसनकार ने भी आधाकर्मी आहार नवदीक्षित शिष्य के खाने योग्य कहा है। बृहत्कल्पसूत्र की पद्य रचना की चौथी ढाल में लिखा है—

इमहि बे–कोस उपरंत लेगयो, आधाकर्मादि अचित्त लह्यो।
नव दीक्षित तो तसु दीजे, नहीं तर साहू परिठण कह्यो।।

अस्तु, आधाकर्मी आहार को एकान्त रूप से अभक्ष्य कहना आगम से सर्वथा विरुद्ध है।

उत्सर्ग और अपवाद

भ्रमविध्वंसनकार कारण पड़ने पर नित्य पिण्ड लेना कल्पनीय बताते हैं, परन्तु कारण होने पर भी आधाकर्मी आहार को त्यागने योग्य बताते हैं, वे प्रश्नोत्तर सार्ध शतक के प्रश्न ५६ में लिखते हैं—

'साधु ने कारण पड़यां आधाकर्मी–उद्देशिक न लेणो तो कारणे नित्य पिण्ड भोगववो कि नहीं?

आधाकर्मी–उद्देशिक तो वस्तु अशुद्ध छै, अने नित्यपिण्ड वस्तु अशुद्ध नहीं, ते भणी कारण पड़्यां दोष नहीं।

कोई कहे ए तो अनाचार छै, ते कारणे किम लेवे?

तो अनाचार तो स्नान कियां पिण कह्यो, सुगंध सुंग्यां, वमन, गले हेठेना केश कापे, रेच, मंजन, ए सब अनाचार छै। पिण जित–व्यवहार थी कारणे दोष न कह्यो।'

आगम में उद्दिष्ट भक्त एवं नित्यपिण्ड को एक समान दुर्गति का कारण कहा है—

उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुंचइ किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गीविवा सव्व भक्खी भवित्ता, इतो चुए गच्छइ कट्टु पावं।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, २०, ४७

जो आहार साधु के लिए बनाया है, खरीदा है, वह तथा एक ही घर से नित्यपिण्ड लेना, इन आहारों का त्याग न करके जो साधु अग्निवत् सर्वभक्षी हो जाता है, वह पापकर्म का उपार्जन करता है और उसकी दुर्गति होती है।

इस गाथा में उद्दिष्ट एवं नित्यपिण्ड दोनों को दुर्गति का कारण बताया है। अतः सकारण अवस्था में नित्यपिण्ड की स्थापना और उद्दिष्ट का निषेध करना सर्वथा गलत है। वस्तुतः उत्सर्ग मार्ग में दोनों का निषेध है, अपवाद में नहीं। एक ही व्यक्ति के आहार को प्रतिदिन लेना नित्यपिण्ड है। परन्तु कुछ साधु क्षेत्र भेद बताकर एवं रास्ते की सेवा का अत्यधिक लाभ बताकर गृहस्थों के साथ विहार करते हैं और प्रतिदिन प्रत्येक पड़ाव पर उनसे आहार लेकर विहार करते हैं। उस

आहार को कल्पनीय एवं शुद्ध बताते हैं। उनकी यह प्ररूपणा आगम से विरुद्ध है
आगम में उत्सर्ग मार्ग में आधाकर्मी, औद्देशिक एवं नित्यपिण्ड आदि लेने क
निषेध किया है, परन्तु अपवाद मार्ग में इनका सर्वथा निषेध नहीं किया है।
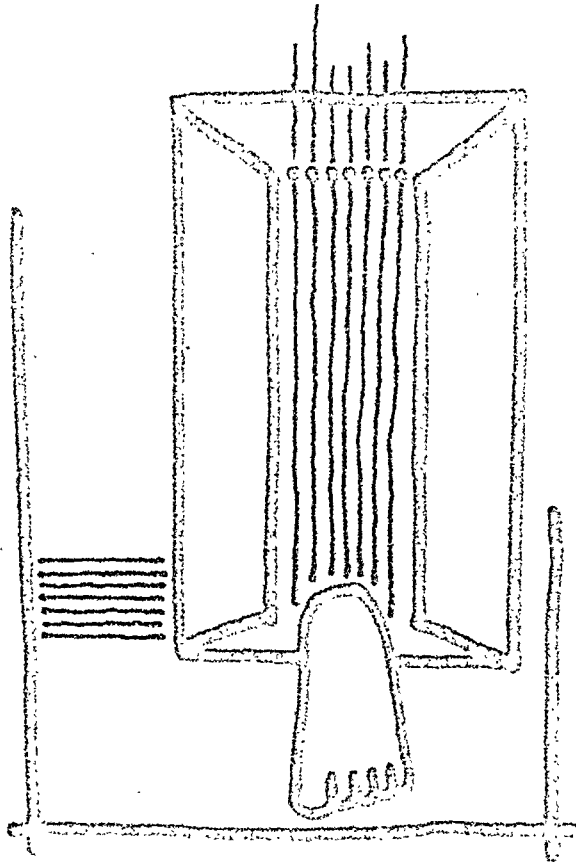
द्वार-उद्घाटन-अधिकार

द्वार खोलना : कल्प है
जिनकल्प और स्थविरकल्प
साधु कैसे मकान में ठहरे ?
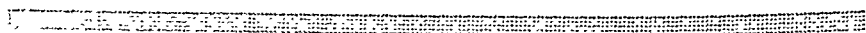
द्वार खोलना : कल्प है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४५६ पर लिखते हैं—'कोई पाखण्डी, साधु नाम धराय ने पोते हाथ थकी किंवाड़ जड़े–उघाड़े अने सूत्र नों झूठा नाम लेई ने किमाड़ जड़वानी अने उघाड़वानी अणहुन्ती थाप करें छें।'

सर्वप्रथम तो भ्रमविध्वंसनकार के मतानुयायी साधु–साध्वी ही कपाट खोलने एवं बन्द करने में संकोच नहीं करते। वे अपने हाथ से द्वार खोलते एवं बन्द करते हैं और इस कार्य को आगम के अनुकूल बताते हैं। परन्तु यदि कोई दूसरा साधु विवेकपूर्वक यह कार्य करे, तो उसे बुरा बताते हैं। यह इनका सिर्फ द्वेषभाव है। यदि यह कहें कि हम खिड़की के द्वार खोलते एवं बन्द करते हैं, दरवाजे के नहीं, तो आगमिक भाषा में इस कथन को मायाचार कहा है। क्योंकि आगम में कहीं भी ऐसा आदेश नहीं दिया है कि साधु को खिड़की के द्वार खोलने और बन्द करने कल्पते हैं, परन्तु दरवाजा खोलना एवं बन्द करना नहीं कल्पता। अतः खिड़की के द्वार खोलना एवं बन्द करना बुरा न बताकर, दरवाजे को खोलने एवं बन्द करने का निषेध करना, साम्प्रदायिक द्वेष बुद्धि के सिवाय और कुछ नहीं है। क्योंकि स्वयं आचार्य श्री भीखणजी ने खिड़की के द्वार खोले थे। भ्रमविध्वंसनकार ने भिक्खु यशरसायन, पृष्ठ ११८ पर इस बात को स्वीकार किया है—

पंचावने वर्ष पूज्यजी शहर कांकरोली सार।
सेहलोतांरी पोल में उतरिया तिणवार।।१।।
प्रत्यक्ष बारी पोल री जड़ी हुन्ती तिणवार।
ऋषि भिक्खू रहितां थकां एक दिवस अवधार।।२।।
बारी खोली बारणे दिशा जायवा देख।
निसरिया भिक्खू निशा पूछे हेम संपेख।।३।।
स्वामी बारी खोलण तणी नहीं कोई अटकाव?
तब भिक्खू बोल्या तुरत प्रत्यक्ष ते प्रस्ताव।।४।।
पूज कहे पूछै इसी इणरो नहीं अटकाव।
अटकाव हुवे तो एहने म्हें खोला किण न्याय।।५।।

इसके अतिरिक्त भ्रमविध्वंसनकार कुमति विहंडन ग्रंथ में लिखते हैं—'संवत् १८५६ सोजत में वर्जूजी, नाथांजी सात आर्या ने भीखणजी स्वामी साथ

आय छत्री आगलकानी उपासरा री आज्ञा लीधी, गृहस्थ और वास थी कूंची ल्यायो, आर्या मांहे उतरी जितरे स्वामीजी कने ऊभा। आर्या उपासरा में गयां पछे स्वामीजी ठिकाणे आया, ए बात नाथांजी रे मुंहडा थी सुनी तिम लिख्यो। सम्वत् १८६४ चैत्र सुदी १५ वार सोमवार खेरवा में नाथाजी कने बैठा पूछने लिखियो छै।'

इसमें भ्रमविध्वंसनकार ने स्पष्ट लिखा है कि आचार्य श्री भीखणजी के समक्ष गृहस्थ ने कुंजी लाकर द्वार का ताला खोला और सतीजी को अन्दर प्रवेश कराया तथा पूर्वलिखित पद्यों में आचार्य श्री भीखणजी का खिड़की के द्वार खोलकर बाहर जाना और हेमजी के पूछने पर उसे आगम के अनुकूल बताना स्पष्ट लिखा है। यदि द्वार खोलने में दोष था, तो आचार्य श्री भीखणजी के समक्ष फाटक का ताला एवं उसके द्वारा खोलकर सतियों को उसमें प्रवेश क्यों कराया? और खिड़की के द्वार खोलकर रात को बाहर कैसे गए? अतः विवेकपूर्वक द्वार खोलने में साधुता का विनाश मानना आगम एवं उनके स्वयं के आचरण के विरुद्ध है।

द्वारयुक्त मकान कल्पनीय है

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४५६ पर उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३५, गाथा ४ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—'अथ अठे इम कह्यो—किमाड़ सहित स्थानक मन करी वांछणो नहीं, तो जड़वो किहां थकी?'

जब द्वारयुक्त मकान की इच्छा करना ही बुरा है, तब वैसे मकान में ठहरना तो और अधिक बुरा होगा। फिर भ्रमविध्वंसनकार के मतानुयायी साधु द्वारयुक्त मकान में क्यों ठहरते हैं? इससे उनकी साधुता कैसे रह सकती है? ये शब्दों में कहते हैं—साधु को कपाटयुक्त मकान की मन से भी इच्छा नहीं करनी चाहिए, परन्तु उसी कार्य को ये शरीर से करते हैं। ये द्वारयुक्त मकान में उतरते हैं। वहाँ ठहरने में जरा भी परहेज नहीं करते। अतः कथनी और करनी में रात-दिन जैसा अन्तर हो, तो उनका कथन सत्य एवं यथार्थ कैसे हो सकता है? यह बुद्धिमान पाठक स्वयं सोच सकते हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र की उक्त गाथा में द्वारयुक्त मकान में ठहरने का सर्वथा निषेध नहीं किया है। उसमें एवं उसके आगे की गाथा में बताया है कि साधु को कैसे मकान में ठहरने की इच्छा नहीं करनी चाहिए और वह क्यों नहीं करनी चाहिए?

मनोहरं चित्तघरं मल्ल धूवेण वासियं।
सकवाडं पांडुरुल्लोयं मनसा वि न पत्थए।।
इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसंमि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं कामराग विवड्ढणे।।

—उत्तराध्ययनसूत्र, ३५, ४-५

मनोहर चित्र एवं माल्य युक्त, धूप से वासित, कपाटयुक्त और श्वेत क
से आवृत मकान की साधु को मन से भी कामना नहीं करनी चाहिए।

ऐसे मकान में स्थित साधु की इन्द्रियाँ चंचल होकर अपने विषयों में प्र
होंगी, तब उनका निरोध करना कठिन होगा। क्योंकि पूर्वोक्त गाथा में कथि
मकान काम-राग की अभिवृद्धि करने वाला है।

प्रस्तुत गाथाओं में साधु को इन्द्रिय-निग्रह के लिए मनोहर चित्रों से युक
सुवासित, सकपाट एवं श्वेत चादर से आवृत मकान में ठहरने का निषेध किया
द्वार खोलने या बन्द करने के भय से नहीं। क्योंकि पाँचवीं गाथा में यह स्पष्ट
दिया है कि ऐसे मकान में ठहरने से काम-राग एवं विषय-विकार की अभिवृद्धि हो
यदि द्वार खोलने-बन्द करने में दोष होता, तो आगमकार काम-राग की वृद्धि
तरह यह भी लिख देते कि ऐसे मकान में ठहरने पर द्वार खोलना एवं बन्द क
पड़ता है, इसलिए साधु ऐसे मकान में न ठहरे। परन्तु आगम में ऐसा नहीं लि
है। आगमकार ने केवल काम-राग बढ़ने के भय से ऐसे विकारी चित्रयुक्त मक
में ठहरने का निषेध किया है। आजकल व्यवहार में भी ऐसा ही देखा ज
है—'साधु द्वारयुक्त मकान में तो ठहरते हैं, परन्तु अश्लील एवं विकारी चित्र, मा
एवं धूप से सुवासित मकान में नहीं उतरते।' इसलिए द्वार खोलने एवं बन्द क
के भय से साधु कपाटयुक्त मकान में नहीं उतरते, ऐसा कहना गलत है।

यदि कपाट खोलने एवं बन्द करने में दोष नहीं है, तो फिर आवश्यक सू
द्वार खोलने का मिच्छामि दुक्कडं देने का क्यों लिखा? क्योंकि भ्रमविध्वंसन
भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४५७ पर आवश्यक सूत्र का प्रमाण देकर लिखते हैं—

'अथ अठे कह्यो—थोड़े उघाडणो पिण किंवाड़ घणो उघाड़्यो हुए ते
पिण मिच्छामि दुक्कडं देवे, तो पूरो जड़णो-उघाड़नो किहाँ थकी?'

आवश्यक सूत्र में जो मिच्छामि दुक्कडं का उल्लेख किया है, वह प्रमा
किए बिना द्वार खोलने का बताया है, विवेकपूर्वक प्रमार्जन करके द्वार खोलने
नहीं।

उघाड कवाड उघाडणाए।

इस पाठ की टीका में टीकाकार ने स्पष्ट रूप से लिखा है—'बिना प्रमा
किए द्वार खोलने से यह अतिचार लगता है'—

इह च अप्रमार्जनादिभ्योऽतिचारः।

प्रस्तुत टीका से यह स्पष्ट होता है कि विवेकपूर्वक प्रमार्जन करके
देखकर द्वार खोलने से अतिचार नहीं लगता। अतः उत्तराध्ययन एवं आवश्य
सूत्र का नाम लेकर द्वारयुक्त मकान में ठहरने एवं द्वार खोलने एवं बन्द कर
साधुता का विनाश बताना नितान्त असत्य है।

जिनकल्प और स्थविरकल्प

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४५८ पर सूत्रकृतांगसूत्र की गाथा की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'अथ अठे इम कह्यो और जगां न मिले तो सूना घर ने विषे रह्यो साधु पिण किमाड़ जड़े-उघाड़े नहीं, तो ग्रामादिक में रह्यो किंवाड़ जड़े-उघाड़े, ए तो मोटो दोष छै।'

सूत्रकृतांगसूत्र में एकाकी विचरने वाले जिनकल्पी साधु के लिए द्वार खोलने एवं बन्द करने का निषेध किया है, स्थविरकल्पी के लिए नहीं। उसमें स्पष्ट लिखा है—

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया।
भिक्खू उवहाण वीरिए, वइगुत्ते अज्झत्त संवुडे।।
णो पीहे णाव पंगुणे, दारं सुन्न-घरस्स संजए।
पुट्ठेण उदाहरे वयं ण, समुच्छे णो संथरे तणं।।

—सूत्रकृतांगसूत्र, १, २, १२-१३

द्रव्य से एकाकी और भाव से राग-द्वेषरहित विहार करने वाला साधु अकेला ही कायोत्सर्ग करने, बैठने, शयन करने एवं उठने आदि की क्रिया करे। वह धर्म-ध्यान से युक्त होकर अपने पराक्रम का तप में पूरा प्रयोग करे, किसी के पूछने पर विचारपूर्वक बोले, अपने मन को गुप्त रखे।

यदि उसे किसी कारणवश शून्य गृह में ठहरना पड़े, तो वह उसके दरवाजे बन्द न करे, न खोले, न उस मकान के कचरे को साफ करे और न शयन करने के लिए तृण आदि की शय्या ही बिछाए।

प्रस्तुत गाथाओं में एगेचरे का प्रयोग करके ये सब नियम अकेले विचरने वाले जिनकल्पी साधु के लिए बताए हैं, स्थविरकल्पी साधु के लिए नहीं। क्योंकि इस गाथा में उस मकान के कचरे को साफ करने एवं शयन करने हेतु तृण शय्या आदि बिछाने का भी निषेध किया है। यदि इस गाथा के अनुसार स्थविरकल्पी साधु के लिए द्वार बन्द करना एवं खोलना दोषयुक्त है, तो फिर भ्रमविध्वंसनकार

के अनुयायी साधु अपने निवास स्थान का कचरा क्यों साफ करते हैं? शयन करने हेतु तृण आदि की शय्या क्यों बिछाते हैं? यदि यह कहें कि यह नियम जिनकल्पी का है, स्थविरकल्पी का नहीं, तो इसी सरलता एवं सत्यता के साथ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि जैसे कचरा साफ नहीं करने एवं तृण शय्या नहीं बिछाने का नियम जिनकल्पी का है, उसी तरह मकान के द्वार खोलने एवं बन्द नहीं करने का नियम भी जिनकल्पी का है, स्थविरकल्पी का नहीं। यदि कोई व्यक्ति दुराग्रह-वश उक्त गाथा के तीन चरण स्थविरकल्पी के लिए और चौथा चरण जिनकल्पी के लिए कहे जाने का कहे, तो उसका यह कथन सत्य नहीं है। यह कथन आगम शैली से विरुद्ध है। क्योंकि उक्त गाथाओं के आरंभ एवं समाप्ति में जिनकल्पी के नियमों का ही उल्लेख है। अतः उसके मध्य में स्थविरकल्पी के कल्प का उल्लेख किए बिना, उसके नियमों का कैसे उल्लेख कर सकते हैं? दूसरी बात यह है कि स्थविरकल्प में साध्वी भी सम्मिलित है। अतः भ्रमविध्वंसनकार के मत से उन्हें भी द्वार बन्द नहीं करने चाहिए, परन्तु जब साध्वियों को द्वार बन्द करने में पाप नहीं लगता, तब साधु को उसमें पाप क्यों लगेगा?

द्वार खोलने का विधान

क्या आगम में कहीं साधु को कपाट खोलने एवं बन्द करने का विधान किया है?

आगम में कपाट खोलने एवं बन्द करने का अनेक जगह विधान किया है—

साणी पावर पिहियं, अप्पणा ना व पंगुरे।
कवाडं नो पणुलिज्जा, उग्गहंसि अजाइया।

—दशवैकालिकसूत्र, ५, १, १८

सण के पर्दे आदि से आवृत मकान एवं उसके बन्द कपाट को गृहस्वामी की आज्ञा के बिना न खोले।

प्रस्तुत गाथा में गृहस्वामी की आज्ञा लेकर बन्द द्वार खोलने का विधान किया है। इसी तरह आचारांगसूत्र में भी लिखा है—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ कुलस्स दुवारबाहं कंटक बुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नविय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवगुणिज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय तओ संजयामेव अवगुणेज्ज वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा।

—आचारांगसूत्र, २, १, ५, [illegible]

भिक्षा के निमित्त गया हुआ साधु गृहस्थ के मकान को कांटों की शाखा से ढका हुआ देखकर, गृहस्थ की आज्ञा के बिना, बिना देखे एवं रजोहरणादि से प्रमार्जन किए बिना उस द्वार को खोलकर न घर के अन्दर प्रविष्ट हो और न बाहर निकले। क्योंकि इससे गृहस्वामी का क्रोधित होना संभव है। अतः उसकी आज्ञा लेकर भली-भाँति देखकर एवं प्रमार्जन करके द्वार खोलकर प्रवेश करने एवं निकलने में दोष नहीं है।

इस पाठ में गृहस्वामी की आज्ञा लेकर एवं प्रमार्जन करके बन्द द्वार को खोलने का विधान किया है। अतः द्वार खोलने से एकान्ततः संयम का नाश बताना गलत है। जब साधु विधिपूर्वक गृहस्थ के बन्द द्वार को खोलकर उसके घर में प्रविष्ट होने पर भी संयम का विराधक नहीं होता, तब वह अपने निवास स्थान के द्वार को विवेकपूर्वक खोलने एवं बन्द करने से संयम का विराधक कैसे हो सकता है? अतः कपाट खोलने एवं बन्द करने मात्र से साधुता का विनाश बताना आगम-ज्ञान से अनभिज्ञता प्रकट करना है।

साधु कैसे मकान में ठहरे ?

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४६१ पर आचारांगसूत्र के पाठ की समालोचना करते हुए लिखते हैं—

'रात्रि ने विषे अथवा विकालने विषे आवाधा पीडतां किमाड खोलना पड़े। ते खुलो देखी मांहे तस्कर आवे, वतायां, न वतायां अवगुण उपजतां कह्या। सर्व दोषों में प्रथम दोष किवाड़ खोलवा नो कह्यो। तिण कारण थी, साधु ने किमाड़ खोलणो पड़े, एहवे स्थानके रहिवो नहीं।'

आचारांगसूत्र के उक्त पाठ में साधु और साध्वी दोनों को गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में रहने का निषेध किया है। यदि यह निषेध कपाट खोलने एवं वन्द करने के भय से किया गया हो, तो फिर साध्वी को अपने निवास स्थान के द्वार वन्द नहीं करने चाहिए। यदि साध्वी को कपाट खोलने या वन्द करने का निषेध नहीं है, तो साधु को भी नहीं है। वास्तव में आचारांगसूत्र के पाठ का अभिप्राय यह है कि यदि साधु गृहस्थ के संदर्भ—संसर्गयुक्त मकान में ठहरता है, तो उस मकान का द्वार खुला देखकर यदि उसमें चोर प्रविष्ट हो जाए, तो उसे वताने एवं न वताने—दोनों स्थिति में साधु को दोष लगता है। अतः उस दोष की निवृत्ति के लिए साधु-साध्वी को गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में ठहरने का निषेध किया है।

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा उच्चारपासवणेण उवाहिज्जमाणे राओ वा वियाले वा गाहावइ कुलस्स दुवारवाहं अवंगुणिज्जा तेणेय तस्संधीचारी अणुप्पविसिज्ज। तस्स भिक्खुस्स णो कप्पइ एवं वइत्तए अयं तेणो पविसइ वा, णो वा पविसइ, उवल्लियइ वा, णो वा उवल्लियइ, आवइ वा णो वाआवइ, वयइ, वा णो वा वयइ, तेण हडं, अन्नेन हडं, तस्स हडं, अन्नस्स हडं, अयं तेणे, अयं उवचारी, अयं हंता, अयं इत्थमकासी तं तवस्सिं भिक्खूं अतेणं तेणंति संकइ अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा जाव णो संतेज्जा।

—आचारांगसूत्र, [illegible]

साधु-साध्वी गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में रहते हुए [illegible]

बड़ीनीत के लिए बाहर जाते हुए उस मकान का द्वार खोले और कपाट खुलने की प्रतीक्षा में बैठा हुआ चोर यदि उस मकान में घुस जाए, तो साधु को यह कहना नहीं कल्पता कि यह चोर अन्दर घुस रहा है या नहीं घुस रहा है; छिप रहा है या नहीं छिप रहा है; बोलता है या नहीं बोलता है; इसने यह वस्तु चुराई है या नहीं चुराई है; यह चोर है या उसका परिचारक है; यह हथियार से युक्त है या बिना हथियार के है, यह मारेगा या इसने अमुक कार्य किया है। ऐसा कहने से चोर पर आपत्ति आएगी या वह चोर क्रोधित होकर साधु को मार सकता है और नहीं कहने पर कदाचित वह गृहस्थ साधु को भी चोर समझले, तो महा अनर्थ हो सकता है। अतः साधु-साध्वी को गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में नहीं ठहरना चाहिए।

प्रस्तुत पाठ में गृहस्थ के मकान में चोर प्रविष्ट होने पर उससे होने वाले अनर्थ के भय से साधु को गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में ठहरने का निषेध किया है, द्वार खोलने या बन्द करने के भय से नहीं। क्योंकि इस पाठ में स्पष्ट लिखा है कि द्वार खुला देखकर यदि चोर उसमें घुस जाए तो साधु को उसके सम्बन्ध में—वह घुस रहा या नहीं या वह क्या कर रहा है आदि कुछ भी कहना नहीं कल्पता। परन्तु इसमें यह नहीं लिखा कि साधु को द्वार खोलना या बन्द करना नहीं कल्पता। इस पाठ से तो यह स्पष्ट होता है कि साधु को द्वार खोलना एवं बन्द करना कल्पता है। यदि वह द्वार खोलता ही नहीं है, तो चोर के अन्दर प्रविष्ट होने तथा उससे होने वाले अनर्थ की संभावना कैसे हो सकती है? अतः गृहस्थ के संसर्ग वाले मकान में ठहरने से मकान में चोर आदि के प्रविष्ट होने से होने वाले अनर्थ से वचने के लिए साधु-साध्वी को ऐसे मकान में ठहरने का निषेध किया है।

द्वार खोलने का कारण

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन, पृष्ठ ४६२ पर बृहत्कल्प सूत्र के पाठ का प्रमाण देकर लिखते हैं—

'साध्वी ने उघाड़े बारणे रहणो नहीं। किमाड़ न हुवे तो चिलमिली पछेड़ी बांधी ने रहिणो। पिण उघाड़े बारणे रहिवो न कल्पे, तिणरो ए परमार्थ शीलादिक राखवा किमाड़ जड़नों। पिण शीलादिक कारण बिना जड़नों-उघाड़नों नहीं। अने साधु ने तो उघाड़े द्वारे इज रहिवो कल्पे, इम कह्यो।'

बृहत्कल्प सूत्र का उक्त पाठ लिखकर समाधान कर रहे हैं—

नो कपप्पइ निग्गंथीणं अवंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए एगं पत्थारं अंतो किच्चा, एगं पत्थारं बाहिं किच्चा, ओहाडिय चिलमिलियागंसिए वहणं कप्पइ वत्थए। कप्पइ निग्गंथाणं अवंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए।

—बृहत्कल्पसूत्र, १, १४-१५

साध्वी को खुले द्वार वाले मकान में रहना नहीं कल्पता, यदि सकारण खुले द्वार वाले स्थान में रहना पड़े, तो उसे बाहर और भीतर चद्दर या चिलमिली आदि से दो पर्दे बांधकर रहना चाहिए। परन्तु साधु को खुले द्वार वाले मकान में रहना कल्पता है।

इस पाठ में लिखा है कि साधु को खुले मकान में रहना कल्पता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि खुले मकान में ही रहे, जिसका द्वार बंद किया जा सके उस मकान में न रहे। क्योंकि वृहत्कल्प सूत्र में यह भी लिखा है—

नो कप्पइ निग्गंथीणं अह आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसिमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अभावगासियंसि वा वत्थए। कप्पइ-निग्गंथाणं अह आगमणगिहंसि वा, वियडगिंहसि वा, वंसिमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अभावगासियंसि वा वत्थए।

—वृहत्कल्पसूत्र, २, ११-१२

जहाँ पथिक लोग आकर ठहरते हैं, वहाँ तथा खुले मकान में, बाँस के नीचे या अन्य वृक्ष के नीचे, कुछ खुले कुछ ढके मकान में साध्वी को रहना नहीं कल्पता, परन्तु साधु को उक्त स्थानों में रहना कल्पता है।

प्रस्तुत पाठ में उल्लिखित स्थानों में साध्वी को ठहरना नहीं कल्पता और साधु को उक्त स्थानों में ठहरना कल्पता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि साधु इन स्थानों में ही ठहरे, अन्य में नहीं। इस प्रकार पूर्व पाठ का भी यह अभिप्राय नहीं है कि साधु खुले द्वार वाले मकान में ही ठहरे, बन्द द्वार में नहीं।

यदि कोई व्यक्ति साम्प्रदायिक हठाग्रह के कारण पूर्व पाठ का यही अर्थ करे—'साधु को खुले द्वार वाले मकान में ही ठहरना कल्पता है, बन्द द्वार वाले मकान में नहीं, तो उनके मत से दूसरे पाठ का यह अर्थ होना चाहिए—'जहाँ पथिक आकर ठहरते हों, वहाँ या बाँस के तथा अन्य वृक्ष के नीचे और कुछ खुले, कुछ ढके मकान में ही ठहरना चाहिए, अन्यत्र नहीं।' फिर भ्रमविध्वंसनकार के साधु इनके अतिरिक्त अन्य मकानों में क्यों ठहरते हैं? और ऐसे मकान में भी कैसे ठहरते हैं—जिसके द्वार बन्द किए जा सकें या उनके साम्प्रदायिक अनुयायी भक्त सर्दी के समय उनके निवास स्थान के द्वार बन्द करते तथा गर्मी के समय खोलते हैं?

इसके अतिरिक्त आगम में साधु को अटवी एवं निर्जन स्थानों में विचरना भी कहा है। फिर वे सदा-सर्वदा अटवी एवं निर्जन स्थानों में क्यों नहीं विचरते? गाँवों एवं शहरों में क्यों विचरते हैं?

यदि यह कहें कि यह आदेश एकान्त रूप से नहीं है। साधु अटवी एवं [illegible]

स्थानों के अतिरिक्त भी विचर सकता है, उससे उसके संयम में कोई क्षति नहीं आती। इसी तरह सरल एवं सम्यक् हृदय से इस सत्य को भी स्वीकार करना चाहिए कि साधु को खुले द्वार वाले मकान में रहने का एकान्त रूप से नहीं कहा है। अतः यदि वह बन्द द्वार के मकान में भी रहता है, तो उसके संयम में कोई दोष नहीं लगता। वस्तुतः साध्वी की अपेक्षा साधु में यह विशेषता बताई है कि साध्वी खुले मकान में नहीं रह सकती, परन्तु साधु खुले द्वार वाले मकान में भी रह सकता है।

बृहत्कल्प, उ. १, सूत्र १४-१५ के भाष्य में साधु को द्वार बन्द करने का उल्लेख किया है—

पडिणीय तेण सावय उब्भामग गोण साणऽणप्पज्झे।
सीयं च दुरधियासं दीहा पक्खी व सागरिए।

—बृहत्कल्प भाष्य, २३५८

उद्घाटिते द्वारे प्रत्यनीकः प्रविश्य आहननमपद्रापणं वा कुर्य्यात्। 'स्तेनाः' शरीरस्तेनाः उपधिस्तेनाः वा प्रविशेयुः एवं श्वापदाः सिंह-व्याघ्रादयः 'उद्भ्रामकाः' पारदारिकाः गौः बलीवर्दाः 'श्वानः' प्रतीताः श्वे वा प्रविशेयुः 'अणप्पज्झे' त्ति अनात्मवशः क्षिप्तचित्तादिः स द्वारेऽपिहिते सति निर्गच्छेत्। शीतं वा दुरधिसहं हिमकणानुसक्तं निपतेत्। 'दीर्घाः' वा सर्पाः 'पक्षिणो' वा काक-कपोत प्रभृतयः प्रविशेयुः। सागारिको वा कश्चित् प्रतिश्रयमुद्घाटद्वारं दृष्टवा तत्र प्रविश्य शयीत वा विश्रामं वा गृण्हीयात्।

एक्केक्कम्मि उ ठाणे, चउरो मासा हवंति उग्घाया।
आणाइणो य दोसा, विराहणा संजमाऽऽयाए।।

—बृहत्कल्प भाष्य, २३५९

द्वारमस्थगयतामन्तरोक्ते 'ऐकैकस्मिन्' प्रत्यनीक प्रवेशादौ स्थाने चत्वारो मासाः। 'उद्घात्ता' लघवः प्रायश्चितं भवति, आज्ञादयश्चात्रदोषाः, विराधना च संयमाऽऽत्मविषया भावनीया। यदुक्तम्—'चत्वारो मासा उद्घाता, इति तदेतद् बाहुल्यमङ्गीकृत्य द्रष्टव्यम्।' अतोऽपवदन्नाह—

अहि-सावय-पच्चत्थिसु गुरुगा सेसेसु होंति चउ लहुगा।
तेणे गुरुगा लहुगा, आणाइ विराहणा दुविहा।।

—बृहत्कल्प भाष्य, २३६०

अहिषु श्वपदेषु प्रत्यर्थिषु च प्रत्यनीकेषु द्वारेऽपिहिते सत्युपाश्रयं प्रविशत्सु प्रत्येकं चत्वारो गुरुकाः। 'शेषेषु' उद्भ्रामकादिषु सागारिकान्तेषु चतुर्लघुकाः। स्तेनेषु गुरुका—लघुकाश्च भवन्ति। तत्र शरीरस्तेनेषु चतुर्गुरुका, उपाधिस्तेनेषु चतुर्लघुकाः। आज्ञादयश्च दोषाः। विराधना च द्विविधा—संयम विराधना, आत्म विराधना च। तत्र संयम विराधनास्तनैरुपधावयहृते तृण ग्रहणमग्नि सेवनं वा कुर्वन्ति, सागारिकादयो वा तसायोगोलकल्पाः प्रविष्टाः सन्तो निषदन—शयनादि कुर्वाणां बहूनांप्राणिजातीयानामुपमर्दं कुर्युः। आत्म विराधना तु प्रत्यनीकादिषु परिस्फुटैवेति।

आह—ज्ञातमस्माभिर्द्वारपिधान कारणं परं काऽत्र यतना इति नाद्यापि वयं जानीमः। उच्यते—

उवओगं हेट्ठुवरिं, काऊण ठविंतऽवंगुरंते अ।
पेहा जत्थ न सुज्झइ, पमज्जिउं तत्थ सारिंति।।

—बृहत्कल्प भाष्य, २३६१

नेत्रादिभिरिन्द्रियैरधस्तादुपरि चोपयोगं कृत्वा द्वारं स्थगयन्ति वा अपावृण्वन्ति वा। यत्र चान्धकारे 'प्रेक्षा' चक्षुषा निरीक्षणं न शुद्धयति तत्र रजोहरणेन दारुदण्डकेन वा रजन्यां प्रमृज्य 'सारयन्ति' द्वारं स्थगयन्तीत्यर्थः, उपलक्षणत्वादुद्घाटयन्तीत्यपि दृष्टव्यम्।

—बृहत्कल्प भाष्य, भाग ३, पृष्ठ ६६८—६६

साधु अपने निवास स्थान के द्वार बन्द क्यों करता है? इसका कारण बता रहे हैं कि द्वार खुला रहने पर शत्रु आदि मकान में प्रवेश कर के मार—पीट और उपद्रव कर सकते हैं। चोर, सिंह, व्याघ्र, पारदारिक, गौ, बैल और कुत्ते आदि स्थानक में प्रविष्ट हो सकते हैं। पागल साधु मकान के बाहर निकल सकता है। हिम कण से मिश्रित दुःसह शीत मकान में प्रवेश कर सकता है। बड़े—बड़े सर्प और काक—कबूतर आदि पक्षी उस मकान में आ सकते हैं। धन सहित कोई गृहस्थ उस मकान में आकर सो सकता है। इत्यादि कारणों से साधु अपने स्थानक के द्वार बन्द करता है।

द्वार खुला रहने पर पूर्वोक्त शत्रु आदि से किसी भी एक के प्रवेश करने पर चौमासी—अनुद्घात नामक प्रायश्चित्त आता है। आज्ञा उल्लंघन रूप दोष भी होता है और संयम की भी विराधना होती है। यहाँ जो चौमासी—अनुद्घात प्रायश्चित्त कहा है, वह उसकी बहुलता से समझना चाहिए। खुले द्वार वाले मकान

में सर्प, जानवर और चोर के प्रवेश करने पर चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त आता है। उपधि का अपहरण करने वाले के प्रवेश करने पर चतुर्लघुक प्रायश्चित्त आता है और आज्ञा भंग, संयम एवं आत्मा की विराधना भी होती है।

यदि चोर उपधि को चुरा ले या कोई मनुष्य उस मकान में प्रवेश करके तृण ग्रहण या अग्नि-सेवन करे या कोई म्लेच्छ मनुष्य के समान वहाँ आकर बैठ जाए, तो संयम की विराधना होती है और शत्रु आदि के द्वारा आत्म विराधना प्रसिद्ध ही है। इसलिए साधु अपने निवास स्थान के द्वार बन्द करते हैं।

द्वार बन्द करने का कारण बताने के बाद उसकी यतना करने का कारण बताते हैं—

आँख से ऊपर एवं नीचे के भाग का अवलोकन करके साधु द्वार बन्द करते एवं खोलते हैं। रात्रि के समय अन्धकार में रजोहरण या पूंजनी से प्रमार्जन करके द्वार खोलते एवं बन्द करते हैं।

प्रस्तुत भाष्य की गाथा में साधु को कारणवश यतनापूर्वक द्वार खोलने एवं बन्द करने का स्पष्ट विधान किया है। बृहत्कल्प के मूल पाठ में बताया है—'धान आदि की राशि से युक्त तथा घृत आदि के ढके हुए पात्रों से युक्त मकान में साधु को एक मास ठहरना कल्पता है और जिस मकान में घृत आदि के पात्र खुले हुए रखे हों, उसमें भी स्थानाभाव की स्थिति में एक-दो रात ठहरने का विधान है।' ऐसे मकान में ठहरा हुआ साधु यदि उस मकान के द्वार बंद न करे, तो चोर एवं कुत्ते आदि के द्वारा घृत आदि का नुकसान होने पर साधु के लिए महान् अपवाद का कार्य हो सकता है। अतः ऐसे अवसर पर एवं सर्दी आदि के अन्य कारणों से यतनापूर्वक द्वार बन्द करने एवं खोलने में कोई दोष नहीं है।

पारिभाषिक-शब्दावली

पारिभाषिक-शब्दावली

अकाम निर्जरा = अज्ञान तप से होने वाली क्रिया-विशेष
अक्रियावादी = ज्ञान के साथ क्रिया को मोक्ष-मार्ग नहीं मानने वाले
अकुशल-योग = मन, वचन और शरीर को अशुभ कार्यों में लगाना
अतिचार = स्वीकार की हुई प्रतिज्ञा को तोड़ने के लिए कदम उठाना
अतीन्द्रियार्थदर्शी = इन्द्रिय एवं मन की सहायता के बिना पदार्थों के स्वरूप को जानने-देखने वाला
अधर्मास्तिकाय = वह द्रव्य जो जीव और पुद्गल की स्थिरता में सहायक होता है
अध्यवसाय = मनोभाव, विचार
अनन्त-संसारी = जिसके संसार परिभ्रमण का अन्त न हो
अनन्तानुबंधी = जिस कषाय के बन्धन का अन्त न हो
अनाकार-उपयोग = दर्शन, सामान्य ज्ञान
अनाचार = स्वीकार किये हुए व्रत-प्रत्याख्यान को तोड़ देना
अनासातना = अपने से गुणों में श्रेष्ठ व्यक्ति का आदर नहीं करना
अनित्यानुप्रेक्षा = पदार्थों एवं संसार की अनित्यता का चिन्तन करना
अनुकम्पा = दुःखी के प्रति मन में संवेदना होना
अनुत्तरविमान = विजय, विजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध निवास स्थान
अनुमोदन = समर्थन
अन्तराय = बाधा, रुकावट
अन्तराय-कर्म = जिसके उदय से दान, लाभ, भोग-उपभोग पदार्थ एवं शक्ति का उपलब्ध नहीं होना
अन्यतीर्थी = जैनेतर धर्मावलम्बी
अन्ययूथिक = जैनेतर धर्म को मानने वाले साधु एवं गृहस्थ
अनाचार = जो कार्य साधु के करने योग्य नहीं हैं
अप्रासुक = सदोष आहार-पानी
अपर्याप्त = आहार, शरीर आदि पर्यायों को जिसने पूर्णतः नहीं बांधा है
अपरिमित ज्ञानी = पूर्ण ज्ञानी, ज्ञानसम्पन्न, सब-कुछ जानने वाला
अपवाद = कठिन परिस्थिति, संकटकाल

अप्रतिसेवी	= दोष का सेवन नहीं करने वाला साधु
अप्रत्याख्यानिकी-क्रिया	= त्यागरहित व्यक्ति को लगने वाली क्रिया
अप्रमादी	= मिथ्यात्व—अज्ञान, अव्रत, कषाय, आलस्य एवं अशुभ वृत्ति का परित्याग करने वाला श्रमण—साधु
अप्रशस्त	= बुरा, दूषित
अभयदान	= भयभीत व्यक्ति को भयमुक्त करना, निर्भय बनाना
अभिग्रहधारी	= किसी वस्तु की प्रतिज्ञा ग्रहण करने वाला साधु
अवग्रह	= वस्तु के सामान्य ज्ञान का बोध होना
अवधिज्ञान	= आत्मशक्ति से मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी-पदार्थो को जानने-देखने की शक्ति
अवर्ण बोलना	= निन्दा करना
अव्रत	= थोड़ा भी त्याग-प्रत्याख्यान नहीं करना
अव्रती	= त्याग-पथ को स्वीकार नहीं करने वाला
अवाय	= वस्तु के स्वरूप का निश्चय होना
असंक्लिष्ट परिणामी	= क्लेश एवं दुर्भावनाओं के विकल्पों से रहित
असंज्ञी-असन्नी	= मनरहित प्राणी
असंयति	= संयम से रहित व्यक्ति
अशरणानुप्रेक्षा	= कोई किसी को शरण नहीं देता, इस भावना का चिन्तन करना
अष्टम गुणस्थान	= साधना का वह स्थान जहाँ साधक कषायों को क्षय या उपशान्त करके आगे बढ़ता है
अष्टस्पर्शी	= मृदु-कठोर, हल्का-भारी, शीत-उष्ण और रुक्ष-स्निग्ध—इन आठ स्पर्शो से युक्त पदार्थ
आगम	= शास्त्र, तीर्थकरों का उपदेश
आगम-व्यवहार	= साधना के लिए शास्त्र-मर्यादा नहीं, केवलज्ञान मनःपर्यव, अवधिज्ञान, चवदह एवं दस पूर्व का विशिष्ट ज्ञान
आगम-व्यवहारी	= केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान, चवदह या दस पूर्व का विशिष्ट ज्ञान रखने वाला साधक
आगमिक भाषा	= शास्त्र की भाषा में
आज्ञा-रुचि	= वीतराग-वाणी के अनुसार प्रवृत्ति करने की अभिलाषा
आज्ञा-व्यवहार	= आगम में सर्वज्ञ द्वारा दी गई आज्ञा के अनुसार साधना. करना

आचारधर	=	आचारांग, निशीथ आदि आगमों का ज्ञाता
आत्मारंभी	=	अपनी आत्मा को विषय, कषाय, प्रमाद आदि में प्रवृत्त करने वाला
आधाकर्मी	=	साधु के निमित्त से बनाए जाने वाले आहार-पानी आदि
आधिकरणिकी क्रिया	=	तलवार, पिस्तौल आदि शस्त्रों का प्रयोग करने से लगने वाली क्रिया
आरंभिकी क्रिया	=	हिंसा आदि प्रवृत्ति करते समय लगने वाली क्रिया
आराधक	=	साधना में दोष नहीं लगाने वाला या आलोचना के द्वारा दोषों की शुद्धि करने वाला
आर्त्त-ध्यान	=	इष्ट वस्तु के वियोग एवं अनिष्ट वस्तु के संयोग से उत्पन्न होने वाले दुःख में निमज्जित रहना
आर्य-क्षेत्र	=	जिस क्षेत्र में अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता आदि आर्य-कर्म किए जाते हैं
आर्हत मत	=	जैन धर्म
आस्तिकता	=	आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक आदि के अस्तित्व पर विश्वास करना
आस्रव-निरोध	=	कर्मो के आगमन को रोकना
आशंसा	=	अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा
आहारक लब्धि	=	एक विशिष्ट शक्ति, जिससे अपने स्थान पर बैठा हुआ साधु दूर स्थित सर्वज्ञ से अपनी शंका का समाधान प्राप्त कर सके
ईहा	=	मतिज्ञान का एक भेद
उत्कालिक सूत्र	=	अकाल—कुसमय को छोड़कर किसी भी समय में जो पढ़े जा सकें
उत्तरगुण	=	अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के अतिरिक्त त्याग-प्रत्याख्यान की साधना
उत्सर्ग	=	जो साधना बिना किसी रुकावट के की जाती है
उदय	=	कषायों का उपस्थित रहना, पूर्वकृत कर्म का फल देने का समय
उदय भाव	=	कषायों एवं कर्मो का अपने रूप में प्रकट होना
उपस्थापनाचार्य	=	वह आचार्य, जो साधक को निर्दोष साधना में स्थापित करता है

उपशम = कषायों को उपशान्त करना, दबा देना
उभयारंभी = अपनी एवं दूसरे की हिंसा करने वाला, स्व और पर दोनों को हानि पहुँचाने वाला
उपासक प्रतिमा = श्रावक-गृहस्थ के द्वारा स्वीकृत प्रतिज्ञाएँ
इर्यापथिक-क्रिया = वीतराग साधक को गमनागमन आदि प्रवृत्ति से लगने वाली क्रिया
एकानुप्रेक्षा = अपने-आप को एकाकी अनुभव करना
एषणिक = निर्दोष आहार, साधु मर्यादा के योग्य पदार्थ
कर्मादान = महारंभ का कार्य, जिससे संसार को बढ़ाने वाले कर्मों का लाभ होता है
कल्प = मर्यादा, कार्य करने की एक सीमा
कल्पातीत = शास्त्रीय मर्यादाओं के बन्धन से मुक्त विशिष्ट ज्ञानी
कल्पातीत देव = नव ग्रैवेयक और पाँच अनुतरविमान के देव
कषाय = जिससे संसार की अभिवृद्धि हो; क्रोध, मान, माया और लोभ
कषाय-कुशील निर्ग्रन्थ = महाव्रत एवं अन्य साधना में दोष नहीं लगाने वाला साधक
कषाय-प्रतिसंलीनता = क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्ति को रोकना, उपशान्त करना
कायिकी क्रिया = शरीर की प्रवृत्ति से लगने वाली क्रिया
कारित = किसी कार्य को दूसरे से करवाना
कालिक सूत्र = दिन और रात्रि के प्रथम एवं अन्तिम प्रहर में पढ़े जाने वाले शास्त्र
कुशल-योग = मन, वचन और शरीर को शुभ कार्य में प्रवृत्त करना
कापोत-लेश्या = व्यक्ति के सामान्य रूप से क्रूर विचार एवं दुर्भावना
कुपात्रदान = हिंसक, चोर, व्यभिचारी आदि को बुरे कार्य करने के लिए दान देना
कृत = किसी कार्य को स्वयं करना
कृष्ण-लेश्या = व्यक्ति के अति क्रूर परिणाम, अत्यधिक दुर्भावना
केवलज्ञान = पूर्ण ज्ञान, इन्द्रिय एवं मन की सहायता के विना समस्त पदार्थ एवं उनकी पर्यायों को जानने-देखने वाला ज्ञान
क्षय = नष्ट करना
क्षयोपशम = उदय में आये हुए का क्षय तथा उदय में नहीं आए हुए का उपशम

क्षुल्लक भव = निगोद, वनस्पति एवं एकेन्द्रिय आदि के भव
क्षीण मोह = मोह कर्म को पूर्णतः या अंशतः नष्ट कर देना
क्षेमंकर = कल्याण करने वाले, सबका हित करने वाले
गणधर = तीर्थकरों के प्रवचन को आगम का रूप देने एवं शासन की व्यवस्था करने वाले
गर्भज = गर्भ से उत्पन्न होने वाले जीव
गवेषण = आहार की निर्दोषता का अन्वेषण करना
गीतार्थ = आगमों के रहस्य को जानने वाला
गुणस्थान = आत्म-विकास की श्रेणियाँ
ज्ञानावरणीय = आत्मा की ज्ञान शक्ति को आवृत्त करने वाला कर्म
ग्यारह प्रतिमाएँ = श्रावक-गृहस्थ की ग्यारह प्रतिज्ञाएँ
ग्यारहवीं प्रतिमा = श्रावक की वह साधना, जिसमें वह मर्यादित समय के लिए साधु की तरह जीवन व्यतीत करता है
चतुर्थ गुणस्थान = साधना का प्रथम सोपान, वीतराग वाणी एवं तत्त्वों पर श्रद्धा होना, सम्यक्त्व को प्राप्त करना
चतुर्दश-पूर्वधर = चवदह पूर्व को जानने वाला
चतुःस्पर्शी = चार स्पर्श—कठोर, भारी, शीतल और रूक्ष या मृदु, हल्का, गर्म और स्निग्ध से युक्त पदार्थ
चरम-शरीरी = इसी भव में मुक्त होने वाला
चार ज्ञान = मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यव ज्ञान
चौथा आश्रव = अब्रह्मचर्य मैथुन
छद्मस्थ = राग-द्वेष एवं काम-क्रोध आदि से युक्त व्यक्ति, अपूर्ण ज्ञानी
छः काय = पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस-द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्राणी
जित-व्यवहार = आचार्यों द्वारा बनाई हुई मर्यादाएँ
जिन-कल्प = साधना की एक मर्यादा, वीतराग पुरुषों जैसी उत्कृष्ट साधना
जिनेन्द्र-प्रवचन = तीर्थंकरों द्वारा दिया गया उपदेश
जीवनाशंसा = चिरकाल तक जीने की अभिलाषा रखना
टब्बा = शास्त्रों का गुजराती एवं राजस्थानी में किया गया शब्दार्थ एवं भावार्थ
तथारूप = यथारूप तथा आचार, वेश के अनुरूप आचार
तिर्यंच = पशु-पक्षी

तीर्थ	= साधु–साध्वी और श्रावक–श्राविका
तीर्थंकर नामकर्म	= तीर्थंकर—तीर्थ (संघ) के संस्थापक पद को प्राप्त कराने वाला कर्म
तेजोलेश्या या लब्धि	= शुभ विचार, एक ऐसी शक्ति जिसके द्वारा साधक अपने विरोधी को जलाकर भस्म कर सकता है।
त्रस	= त्रास से बचने के लिए सुरक्षित स्थान पर आने–जाने वाले जीव
दण्डक	= जिन स्थानों में रहकर जीव अपने कर्मों का फल भोगता है
दर्शन	= श्रद्धा, सम्यक्त्व, सामान्य ज्ञान
दर्शन–विनय	= अपने से अधिक गुणसंपन्न सम्यक्त्वी का आदर–सम्मान करना
दर्शनावरणीय	= आत्मा के दर्शन—सामान्य ज्ञान गुण को आवृत्त करने वाला कर्म
दशम गुणस्थान	= जहाँ साधक अत्यल्प लोभ को छोड़कर शेष सब कषायों को क्षय—नाश या उपशान्त कर देता है
दशवैकालिक	= एक आगम, जिसमें साध्वाचार का वर्णन है
दुर्लभबोधी	= जिस जीव को कठिनता से प्रतिबोध प्राप्त होता है
दुर्लभ बोधित्व कर्म	= वह कर्म, जिससे जीव को बोध की प्राप्ति न हो या कठिनता से हो।
दुष्प्रणिधान	= दुरुपयोग
देश–आराधक	= एक अंश से जिन–आज्ञा का पालन करने वाला
देश–विराधक	= एक अंश से जिन–आज्ञा का पालन नहीं करने वाला
द्रव्य–क्रिया	= ज्ञान एवं विवेकपूर्वक क्रिया नहीं करना
द्वादश गुणस्थान	= जहाँ साधक राग–द्वेष एवं कषायों का पूर्णतः क्षय कर देता है
द्वादश व्रतधारी	= बारह व्रत स्वीकार करने वाला
धर्माचार्य	= जो साधना के मार्ग पर गति करने का उपदेश देता है
धर्मास्तिकाय	= वह द्रव्य जो जीव, पुद्गल की गति में सहायक होता है
धारणा	= पदार्थ के विशेष ज्ञान को स्मृति में रखना
धारण व्यवहार	= आचार्यों की चली आ रही परंपरा
ध्यान	= अपनी दृष्टि एक वस्तु या विषय पर एकाग्र करना, आत्म–चिन्तन में लगना

नरकावास = नरक में नारकीय जीवों के रहने का स्थान

नास्तिक = आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करने वाला

निरवद्य = जिस कार्य में किसी तरह की हिंसा एवं पाप न हो

निर्ग्रन्थ = राग-द्वेष एवं परिग्रह की ग्रन्थि—गांठ का छेदन करने वाले साधु

निर्ग्रन्थ श्रमण = सर्वज्ञ, सर्वोत्कृष्ट श्रमण—जो संयम में थोड़ा भी दोष नहीं लगाता

निर्जरा = पूर्व में आबद्ध कर्मों को एक देश—अंश से क्षय करना

निर्युक्ति = आगमों की प्राकृत में की गई विस्तृत व्याख्या

निसर्ग रुचि = आत्मज्ञान एवं सम्यक् श्रद्धा की ओर स्वतः अभिरुचि पैदा होना

नील-लेश्या = कठोर एवं क्रूर स्वभाव

पंचम गुणस्थान = एक अंश से हिंसा आदि का त्याग करने वाला

पण्डित = साधु, पापकारी कार्यों का सर्वथा त्याग करने वाला

पण्डितापण्डित = श्रावक

पद्म लेश्या = आत्मा के शुभतर परिणाम

पर-गृहीत तीर्थ = जैनेतर धर्म, वे तीर्थ—संघ जो अन्य धर्म को स्वीकार कर चुके हैं

पर-यूथिक = जैनेतर साधु-संन्यासी

परानुकंपक = दूसरे पर अनुकम्पा करने वाला

परारंभी = अन्य प्राणियों की हिंसा करने वाला

परित्त-संसारी = संसार का अन्त करने वाला

प्रज्ञप्तिधर = आचारांग, छेदसूत्र आदि के ज्ञाता

पर्याप्त = आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन, इनमें से जिसकी जितनी योनि है, उतनी पर्यायों को जिसने पूर्णतः बांध लिया है

परिव्राजक = संन्यासी

परोपकारार्थ = दूसरे का उपकार करने के लिए

प्रणिधान = किसी वस्तु का प्रयोग करना

प्रतिक्रमण = विषय-कषाय में प्रवृत्तमान आत्मा को स्व-स्वरूप में वापिस लौटाना

प्रतिलेखन = वस्त्र-पात्र, स्थान आदि का भली-भाँति अवलोकन करना

प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ	= मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाला साधक
प्रतिसेवी	= संयम में दोष लगाने वाला साधक
प्रत्याख्यान	= त्याग
प्रत्युत्पन्न विनाशी अन्तराय	= किसी व्यक्ति के मिलने वाले लाभ में बाधक बनने से बंधने वाला कर्म
प्रत्येक-बुद्ध	= स्वयं बोध को प्राप्त करने वाला साधक
प्रथम-गुणस्थान	= मिथ्यात्व
प्रव्रजनाचार्य	= साधना की दीक्षा देने वाला
प्रमार्जनिका	= स्थान एवं शरीर आदि का प्रमार्जन करने के लिए ऊन के धागों से बनी हुई वस्तु (पूजनी)
पाँच आश्रव	= कर्मों के आने के पाँच रास्ते—मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद और योग
पाँचवाँ आश्रव	= परिग्रह, वस्तु पर ममत्व भाव रखना
पापानुबन्धी-पुण्य	= जो पुण्य भविष्य में अशुभ कर्म की ओर प्रवृत्त करे
पारिग्रहिकी क्रिया	= पदार्थ पर ममत्व भाव रखने से लगने वाली क्रिया
पारितापनिकी क्रिया	= किसी को परिताप—संताप देने के भाव से की जाने वाली क्रिया
पासत्था	= पार्श्वस्थ, शिथिल आचार वाला
पार्श्वस्थ	= शिथिलाचारी
पाषण्डी	= पापों के नाश करने का मार्ग अपनाने वाला
प्राणातिपात	= प्राणों का नाश करना, हिंसा
प्राणातिपातिकी क्रिया	= किसी के प्राणों का हरण करने के भाव से की जाने वाली क्रिया
प्राद्वेपिकी क्रिया	= द्वेष बुद्धि से की जाने वाली क्रिया
प्रायश्चित्त	= दोषों की आलोचना करके आत्म-शुद्धि करने की प्रक्रिया
प्रासुक	= दोपरहित, निर्जीव
पिहितागामी पथ अन्तराय	= किसी के भविष्य में मिलने वाले किसी के लाभ में बाधक बनने से बंधने वाला कर्म
पुण्यानुबंधी पुण्य	= वह पुण्य जो अनागत काल में आत्मा को पुण्य—शुभ-कर्म की ओर प्रवृत्त करता है

पुद्गल = जड़ पदार्थ, अणु–परमाणु एवं उनके समूह से निर्मित पदार्थ
पुलाक–निर्ग्रन्थ = धर्म एवं संघ की रक्षा के लिए चक्रवर्ती की सेना को नष्ट करने की शक्ति रखने वाले साधक
पौषध = उपवास करके एक दिन आत्म–साधना में संलग्न रहना, आत्मा को परिपुष्ट करना
बकुस–निर्ग्रन्थ = उत्तर गुण में दोष लगाने वाला साधु
बाण–व्यन्तर = देवों की एक सामान्य जाति, भूत–प्रेत आदि
बाल–तप = अज्ञान तप
बाल–तपस्वी = ज्ञान एवं विवेकपूर्वक तप नहीं करने वाला
बाल–पण्डित = श्रावक
बाल–वीर्य = अज्ञानी, मिथ्यात्वी
भण्डोपकरण = पात्र–रजोहरण आदि सामग्री
भव–बीज = जिस कर्म—कार्य से भव–भ्रमण बढ़ता हो, राग–द्वेषयुक्त परिणाम
भव्य–जीव = जो मोक्ष प्राप्त करने के योग्य है
भाव–क्रिया = कार्य करते समय मन में चलने वाला चिन्तन
भुवनवासी = देवों की एक जाति
भूतिकर्म = यन्त्र–मन्त्र के द्वारा जीवनयापन करना
भ्रमविध्वंसन = तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी द्वारा रचित ग्रन्थ
मति–अज्ञान = मिथ्यादृष्टि के द्वारा मन एवं इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का किया जाने वाला बोध
मति–ज्ञान = मन एवं इन्द्रियों की सहायता से किया जाने वाला ज्ञान
मनःपर्यवज्ञानी = आत्म–ज्ञान के द्वारा सन्नी पंचेन्द्रिय के मन के भावों को जानना
माया–प्रत्यया क्रिया = छल–कपटयुक्त भाव से कार्य करने से लगने वाली क्रिया
मार्गणा = एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जाने के बीच के समय में की जाने वाली गति
माहण = श्रावक, ब्राह्मण
मिच्छामि दुक्कडं = मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो

मिथ्यादर्शन-प्रत्यया क्रिया	=	अज्ञानपूर्वक कार्य करने से लगने वाली क्रिया
मिथ्यादृष्टि	=	जिसके सोचने-समझने की दृष्टि विपरीत है, अज्ञानी
मूलगुण	=	महाव्रत और अणुव्रत
मोक्षार्थी	=	मोक्ष की अभिलाषा रखने वाला व्यक्ति
मोह-कर्म	=	जिसका उदय रहने पर आत्मा न सम्यक् श्रद्धा कर सकता है, न सही सोच-विचार सकता है और न त्याग-विराग के पथ पर बढ़ सकता है
योग-निरोध	=	मन, वचन और काय योग को रोकना
योग-प्रतिसंलीनता	=	मन, वचन और शरीर को बुरे कार्यों से हटाना
योजन	=	चार कोस, आठ मील
रौद्र ध्यान	=	क्रूरतम विचारों में अपने-आप को एकाग्र करना
लब्धि	=	शक्ति
लेश्या	=	विचार, भावना
लौकिक	=	सांसारिक
लोकोत्तर धर्म	=	मोक्ष एवं आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली साधना
विज्ञान	=	विशेष ज्ञान
विद्या	=	सम्यग्ज्ञान, आत्म-ज्ञान
विधिवाद	=	जिस कार्य को करने का आगम में आदेश दिया गया है
विपर्यय	=	वस्तु स्वरूप का विपरीत रूप से आभास होना
विभंग-ज्ञान	=	इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना सीमित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों को अस्पष्ट रूप से जानने-देखने की शक्ति
विरमण	=	त्याग, व्रत-प्रत्याख्यान
विराधक	=	साधना में लगे दोषों की आलोचना नहीं करने वाला
वीतराग	=	राग-द्वेष से रहित
वैक्रिय-शरीर	=	जिसके द्वारा अपनी इच्छा के अनुरूप आकृति बनाई जा सके
संक्लिश्यमान	=	आर्त्त-रौद्र ध्यान एवं दुर्भावनाओं में निमज्जित रहने वाला
संज्ञी	=	मनयुक्त प्राणी

सचित्त	=	सजीव पदार्थ
संथारा	=	जीवनपर्यन्त के लिए अनशन करना
संयति	=	साधु, सम्यक्तया इन्द्रिय विषयों पर विजय प्राप्त करने वाला साधक
संयमासंयम	=	श्रावक, जिसने एक अंश से असंयम का त्याग किया है
संवर	=	आते हुए कर्म-प्रवाह को रोकने के लिए की जाने वाली साधना
संसरणानुप्रेक्षा	=	संसार की परिवर्तनशीलता का चिन्तन
सकाम-निर्जरा	=	सम्यग्ज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रिया से होने वाला कर्मों का क्षय
समवसरण	=	तीर्थंकर भगवान् के प्रवचन के लिए देवों द्वारा निर्मित प्रवचन सभा
समूर्च्छिम	=	गर्भ के बिना जन्म लेने वाले प्राणी
सम्यक् चारित्र	=	ज्ञान एवं विवेकपूर्वक की जाने वाली क्रिया, आचार धर्म
सम्यग्ज्ञान	=	वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना
सम्यग्दर्शन	=	तत्त्वों-पदार्थों के यथार्थ स्वरूप पर श्रद्धा रखना
सराग-संयम	=	राग-द्वेष युक्त साधना
श्रमण	=	साधु, स्वयं के श्रम से कर्मों का क्षय करके मुक्ति प्राप्त करने वाला
श्रमणोपासक	=	श्रावक—सद्गृहस्थ
सर्व-आराधक	=	साधना में थोड़ा भी दोष नहीं लगाने वाला
सर्वज्ञ	=	पूर्णज्ञानी
सर्व-विराधक	=	संयम की पूर्णतः विराधना करने वाला, दोष लगाकर भी आलोचना नहीं करने वाला
सहधर्मी	=	आचार एवं विचार में समानता रखने वाले साधक
सांभोगिक साधु	=	जिनके साथ आहार-पानी, वन्दन-व्यवहार आदि चालू हैं
साधर्मिक	=	समान धर्म वाले
सामायिक	=	सम भाव को जीवन में उतारने के लिए की जाने वाली साधना
साम्परायिकी क्रिया	=	क्रोधादि भावों से किए जाने वाले कार्य से लगने वाली क्रिया
सावद्य	=	पापयुक्त, जिस कार्य में जीवों की हिंसा हो
सिद्ध	=	संपूर्ण कर्मों एवं कर्मजन्य साधनों से मुक्त शुद्ध-आत्मा
सुप्रणिधान	=	पात्र आदि का विवेकपूर्वक प्रयोग करना

श्रुत-अज्ञान	=	विषय-वासना को बढ़ाने वाले मिथ्या शास्त्रों, पुस्तकों एवं विचारकों से प्राप्त होने वाला ज्ञान
श्रुत-ज्ञान	=	आगमों का अध्ययन करने एवं महापुरुषों का उपदेश श्रवण करने से होने वाला ज्ञान
श्रुत-धर्म	=	ज्ञान-साधना, ज्ञान और दर्शन का आराधन
श्रुत-व्यवहार	=	आगम के अनुसार क्रिया करना
श्रुत-व्यवहारी	=	आगम के अनुसार क्रिया करने वाला
श्रुत-संपन्न	=	ज्ञानयुक्त, ज्ञानवान
सुलभवोधी	=	जिसे सरलता से बोध प्राप्त हो
सुलभ बोधित्व कर्म	=	वह कर्म जिसके द्वारा सहज भाव से बोध-ज्ञान की प्राप्ति हो
सूझता आहार	=	दोषों से रहित आहार-पानी
सूत्र-रुचि	=	शास्त्रों का स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन करने की अभिलाषा
स्थविर	=	ज्ञान, वय एवं साधना में वयोवृद्ध, परिपक्व बुद्धि वाले साधक
स्थावर	=	एक स्थान पर स्थिर रहने वाले एकेन्द्रिय—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति जीव
स्नातक-निर्ग्रन्थ	=	वीतराग साधक
स्वाध्याय	=	आत्म-चिन्तन, स्व—अपने स्वरूप का अध्ययन करना
शाक्यपुत्र	=	तथागत बुद्ध
शिथिलाचारी	=	जिसका आचार शिथिल है
शुक्ल-ध्यान	=	निर्विकल्प चिन्तन, वीतराग पुरुषों का ध्यान
शुक्ल-लेश्या	=	विचारों की परम विशुद्ध धारा
शुभ-अनुष्ठान	=	निर्दोष साधना, शुभ कार्य
शीलसंपन्न	=	आचारयुक्त, चारित्रवान
पट्द्रव्य	=	धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल—जड़ छः पदार्थ
पष्ठम गुणस्थान	=	प्रमत्त साधक की साधना
पट्द्रव्यात्मक लोक	=	धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव एवं पुद्गल—इन छः पदार्थों से युक्त संसार

आचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज की जीवन-झांकी

जन्म-स्थान	—	थांदला (मध्य-प्रदेश)		
जन्म-दिन	—	कार्तिक शुक्ला चतुर्थी		वि. सं. १६३२
पिता का नाम	—	जीवराजजी कवाड़		
माता का नाम	—	नाथीबाई		
दीक्षा-तिथि	—	मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया		वि. सं. १६४८
गुरु का नाम	—	श्री मगनलालजी म.		

प्रथम	चातुर्मास	—	धार	(मध्यप्रदेश)	सं. १६४६
२	चातुर्मास	—	रामपुरा	(मध्यप्रदेश)	१६५०
३	चातुर्मास	—	जावरा	(मध्यप्रदेश)	१६५१
४	चातुर्मास	—	थांदला	(मध्यप्रदेश)	१६५२
५	चातुर्मास	—	शिवगढ़	(मध्यप्रदेश)	१६५३
६	चातुर्मास	—	सैलाना	(मध्यप्रदेश)	१६५४
७-८	चातुर्मास	—	खाचरौद	(मध्यप्रदेश)	१६५५-५६
६	चातुर्मास	—	महीदपुर	(मध्यप्रदेश)	१६५७
१०	चातुर्मास	—	उदयपुर	(राजस्थान)	१६५८
११	चातुर्मास	—	जोधपुर	(राजस्थान)	१६५६
प्रत्युत्तर दीपिका का प्रकाशन १६५६					
१२	चातुर्मास	—	ब्यावर	(राजस्थान)	१६६०
१३	चातुर्मास	—	बीकानेर	(राजस्थान)	१६६१
१४	चातुर्मास	—	उदयपुर	(राजस्थान)	१६६२
१५	चातुर्मास	—	गंगापुर	(राजस्थान)	१६६३
१६	चातुर्मास	—	रतलाम	(मध्यप्रदेश)	१६६४
१७	चातुर्मास	—	थांदला	(मध्यप्रदेश)	१६६५
१८	चातुर्मास	—	ज़ावरा	(मध्यप्रदेश)	१६६६

१९	चातुर्मास	—	इन्दौर	(मध्यप्रदेश)	१९६७
२०	चातुर्मास	—	अहमदनगर	(महाराष्ट्र)	१९६८

संस्कृत शिक्षा की आवश्यकता समझकर पूज्य गुरुदेव ने अपने दो शिष्यों—प. घासीलालजी म. एवं आचार्य गणेशीलालजी म. को वैतनिक पण्डितों से पढ़ाना शुरू किया।

२१	चातुर्मास	—	जुन्नर	(महाराष्ट्र)	१९६९
२२	चातुर्मास	—	घोड़नदी	(महाराष्ट्र)	१९७०
२३	चातुर्मास	—	जामगांव	(महाराष्ट्र)	१९७१
२४	चातुर्मास	—	अहमदनगर	(महाराष्ट्र)	१९७२

लोकमान्य तिलक से मिलन

२५	चातुर्मास	—	घोडनदी	(महाराष्ट्र)	१९७३
२६	चातुर्मास	—	मीरी	(महाराष्ट्र)	१९७४
२७	चातुर्मास	—	हिवड़ा	(महाराष्ट्र)	१९७५

हिवड़े से राजस्थान की ओर विहार करते समय रतलाम में पू. श्री श्रीलालजी म. ने आपको युवाचार्य पद दिया।

२८	चातुर्मास	—	उदयपुर	(राजस्थान)	१९७६

आषाढ़ शुक्ला ३, सं. १९७७ को आचार्यश्री श्रीलालजी म. का स्वर्गवास हुआ और आपको भीनासर में आचार्य पद की चद्दर ओढ़ाई गई।

२९	चातुर्मास	—	बीकानेर	(राजस्थान)	१९७७
३०	चातुर्मास	—	रतलाम	(मध्यप्रदेश)	१९७८
३१	चातुर्मास	—	सतारा	(महाराष्ट्र)	१९७९
३२	चातुर्मास	—	घाटकोपर	(मुम्बई–महाराष्ट्र)	१९८०
३३–३४	चातुर्मास	—	जलगांव	(महाराष्ट्र)	१९८१–८२
३५	चातुर्मास	—	ब्यावर	(राजस्थान)	१९८३
३६	चातुर्मास	—	भीनासर	(राजस्थान)	१९८४

पं. मदनमोहन मालवीय ने आपका प्रवचन सुना।

३७	चातुर्मास	—	सरदारशहर	(राजस्थान)	१९८५
३८	चातुर्मास	—	चूरू	(राजस्थान)	१९८६
३९	चातुर्मास	—	बीकानेर	(राजस्थान)	१९८७
४०	चातुर्मास	—	दिल्ली	(राजस्थान)	१९८८
४१	चातुर्मास	—	जोधपुर	(राजस्थान)	१९८९

४२	चातुर्मास	—	उदयपुर	(राजस्थान)	१६६०
४३	चातुर्मास	—	कपासन	(राजस्थान)	१६६१
४४	चातुर्मास	—	रतलाम	(मध्यप्रदेश)	१६६२

५ नवम्बर, १६३५ को रतलाम नरेश ने दर्शन किए एवं प्रवचन सुना।

४५	चातुर्मास	—	राजकोट	(सौराष्ट्र)	१६६३

१३ अक्टूबर,१६३६ को सरदार बल्लभभाई पटेल आपसे मिले।

२६ अक्टूबर, १६३६ को महात्मा गांधी से मिलन हुआ।

५ अप्रैल, १६३७ को पट्टाभिसीतारमैया ने आपका प्रवचन सुना एवं वार्तालाप किया।

४६	चातुर्मास	—	जामनगर	(सौराष्ट्र)	१६६४
४७	चातुर्मास	—	मौरबी	(सौराष्ट्र)	१६६५
४८	चातुर्मास	—	अहमदाबाद	(सौराष्ट्र)	१६६६
४६	चातुर्मास	—	बगड़ी	(राजस्थान)	१६६७
५०-५१	चातुर्मास	—	भीनासर	(राजस्थान)	१६६८-६६

आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, वि. सं. २००० को भीनासर में स्वर्गवास हुआ।